मौर्य-साम्राज्य का इतिहास

लेखक

सत्यकेतु विद्यालङ्कार

प्रोफ़ेसर इतिहास, गुरुकुल-विश्वविद्यालय, काङ्गड़ी

भूमिका-लेखक

काशीप्रसाद जायसवाल

एम० ए० (ऑक्सन), बार-एट-लॉ, पटना

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, इलाहाबाद

१९८५

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

वाराहीमात्मयोनेस्तनुभवनविधावास्थितस्यानुरूपाम्
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री ।
म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्त्तेः
स श्रीमत्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ॥

(विशाखदत्त)

भारतवर्ष के विशाल सार्वभौम साम्राज्य के प्रवर्त्तक
महान् राजनीतिज्ञ

आचार्य चाणक्य

और

भारतीय सभ्यता व धर्म को विश्व भर में व्याप्त करने का
महान् उद्योग करनेवाले

आचार्य उपगुप्त

की पुण्यस्मृति में

प्रस्तावना

भारतवर्ष के इतिहास में मौर्य-साम्राज्य का विशेष महत्त्व है। ऐतिहासिक विन्सेन्ट ए० स्मिथ ने इस साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यविस्तार का वर्णन करते हुए लिखा है—"दो हज़ार साल से भी अधिक हुए, भारत के प्रथम सम्राट् ने उस 'वैज्ञानिक सीमा' को प्राप्त किया था, जिसके लिए उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में आहें भरते हैं और जिसको कि सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों के मुग़ल-सम्राटों ने भी कभी पूर्णता के साथ प्राप्त नहीं किया।" चन्द्रगुप्त के पौत्र महाराज अशोक को सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री० एच० जी० वेल्स ने संसार के सबसे बड़े छः महापुरुषों में एक माना है। उनकी सम्मति में सारे इतिहास के असंख्यात विजेताओं और चक्रवर्ती सम्राटों में केवल अशोक ही इस योग्य हैं कि उनकी गणना दुनिया के महापुरुषों में की जा सके। भारत के ज्ञात-ऐतिहासिक-काल में मौर्य सम्राटों ने ही सबसे पहले विशाल सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना की। अपने असाधारण सैनिक-बल-द्वारा संसार पर शस्त्रों से विजय स्थापित करने का संकल्प छोड़ कर, उन्होंने भारतीय धर्म, सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का सर्वत्र प्रचार करने में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगा दिया। धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त को क्रियारूप में परिणत कर 'धर्म' के वास्तविक 'तत्त्व' की वृद्धि के लिए जो प्रयत्न अशोक और उसके उत्तराधिकारियों ने किया, वह वस्तुतः संसार के इतिहास में अद्वितीय है।

इन मौर्य-सम्राटों के इतिहास को क्रमबद्धरूप से लिखने का प्रयत्न अब तक विद्वानों ने नहीं किया। यूरोपियन भाषाओं में

भी इस विषय पर कोई एक क्रमबद्ध ग्रन्थ नहीं है। अशोक के सम्बन्ध में अनेक अमूल्य और उपयोगी पुस्तकें लिखी गई हैं, पर अन्य सम्राटों पर—यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त मौर्य पर भी—विस्तार के साथ लिखने का कष्ट अभी तक यूरोपियन भाषाओं के विद्वानों ने भी नहीं किया। फिर हिन्दी का तो प्रश्न ही क्या है? हिन्दी में ऐतिहासिक ग्रन्थों का वैसे ही अभाव है, फिर प्राचीन भारत के किसी एक काल पर विस्तृत विवेचनात्मक तथा क्रमबद्ध ग्रन्थ की आशा करना सर्वथा व्यर्थ ही है। एक दो छोटी छोटी पुस्तिकाओं के अतिरिक्त मौर्य्यकाल पर हिन्दी में अब तक कुछ नहीं लिखा गया। इस बड़ी भारी कमी को पूरा करने के लिए ही मैंने यह उद्योग किया है। मुझे अपने प्रयत्न में कितनी सफलता हुई है, इसका निर्णय पाठकों के ही अधीन है। पर मुझे यह आशा अवश्य है कि इस ग्रन्थ से मौर्य-इतिहास का अनुशीलन करने में कुछ न कुछ सहायता मिल सकेगी।

इस ग्रन्थ की रचना में मुझे अनेक मित्रों द्वारा अमूल्य सहायता मिली है। पालीभाषा के पारंगत विद्वान् प्रो० चन्द्रमणि विद्यालङ्कार ने पाली और प्राकृत के अनेक कठिन संदर्भों का अर्थ करने में मुझे बहुत सहायता दी है। प्रिय भाई श्री० अमरनाथ विद्यालङ्कार और श्री० चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने अनेक ग्रन्थों का सार निकाल कर तथा बहुत सी उपयोगी सामग्री एकत्रित कर मेरे प्रयत्न-साध्य कार्य को सुगम कर देने का बहुत प्रयत्न किया है। मेरे प्रिय मित्र श्रीअवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार, श्री० शङ्करदत्त विद्यालङ्कार और श्रीयुत नरेन्द्रदेव विद्यालङ्कार इस ग्रन्थ के लिए सामग्री जुटाने में, विविध संदर्भों का अनुवाद तथा संक्षेप करने में और प्रूफों के संशोधन में मेरी निरन्तर सहायता करते रहे हैं। इन मित्रों की अनुपम सहायता के बिना मैं यह ग्रन्थ कभी न लिख सकता। मैं इनका हृदय से धन्यवाद करता हूँ।

भारतीय पुरातत्त्व-विभाग ने अपने संग्रहों में से इस ग्रन्थ में चित्र प्रकाशित करने की अनुमति देने की कृपा की है, इसके लिए मैं वहुत कृतज्ञ हूँ।

अनेक कार्यों में व्यग्र रहने के कारण मैं इस ग्रन्थ के प्रूफ़-संशोधन पर वहुत ध्यान नहीं दे सका। इस कारण अनेक भद्दी अशुद्धियाँ रह गई हैं। आशा है, विज्ञ पाठक उनको स्वयं शुद्ध कर लेंगे।

गुरुकुल कांगड़ी
भाद्रपद ४,१९८५

सत्यकेतु विद्यालङ्कार

विषय-सूची

चित्र-सूची

नक़्शे

भूमिका

बड़े सन्तोष का विषय है कि हिन्दी में इतिहास के मौलिक ग्रन्थ लिखना गुरुकुल-विश्वविद्यालय के अध्यापकों ने आरम्भ किया है। अध्यापक सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने यह **मौर्य्य-साम्राज्य का इतिहास** बहुत ही अच्छा ग्रन्थ बड़े परिश्रम से और अध्ययनपुरस्सर, स्वयं सब मूल-ग्रन्थों को पढ़ कर और सूझ के साथ तथ्य का निर्णय करते हुए तैयार किया है। अब तक ऐसी रचना अँगरेज़ी में ही होती रही है। किसी धर्मवाद या सम्प्रदाय के विचारों से विद्यालङ्कारजी के ऐतिहासिक विचारों पर मुलम्मा ज़रा भी नहीं।

पुराने हिन्दू पुराविदों की तरह और नये ऐतिहासिकों की तरह ग्रन्थकार ने शिलालेख, प्राचीन पुस्तकों तथा अन्य ऐतिहासिक साधनों से मौर्य्य राज्य की इतिवृत्ति सङ्कलित की है। मैंने ठोक बजा कर देख लिया, यह माल खरा है।

यह मानी हुई बात है कि चक्रवर्त्ती चन्द्रगुप्त मौर्य्य अपने समय में दुनिया भर में सबसे बड़े और बली राजा थे। यह आज-कल के ऐतिहासिकों की स्वीकृत की हुई व्यवस्था है। हिन्दू लेखकों में विशाखदत्त नाटककार ने म्लेच्छों से भारत-भूमि बचाने के उपलक्ष में चन्द्रगुप्त की तुलना विष्णु भगवान् से की।

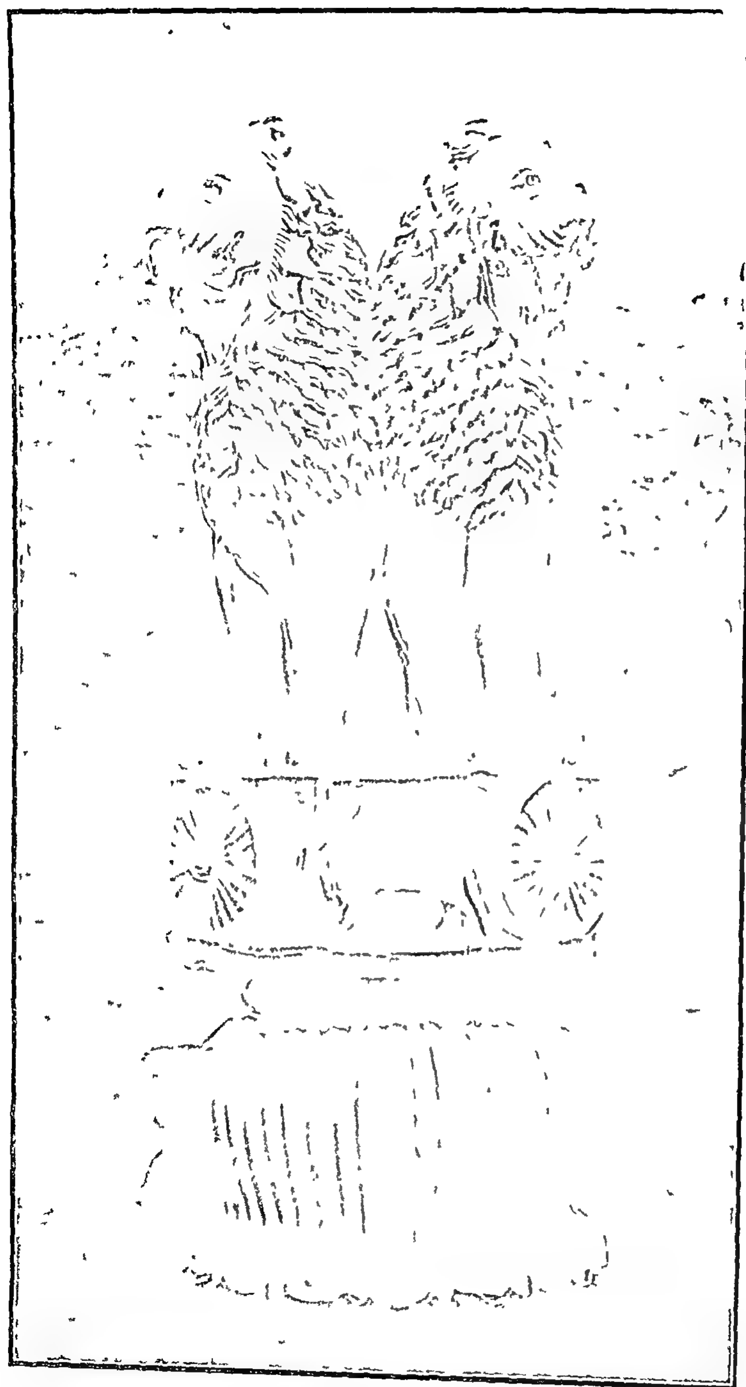
अशोकवर्द्धन चन्द्रगुप्त के पोता थे, जिनकी कीर्त्ति धर्मधवलित, हिमालय-समान उच्च शिखरवाली, और चिरस्थायिनी पृथिवी पर सदा और सर्वदा रहेगी। अशोक के पोते महाराज सम्प्रति ने दक्षिण देश-मात्र को जैन और आर्य बना डाला। अशोक ने तो ग्रीक (यूनानी) राज्यों में, मिस्र (ईजिप्ट) में, और चीन के सिवाने के देशों में सभी कहीं अपने एलचियों के साथ धर्म के आचार्य और पादरी उपदेशक प्रेषित कर, और अस्पताल जारी कर ईसाई-धर्म और ईसा के प्रादुर्भाव का बीज बोते हुए संन्यास-आश्रम का प्रचार भारत के बाहर प्रायः पृथिवी मात्र में फैला दिया।

ये मौर्य्य महाराज वेद के कर्मकाण्ड को नहीं मानते थे और न ब्राह्मणों की जाति को अपने से ऊँचा मानते थे और न वे अपनी कीर्त्ति-गाथायें उनसे लिखवाते थे। अपने बल और अपनी बुद्धि के सहारे, सचाई, दया आदि अनीश्वर और ऐहिक धर्मों द्वारा मुक्तिसिद्धि के पंथ का प्रचार नक्कारे की चोट से दिगन्त तक करनेवाले, सैकड़ों अकबर एक में और कोड़ियों कान्स्टैंटाइन के अवतार से बढ़, भारत के ये व्रात्य अवैदिक क्षत्रिय सार्वकालिक साम्राज्य अक्षय "धर्मविजय" स्थापित करने की कामनावाले हुए। ऐसे राजा न उनके पहले हुए थे और न अब तक हुए। जैसे यहाँ अपने को ईश्वर माननेवाले श्रीकृष्ण ऐसे लोकोत्तर मनुष्य हुए, मनुष्य को स्वतन्त्र बनानेवाले बुद्ध ऐसे लोकोत्तर आचार्य हुए, वैसे ही लोकोत्तर हौसलेवाले, जबहेवाले और विजय-कामना और धार्मिक पुरुषार्थवाले ये यहाँ महाराज हुए। ये सब नर-रत्न-प्रभवा भारत की कोख में ही हो सकते थे।

ऐसे महानुभावों का चरित आज-कल की भाषा में बद्ध करना एक धर्म-कार्य ही, साहित्य में, समझना चाहिए। पण्डित सत्यकेतुजी इस पूर्त्त की पूर्त्ति कर चिर-यश के भागी हुए। उनको देश की ओर से बधाई है।

पाटलिपुत्र
शुद्ध श्रावणशुक्ला ३, १९८५ — काशीप्रसाद जायसवाल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५	४	ई० पू०	ई० प०
४६	१८	ई० पू०	ई० प०
११७	१	सिलोई	सिवोई
२२५	२८	पश्चिमः पूर्वबाधकः	राज्ञामाज्ञा तु शासनम्
२३३	८	लवणाध्यत्त	लत्तणाध्यत्त
२३७	८	वास्तुविजय	वास्तुविक्रय
२७८	३	(५)	(४)
३०४	६	दोम	दोत्र



सारनाथ में प्राप्त अशोक-स्तम्भ का शीर्ष-भाग ।

[Frontispiece.

मौर्य्य-साम्राज्य का इतिहास

पहला अध्याय

मौर्य्य-इतिहास की आवश्यक सामग्री

वर्तमान समय में, भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि प्रो० मैक्समूलर[१], डा० फ्लीट[२], श्रीयुत एल्फिन्स्टन[३] आदि ऐतिहासिकों का मत है कि प्राचीन भारतीय सदा पारलौकिक विषयों के ही चिन्तन में लगे रहते थे, उनका इहलोक के सुखों तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली विद्याओं के साथ कोई सम्बन्ध न था और इसी लिए उन्होंने इतिहास की तरफ़ कोई ध्यान नहीं दिया था; तथापि प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि भारतीय लोग इतिहास-विज्ञान से भले प्रकार परिचित थे। वे अपनी घटनाओं को उल्लिखित तथा क्रमबद्ध करते थे। इतिहास को वे इतना महत्त्व देते थे कि उसे पाँचवाँ वेद समझते थे[४]।

---

१. Max Muller—The History of Ancient Sanskrit Literature, p. 9.

२. Dr. Fleet—Epigraphy (Imperial Gazetteer of India, vol. II) p. 3.

३. Elphinstone—History of India (9th edition) p. 12.

४. कौटिलीय-अर्थशास्त्र १।३, छान्दोग्योपनिषद्, सप्तम प्रपाठक।

वेदों के वास्तविक अभिप्राय को समझने के लिए भी इतिहास की उपयोगिता को स्वीकृत करते थे[१]। राजा लोग अपनी दैनिक दिनचर्या में इतिहास के श्रवण को भी महत्त्वपूर्ण समय देते थे[२]। प्राचीन विद्याओं में इतिहास की भी गिनती थी[३]। इन सब युक्तियों के महत्त्व को अनेक यूरोपीय विद्वानों ने भी अनुभव किया है। इसी लिए प्रो० विल्सन[४], कर्नल टाड[५] और श्रीयुत स्टाइन[६] आदि अनेक ऐतिहासिकों ने प्राचीन भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि और प्राचीन साहित्य में इतिहास की सत्ता को स्वीकृत किया है।

भारतीय लोग इतिहास जानते थे या नहीं, इस विवाद में पड़ने की हमें आवश्यकता नहीं है। इतना निश्चित है कि हमारे पास ऐसी बहुत सी सामग्री अब भी विद्यमान है, जिससे भारत का प्राचीन इतिहास तैयार किया जा सकता है। पुरातत्त्व-वेत्ताओं के निरन्तर प्रयत्नों से बहुत से उत्कीर्ण लेख, सिक्के, मूर्तियाँ व अन्य प्राचीन अवशेष हमें प्राप्तव्य हैं। ये प्राचीन इतिहास के ठोस अवशेष हमारे लिए बहुत सहायक हैं। परन्तु इनके सिवाय प्राचीन साहित्य भी इतिहास के लिए कम उपयोगी नहीं है। यद्यपि बहुत समय तक ऐतिहासिकों में इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति रही है, तथापि अब प्राचीन साहित्य की उपयोगिता को स्वीकृत कर लिया गया है और ऐतिहासिक लोग निःसङ्कोच भाव से इसका उपयोग करने लग गये हैं। श्रीयुत पार्जीटर के प्रयत्नों से पुराण भी 'इतिहास के स्रोत' बन गये हैं।

---

१. वायुपुराण १,२०१ पद्मपुराण ५,२,५२।

२. कौ० अर्थ० १।५।

३. छान्दोग्योपनिषद् सप्तम प्रपाठक।

४. Wilson—Translation of the Vishnu Purāṇa, Introduction, pp. lxii आदि

५. Tod—Annal of Rajasthan, Introduction.

६. Stein—Rajatarangiṇi, Introduction.

मौर्य्य-इतिहास की सामग्री को हम मुख्यतया निम्नलिखित सात भागों में बाँट सकते हैं—

(१) प्राचीन संस्कृत-साहित्य, (२) प्राचीन बौद्ध (पाली और संस्कृत)-साहित्य, (३) जैन (प्राकृत और संस्कृत)-साहित्य, (४) ग्रीक यात्रियों के यात्रा-विवरण, (५) चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त, (६) तिब्बती साहित्य, (७) उत्कीर्ण लेख और अन्य स्मारक। हम इस सामग्री का क्रम से संक्षेप के साथ वर्णन करेंगे।

१—प्राचीन संस्कृत-साहित्य

संस्कृत-साहित्य में मौर्य्य-इतिहास को तैयार करने के लिए सबसे अधिक उपयोगी ग्रन्थ कौटिलीय अर्थशास्त्र है। इसे मौर्य्य-साम्राज्य के संस्थापक सम्राट् चन्द्रगुप्त के गुरु और प्रधान मन्त्री आचार्य चाणक्य ने लिखा है। कौटिल्य चाणक्य का ही दूसरा नाम है। आचार्य चाणक्य के अनेक नाम थे। हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि में चाणक्य के निम्नलिखित नाम उल्लिखित किये हैं—वात्स्यायन, मल्लनाग, कुटिल, चाणक्य, द्रामिल, पक्षिल-स्वामी, विष्णुगुप्त और अङ्गुल[1]। प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार आचार्य चाणक्य ने नव नन्दों का नाश कर चन्द्रगुप्त को मगध की राजगद्दी पर बिठाया था[2]। यही प्रसिद्ध चाणक्य या कौटिल्य अर्थशास्त्र का लेखक है। वह स्वयं लिखता है—"जिसने बड़े अमर्ष के साथ शास्त्र, शस्त्र और नन्दराज के हाथ में गई हुई पृथ्वी का उद्धार किया है, उसने इस शास्त्र का निर्माण किया है[3]।" अर्थशास्त्र का निर्माण आचार्य चाणक्य ने ही

---

१. वात्स्यायने मल्लिनागः कुटिलश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥

२. मुद्राराक्षस, पुराण आदि।

३. येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥
कौ० अर्थ० ।१५।१।

किया है, इस पक्ष की पुष्टि के लिए अनेक प्रमाण संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। कामन्दक ने अपने नीतिसार में चाणक्य-द्वारा निर्मित अर्थशास्त्र का उल्लेख किया है[१]। इसी तरह दण्डी ने 'दशकुमारचरित' में आचार्य विष्णुगुप्त द्वारा मौर्य्य सम्राट् के लिए बनाये गये अर्थ-शास्त्र का निर्देश किया है[२]। पञ्चतन्त्र, नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थों में भी इस विषयके निर्देश पाये जाते हैं। मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में 'अत्र कौटिल्यः' लिखकर अर्थशास्त्र से उद्धरण दिये हैं[३]।

ये सब बातें स्पष्टरूप से सूचित करती हैं कि अर्थशास्त्र को मौर्य्य सम्राट् के लिए आचार्य कौटिल्य ने लिखा था। उसने स्वयं इस सम्बन्ध में अपने ग्रन्थ में निर्देश किये हैं। एक स्थान पर वह लिखता है—"सब शास्त्रों का अनुशीलन करके तथा स्वयं क्रियात्मक अनुभव (प्रयोग) द्वारा कौटिल्य ने नरेन्द्र के लिए शासन की यह 'विधि' बनाई है[४]"। इसी तरह अन्यत्र भी मौर्य्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में कुछ निर्देश कौटिल्य ने किये हैं[५]।

यद्यपि प्रो० जॉली जैसे कुछ विद्वानों ने कौटिलीय अर्थशास्त्र

---

१. दर्शनात् तस्य सदृशो विद्यानां पारदृश्वनः।
राजविद्या प्रियतया संक्षिप्तग्रन्थमर्थवत् ॥

कामन्दक नीतिसार १,७।

२. इयमिदानीम् आचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्य्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्रैः संक्षिप्ता।

३. उदाहरणार्थ, रघुवंश १७,४६।

४. सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः ॥

५. इस विषय के अधिक विस्तार के लिए देखिए—Law—Ancient Hindu Polity की R. K. Mukerji द्वारा लिखित Introductory Essay.

को तीसरी या चौथी सदी ई० प० का माना है और प्रतिपादित किया है कि इसका निर्माण किसी एक व्यक्ति-द्वारा न होकर 'सम्प्रदाय' में हुआ है[1], तथापि विद्वानों को यही पक्ष अभीष्ट और स्वीकृत है कि अर्थशास्त्र का निर्माण चौथी सदी ई० पू० में प्रधानामात्य चाणक्य-द्वारा हुआ था[2]।

मौर्य्य-साम्राज्य के संस्थापक सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रधान मन्त्री और गुरु चाणक्य-द्वारा निर्मित होने के कारण 'अर्थशास्त्र' की उपयोगिता निर्विवाद है। इससे मौर्य्यकाल की वास्तविक अवस्था का परिज्ञान होता है। यद्यपि यह मौर्य्य-शासन का क्रमबद्ध विवरण नहीं है, तथापि इसमें वर्णित बातें बहुत अंशों में उस समय क्रिया में परिणत हुई थीं। अकबर के इतिहास में जो स्थान अबुलफज़ल द्वारा लिखित 'आयने अकबरी' का है, मौर्य्य-इतिहास वा चन्द्रगुप्त के इतिहास में प्रायः वही स्थान अर्थशास्त्र का है। इसलिए मार्य्य-इतिहास के निर्माण में हम इसका निःसङ्कोच रूप से प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि अर्थशास्त्र केवल क्रियात्मक राजनीति का ही ग्रन्थ नहीं है। वह जहाँ वास्तविक अवस्थाओं का वर्णन करता है, वहाँ उसमें केवल विचारात्मक भागों की भी कमी नहीं। साथ ही, उसमें ऐसे भी भाग हैं जो मौर्य्यकाल से पूर्व की अवस्था पर प्रकाश डालते हैं। अर्थशास्त्र का उपयोग करते हुए हमें इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिए।

संस्कृत-साहित्य में दूसरा उपयोगी ग्रन्थ कवि विशाख-दत्त-द्वारा रचित प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' है। इसमें चाणक्य ने किस तरह नन्दों का विनाश कर चन्द्रगुप्त को राजगद्दी पर बिठाया, किस तरह नन्द के पुराने अमात्यों ने

---

१. Arthashastra of Kautilya by J. Jolley and R. Schmidt.

२. श्रीयुत जॉली की युक्तियों का श्री० जायसवाल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Hindu Polity में विस्तार से खण्डन किया है।

चाणक्य के प्रयत्नों को असफल करने का यत्न किया, किस तरह चाणक्य ने सब विघ्नों को दूर कर अन्त में चन्द्रगुप्त का अबाधित राज्य स्थापित किया—यह सम्पूर्ण घटना बहुत विस्तार के साथ मनोरञ्जक रीति से लिखी गई है। अभिप्राय यह कि मौर्य्यवंश का प्रारम्भिक इतिहास इस ग्रन्थ में बड़े अच्छे तरीके से वर्णित है। विशाखदत्त कब हुआ, इस सम्बन्ध में विद्वान् अनेक मत रखते हैं। कोई उसे पाँचवीं सदी ई० प० में मानते हैं, तो कोई १२ वीं सदी ई० प० में। परन्तु बहुत से विद्वान् विशाखदत्त का काल आठवीं सदी ई० प० में मानते हैं[1]। इस प्रकार यद्यपि मुद्राराक्षस का निर्माण मौर्य्य-साम्राज्य की स्थापना से ११ सदी बाद हुआ, पर फिर भी इसमें ऐतिहासिक सचाई का अभाव नहीं है। ऐतिहासिक स्मिथ के शब्दों में मुद्राराक्षस में वर्णित कथा विश्वासयोग्य अनुश्रुति पर आश्रित है।

मौर्य्य-साम्राज्य की स्थापना की कथा मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुण्ढिराज ने स्वलिखित उपोद्घात में भी लिखी है। यह उपोद्घात बहुत आवश्यक और उपयोगी है। मुद्राराक्षस की कथा से पूर्व के वृत्तान्त को जानने के लिए इसका उपयोग किया जा सकता है।

सोमदेव द्वारा रचित 'कथासरित्सागर' में भी चन्द्रगुप्त की कथा का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में 'बृहत्कथा' नाम की पुस्तक लिखी थी। कथा-सरित्सागर इसी का संस्कृत-अनुवाद है। इसमें बहुत सी प्राचीन कथायें उल्लिखित हैं। ये कथायें प्रायः असम्भव और अद्भुत बातों से भरी हुई हैं। तथापि सावधानी के साथ इतिहास-निर्माण में इनका उपयोग किया जा सकता है।

मौर्य्यइतिहास को तैयार करने के लिए पुराणों का भी

---

१. निर्णयसागर में प्रकाशित (१९००) तथा श्रीयुत काशीनाथ त्र्यम्बक तैलङ्ग द्वारा सम्पादित मुद्राराक्षस की Introduction देखिए।

बहुत उपयोग है। पुराणों में प्राचीन वंशावलियाँ अविकल रूप से दे दी गई हैं। पुराणों का यह लक्षण बहुत स्थानों पर पाया जाता है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्च लक्षणम्[1]॥

इसके अनुसार प्राचीन वंशों का उल्लेख पुराणों का आवश्यक भाग है। इसी लिए प्रायः सभी पुराणों में प्राचीन वंशावलियाँ उपलब्ध होती हैं। अपने क्रम पर यथास्थान मौर्य्यवंश का भी वर्णन है। यद्यपि यह वर्णन संक्षिप्त तथा अस्पष्ट है, पर इसकी उपयोगिता में कोई सन्देह नहीं। प्रायः पुराणों में पाठभेद पाये जाते हैं। अनेक स्थानों पर उनमें परस्परविरोध भी विद्यमान हैं। इसलिए उनका प्रयोग सावधानता के साथ करना चाहिए।

पुराणों में ऐतिहासिक दृष्टि से मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, भागवत, गरुड़ और भविष्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कलियुग के पीछे के वंशों का वृत्तान्त पुराणों में 'भविष्यवाणी' के रूप में लिखा गया है। इसका कारण यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही अनुश्रुति (Tradition) का संग्रह महाभारत-युद्ध के पश्चात् महर्षि वेदव्यास ने किया था। इसलिए व्यास तक के इतिवृत्त का वर्णन 'भूतकाल' के साथ किया गया है। पीछे के वृत्तान्त भी राणों में जुड़ते गये। महाभारत के बाद का इतिवृत्त भी प्राचीन पुराणों का भाग होता चला गया। पर अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन पुराणों का संगृहीता (व्यास) तो वेदव्यास ही था, अतः पिछले इतिवृत्त का लेखक भी उसे ही होना चाहिए था! इसलिए उसी के द्वारा सब भविष्य की घटनाओं का वर्णन 'भविष्यवाणी' के रूप में करवाया गया। पर फिर भी कहीं कहीं उनमें भूतकाल का प्रयोग हो ही गया

१. वायु ४,१०–११
मत्स्य ५३,६५। आदि।

है[1]। साधारणतया पुराणों का निर्माण-काल चौथी सदी ई० प० से आठवीं व नवीं सदी ई० प० तक समझा जाता है। पर इस समय का अभिप्राय इतना ही है कि इस काल में पुराण अपने वर्तमान अन्तिमरूप में आये। इनमें उल्लिखित वृत्तान्त बहुत प्राचीन समय से अनुश्रुति द्वारा चलता आया है। और बहुत अंशों में उसकी प्रामाणिकता निर्विवाद है। यद्यपि पहले पुराणों का ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोग कर सकना अशक्य समझा जाता था, पर अब ऐतिहासिक लोग इनका निःशङ्क हो उपयोग करने लगे हैं।

पुराणों के साथ ही 'कलियुगराजवृत्तान्त' का भी उल्लेख कर देना चाहिए। यह ग्रन्थ हमारी दृष्टि में अब तक नहीं आया, पर श्रीनारायण शास्त्री ने इसका बहुत अधिक उपयोग किया है।[2] उसे देखने से मालूम पड़ता है कि कलियुग के राजवंशों का इसमें पुराणों की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ वर्णन है।

कालिदास का 'मालविकाग्निमित्र' नाटक भी मौर्य्य-इतिहास के निर्माण के लिए बहुत उपयोगी है। मौर्य्य-वंश के अन्तिम राजा वृहद्रथ को मारकर शुङ्गवंशी पुष्यमित्र ने राज्य पर अधिकार जमा लिया था। पुष्यमित्र के लड़के का नाम अग्निमित्र था। इस नाटक में इसी अग्निमित्र का कथानक वर्णित है। यद्यपि इसका मौर्य्य-इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं, तथापि मौर्य्यवंश के पतन-काल के सम्बन्ध में इससे अनेक ज्ञातव्य बातें मालूम होती हैं। प्रसिद्ध कवि कालिदास का समय ऐतिहासिक लोग प्रायः पाँचवीं सदी ई० प० में स्वीकृत करते हैं।

कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' भी मौर्य्य-इतिहास पर प्रकाश डालती है। काश्मीर के राजाओं का क्रमबद्ध इतिहास कल्हण

---

१. पुराणों की विस्तृत विवेचना के लिए देखिए F. E. Pargiter —Ancient Indian Historical Tradition और Dynasties of the Kali Age की Introduction

२. The Age of Shankar, Appendix I.

ने लिखा है। सम्राट् अशोक का नाम भी काश्मीर के राजाओं में दिया गया है। उसके तथा उसके पीछे के राजाओं के संबन्ध में राजतरङ्गिणी से अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं।

संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध वैयाकरण ऋषि पतञ्जलि का 'महाभाष्य' भी मौर्य्य-इतिहास के अनुशीलन के लिए उपयोगी है। पतञ्जलि शुङ्गवंश के शासन-काल के प्रारम्भ में द्वितीय सदी ई० पू० में हुआ था। अतः स्वाभाविकरूप से उसका ग्रंथ मौर्य्य-कालीन अवस्थाओं का वर्णन कर सकता है। यद्यपि महाभाष्य व्याकरण का ग्रन्थ है, पर प्रसङ्गवश तथा उदाहरण आदि देते हुए उसमें अपने समय की बहुत सी बातों का उल्लेख हो गया है। इनसे पतञ्जलिकालीन भारत का चित्र सरलता से तैयार किया जा सकता है। यह चित्र यद्यपि मौर्य्यकाल से कुछ पीछे का है, तथापि मौर्य्य इतिहास के सम्बन्ध में इससे अनेक ज्ञातव्य बातों का पता चल जाता है।

मौर्य्य-इतिहास की सामग्री का वर्णन करते हुए हमें भास के नाटकों का भी निर्देश करना चाहिए। ऐतिहासिक भास का काल एक सदी ई० पू० के लगभग स्वीकृत करते हैं। भास ने प्रायः प्राङ्मौर्य्य-काल के कथानकों को लेकर अपने नाटकों का निर्माण किया है। मौर्य्य-साम्राज्य के विकास का इतिहास लिखते हुए इनका बहुत अच्छी तरह प्रयोग हो सकता है।

ऊपर वर्णन किये गये ग्रन्थों के सिवाय संस्कृत-साहित्य का अन्य भी बहुत बड़ा भाग इस प्रकार का है, जिसका कि मौर्य्य-इतिहास को तैयार करने में उपयोग किया जाना चाहिए। वर्तमान ऐतिहासिकों के अनुसार बहुत से स्मृति और सूत्रग्रंथों का निर्माण इस काल में प्रारम्भ हो चुका था। बहुत सी स्मृतियाँ तथा सूत्रग्रंथ इसी काल में बने। हम मौर्य्यकाल का इतिहास इन ग्रंथों के आधार पर लिखना उपयुक्त नहीं समझते। यदि इन ग्रंथों का उपयोग किया जाय, तब तो मौर्य्यकालीन भारत का बहुत विशद तथा विस्तृत वर्णन किया जा सकता है। विशेषतः सभ्यता,

धर्म, समाज आदि पर तो इनसे बहुत प्रकाश डाला जा सकता है। पर ऐसा करना उचित नहीं है, क्योंकि जो विद्वान् इन ग्रंथों का निर्माण मौर्य्य-काल में प्रारम्भ हुआ मानते हैं, वे भी यह स्वीकृत करते हैं कि इनमें मौर्य्यकाल से बहुत प्राचीन इतिवृत्त संगृहीत है। बहुत से विद्वान् तो इस प्रकार के हैं, जो इन ग्रंथों के समय को ही बहुत पहले मानते हैं। दोनों अवस्थाओं में ही मौर्य्यकालीन भारत का वर्णन करते हुए इनको आधार बनाना ख़तरे से ख़ाली नहीं है। पर, हाँ, इनसे सहायता अवश्य ली जा सकती है। मौर्य्यकाल की बहुत सी बातों को स्पष्ट करने में इनसे मदद मिलती है। बात यह है कि, अन्य इतिहासों की तरह प्राचीन भारतीय इतिहास में भी एकता (Unity) विद्यमान है। वह भी एक क्रम की शृङ्खला में बँधा हुआ है। इसलिए पहला इतिवृत्त पिछले पर तथा पिछला इतिवृत्त पहले पर प्रकाश डालता है। इसी दृष्टि से हम कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा अशोक के उत्कीर्ण लेखों (Inscriptions) को समझने के लिए अनेक स्थानों पर पिछले तथा पहले ग्रंथों को प्र क्त कर सकते हैं। विशेषतः शासन-व्यवस्था को समझने के लिए कौटिलीय अर्थशास्त्र ही पर्याप्त नहीं हो सकता। उसके लिए शुक्रनीति, कामन्दकनीतिसार, नीतिवाक्यामृत आदि नीति-ग्रंथों का अनुशीलन तथा प्रयोग अनिवार्य है। इसी दृष्टि से हमने कहीं कहीं इन ग्रंथों का उपयोग किया है। परन्तु इन ग्रंथों को आधार में रखना हमने उचित नहीं समझा। इनके आधार पर पृथक् पृथक् कालों का इतिहास लिखा जाना ही तिथिक्रम की वर्त्तमान दशा में युक्तियुक्त तथा उचित है। इसी लिए ऐतिहासिक लोग 'स्मृतिकाल' 'सूत्रकाल' आदि शीर्षकों से इनका पृथक् रूप से अनुशीलन करते हैं।

बहुत से विद्वानों की सम्मति में वात्स्यायन का कामसूत्र, तथा न्याय का वात्स्यायनभाष्य भी आचार्य चाणक्य-द्वारा लिखा गया है। पर अर्वाचीन ऐतिहासिक इसको स्वीकृत नहीं करते। इसी तरह कुछ विद्वानों के विचार में प्रसिद्ध कथाग्रंथ

पञ्चतन्त्र चाणक्य के साथी विष्णुशर्म्मा का लिखा हुआ है। अतः वह भी मौर्य्यकाल में ही बना है। दोनों पक्षों की युक्तियों पर विचार करके हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इन तीनों ग्रंथों का मौर्य्य-इतिहास के लिए प्रयोग करना युक्त नहीं है। अतः प्राचीन विश्वासों को मान की दृष्टि से देखते हुए भी हमने इन्हें प्रयुक्त नहीं किया।

२—बौद्ध (पाली और संस्कृत) साहित्य

मौर्य्य-काल से दो सदी के लगभग पूर्व बौद्ध-धर्म का उदय हुआ था। सम्राट् अशोक के समय इसकी बहुत अधिक उन्नति हुई। बौद्ध-धर्म के प्रचारक देश-विदेश में अपने पवित्र सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए भ्रमण करने लगे। अशोक की नीति के कारण ही बौद्धधर्म संसार-व्यापी धर्म बन सका। इसी लिए इस धर्म के इतिहास में उसे बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ। पिछले समय के लेखक अशोक की कथा, उसके 'धम्म'-प्रचार तथा उसके अद्भुत वैभव का वर्णन करने में गौरव अनुभव करने लगे। क्रिश्चियनिटी के प्रचार में जो स्थान सेण्टपाल का तथा इस्लाम के विस्तार में ख़लीफ़ा उमर का है, वही स्थान बौद्ध-धर्म में सम्राट् अशोक को प्राप्त हुआ। इसी लिए हम देखते हैं कि बौद्ध-पुस्तकों में अशोक की कथा का बड़े विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। क्या देशी और क्या विदेशी—सभी बौद्ध लेखक अशोक का बड़े सम्मान के साथ उल्लेख करते हैं। इन लेखकों ने स्वाभाविक रीति से अशोक के वंश का भी थोड़ा बहुत वर्णन कर दिया है। क्योंकि अशोक मौर्य्य-वंश में उत्पन्न हुआ था, अतः इस वंश का उद्भव, इसके संस्थापक तथा इसके विकास का भी वृत्तान्त उनमें मिल जाता है। इस दृष्टि से बौद्ध-साहित्य मौर्य्य-इतिहास के अध्ययन में बहुत सहायक है।

बौद्ध-साहित्य में मौर्य्य-इतिहास के लिए सबसे अधिक उपयोगी ग्रंथ 'दीपवंश' और 'महावंश' हैं। ये दोनों लङ्का के

क्रमबद्ध प्राचीन इतिहास हैं, परन्तु प्रकरणानुसार इनमें अशोक तथा उसके वंश का वृत्तान्त भी आ गया है। प्राचीन समय में लङ्का में अनुरुद्धपुर नाम का एक प्रसिद्ध नगर था। इसमें 'महाविहार' और 'उत्तर विहार' नाम के दो बौद्ध-धर्ममठ थे[१]। ये दोनों विहार बौद्ध-अध्ययन के केन्द्र थे। पाली भाषा में लिखी हुई बौद्ध-धर्म-पुस्तकें पहले पहल इन्हीं में विकसित हुईं। यहाँ इनका निरन्तर अनुशीलन होता रहा। संहली भाषा में इन पर टीकायें लिखी गईं। इस तरह धीरे धीरे इन विहारों में बहुत बड़ा बौद्ध-साहित्य विकसित हो गया। स्वाभाविकतया इस साहित्य में बहुत से भाग इस प्रकार के भी थे, जिनका लङ्का के इतिहास से सम्बन्ध था। चौथी सदी ई० प० में किसी अज्ञातनामा ग्रन्थकार ने इन भागों को एकत्रित करके एक क्रमबद्ध लङ्का का इतिहास तैयार कर दिया। इसी का नाम 'दीपवंश' (द्वीपवंश) पड़ा[२]। यही लङ्का का सबसे प्राचीन इतिहास है। इसमें लङ्का के प्रारम्भिक इतिहास का वर्णन करते हुए अशोक तथा उसके वंश का वृत्तान्त भी दे दिया गया है।

दीपवंश के १½ सदी पीछे 'महावंश' की रचना हुई[३]। इसके लेखक का नाम 'महानाम' है। यह दीपवंश की अपेक्षा बहुत बड़ा और बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। इसे वाल्मीकीय रामायण व महाभारत की तरह ऐतिहासिक काव्य (Epic poem) कह सकते हैं। साहित्य व कविता की दृष्टि से जहाँ यह उत्कृष्ट है, वहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें भी अशोक तथा उसके वंश का विस्तृत विवरण उल्लिखित है[४]।

---

१. T. W. Rhys Davids—Buddhist India, p. 277.

२. दीपवंश के अंग्रेज़ी अनुवाद के लिए Prof. Oldenberg का अनुवाद देखिए।

३. Rhys Davids—Buddhist India, p. 278.

४. महावंश का अनुवाद Turnour और Wizesimha ने किया है।

बौद्ध-साहित्य में तीसरा उपयोगी ग्रंथ आचार्य बुद्धघोष-विरचित विनयपिटक की टीका है। इसमें भी बहुत से प्राचीन इतिवृत्तों का संग्रह किया गया है, जो कि मौर्य्य-इतिहास के लिए अनेक प्रकार से सहायक हो सकते हैं[1]।

इन तीन पाली पुस्तकों के सिवाय बौद्ध-साहित्य में एक और ग्रंथ है, जो संस्कृत में लिखा हुआ है। इसका नाम है 'दिव्यावदान'। यह महान् संस्कृत-ग्रंथ नैपाल में उपलब्ध हुआ है। सबसे पूर्व इसका श्री० हाड्ग्सन ने पता लगाया था[2]। इसका निर्माण कब हुआ, यह निश्चित कर सकना बहुत कठिन है। इसके लेखक का नाम भी अब तक मालूम नहीं हुआ। सम्भवतः यह एक लेखक का लिखा हुआ न होकर अनेक लेखकों द्वारा लिखा गया है। श्रीयुत रीज् डेविड्स के अनुसार इस ग्रंथ का निर्माणकाल सम्भवतः तीसरी सदी ई० प० में है। यह ग्रंथ बहुत ही उत्कृष्ट, सादी और सुललित संस्कृत में लिखा हुआ है। साहित्यिक शैली की दृष्टि से यह अपूर्व व अद्वितीय है। इसमें बहुत सी प्राचीन बौद्ध-कथायें संगृहीत की गई हैं, जिनमें से कम से कम तीन कथाओं (अवदानों) का मौर्य्य-इतिहास के साथ सीधा सम्बन्ध है। विशेषतः, इनमें 'अशोकावदान' और 'कुनालावदान' बहुत उपयोगी हैं। इनमें अशोक-सम्बन्धी प्राचीन अनुश्रुति बहुत कुछ शुद्धरूप में सुरक्षित है। साथ ही अशोक के पूर्वजों तथा उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में भी इनसे अनेक ज्ञातव्य बातें मालूम होती हैं।

इन ग्रन्थों के सिवाय अन्यत्र बौद्ध-साहित्य में भी बहुत स्थानों पर मौर्य्य-इतिहास के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध होती है। विनय, सुत्त और अभिधम्म पुस्तकों तथा उनकी टीकाओं में स्थान स्थान पर इस प्रकार के निर्देश आजाते हैं, जो मौर्य्य-

१. Buddhist India, p. 277.

२. E. B. Cowell and R. A. Neil द्वारा सम्पादित Divyavadan की Preface, p. v.

इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। इस सम्पूर्ण साहित्य का यहाँ वर्णन करना अप्रासङ्गिक और अनुपयुक्त है। प्राङ् मौर्य्य-काल के लिए यह साहित्य विशेषतः उपयोगी है। मौर्य्यकाल के सम्बन्ध में तो इससे कुछ निर्देश ही मिलते हैं। तथापि हमने इसका अनेक बार उपयोग किया है।

यही बात जातक-ग्रन्थों के सम्बन्ध में है। उनसे भी कहीं कहीं मौर्य्य-इतिहास के लिए अच्छी सहायता मिलती है। जातकों का निर्माण-काल प्रायः मौर्य्य-काल के प्रारम्भ में ही हुआ था।

३—जैन (प्राकृत और संस्कृत)-साहित्य

बौद्ध-साहित्य की तरह जैन-साहित्य भी मौर्य्य-इतिहास के अनुशीलन के लिए आवश्यक सामग्री उपस्थित करता है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ परिशिष्ट-पर्व है। इसे आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है। प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में जैन-साहित्य में जो भी गाथायें व अन्य वृत्तान्त मिलते हैं, प्रायः उन सबका हेमचन्द्र ने 'परिशिष्ट पर्व' में संग्रह कर दिया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इससे हमें चाणक्य, चन्द्रगुप्त और अशोक के सम्बन्ध में बहुत सी नई बातें ज्ञात होती हैं।

सम्राट् अशोक का पौत्र और कुनाल का पुत्र सम्राट् सम्प्रति जैन-धर्म का अनुयायी था। इसने अपने इष्ट-धर्म के प्रचार के लिए बहुत उद्योग किया। बौद्ध-इतिहास में जो स्थान अशोक का है, सम्प्रति का वही स्थान जैन-इतिहास में है। इसी लिए जैन-ग्रन्थों में उसके शासन-काल से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। साथ ही उसके पूर्ववर्त्ती तथा उत्तरवर्त्ती मौर्य्य-सम्राटों का भी ज़िक्र कर दिया गया है।

जैन-साहित्य में दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'भद्रबाहुचरित्र' है।

इसमें सम्राट् सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय)[1] के गुरु श्रुतकेवलि आचार्य भद्रबाहु का चरित्र लिखा गया है। साथ ही चन्द्रगुप्त द्वितीय के सम्बन्ध में बहुत सी ज्ञातव्य बातें भी लिख दी गई हैं।

इनके सिवाय अन्य जैन-साहित्य, जो मौर्य्य-इतिहास के लिए अनुशीलन-योग्य है, निम्नलिखित हैं—

(१) उत्तराध्ययन टीका
(२) आवश्यक सूत्र—हारिभद्रीया टीका और चुन्निटीका
(३) बृहत्कल्प सूत्रभाष्य
(४) हरिषेणकृत—कथाकोष
(५) त्रिलोकप्रज्ञप्ति
(६) लोकविभाग
(७) मेरुतुङ्गाचार्यविरचिता—विचारश्रेणी या स्थविरावलिः
(८) ब्रह्मचारी श्रीमन्नेमिदत्त-कृत आराधना कथाकोष
(९) रामचन्द्र मुमुक्षु कृत पुण्याश्रव कथाकोष

ये ग्रन्थ प्रायः अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं, या कम से कम इनका परिज्ञान प्राचीन भारत के ऐतिहासिकों को नहीं है। वे इनका विशेष उपयोग नहीं करते। परन्तु इनमें बहुत सी सामग्री इस तरह की मौजूद है, जिसका कि मौर्य्य-इतिहास के लिए उपयोग किया जा सकता है।

ऐतिहासिकों ने अभी तक जैन-साहित्य का बहुत कम उपयोग किया है। संस्कृत और बौद्ध-ग्रन्थों के अनुवाद तो प्रायः अँगरेज़ी में हो चुके हैं। अतः सब ऐतिहासिक सरलता से उनका उपयोग कर लेते हैं। पर जैन-साहित्य को अभी परिश्रमशील अध्यवसायी पाश्चात्य विद्वानों ने नहीं छुआ। इसी लिए हमारे

---

[1] इन जैन-ग्रन्थों में वर्णित चन्द्रगुप्त, अशोक का पितामह व मौर्य-साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त न होकर अशोक का पौत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय है, इस बात की विवेचना १४ वें अध्याय में की गई है।

लोगों को उनका पता भी नहीं है। प्रो० जैकावी द्वारा सम्पादित परिशिष्ट पर्व का ही प्रायः ऐतिहासिक लोग प्रयोग करते हैं। पर अन्य ग्रन्थ—जिनमें से बहुत से अभी भोज-पत्रों या ताड़ के पत्तों पर ही लिखे हुए हैं. और जिनकी जटिल प्राकृत भाषा टेढ़ी मेढ़ी लिपि में लिखी ाने के कारण उन्हें और भी जटिल बना देती है—अभी तक विद्वानों के दृष्टिगोचर नहीं हुए। आवश्यकता इस बात की है, कि-इस जैन-साहित्य का भी प्राचीन इतिहास के निर्माण के लिए प्रयोग किया जाय।

प्राचीन संस्कृत, बौद्ध और पाली-साहित्य का इतिहास-निर्माण में उपयोग करते हुए बहुत सावधानी की आवश्यकता है। इस सम्पूर्ण साहित्य में बहुत सी कल्पित तथा असम्बद्ध बातें मिल गई हैं। पर सर्वथा मिथ्या और अविश्वसनीय समझ कर हम इसका त्याग भी नहीं कर सकते, क्योंकि यह सत्य आधारों पर आश्रित है। इसी तरह, अक्षरशः सत्य मान कर इस पर पूरा विश्वास भी नहीं किया जा सकता। हमें बीच का रास्ता पकड़ना है। मिथ्या को सत्य से अलग कर असली ऐतिहासिक घटनाओं को ढूँढ़ निकालना ही सच्चे ऐतिहासिक का काम है। पर इसके लिए बहुत सावधानी तथा विवेक से काम लेना चाहिए।

४—ग्रीक यात्रियों के यात्रा-विवरण

मौर्य-इतिहास को तैयार करने के लिए ग्रीक यात्रियों के यात्रा-विवरणों का भी बहुत महत्त्व है। यदि ग्रीक के स्थान पर पाश्चात्य शब्द का प्रयोग किया जाय, तो अधिक उपयुक्त होगा; क्योंकि जिस ग्रीक और लेटिन-साहित्य के आधार पर हम प्राचीन भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगाते हैं, उसे लिखनेवाले अनेक लेखक स्वयं ग्रीक न थे। वर्त्तमान यूरोपियन ऐतिहासिक इन ग्रीक वा पाश्चात्य विवरणों को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। श्रीयुत मिक्रिण्डल के अनुसार, यदि ग्रीक-विवरण उपलब्ध न होते तो मुसलिम-आक्रमणों से

पूर्व भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में कुछ भी पता हमें न मिल सकता[1]। यद्यपि हमारी यह सम्मति नहीं है, तथापि हम पाश्चात्य विवरणों की उपयोगिता को स्वीकृत करते हैं, और यह मानते हैं कि भारतीय तिथि-क्रम का ठीक ठीक निर्णय इनके विना कभी न हो सकता।

मौर्य्य काल से पूर्व भी पाश्चात्य लेखकों ने भारत के सम्बन्ध में अनेक बातें लिखी हैं। पहला पाश्चात्य विवरण कारिआन्डा के स्काइलैक्स द्वारा लिखा गया है। स्काइलैक्स ने प्रसिद्ध सम्राट् डेरियस की आज्ञा से सिन्ध नदी तक समुद्र-मार्ग-द्वारा यात्रा की थी। डेरियस भारत को भी अपने अधीन करना चाहता था, इसी लिए उसने स्काइलैक्स को भारत-यात्रा की आज्ञा दी थी। स्काइलैक्स के सिवाय मिलेटस के हिकेटियस ने अपने 'भूगोल' में और प्रसिद्ध ऐतिहासिक हीरोडोटस ने अपने 'इतिहास' में भारत का भी ज़िक्र किया है। ४०० ई० पू० के लगभग 'क्टेसियस' ने, जो कि पर्शियन सम्राट् का राजवैद्य था, भारतवर्ष पर एक पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक के जो भाग अब तक उपलब्ध होते हैं, वे बड़े मनोरञ्जक और उपयोगी हैं। विशेषतः भारतीय चिकित्सा-पद्धति पर उनसे अच्छा प्रकाश पड़ता है। मौर्य्य-काल से पूर्व के इन लेखकों के विवरण यद्यपि मौर्य्य-इतिहास के अध्ययन में विशेष सहायक नहीं हैं, तथापि तत्कालीन अवस्था पर उनसे अच्छा प्रकाश पड़ता है। उनके अनुशीलन से मौर्य्य-काल की अनेक बातें अच्छी तरह समझ में आ सकी हैं। जिस प्रकार बौद्ध-कालीन साहित्य से मौर्य्य-इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, उसी तरह ये विवरण भी उसके अनुशीलन में बहुत सहायक हैं।

चौथी सदी ई० पू० में सम्राट् सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। सिकन्दर के साथ अनेक बड़े बड़े विद्वान् और

१. Ancient India, as described in Classical Literature. Translated by J. W. M. Crindle. See Introduction, xi-xii.

लेखक भी थे। इनमें से बहुतों ने अपने स्वामी के विजयों का वृत्तान्त लिखा है, साथ ही उन प्रदेशों के रीति-रिवाजों, प्रथाओं और संस्थाओं का भी वर्णन किया है, जिन पर सिकन्दर ने विजय प्राप्त की थी। इन लेखकों में से कुछ के नाम निम्न-लिखित हैं—

(१) लागस का पुत्र टॉलमी, जो पीछे ईजिप्ट का राजा बना
(२) पोटिडीया का निवासी अरिस्टोबुलस
(३) सिकन्दर का जल-सेनापति निआर्कस
(४) जहाज़ी बेड़े का संचालक ओनेसिक्रिटस
(५) कार्डिया का निवासी यूमेनीस, यह सिकन्दर का मन्त्री था।
(६) मिटीलेन का निवासी चारस
(७) एरिस्टोटल का सम्बन्धी केलिस्थनीज़
(८) क्लाइटार्कस
(९) लैरिस्सा निवासी पॉलीक्लाईटस
(१०) लैम्प्सेकस निवासी एनिक्सेमनीज़
(११) डायोग्नेटस
(१२) बीटन
(१३) फारसेलम निवासी किर्सिलस

ये लेखक सिकन्दर के साथ भारत आये थे। इन्होंने अपनी आँखों से जो कुछ देखा या स्वयं जो कुछ सुना, उसी को लेखबद्ध कर दिया। परन्तु सिकन्दर ने भारत के बहुत ही थोड़े से भाग पर विजय प्राप्त की थी, इस-लिए इनके विवरण भी बहुत ही सीमित थे। सिकन्दर पञ्जाब से आगे न बढ़ा था। इसी लिए ये लेखक शेष भारत के सम्बन्ध में प्रामाणिकता के साथ कुछ न लिख सके। इनके सिवाय एक अन्य भी ग्रीक लेखक है, जो यद्यपि सिकन्दर के साथ भारत नहीं आया था, तथापि उसने भारत के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। इसका नाम है क्लिटार्कस। यह सिकन्दर का समकालीन है। इसने सिकन्दर की विजययात्रा का विस्तृत

वर्णन लिखा है। मौर्य्य-इतिहास के प्रारम्भ में ही विजेता सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था। इसलिए स्वाभाविक रूप से इन लेखकों के विवरण मौर्य्यकालीन अवस्था को जानने के लिए वहुत उपयोगी थे।

सिकन्दर और सैल्यूकस के आक्रमणों के बाद भारत का पश्चिमीय जगत् से और विशेषतः यूनानी राज्यों से वहुत सम्बन्ध होगया। इन राज्यों में भारत के राजदूत रहने लगे और भारत में सीरिया, मिस्र आदि पाश्चात्य राज्यों के राजदूत निवास करने लगे। सीरियन सम्राट् सैल्यूकस निकेटर ने मौर्य्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार में मैगस्थनीज़ को राजदूत वनाकर भेजा। यह अनेक वर्षों तक मौर्य्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में रहा। मैगस्थनीज़ वहुत ही योग्य व्यक्ति था। भारत में रह कर उसने यहाँ के भूगोल, इतिहास, रीतिरिवाज, शासन-प्रवन्ध, सैन्य-सञ्चालन आदि का ख़ूब अच्छी तरह अनुशीलन किया। इन सबको वह लेखबद्ध करता गया। मैगस्थनीज़ का यात्रा-विवरण भारतीय इतिहास और विशेषतः मौर्य्य-इतिहास के लिए वहुत ही उपयोगी है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के वाद चन्द्रगुप्तकालीन भारत का अनुशीलन करने के लिए इससे अच्छा और कोई साधन नहीं है।

सैल्यूकस के उत्तराधिकारी एण्टियोकस सार्टर ने मौर्य्यवंश के द्वितीय सम्राट् विन्दुसार (या अमित्रघात) के दरबार में डायमेचस को राजदूत वनाकर भेजा था। यह भी अनेक वर्षों तक पाटलीपुत्र में रहा। डायमेचस ने भी भारत पर एक पुस्तक लिखी थी। सम्राट् विन्दुसार के ही समय में मिश्र के राजा टौलमी फिलेडेल्फस ने डायोनिसियस को अपना राजदूत वनाकर भारत भेजा था। इसने कोई ग्रन्थ लिखा या नहीं, इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

इसी काल में पैट्रोक्लीज़ नाम के एक अन्य यूनानी ने भारत के सम्बन्ध में लिखा है। पैट्रोक्लीज़ सैल्यूकस और उसके बाद

एरिटयोकस की तरफ़ से सिन्ध नदी और कैस्पियन सागर के मध्यवर्त्ती प्रदेशों पर शासन करने के लिए नियत किया गया था। इसने अपने अधीन राज्यों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इस विवरण में भारत का भी कुछ भाग सम्मिलित है। पैट्रोक्लीज के ग्रन्थ को पुराने लोग बड़े मान की दृष्टि से देखते आये हैं। स्ट्रेबो ने इसकी प्रशंसा की है और सिकन्दरिया के पुस्तकालय के अध्यक्ष एरोटोस्थनीज़ ने (२४० ई० पू० से १९६ ई० पू० तक) इसको बहुत मान की दृष्टि से देखा है।

मौर्य्यकाल के अन्त में पोलिबिअस नाम का एक अन्य ग्रन्थकार हुआ है। इसने अपने 'इतिहास' में सैल्यूकस के वंशज राजाओं के समय की भारतीय अवस्था पर अच्छा प्रकाश डाला है।

यदि इन सब ग्रीक लेखकों के विवरण वर्तमान समय में उपलब्ध होते, तो निस्सन्देह मौर्य्य-इतिहास को तैयार करने में बहुत सहायता मिलती। परन्तु शोक यही है कि इनके ग्रन्थ नष्ट हो चुके हैं। केवल हीरोडोटस का ही ग्रन्थ आज-कल प्राप्त होता है। अन्य लेखकों के विवरण सर्वथा लुप्त होगये हैं। पश्चात्कालीन लेखकों ने, जिनके समय में कि इनके ग्रन्थ विद्यमान थे, इनका अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है। इन्हीं की कृपा से हमें नियार्कस, मैगस्थनीज़, डायमेचस आदि के विवरणों के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत परिचय मिलता है। ईसवी सन् के बाद अनेक शताब्दियों तक ग्रीक यात्री भारत में नहीं आये। अतः उन लोगों को भारत का प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सका[1]। जो कुछ उन्होंने लिखा, वह प्राचीन लेखकों के आधार

१. इस काल में भारत के पश्चिमीय प्रदेशों पर ग्रीक लोगों का राज्य अवश्य था, पर इन भारतीय ग्रीकों का सीरिया व अन्य पाश्चात्य देशों के ग्रीक लोगों के साथ सम्बन्ध न रहा था। इसका कारण है बीच में पार्थियन शक्ति का अभ्युदय। पार्थियन साम्राज्य की स्थापना के कारण प्राच्य और पाश्चात्य ग्रीकों का पारस्परिक सम्बन्ध टूट गया था। यही

पर ही लिखा। उन्होंने मैगस्थनीज़ आदि के यात्राविवरणों को ही विशेष रूप से अपना आधार बनाया। इसी लिए उनके ग्रन्थों में स्थान स्थान पर प्राचीन लेखकों के उद्धरण मिलते हैं। इन्हीं के आधार पर हम यह जान सके हैं कि प्राचीन विवरणों का क्या स्वरूप था। ये इधर-उधर बिखरे हुए उद्धरण मौर्य्य-इतिहास को तैयार करने में बहुत सहायक हैं।

प्राचीन ग्रीक यात्रियों व लेखकों के विवरणों के सम्बन्ध में जो कुछ भी ज्ञान हमें है, वह पीछे के लेखकों के ग्रन्थों से है। अतः उनका भी संक्षेप से उल्लेख कर देना अप्रासङ्गिक न होगा। मुख्य रूप से ये लेखक निम्नलिखित हैं—

(१) 'पेरिप्लास ऑफ अरिथ्रोयन सी' का अज्ञात लेखक— 'पेरिप्लास' एक बहुत ही अद्भुत ग्रन्थ है। इससे हमें भारत के प्राचीन भूगोल, व्यापार आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ पता लगता है। परन्तु इसके लेखक का नाम हमें मालूम नहीं। सम्भवतः पेरिप्लास के लेखक ने भारत के पश्चिमीय तट की स्वयं यात्रा की थी। इस तरह स्वयं भारत का अवलोकन करके तथा रोम और कोन्स्टेन्टिनोपल में निवास करनेवाले भारतीय दूतों और अलैक्जण्ड्रिया आदि में रहनेवाले भारतीयों से मिलकर इस अज्ञात लेखक ने भारत के सम्बन्ध में बहुत ही उपयोगी तथा मनोरञ्जक बातें उल्लिखित की हैं।

(२) प्लिनी—यह प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता था। इसके 'भूगोल' से भारत के मिस्र तथा पाश्चात्य देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों का भी पता लगता है।

कारण है कि भारत में ग्रीक राजाओं की सत्ता हमें ग्रीक-साहित्य से नहीं मालूम पड़ती। यह ग्रीक मुद्राओं से ही जानी जा सकी है।

यहाँ यह ख़याल रखना चाहिए कि हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि ग्रीक लोगों का भारत के साथ कोई सम्बन्ध था ही नहीं।

(३) टाल्मी—इसने भारत के भूगोल के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। इसका बनाया हुआ भारत का नक़शा अब भी उपलब्ध होता है।

(४) प्रोफिरी और स्टोवियस—इन दो लेखकों ने ब्राह्मण और बौद्ध संन्यासियों व भिक्षुओं के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातें लिखी हैं।

(५) सिकन्दर की विजय-यात्रा का वृत्तान्त निम्नलिखित ग्रन्थकारों ने लिखा है—

१. डायोडोरस सिक्युलस
२. एरियन
३. प्लुटार्क
४. कर्टियस
५. जस्टिनस
६. 'इटिनेरियम एलेक्जरिड्रमँग्नि' का अज्ञात लेखक

(६) स्ट्रैबो—यह अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थकार है। प्राचीन लेखकों में इसका भूगोल-सम्बन्धी ज्ञान और ऐतिहासिक आलोचना की शक्ति सचमुच आश्चर्यप्रद है। इसके ग्रंथों से प्राचीन भारत के संबन्ध में बहुत सी नई बातें मालूम पड़ती हैं।

(७) पोम्पोनियस मेला
(८) सोलिनस
(९) मार्सिएनस
(१०) क्लाडियस ईलिएनस

इनके सिवाय अन्य भी बहुत से प्राचीन लेखक हैं। साथ ही, प्राचीन ग्रीक और रोमन-साहित्य में अन्यत्र भी कहीं कहीं भारत के प्रति निर्देश मिलते हैं। ये सब निर्देश प्राचीन भारतीय इतिहास को समझने में बहुत सहायक हैं। मौर्य्य-इतिहास को तैयार करने में भी इनका अनेक प्रकार से उपयोग किया जा सकता है। सिकन्दर के आक्रमणों का वर्णन करनेवाले लेखक

तथा मैगस्थनीज़ और डायमेचस से उद्धृत करनेवाले ग्रन्थकार तो प्रत्यक्ष रूप से इसमें सहायक हैं ही, पर अन्य भी मौर्य्य-इतिहास की अनेक बातों को स्पष्ट करते हैं। मैगस्थनीज़ आदि के यात्रा-विवरणों को जब हम अन्य ग्रंथों से मिला कर पढ़ते हैं, तब ही अनेक बातें स्पष्ट हो सकती हैं।

भारत के संबन्ध में प्राचीन ग्रीक और रोमन-साहित्य में जो कुछ भी उपलब्ध होता है, उसको श्रीयुत मिक्रेण्डल ने संगृहीत करके उसका अनुवाद अँगरेज़ी में प्रकाशित कर दिया है[1]। इस कारण ग्रीक और लेटिन न जाननेवालों के लिए भी इनका अध्ययन बहुत सुगम हो गया है।

५—चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त

भारत और चीन का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से चला आता है। महाभारत में चीन देश का वर्णन किया गया है[2]। कौटिलीय अर्थशास्त्र में चीन से आनेवाली व्यापारिक वस्तुओं

---

१. श्रीयुत मिक्रेण्डल ने प्राचीन साहित्य के इस भारत-संबन्धी ज्ञान को निम्नलिखित ६ पुस्तकों में प्रकाशित किया है—

(1) Ancient India as described by Megasthenes and Arrian.

(2) The Commerce and Navigation of the Erythraean Sea.

(3) Ancient India as described by Ktesias the Knidian.

(4) Ancient India as described by Ptolemy.

(5) The Invasion of India by Alexander the Great.

(6) Ancient India as described in Classical Literature.

२. महाभारत, युद्ध-पर्व

का उल्लेख है[1]। इससे मालूम पड़ता है कि मौर्य्यकाल में भारत और चीन के बीच में व्यापारिक संबन्ध विद्यमान था। स्वाभाविक रूप से, अनेक चीनी व्यापारी इस काल में भारत देश में आये होंगे। परन्तु इन व्यापारियों के सम्बन्ध में हमें कुछ भी परिज्ञान नहीं है। यदि इनके लिखे हुए कोई विवरण वर्तमान समय में उपलब्ध होते, तो निस्सन्देह मौर्य्य-इतिहास पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ता

बौद्ध-धर्म के विदेशों में विस्तार के साथ भारत और चीन का संबन्ध और भी अधिक दृढ़ हो जाता है। तिब्बती साहित्य के अनुसार सम्राट् अशोक के पुत्र कुस्तन-द्वारा सबसे पहले चीनवासियों को बौद्ध-धर्म का परिचय प्राप्त हुआ था[2]। चीनी साहित्य के अनुसार भी २१७ ई० पू० में अनेक भारतीय प्रचारक चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लए गये थे[3]। परन्तु वस्तुतः चीन में बौद्ध-धर्म का स्थिर रूप से प्रचार ६१ ई० पू० में प्रारम्भ होता है। इस समय चीन में सम्राट् मिङ्-टी राज्य कर रहा था। एक दिन स्वप्न में उसने भगवान् बुद्ध की मूर्त्ति का अवलोकन किया। इस नवीन देवता तथा उसके धर्म के संबन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसने अनेक राजदूत भारतवर्ष की ओर भेजे। इन्होंने भारत में आकर बौद्ध-धर्म की पुस्तकों का अवलोकन किया। लौटते हुए ये मध्यभारत में रहनेवाले काश्यप मतङ्ग नामक आचार्य को अन्य अनेक बौद्ध भिक्षुओं के साथ चीन ले गये। आचार्य काश्यप मतङ्ग ने चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। अनेक बौद्ध-पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद कर साधारण जनता को नवीन धर्म से दीक्षित किया गया। अब से चीन में बौद्ध-धर्म का विस्तार शुरू हो

---

१ कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।११

२. Rockhill—Life of the Buddha (Chapter VIII).

३. Edkins—Chinese Buddhism, p. 88.

गया। भारत से निरन्तर प्रचारक आते रहे और शीघ्र ही चीन में बौद्ध-विहारों, स्तूपों और संघारामों का निर्माण होने लगा। सैकड़ों की संख्या में भारतीय पुस्तकों का अनुवाद हुआ। पाँचवीं सदी ई० पू० में आचार्य कुमारजीव ने बहुत सी बौद्ध पुस्तकों का अनुवाद चीनी भाषा में कराया। यह अनुवाद की प्रक्रिया बहुत समय तक जारी रही। इसका यह परिणाम है कि आज चीन में १,४०० से अधिक इस प्रकार की धर्मपुस्तकें उपलब्ध होती हैं, जो संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद हैं[१]। इनके सिवाय सैकड़ों अनुवाद नष्ट भी हो चुके हैं। भारत में जो ग्रंथ नहीं मिलते, उनके अनुवाद चीन में मिलते हैं[२]। इन ग्रंथों में मौर्य्य-साम्राज्य के सम्बन्ध में भी बहुत सी बातें उल्लिखित हैं। मौर्य्य-सम्राट् अशोक का बौद्ध-धर्म के साथ विशेष सम्बन्ध

१. Edkins—Chinese Buddhism, p. 282.

२. श्रीयुत एडकिन्स के अनुसार चीनी भाषा में भारतीय ग्रन्थों के अनुवादकों में से कुछ के नाम निम्नलिखित हैं—

अनुवादक	देश	तिथि ई० प०
काश्यप मतङ्ग	मध्यभारत	६०
चु-फा-लान	मध्यभारत	६०
ध्यान-शी-काउ	आन्सी	१४७
चि-याउ	भारत	१८५
काङ्ग-मेङ्ग-ट्सिआङ्ग	तिब्बत	१६४
धरमति	आन्सी	२५४
चु-लियू-येन	भारत	२३०
काङ्ग-सेङ्ग-ह्वेइ	तिब्बत	२५०
फा-क्यू	भारत	३००
गौतमसिंह देव	कोफॅन	३६०
काङ्ग-सेङ्ग-केइ	भारत	२५४
पेह-येन	भारत	२५८
चु-धर्मरच	मेसेगैटी	३१३

है। अतः बौद्ध-साहित्य में स्थान स्थान पर उसका वर्णन है। उसके साथ ही मौर्य्यवंश के अन्य सम्राटों के सम्बन्ध में भी अनेक ज्ञातव्य बातें उपलब्ध होती हैं। एक चीनी ग्रन्थ 'फा-युएन-चु-लिन' के अनुसार बुद्ध अपने शिष्य आनन्द को कहता है—"तुम्हें जानना चाहिए कि 'पालिनपुत' (पाटलिपुत्र) नगर में चन्द्रगुप्त नाम का एक राजा होगा। उसके बिन्दुपाल नाम का एक पुत्र उत्पन्न होगा। इस बिन्दुपाल के सुसीम नाम का पुत्र होगा।" इसके आगे सम्राट् अशोक का सम्पूर्ण विवरण उल्लिखित है[1]। हम जानते हैं कि सुसीम अशोक का बड़ा भाई था और बौद्ध-साहित्य के अनुसार अशोक ने सुसीम को मार कर स्वयं राज्य प्राप्त किया था। मौर्य्य-इतिहास के सम्बन्ध में इसी तरह चीनी साहित्य में अन्यत्र भी अनेक ज्ञातव्य बातें मिलती हैं। निस्सन्देह, मौर्य्य-इतिहास को तैयार करने में इनका बहुत अधिक उपयोग किया जा सकता है। प्राचीन काल में भारत और चीन का सम्बन्ध इतना अधिक था कि छठी सदी के प्रारम्भ में ३ हज़ार से अधिक भारतीय चीन में विद्यमान थे[2]। ये भारतीय प्रचारक बहुत सा भारतीय ज्ञान अपने साथ चीन लेते गये। जहाँ धर्म, विज्ञान आदि के सम्बन्ध में इन लोगों ने चीन में भारतीय पुस्तकों का उपदेश किया, वहाँ भारतीय इतिहास को भी भुला न दिया गया। चीन ने अपने गुरु भारत के इतिहास को बड़े ध्यान से पढ़ा। यही

अनुवादक	देश	तिथि ई० प०
धर्मरत्न	मध्यभारत	४३३
गुणभद्र	मध्यभारत	४३५
कुमारजीव	भारत	४०१
परमोद	पश्चिम-भारत	५४०
बोधिरुचि	दक्षिण-भारत	७०५

Chinese Buddhism, p. 210.

१. Edkins—Chinese Buddhism, p. 106.

२. Edkins—Chinese Buddhism, p. 99.

कारण है कि प्राचीन चीनी-साहित्य से हम भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में बहुत सी नवीन बातों का पता लगा सकते हैं।

भारत और चीन का धर्म-सम्बन्ध स्थापित होने पर केवल भारतीय लोग ही चीन में नहीं गये, अपितु अनेक चीनी यात्री भी भारत में आये। इन चीनी यात्रियों के भारत आने में तीन हेतु थे। पहला कारण यह कि भारत में भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। उन्होंने अपनी जीवन-लीला भारत में ही समाप्त की। जिन स्थानों से बुद्ध का विशेष सम्बन्ध था, पीछे से वे बौद्धों के पवित्र तीर्थ बन गये। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन, जापान, कोरिया, खोतान आदि से बहुत से यात्री अपने धार्मिक तीर्थों का दर्शन करने के लिए भारत आने लगे। भारत सम्पूर्ण बौद्ध-जगत् की पुण्य-भूमि-धर्म-क्षेत्र बन गया। साथ ही, अनेक विदेशी राजाओं ने बुद्ध भगवान् के 'शरीरों'[1] की प्राप्ति के लिए अपने दूत-मण्डल भारत में भेजे। बुद्ध के 'शरीरों' की उपासना तथा उन पर स्तूप-निर्माण की विधि बौद्धों में प्रारम्भ होगई थी। ये 'शरीर' केवल भारत से ही प्राप्त किये जा सकते थे। अतः इन्हें लेने के लिए अनेक विदेशी यात्री भारत आये। दूसरा कारण बौद्ध पुस्तकों की जिज्ञासा है। असली बौद्ध-पुस्तकें भारत से ही प्राप्त हो सकती थीं। इन्हें ढूँढ़ने तथा इनका अभिप्राय समझाने के लिए उपदेशकों और विद्वानों को निमन्त्रित करने के लिए अनेक विदेशी और विशेषतः चीनी यात्री भारत में समय समय पर पधारते रहे। तीसरा कारण यह कि मध्यकालीन भारत में नालन्दा और विक्रमशिला नाम के दो विश्वविद्यालय बौद्ध-अध्ययन के केन्द्र थे[2]। बौद्ध-धर्म के

---

१. प्राचीन बौद्ध-साहित्य में भगवान् बुद्ध के शरीर के अवशेषों (Relics) के लिए 'शरीर' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिए हमने भी इसी का प्रयोग करना उपयुक्त समझा है।

२. Samaddar—The Glories of Magadha में इन विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में बहुत सी ज्ञातव्य बातें एकत्रित कर दी गई हैं।

सम्बन्ध में उच्च से उच्च शिक्षा इनमें मिल सकती थी। सम्पूर्ण बौद्ध जगत् में इनकी कीर्ति फैली हुई थी। जिन्हें बौद्ध-धर्म तथा बौद्ध-साहित्य का उच्च-तम अनुशीलन करना होता था, वे इन विश्वविद्यालयों में आते थे। इनमें अध्ययन करने के लिए बहुत से विदेशी विद्यार्थी भारत आये। इन तीन कारणों से चीन से बहुत से यात्री और विद्यार्थी भारत में आते रहे। इनमें से बहुतों ने अपने यात्रा-विवरण चीनी-भाषा में लिखे हैं। ये यात्रा-विवरण भारतीय इतिहास के लिए बहुत अधिक उपयोगी हैं। इनसे तत्कालीन भारत का जीता-जागता चित्र आँखों के सम्मुख आजाता है। यद्यपि मौर्य्यकाल में इस प्रकार का कोई यात्री भारत में नहीं आया, तथापि ये यात्राविवरण मौर्य्य-इतिहास के ज्ञान के लिए अनेक प्रकार से सहायक हैं।

सम्राट् अशोक ने भारत में बहुत से विहारों, स्तूपों और संघारामों का निर्माण कराया था। ये इमारतें इस समय उपलब्ध नहीं होतीं। परन्तु इन चीनी यात्रियों के भारत में आने के समय इनमें से बहुत सी विद्यमान थीं। ऐसी अनेक इमारतों का वर्णन चीनी यात्रियों ने किया है। बौद्ध-धर्म और अशोक का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण अशोक के इतिहास, उसके जीवन-वृत्तान्त तथा कार्यों के सम्बन्ध में बहुत सी ज्ञातव्य बातें इन चीनी यात्रियों ने अपने विवरणों में लिखी हैं। भारत में भ्रमण करते हुए इन यात्रियों ने अशोक की कीर्ति के जीते-जागते चिह्नों को देखा था। उसके इतिहास के विषय में बहुत सी बातों को सुना था। इन्हें वे अपने विवरणों में लिखते गये। उसके पूर्व-इतिहास, वंश आदि के सम्बन्ध में भी जो कुछ मालूम हुआ, उन्होंने लेखबद्ध कर लिया। इस दृष्टि से मौर्य्य-इतिहास को तैयार करने में चीनी यात्रियों के ये विवरण बहुत सहायक हैं।

हम यहाँ पर सब यात्रियों का वर्णन नहीं कर सकते। केवल उन्हीं का संक्षेप से उल्लेख करना चाहते हैं, जिनके विवरण मौर्य्य-इतिहास के लिए विशेषतः उपयोगी हैं—

(१) फ़ाहियान—यह शान-सी नामक प्रदेश में वु-याङ्ग नामक स्थान पर उत्पन्न हुआ था। तीन वर्ष की आयु में इसे बौद्ध-धर्म की दीक्षा देकर श्रमण बनाया गया और उस समय की प्रथा के अनुसार 'शाक्यपुत्र फ़ाहियान' कहलाया[1]। चीन में अप्राप्य बौद्ध-पुस्तकों को जानने की इच्छा से यह ३९९ ई० प० में भारत के लिए चल पड़ा। १४ वर्ष तक इसने भारत की यात्रा की। इसके यात्रा-विवरण तत्कालीन भारत में बौद्धधर्म की अवस्था को समझने के लिए बहुत उपयोगी हैं।

(२) सुंगयुन—यह तुन-ह्वाङ्ग नामक स्थान का रहनेवाला था। इसे ५१८ ई० पू० में उत्तरीय वाई-वंश की साम्राज्ञी ने श्रमण हुई-सांग के साथ महायान-सम्प्रदाय की पुस्तकों की खोज के लिए भेजा था। ये भारत से लौटते समय १७० पुस्तकें अपने साथ लेते गये। सुङ्गयुन ५२१ ई० प० में अपने देश चीन को वापिस गया।

(३) ह्यून-सांग—चीनी यात्रियों में ह्यून-सांग सबसे प्रसिद्ध है। यह होनान नामक प्रदेश में चिनलिऊ नाम के स्थान पर ६०३ ई० प० में उत्पन्न हुआ था। १३ साल की आयु में यह भिक्षु बना। २६ साल की आयु में ह्यून-सांग ने भारतयात्रा के लिए प्रस्थान किया। उसका उद्देश्य बौद्धधर्म का अनुशीलन तथा नवीन संस्कृत पुस्तकों को एकत्रित करना था। चीन की उत्तर-पश्चिमी सीमा को पारकर आक्सस और जैक्सर्टस नदियों की घाटियों का अवलोकन करता हुआ यात्री ह्यूनसांग हिन्दूकुश पर्वत को पार करके भारतवर्ष में प्रवेश करता है। पश्चिमीय भारत का अवलोकन करके ह्यूनसांग सम्राट् हर्षवर्धन के राजदरबार में उपस्थित हुआ। इस प्रसिद्ध चीनी यात्री के यात्रा-वृत्तान्त को उल्लिखित

---

१. Beal—Buddhist Records of the Western World. Introduction, p. xi.

करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। पामीर, काशगर और खोतान में से गुज़रता हुआ वह फिर चीन वापिस चला गया। ह्यूनसांग ने ६२९ ई० प० में भारत के लिए प्रस्थान किया था और १६ साल यात्रा कर ६४५ में वह लौट गया। वापिस जाते हुए वह ६५७ पुस्तकें अपने साथ चीन ले गया।

मौर्य्य-इतिहास का अध्ययन करने के लिए ह्यून-सांग का यात्रा-विवरण बड़े महत्त्व की वस्तु है। यह विवरण बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है। बौद्ध-इतिहास के सम्बन्ध में बहुत सी उपयोगी बातें इससे ज्ञात होती हैं। अशोक के विषय में ह्यून-सांग ने बहुत विस्तार के साथ लिखा है। उसकी कृतियों का वर्णन भी उसने बहुत विस्तृत रूप से किया है।

इन तीन यात्रियों के सिवाय अन्य भी अनेक यात्रियों के नाम हमें मालूम हैं[1]। कइयों के यात्रा-विवरण भी उपलब्ध हैं। परन्तु मौर्य्य-इतिहास की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है। ये यात्री मध्यकाल में भारत आये थे। उस समय की अवस्था का इन्होंने अच्छी तरह वर्णन किया है। उस काल के लिए ये प्रामाणिक भी हैं। मौर्य्य-इतिहास के लिए तो इनके द्वारा उल्लिखित अनुश्रुति, तथा स्वयं अवलोकित इमारतों व भग्नावशेषों के विवरण ही विशेष रूप से उपयोगी हैं।

६—तिब्बती साहित्य

चीनी साहित्य की तरह तिब्बती साहित्य भी मौर्य्य-इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश डालता है। प्राचीन भारत का तिब्बत के साथ संबन्ध था, इसी लिए महाभारत में 'त्रिविष्टप' के नाम से तिब्बत का उल्लेख आता है। तिब्बती लोग अपने

१. इन नामों के लिए देखो—जगन्मोहन वर्मा—सुंगयुन का यात्रा-विवरण (उपक्रम)।

आरम्भिक इतिहास का सम्बन्ध भारत के साथ जोड़ते हैं, और अपना पहला राजा कोशलराज प्रसेनजित् के पुत्र 'ग्न्या-त्रि-त्सान-पो' को मानते हैं[1]। वौद्ध-धर्म का प्रचार होने के वाद तिब्वत और भारत का संवन्ध बहुत दृढ़ हो जाता है। चीनियों की तरह अनेक तिब्वती यात्री और विद्यार्थी भारत में आते हैं, और वौद्ध-धर्म की पुस्तकों का अनुवाद अपनी भाषा में करते हैं। यही कारण है कि तिब्वत में वौद्ध-धर्म-विषयक बहुत सा साहित्य उपलब्ध होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इस विशाल साहित्य का अनुशीलन करने में विशेष रूप से प्रयत्न किया है। इनके शुभ नाम एलैक्जैण्डर क्सोमा डि क्यूरुस और आन्टन शीफ्नर हैं। इन्होंने तिब्वती साहित्य के बड़े भाग का वर्तमान भाषाओं में अनुवाद कर दिया है। इससे हम तिब्वती वौद्ध-धर्म के संवन्ध में बहुत सी ज्ञातव्य वातों का पता लगा सकते हैं। वौद्ध-धर्म के साथ ही साथ इस साहित्य में प्राचीन भारतीय इतिहास की भी बहुत सी सामग्री विद्यमान है। अशोक की वौद्ध-धर्म में जो स्थिति है, उसके कारण इस साहित्य में उसके तथा उसके वंश के संवन्ध में बहुत सी उपयोगी वातें उल्लिखित हैं। मौर्य्य-इतिहास के अनुशीलन में इनका भी प्रयोग करना चाहिए।

७—उत्कीर्ण लेख और अन्य स्मारक

मौर्य्यकाल के बहुत से उत्कीर्ण लेख (Inscriptions) और स्मारक (Monuments) वर्तमान समय में उपलब्ध होते हैं। ये मौर्य्य-इतिहास को तैयार करने में बहुत सहायक हैं। इनकी प्रामाणिकता में किसी भी तरह का सन्देह नहीं किया जा सकता। ये अपने समय के जीते-जागते अवशेष हैं। हमने इनका दो पृथक् अध्यायों में विस्तार के साथ वर्णन किया है। अतः यहाँ इनके विषय में लिखने की आवश्यकता नहीं।

---

१. Rockhill—Life of Buddha, p. 208.

मौर्य्यकालीन लेखों के सिवाय कुछ अन्य भी इस प्रकार के शिलालेख हैं, जो मौर्य्य-इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। इनका संक्षेप से यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है—

(१) हाथीगुम्फा शिलालेख—यह कलिङ्गराज श्री खारवेल का लिखवाया हुआ है। मौर्य्यवंश के पतन के समय जो अनेक देश स्वतन्त्र हो गये थे, उनमें से कलिङ्ग एक था। इसका अत्यन्त प्रतापशाली राजा खारवेल न केवल कलिङ्ग की स्वतन्त्रता को स्थिर रखने में सफल हुआ, अपितु बहुत से युद्ध कर अपने राज्य को विस्तृत करने में समर्थ हुआ। मौर्य्य इतिहास के पतन के समय पर इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है[1]।

(२) श्रवणबेलगोला में चन्द्रगिरिपर्वत के शिलालेख—मैसूरराज्य में श्रवण बेलगोला जैनों का बहुत पवित्र तीर्थ है। यहाँ श्रुतिकेवलि आचार्य भद्रबाहु अशोक के पौत्र राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय को साथ लेकर रहा था और अनशन व्रत करके प्राण त्याग किया था। इसका विस्तृत विवरण इस स्थान पर प्राप्त बहुत से शिलालेखों में उपलब्ध होता है[2]।

(३) गिरनारपर्वत पर क्षत्रप रुद्रदामन का लेख—यह १५० ई० प० के लगभग उत्कीर्ण कराया गया था। इससे मौर्य्य-सम्राटों-द्वारा निर्मित सुदर्शन झील के संबन्ध में अनेक बातें ज्ञात होती हैं। सुदर्शन झील पहले-पहल चन्द्रगुप्त के समय में बनी थी।

१. K. P. Jayaswal—Journal of Bihar and Orissa Research Society.

२. Rice—Mysore and Coorg from the Inscriptions.

दूसरा अध्याय

तिथि-क्रम का निर्णय

भारतीय तिथि-क्रम (Chronology) के इतिहास में २८ फ़रवरी सन् १७९३ का दिन चिरस्मरणीय रहेगा। इस दिन सर विलियम जोन्स ने अपने उस 'आविष्कार' को बङ्गाल की रायल एशियाटिक सोसायटी के सम्मुख प्रस्तुत किया था, जिसे आज तक पुरातत्त्ववेत्ता भारतीय तिथि-क्रम की आधार-शिला मानते हैं। सर जोन्स ने अपने इस आविष्कार को इन शब्दों में प्रकट किया था—

"हिन्दुओं और अरबों का विधान-शास्त्र मैंने अपनी गवेषणाओं के लिए विशेष रूप से चुना हुआ है, अतः आप यह आशा नहीं कर सकते कि ऐतिहासिक ज्ञान के सम्बन्ध में मैं बहुत कुछ नवीन बातें उपस्थित कर सकूँ। मैं केवल कभी कभी ही कुछ बातें पेश कर सकता हूँ। परन्तु आज मैं एक 'आविष्कार' आपके सन्मुख रखने लगा हूँ, जो कि अचानक ही मेरे ध्यान में आगया है। इस विषय पर मैं पृथक् भी विस्तार से एक निबन्ध में विचार करूँगा, जिसको कि मैंने सोसायटी के चतुर्थ कार्य-विवरण के लिए रख छोड़ा है। पालिबोथ्रा, जिसकी यात्रा और जिसका वर्णन मैगस्थनीज़ ने किया था, किस स्थान पर स्थित थी, इस प्रश्न का हल करना बहुत ही कठिन समझा जाता रहा है। यह पालिबोथ्रा प्रयाग नहीं हो सकती, क्योंकि प्राचीन काल में प्रयाग राजधानी नहीं रहा। यह कान्यकुब्ज भी नहीं समझी जासकती, क्योंकि पालिबोथ्रा का कान्यकुब्ज शब्द के साथ कोई साम्य नहीं है। इसे 'गौड़' या लक्ष्मणावती भी नहीं समझा जा सकता, क्योंकि यह नगर भी बहुत प्राचीन नहीं है। यद्यपि 'पालिबोथ्रा' शब्द 'पाटलिपुत्र' से बहुत कुछ मिलता

जुलता है और ग्रीक लोगों द्वारा वर्णित 'पालिबोथ्रा' की परिस्थितियाँ भी पाटलिपुत्र की परिस्थितियों से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं, तथापि इन दोनों का एक होना अब तक निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता था। इसका कारण यह है कि 'पाटलिपुत्र' नगर गङ्गा और सोन नदियों के संगम पर स्थापित था, और ग्रीक लोगों की 'पालिबोथ्रा' नगरी गङ्गा और एरानेबोअस (Erranaboas) नदियों के संगम पर। मो. डि-एन्-विले के मतानुसार यह एरानेबोअस यमुना नदी का ही नाम है। इसी कठिनता के कारण पाटलिपुत्र और पालिबोथ्रा को मिला सकना सम्भव प्रतीत नहीं होता था। परन्तु यह कठिनाई अब दूर हो गई है। कारण यह कि दो हज़ार वर्ष के लगभग प्राचीन एक संस्कृत पुस्तक में सोन नदी का पर्यायवाची 'हिरण्यबाहु' लिखा है, और 'एरानेबोअस' निस्सन्देह इसी हिरण्यबाहु का अपभ्रंश है, यद्यपि मैगस्थनीज़ ने असावधानता या अज्ञान के कारण इन दोनों को पृथक् रूप से लिखा है। इस आविष्कार से एक और भी अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम निकाला जा सका है। वह है 'चन्द्रगुप्त' और सैंड्राकोट्टस (Sandracottus) की एकता। सैंड्राकोट्टस की तरह ही चन्द्रगुप्त, जो कि पहले एक सैनिक साहसिक व्यक्ति था, उत्तरीय हिन्दुस्तान का राजा बन गया और उसने पाटलिपुत्र को अपने साम्राज्य की राजधानी बनाया। यहाँ उसके दरबार में विदेशी राजदूत भी आते थे। निस्सन्देह यह चन्द्रगुप्त वही सैंड्राकोट्टस है, जिसने कि सैल्यूकस निकेटर के साथ एक संधि की थी।[१]"

इस प्रकार सर विलियम जोन्स ने पुराण आदि भारतीय इतिवृत्त (Tradition) के चन्द्रगुप्त मौर्य और ग्रीक लेखकों के सैण्ड्राकोट्टस को मिला कर एक किया और पालिबोथ्रा को पाटलिपुत्र का ही अपभ्रंश निश्चित किया। इस कल्पना को

---

१ Asiatic Researches, Vol. IV, pp. 10-11.

विल्फोर्ड[१], मैक्समूलर[२] आदि विद्वानों ने निःसंकोच-भाव से स्वीकृत कर लिया और इसकी पुष्टि अनेक प्रमाणों द्वारा की। श्री० मैक्समूलर ने इसी बात को भारतीय तिथि-क्रम का आधार मानते हुए लिखा कि "केवल एक ही साधन है, जिससे कि भारतीय इतिहास को ग्रीस के इतिहास के साथ जोड़ा जा सकता है और भारत के तिथिक्रम को ठीक सीमाबद्ध किया जा सकता है। यद्यपि ब्राह्मणों और बौद्धों के साहित्य में सिकन्दर के आक्रमण का कोई ज़िक्र नहीं है और सिकन्दर के साथियों द्वारा वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं को भारत के ऐतिहासिक इतिवृत्त से मिला सकना असम्भव है, तथापि भाग्यवश प्राचीन लेखकों ने एक ऐसा नाम सुरक्षित छोड़ दिया हैं जो कि सिकन्दर की विजयों के तत्काल बाद की घटनाओं की ठीक व्याख्या कर देता है और जो कि प्राच्य तथा पाश्चात्य इतिहासों को मिलाने के लिए शृङ्खला का कार्य करता है। यह नाम है, सैण्ड्राकोट्टस या सैण्ड्रोकिप्टस (Sandrocyptus) अथवा संस्कृत का चन्द्रगुप्त[३]। इसके बाद फिर अध्यापक मैक्समूलर लिखते हैं—

"जस्टिन, एरियन, डायोडोरस सिक्युलस, स्ट्रेबो, क्विन्टस कर्टियस और प्लूटार्क आदि प्राचीन लेखकों से हमें ज्ञात होता है कि सिकन्दर के समय गङ्गा के पारवर्त्ती प्रदेशों पर एक शक्तिशाली राजा राज्य करता था। इसका नाम था क्सैण्ड्रमस (Xandrames)। सिकन्दर के आक्रमण के बाद शीघ्र ही सैण्ड्राकोट्टस या सैण्ड्रोकिप्टस ने एक नवीन साम्राज्य की स्थापना की।" इसके बाद मैक्समूलर महोदय ने ग्रीक-लेखकों के वर्णनों से पुराणों के चन्द्रगुप्त की समानता प्रतिपादित की है। प्रो०

---

१. Asiatic Researches, Vol. V.

२. Max Müller—'A History of Ancient Sanskrit Literature.'

३. Max Müller—'A History of Ancient Sanskrit Literature.' पृ० १४१-१४३

विल्सन और प्रो० लैस्सन आदि सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ताओं ने भी इसी मत की पुष्टि की है। यही कल्पना भारत के प्राचीन तिथि-क्रम की आधार-शिला[1] बनती है। पुराण आदि प्राचीन इतिवृत्त में वर्णित सब वंशावलियों और राजाओं के काल का निर्णय इस कल्पना के आधार पर सरलता से कर दिया गया है। ३२५ ई० पू० में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया और ३२२ ई० पू० में चन्द्रगुप्त मगध के सिंहासन पर बैठा। ये दो तिथियां भारत के प्राचीन इतिहास में निश्चित समझ ली गईं और इन्हीं को आधार मान कर सब वंशों व राजाओं का कालनिर्णय सरलता से किया जा सका। निस्सन्देह सर विलियम जोन्स का यह आविष्कार भारतीय इतिहास में एक अनुपम क्रान्ति है। भारतीय तिथिक्रम के निर्णय में इससे आश्चर्यजनक सहायता मिली है। बहुत समय तक पाश्चात्य वा भारतीय—सब ऐतिहासिक इस 'आविष्कार' को सत्य समझते रहे। यद्यपि प्रो० ट्रोयर आदि कुछ विद्वानों ने इसमें सन्देह प्रकट किया, पर सभी पुरातत्त्ववेत्ता इसको सत्य व निश्चित सिद्धान्त मान कर चलते रहे। परन्तु पीछे से कुछ विद्वानों ने इसके विरुद्ध जोर के साथ आन्दोलन शुरू किया। उन्हें यह मान्य नहीं हुआ कि ग्रीक लेखकों का सैण्ड्राकोट्टस और भारत का मौर्य चन्द्रगुप्त एक ही हैं। इन विद्वानों में से श्री० टी० एस० नारायण शास्त्री,[2] श्री० एस० के०

१. अनेक ऐतिहासिकों ने इसे 'The Anchor-sheet of Indian Chronology' के नाम से कहा है।

२. श्रीनारायण शास्त्री की पुस्तक देखिए The Age of Shankar और विशेषतः उसके दो Appendix—'The Mistaken Greeks Synchronism in Indian History' और 'The Kings of Magadh.'

आचार्य[1] और श्री० टी० सुब्बाराव[2] के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इनमें भी श्री० नारायण शास्त्री ने इस सम्बन्ध में बहुत विस्तार से विचार किया है। आपको सर जोन्स की कल्पना में मुख्यतः निम्नलिखित दोष दिखलाई पड़ते हैं—

१. चन्द्रगुप्त मौर्य्य की यह तिथि (३२२ ई० पू०) भारत के सब प्राचीन ऐतिहासिक इतिवृत्त के प्रतिकूल हैं। इसके अनुसार मौर्य चन्द्रगुप्त की तिथि १५३५ ई० पू० है।

२. जिस समय सर विलियम जोन्स ने यह आविष्कार किया, उस समय तक केवल एक मौर्य चन्द्रगुप्त का ही ऐतिहासिकों को परिज्ञान था। परन्तु पीछे से गुप्तवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त का भी पता लग गया है। प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार गुप्तवंश के संस्थापक इस चन्द्रगुप्त का काल ३२८ ई०पू० से प्रारम्भ होता है। इस अवस्था में कोई कारण नहीं समझ में आता जिससे कि ग्रीक लेखकों के सैण्ड्राकोट्टस को इस चन्द्रगुप्त के साथ क्यों न मिलाया जाय। ग्रीक लेखकों का अन्य वृत्तान्त भी इसके साथ पूर्णतया मिलता है।

३. सर विलियम जोन्स ने अपनी स्थापना का आधार दो ग्रन्थों को रखा है—एक तो सोमदेवकृत "कथासरित्सागर" और दूसरा एक अन्य संस्कृत दुःखान्त नाटक, जिसका नाम जोन्स महोदय ने "चन्द्र का अभिषेक" बताया है। आपका कहना है कि इन ग्रन्थों में मौर्य चन्द्रगुप्त का जो वृत्तान्त लिखा है, वह ग्रीक-लेखकों द्वारा दिये हुए वृत्त

---

१. श्री आचार्य्य की पुस्तक 'The Basic Blunder in the Orientalists' Reconstruction of Indian History.'

२. श्री सुब्बाराव ने इसी सम्बन्ध में 'The Theosophist' पत्र में अपने लेख प्रकाशित करवाये थे।

से बहुत मिलता है। परन्तु वास्तव में बात यह नहीं है। कथा-सरित्सागर का वृत्तान्त ग्रीक वृत्तान्त से बिलकुल नहीं मिलता। उसमें चन्द्रगुप्त मौर्य का विदेशीय व पार्वत्य आदि राजाओं की सहायता से राज्य प्राप्त करने की कथा का कहीं उल्लेख नहीं। दूसरी पुस्तक अब तक उपलब्ध नहीं हुई। अगले वर्ष ही जोन्स महोदय की मृत्यु हो गई और वे अपने प्रतिज्ञात निबंध को न लिख सके, इसीलिए इस पुस्तक का अब कोई परिचय प्राप्त नहीं किया जा सकता।

४. भारतीय इतिवृत्त के अनुसार आंध्रवंश के राज्य से पूर्व भारत पर कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुए। अतः स्वाभाविक रूप से मौर्य चन्द्रगुप्त के समय में सैल्यूकस का आक्रमण नहीं माना जा सकता।

५—इन दोषों के सिवाय श्री० नारायण शास्त्री का यह कहना है कि भारतीय इतिवृत्त के अनुसार आंध्रवंश के अन्तिम राजा चन्द्रश्री को हटा कर गुप्तवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त ने स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया[1]। ग्रीक-लेखकों के अनुसार सैण्ड्राकोट्टस ने कसैण्ड्रमस को हटा कर राज्य प्राप्त किया। कसैण्ड्रमस और चन्द्रश्री में ध्वनिसाम्य स्पष्टरूप से प्रतीत होता है, नन्दवंश के अन्तिम राजा महापद्मनन्द या नन्द के साथ कसैण्ड्रमस का ध्वनिसाम्य प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। सैण्ड्राकोट्टस और चन्द्रगुप्त के साम्य को दिखलाने की तो कोई आवश्यकता है ही नहीं। इसलिए इन नामों की समानता के साथ इन घटनाओं की समानता भी पूर्णरूप से मिल जाती है। भारतीय तिथि-क्रम के अनुसार गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त प्रथम का शासन-काल ३२८ ई० पू० से ३२१ ई० पू० तक है, जो यूनानी सिकन्दर के आक्रमण से ठीक तरह मिल जाता है। चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद प्रसिद्ध गुप्तवंशी सम्राट् समुद्रगुप्त सिंहासन पर आरूढ़

१. कलियुग राजवृत्तान्त।

हुआ। सम्भवतः इसी को यूनानी लेखकों ने सैण्ड्रोकिप्टस के नाम से लिखा है। इसी पर सैल्यूकस ने आक्रमण किया था, और इसी के राजदरबार में मैगस्थनीज़ रहा था। मैगस्थनीज़ आदि ग्रीक लेखकों ने सैण्ड्रोकिप्टस के जिस प्रबल प्रताप और अतुल ऐश्वर्य का वर्णन किया है, वह भी समुद्रगुप्त के प्रताप और ऐश्वर्य से मिलता-जुलता है। इसी समुद्रगुप्त को ऐतिहासिक स्मिथ ने भारतीय नेपोलियन की पदवी दी है। उसके दिग्विजय का वर्णन प्रयाग के अशोक-स्तम्भ पर संस्कृत-कविता में उत्कीर्ण है।

यूनानी लेखकों के वृत्तान्त बहुत स्पष्ट नहीं हैं। वे सबके सब उस राजा को, जिसे मार कर पाटलिपुत्र में एक नये वंश की स्थापना की गई थी, क्सैण्ड्रमस, एण्ड्रेमस या एण्ड्रेमन के नाम से लिखते हैं। नये वंश के संस्थापक को वे सैण्ड्राकोट्टस का नाम देते हैं। उनके अनुसार इस सैण्ड्राकोट्टस ने ही अपने पूर्ववर्त्ती राजा को मार कर राज्य प्राप्त किया था और सिकन्दर से भी इसकी भेंट हुई थी। इसी व्यक्ति के लिए वे सैण्ड्राकिप्टस नाम भी लिखते हैं। अनेक स्थानों पर सिकन्दर के ३२६ ई० पू० में भारत-आक्रमण के समय गङ्गा के पार प्रदेश पर राज्य करने-वाले राजा का भी नाम सैण्ड्राकोट्टस लिखा है। इस सबकी संगति इसी प्रकार लग सकती है, कि कलियुग राजवृत्तान्त के गुप्तवंश के प्रारम्भ-संबन्धी वर्णन पर ध्यान दिया जाय। उसके अनुसार आन्ध्रवंश का अन्तिम राजा चन्द्रश्री था। इसके सेनापति के नाम था चन्द्रगुप्त। इस चन्द्रगुप्त ने अपनी सेना की सहायता से चन्द्रश्री को मरवा दिया और उसके लड़के 'पुलोमान्' का प्रतिभू (रीजेंट) बनकर स्वयं राज्य करने लगा। इस तरह 'पुलोमान्' ने सात वर्ष तक चन्द्रगुप्त के 'प्रतिभूत्व' (रीजैन्सी) में राज्य किया। उसके पश्चात् चन्द्रगुप्त ने पुलोमान को भी मार दिया और स्वयं राजा बन गया। इस चन्द्रगुप्त के अनेक पुत्र थे। उनमें से एक पुत्र का नाम था समुद्रगुप्त। इस समुद्रगुप्त ने म्लेच्छ सेनाओं की सहायता से स्वयं

अपने पिता को मार कर राज्य प्राप्त किया [१]। इस प्रकार गुप्तवंश का यह वृत्तान्त ग्रीक सैंड्राकोट्टस के वृत्तान्त से पूरी तरह मिलता है। चन्द्रश्री ही 'क्सैण्ड्रमस' है, जिसे मार कर सैण्ड्राकोट्टस ने एक नवीन राजवंश की स्थापना की। फिर इसके पुत्र समुद्रगुप्त या सैण्ड्रोकिप्टस ने म्लेच्छ व ग्रीक आदि विदेशी और स्वदेशी सेनाओं की सहायता से स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया। यही सैण्ड्रोकिप्टस सिकन्दर से मिला था। सिकन्दर से भेंट करनेवाले व्यक्ति को सैण्ड्राकोट्टस भ्रांतिवश ही लिखा गया है। यूनानियों ने सैण्ड्रोकिप्टस का सम्बन्ध विदेशीय राजाओं से वर्णन किया

---

१. अथ श्रीचन्द्रगुप्ताख्यः पार्वतीयकुलोद्भवः ।
श्रीपर्वतेन्द्राधिपतेः पौत्रः श्री गुप्तभूपतेः ॥
कुमारदेवीमुद्वाह्य नेपालाधीशितुः सुताम् ॥
लब्धप्रवेशो राज्येऽस्मिन् लिच्छवीनां सहायतः ।
सेनाध्यक्षपदं प्राप्य नानासैन्यसमन्वितः ॥
लिच्छवीनां समुद्वाह्य देव्याश्चन्द्रश्रियोऽनुजाम् ।
राष्ट्रीयः स्यालको भूत्वा राजपत्न्या च चोदितः ॥
चन्द्रश्रियं घातयित्वा मिषेणैव हि केनचित् ।
तत्पुत्रप्रतिभूत्वे च राज्ञ्या चैव नियोजितः ॥
वर्षैस्तु सप्तभिः प्राप्तराज्यो वीराग्रणीरसौ ।
तत्पुत्रे च पुलोमानं विनिहत्य नृपार्भकम् ॥
आन्ध्रेभ्यो मागधं राज्यं प्रसह्यापहरिष्यति ।
कचेन स्वेन पुत्रेण लिच्छवीयेन संयुतः ॥
विजयादित्यनाम्ना तु सप्त पालयिता समाः ।
स्वनाम्ना च शकं त्वेकं स्थापयिष्यति भूतले ॥
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती पुत्रस्तस्य महायशाः ।
नेपालाधीश दौहित्रो म्लेच्छसैन्यैः समावृतः ॥
वञ्चकं पितरं हत्वा सहपुत्रं सबान्धवम् ।
अशोकादित्यनाम्ना तु प्रख्यातो जगतीतले ।

(कलियुगराजवृत्तान्त भाग ३, अध्याय २)

है, और कलियुगराजवृत्तान्त के अनुसार गुप्तवंशी इस समुद्रगुप्त का भी विदेशी नृपों के साथ सम्बन्ध था[1]। इस तरह स्पष्ट है कि भारतीय तिथि-क्रम के निश्चय में सर विलियम जोन्स तथा उनके अनुयायी विद्वानों ने बहुत बड़ी ग़लती की है। उनकी ग्रीक समसामयिकता (Greek Synchronism) अशुद्ध आधारों पर आश्रित है। सच्ची ग्रीक समसामयिकता चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ न समझ कर श्री गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ समझनी चाहिए।

श्री नारायण शास्त्री के अनुसार ग्रीक लोगों के प्राचीन वृत्तान्त बहुत अधिक भ्रमोत्पादक हैं। यदि विदेशी इतिहास में भारतीय तिथि-क्रम की समसामयिकता ढूँढ़ना आवश्यक ही हो, तो पर्शियन इतिहास में देखना चाहिए। इसीलिए उन्होंने एक पर्शियन समसामयिकता (Persian Synchronism) की कल्पना की है। उनकी स्थापना को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं।

साइरस ने पर्शियन-साम्राज्य की स्थापना की थी। इस साम्राज्य-स्थापना की तिथि ५५० ई० पू० है। इस समय से पर्शियन-इतिहास में एक नवीन संवत् का प्रारम्भ होता है। यही संवत् भारत में भी चला, क्योंकि उस समय भारत और पर्शिया का बहुत सम्बन्ध था और साइरस ने पर्शियन साम्राज्य की स्थापना भारत की सहायता से ही की थी। यह संवत् भारतवर्ष में 'शककाल' 'शकनृपति-काल' और 'शक-संवत्सर' आदि नामों से प्रसिद्ध है। भारत और पर्शिया के प्राचीन सम्बन्ध को सूचित करनेवाले पर्शियन-इतिहास में मुख्य आधार निम्नलिखित हैं—

१. बैबिलोन में प्राप्त साइरस का शिलालेख

२. पर्सिपोलिस और नकशायरूस्तम में प्राप्त डेरियस के शिलालेख।

---

1. 'स्वदेशीयैर्विदेशीयैः नृपैः समभिपूजितः।'

(कलियुगराजवृत्तान्त भाग ३ अध्याय २)

३. स्काइलैक्स, हीरोडोटस, ट्सेसियस और क्सेनोफोन आदि प्राचीन ऐतिहासिकों के ग्रन्थ।

साइरस ने पर्शियन साम्राज्य की स्थापना किस प्रकार की, इस पर संक्षेप से विचार करना 'पर्शियन समसामयिकता' को समझने के लिए बहुत आवश्यक है। ५५० ई० पू० से कुछ समय पहले भारत के पश्चिम की तरफ़ के देश तीन बड़े बड़े साम्राज्यों में बँटे हुए थे। पुराना बैबिलोनियन साम्राज्य—जो कि २२३१ ई० पू० से १७८६ ई० पू० तक रहा—अब नष्ट हो चुका था। उसके स्थान पर असीरियन लोगों ने 'नेनेवा' को राजधानी बनाकर अपना साम्राज्य स्थापित किया था। ६२५ ई० पू० के लगभग बैबिलोन के अधीनस्थ राजा बैलीसिस ने स्वाधीनता उद्घोषित कर दी और मीडिया के राजा साइक्सेरस के साथ मिलकर 'नेनेवा' के ऊपर आक्रमण किया। इस प्रकार असीरिया के साम्राज्य का भी अन्त हुआ। इस समय में पुराना पर्शिया दो आर्यन जातियों के अधिकार में था। इन जातियों को 'मीड' और 'पर्शियन' कहते हैं। इनमें से मीड लोग बड़े उत्तम घुड़सवार थे और पर्शियन लोग पदाति-सेना के लिए प्रसिद्ध थे। मीड लोगों के राजा का नाम 'साइक्सेरस' था। इस साइक्सेरस ने असीरियन साम्राज्य को नष्ट करके—या उसके विनाश में हाथ बँटा कर, उसके एक भाग पर मीडियन साम्राज्य की स्थापना की। इस तरह इस समय में तीन साम्राज्य इस भूभाग पर विद्यमान थे—१. बैबिलोन २. मीडिया ३. असीरिया। अब स्वाभाविक था कि ये तीनों राज्य आपस में अपनी शक्ति के लिए युद्ध करते। परन्तु इन तीनों को नीचा दिखानेवाली एक नई शक्ति का इस समय उदय होता है। यह शक्ति 'महान साइरस' (Cyrus the Great) है। इस शक्ति ने इन तीनों राज्यों को नष्ट कर उनके स्थान पर पर्शियन साम्राज्य की स्थापना की।

यह साइरस 'एलम' नामक छोटे से अधीनस्थ राज्य का राजकुमार था। इसके बाल्यकाल व प्रारम्भिक जीवन के संबन्ध

में विस्तार से लिखने की हमें कोई आवश्यकता नहीं। साइरस ने पहले मीडियन राजा साइक्सेरस पर आक्रमण किया। और ५५० ई० पू० में मीडिया को परास्त कर अपने पर्शियन साम्राज्य की नींव डाली। यह साइरस भारतवर्ष के साथ सम्बद्ध था और इसको अपने विजयों में भारत या सिन्धुदेश के राजा से सहायता मिली थी। यद्यपि इस संबंध में भी पर्याप्त प्रमाण विद्यमान हैं कि साइरस तथा उसके वंश के अन्य राजाओं के नाम संस्कृत नामों से बहुत मिलते हैं तथा भारतीय संस्कृति (Culture) आदि का उन पर बहुत प्रभाव था, परन्तु फिर भी हम इस विचार में नहीं पड़ते। ५५० ई० पू० की तिथि–जो कि मीडियन साम्राज्य का अन्त और पर्शियन-साम्राज्य के प्रारम्भ को सूचित करती है—संसार के प्राचीन इतिहास में बहुत महत्त्व-पूर्ण है। हीरोडोटस स्पष्ट रूप से लिखता है कि अगले पर्शियन राजा काल की गणना इसी तिथि से करते थे। यह बिलकुल स्वाभाविक है कि उन हिन्दुओं और उन भारतीय राजाओं ने, जिन्होंने कि साइरस की सहायता की थी, बहुत हद तक इस शक नृपति के साम्राज्य स्थापन से अपने काल की गणना करना प्रारम्भ कर दिया हो।

बहुत प्राचीन काल से भारत और इन पाश्चात्य देशों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। महाभारत के द्वारा भारत का चीन, असीरिया, खाल्डिया, वैबिलोनिया, मिश्र, फिनीशिया आदि देशों के साथ सम्बन्ध सूचित होता है। साइरस के युद्धों में भी भारत का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। क्सेनोफोन के लेखों से सूचित होता है कि ५६० ई० पू० में जब साइरस और वैबिलोनियन लोगों के साथ युद्ध शुरू होता है, तो दोनों पक्ष अपने अपने प्रतिनिधि सिन्धु-देश के राजा के पास भेजते हैं। इन प्रतिनिधियों का उद्देश्य भारत के राजा की सहायता प्राप्त करना था। इसके अनुसार भारत से एक प्रतिनिधि-मंडल यह निर्णय करने के लिए गया कि दोनों में से कौन सा पक्ष न्याय्य है। अन्त में साइरस का पक्ष न्याय्य समझा गया और उसी की पुष्टि करने का निश्चय किया

गया। इसी भारतीय सहायता का यह परिणाम हुआ कि साइरस को सफलता प्राप्त हो सकी। इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि ५५० ई० पू० का काल न केवल पर्शियन-इतिहास में, अपि तु भारतीय इतिहास में भी बहुत ही महत्त्व का काल है, क्योंकि भारतीयों ने साइरस की विजय के लिए बहुत अधिक सहायता की थी, और इसी के कारण वह सफलमनोरथ हो सका था।

अब हमें यह देखना है कि भारतीय साहित्य में इस तिथि से किसी नये संवत् का प्रारम्भ होता है या नहीं? प्राचीन साहित्य में एक प्रसिद्ध श्लोक है—

आसन् मघासु मुनयः शासति पृथिवीं युधिष्ठिरे नृपतौ।
षड्द्विकपञ्चद्वियुतः शककालस्तस्य राज्ञश्च[1] ॥

इस श्लोक के अनुसार युधिष्ठिर के काल और शककाल में २,५२६ वर्ष का अन्तर है। हमें मालूम है कि राजा युधिष्ठिर की मृत्यु ३०७६ ई० पू० में हुई थी। अतः ३०७६ ई० पू० में २५२६ घटा देने पर ५५० ई० पू० निकलता है, जो कि निस्सन्देह शककाल का प्रारम्भ सूचित करता है। इस प्रकार भारतीय साहित्य के अनुसार शककाल का प्रारम्भ ५५० ई० पू० में ही समझना चाहिए। पर्शियन-इतिहास के अनुसार तो साइरस या शकनृपति का काल ५५० ई० पू० में प्रारम्भ होता ही है। शककाल के विषय में आजकल ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। इस सब गड़बड़ का कारण 'शक' शब्द को ठीक प्रकार से न समझना ही है। प्राचीन साहित्य के सप्तद्वीपों में एक द्वीप का नाम 'शकद्वीप' है। इस शकद्वीप से सम्पूर्ण पश्चिमीय एशिया का ग्रहण होता है। प्राचीन पर्शिया में एक प्रान्त का नाम सैकी (Sacae) भी था। शकशब्द इस सैकी प्रदेश में रहनेवालों के लिए प्रयुक्त होता था। मनु के अनुसार शकलोग काम्बोज, पह्लव, पारद और यवन—इन उपविभागों में विभक्त थे। इन्हीं शक लोगों के राजा साइरस

---

१. वराहमिहिर-बृहत्संहिता

को शकनृपति के नाम से कहा गया है। और इसी के साम्राज्य-स्थापन के समय से वस्तुतः शक-काल का प्रारम्भ होता है। यदि इस बात को मान लिया जाय तो भारतीय तिथि-क्रम के सब विवाद समाप्त हो जाते हैं और प्राचीन भारतीय साहित्य के अनुसार ही बिना कोई रद्दोबदल किये सब कालों का फैसला हो जाता है।

वर्त्तमान पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अपने कल्पित तिथिक्रम के अनुसार इस शक-काल को भी जहाँ तक पीछे ले जाना सम्भव हो, ले जाने का प्रयत्न किया है। इसे उन्होंने 'शालिवाहनशाक' के साथ मिला दिया है। और इसी ग़लती के कारण भारत के प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर की तिथि ५०५ ई० प० नियत कर दी है। वराहमिहिर के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पञ्चसिद्धान्तिका' के अनुसार यह ग्रन्थ ४२७ शककाल में समाप्त किया गया है। अब, क्योंकि वराहमिहिर विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक था, इसलिए विक्रम की तिथि भी पाँचवी व छठी शताब्दी ई० प० में फेंक दी गई है, यद्यपि विक्रम की तिथि उनके वर्तमान प्रचलित संवत् के अनुसार भी ५७ ई० पू० है, और सर विलियम जोन्स ने भी इसे स्थिर तिथि के तौर पर स्वीकृत किया है। अब यदि ५५० ई० पू० में शक-काल को माना जाय तो वराहमिहिर की तिथि ५५०-४२७=१२३ ई० पू० हुई। वराहमिहिर की मृत्यु 'आमराज' के अनुसार ५०९ शक में अर्थात् ५५०--५०९=४१ ई० पू० में हुई थी। इस प्रकार वराहमिहिर १२३ ई० पू० से ४१ ई० पू० तक अवश्य ही जीवित थे। यह तिथि पुराने इतिवृत्त के सर्वथा अनुकूल है।

इसी प्रकार कालिदास की तिथि को लीजिए। कालिदास अपने 'ज्योतिर्विदाभरण' नामक ग्रन्थ में लिखता है—

---

१. 'नवाधिकपञ्चशतसंख्यशाके (५०९) वराहमिहिराचार्यो दिवं गतः।'

(खण्डखाद्य में भाउदाजी द्वारा उद्धृत)

धन्वन्तरिक्षपणकाऽमरसिंहशङ्कु-
वेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इसी ज्योतिर्विदाभरण ग्रन्थ में वह यह भी लिखता है, कि 'यह ग्रन्थ मैंने ३०६८ कलि-संवत् में समाप्त किया[1] ।' यह ३०६८ कलि-संवत् ३४ ई० पू० के बराबर है, जो कि पुरातन इतिवृत्त के अनुकूल है। जब कालिदास के अनुसार ही वराहमिहिर उसके समकालीन है, तो वराहमिहिर की तिथि भी इसी के लगभग होनी चाहिए। अतः शककाल का प्रारम्भ ५५० ई० पू० में ही मानना उचित है।

इसी सम्बन्ध में एक अन्य उदाहरण को लीजिए। प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि में लिखता है कि वह १०३६ शक नृप समय में हुआ। इसके अनुसार पाश्चात्य विद्वान् यह मानते हैं कि भास्कराचार्य का समय ११५० ई० प० है। परन्तु इसमें आपत्ति यह आती है कि अल्बरूनी ने—जिसने कि १०३० ई० पू० में भारत की यात्रा की थी, भास्कराचार्य और उसके ग्रन्थों का उल्लेख किया है। क्योंकि अल्बरूनी यूरोपियन विद्वानों द्वारा स्वीकृत भास्कराचार्य की तिथि से ८० साल पहले आया था, इसलिए प्रो० वीवर तक भी इस कठिनता को अनुभव करते हैं। वे लिखते हैं कि 'मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं इस पहेली को सुलझाने में असमर्थ हूँ।' इसी कारण उन्होंने दो पृथक् भास्कराचार्यों की सत्ता की कल्पना कर ली है।

इस प्रकार यदि इस पर्शियन-समसामयिकता को भारतीय तिथि-क्रम का आधार मान लिया जाय, तो भारतीय इतिवृत्त के

---

१. वर्षे सिन्धुरदर्शनाम्बरगुणैर्याते कलौ सम्मिते ।
मासे माधवसंज्ञितेऽत्र विदितो ग्रन्थक्रियोपक्रमः ॥
(ज्योतिर्विदाभरण)

वर्णनों में अधिक उथल-पुथल करने की आवश्यकता न रहेगी। पाश्चात्य ऐतिहासिक, श्री० नारायण शास्त्री के मतानुसार, व्यर्थ ही भारतीय इतिवृत्त को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वस्तुतः भारत का प्रामाणिक इतिहास और तिथिक्रम विशुद्धरूप में पुराण आदि ग्रन्थों में उपलब्ध है। सम्पूर्ण भारतीय ग्रन्थ निर्विवाद रूप से कलियुग-संवत् और युधिष्ठिर-शक को आज से लगभग ५,००० वर्ष पूर्व में प्रारम्भ हुआ मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इस कलियुग संवत् तथा इसी तरह के अन्य प्राचीन संवतों में व्यर्थ ही परिवर्तन करने चाहे हैं। श्री० शास्त्री के अनुसार भारत के प्राचीन संवतों का व्यौरा संक्षेप में इस प्रकार है—

(१) सृष्ट्यब्द—१,६५५,८८३,१०१ ई० पू०
(२) चतुर्युग संवत्—३८६११०२ ई० पू०
(३) कलियुग-संवत्—३१०२ ई० पू०
(४) लौकिकाब्द—३०७८ ई० पू०
(५) युधिष्ठिरशाक—३१३६ ई० पू०
(६) शककाल—५५० ई० पू०
(७) श्रीहर्षकाल—४५७ ई० पू०
(८) विक्रम-संवत्—५७ ई० पू०
(९) शालिवाहन शाक—७८ ई० प०
(१०) कोल्लम संवत्—८२५ ई० प०

भारतीय साहित्य में ये ही संवत् उपलब्ध होते हैं। यदि इनकी प्रामाणिकता को स्वीकृत कर प्राचीन इतिवृत्त की विवेचना की जाय, तो सब घटनाओं का समन्वय सरलता के साथ हो जायगा। परन्तु पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने अपने इस विश्वास के आधार पर कि मनुष्य को उत्पन्न हुए ६ हज़ार साल से अधिक व्यतीत नहीं हुए—क्योंकि उनके धार्मिक ग्रन्थ 'बाइबल' का यही विश्वास है—भारत के सारे तिथि-क्रम को बड़ी निर्दयता के साथ तरोड़ मरोड़ दिया है। वे भारत के प्राचीन साहित्य को सर्वथा अविश्वसनीय समझते हैं और उस पर आश्रित संवतों को

अप्रामाणिक समझ कर अपने ही विश्वासों के अनुसार कार्य करते हैं। प्राचीन शिलालेख, सिक्के आदि उनके लिए मान्य हैं, पर उन पर भी वे अपने विश्वासों के अनुसार क़लम चलाने में संकोच नहीं करते। यहाँ पर केवल एक उदाहरण लेना ही पर्याप्त होगा। नैपाल की प्राचीन वंशावलियों में हर्ष-संवत् का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है। 'नैपालराजवंशावली' में अनेक नैपाली राजाओं के जो दानपत्र उल्लिखित हैं, वे इसी संवत् के अनुसार हैं। नैपाल के प्राचीन राजाओं की एक वंशावली पं० भगवान-लाल इन्द्रजी पी० एच० डी० को प्राप्त हुई है। इस वंशावली का नाम है—'पार्वतीय वंशावली'। इस वंशावली में कलियुग के प्रारम्भ से भी अनेक शताब्दियाँ पूर्व से लेकर १७२८ ई० प० तक के राजाओं की वंशावली दी गई है। इस वंशावली के अनुसार 'सूर्यवंशी' वंश के २७ वें राजा शिवदेववर्मा का शासनकाल कलिसंवत् २७६४ (तदनुसार ३३८ ई० पू०) के लगभग है। इसी तरह ठाकुरीवंश के प्रथम राजा अंशुवर्मा का शासनकाल कलि-संवत् ३००० या १०१ ई० पू० है। इस राजा का शासन-समय ६८ साल लिखा है। इस प्रकार इसने १०१ ई० पू० से ३३ ई० पू० तक राज्य किया। इसी वंशावली के अनुसार अंशुवर्मा के समय विक्रमादित्य ने नैपाल की यात्रा की थी। हम जानते हैं कि विक्रमीय संवत् के प्रारम्भकर्त्ता विक्रमादित्य का भी यही समय है। अतः इस वंशावली की प्रामाणिकता सर्वथा स्पष्ट है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इसको अस्वीकृत करने में कोई सङ्कोच नहीं किया। डा० फ्लीट ने देखा कि 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' शिवदेव वर्मा (सूर्यवंशी वंश के २७ वें राजा) के एक दानपत्र में ११९ हर्ष-संवत् लिखा है। यह देखना था कि उन्होंने एकदम शिवदेववर्मा की तिथि को ७२५ ई० प० नियत कर दिया। उन्होंने कहा कि कन्नौज के प्रसिद्ध राजा हर्षवर्द्धन का समय ६०६ ई० प० है, अतः स्वाभाविक रूप से शिवदेववर्मा का समय ७२५ ई० प० होना चाहिए, क्योंकि हर्षसंवत कन्नौज के हर्षवर्धन का ही चलाया हुआ है।

इस प्रकार अपने कल्पित हर्षसंवत् के अनुसार पाश्चात्य ऐतिहासिक एक-दम नैपालवंशावली की तालिका की तिथियों को अशुद्ध उद्घोषित कर देते हैं। नैपाल की वंशावली ने तो शिवदेववर्मा का समय रखा है ३३८ ई० पू०, और उत्कीर्ण लेखों की साक्षी द्वारा ज्ञात होता है, ७२५ ई० प०। अतः वंशावली का समय अप्रामाणिक समझा ही जाना चाहिए। परन्तु कुछ अधिक गम्भीरता से विचार करने पर ऐतिहासिकों की यह युक्ति-परम्परा हेत्वाभास मालूम पड़ने लगती है। विचारना यह चाहिए कि वाणभट्ट और ह्यूनसांग के आश्रयदाता, कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्धन ने किसी नये संवत् को चलाया था या नहीं। भारतीय और चीनी साहित्य इस विषय पर सर्वथा चुप हैं। वाणभट्ट ने, जिसने कि हर्ष के जीवन-चरित्र का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है, यह कहीं नहीं लिखा कि हर्ष ने किसी नवीन संवत् को चलाया था। ह्यूनसांग व अन्य चीनी लेखकों ने भी इसका कहीं ज़िक्र नहीं किया। यदि हर्ष ने किसी नवीन संवत् की स्थापना की होती तो अवश्य ही ये लेखक उसका वर्णन करते। अतः सिद्ध है कि हर्ष संवत् का प्रारम्भ कन्नौज के हर्षवर्धन ने नहीं किया और उसके साथ हर्ष-संवत् को जोड़ना सर्वथा युक्तिशून्य है। फिर इस प्रश्न को हल किस प्रकार किया जावे? शिवदेववर्मा के दानपत्र में किस हर्ष-संवत् का उल्लेख है? इस प्रश्न का उत्तर बहुत साधारण है। भारतीय साहित्य से हमें ज्ञात है कि विक्रमीय संवत् के प्रारम्भ से ४०० वर्ष पूर्व यहाँ पर एक संवत् प्रचलित था, जिसे कि हर्ष-संवत् कहते थे। अल्बरूनी के अनुसार भी इस हर्षसंवत् का प्रारम्भ विक्रमीय संवत् से ४०० वर्ष पूर्व हुआ था।

अब यदि हम शिवदेववर्मा के ताम्रपत्र में उत्कीर्ण हर्ष-संवत् का अभिप्राय ४५७ ई० पू० लें, तो शिवदेववर्मा का काल होगा—४५७ ई० पू०—११९ या ३३८ ई० पू०। यह ठीक नैपाल-राजवंशावली के अनुसार है। इससे अंशुवर्मा के प्रथम सदी ईसवी पूर्व में विक्रम के समकालीन होने में भी बाधा नहीं पड़ती।

प्राचीन भारतीय साहित्य पर विश्वास न करने के कारण, तथा अपनी कल्पित ग्रीक-समसामयिकता को क़ायम रखने की उत्कण्ठा से पाश्चात्य विद्वानों ने और भी बहुत सी अक्षम्य अशुद्धियाँ कर दी हैं। यहाँ पर सबको दिखा सकना असम्भव है, अतः इतने को ही पर्याप्त समझना चाहिए।

इस प्रकार श्रीनारायण शास्त्री महोदय पाश्चात्य विद्वानों-द्वारा स्वीकृत तिथिक्रम का खंडन कर भारतीय इतिवृत्त के अनुसार अपने नवीन ही तिथिक्रम का विनिश्चय करते हैं[1]। महाभारत के बाद यह तिथिक्रम निम्नलिखित रूप से है—

१—प्रद्योतवंश—	२१३३ ई० पू०	से	१९९५ ई० पू०	तक
२—शैशुनागवंश—	१९९५ ई० पू०	से	१६३५ ई० पू०	तक
३—नन्दवंश—	१६३५ ई० पू०	से	१५३५ ई० पू०	तक
४—मौर्यवंश—	१५३५ ई० पू०	से	१२१९ ई० पू०	तक
५—शुङ्गवंश—	१२१९ ई० पू०	से	९१९ ई० पू०	तक
६—कण्ववंश—	९१९ ई० पू०	से	८३४ ई० पू०	तक
७—आन्ध्रवंश—	८३४ ई० पू०	से	३२८ ई० पू०	तक
८—गुप्तवंश—	३२८ ई० पू०	से	८३ ई० पू०	तक

इसमें संदेह नहीं कि यदि श्रीनारायण शास्त्री की इस स्थापना को स्वीकृत कर लिया जाय, तो भारतीय इतिहास में बड़ी भारी क्रान्ति हो जायगी। अब तक जिस तिथिक्रम को माना जाता है, वह एकदम बदल जायगा और भारतीय तिथिक्रम में एक नवीन युग का प्रारम्भ होगा। इस नवीन युग में ऐतिहासिकों को भी प्राचीन भारतीय साहित्य की प्रामाणिकता उसी तरह स्वीकृत करनी पड़ेगी, जिस तरह पुरातन पंडित करते आये हैं। इसमें विक्रमीय संवत् के प्रारम्भ के लिए नवीन नवीन कल्पनाओं की आवश्यकता न रहेगी, जो जैसा चाहेगा वैसा ही न मान सकेगा। विक्रमीय संवत् का प्रारम्भ एक अभाव कल्पना से

---

१ देखो The Age of Shankar, Appendix I. The Kings of Magadha.

न मानना होगा। श्रीयुत वि० ए० स्मिथ को नन्दवंश का शासनकाल, सब भारतीय ग्रन्थों के १०० वर्ष प्रतिपादित करने पर भी, अपनी ग्रीक समसामयिकता की रक्षा करने के लिए ५० साल न कर देना होगा। भारत की सब प्राचीन वंशावलियाँ कलम के एक प्रहार से ही अशुद्ध न ठहराई जा सकेंगी। इस युग में स्वच्छन्द कल्पना को बहुत गुञ्जाइश न रहेगी।

सचमुच श्रीनारायण शास्त्री की स्थापना अद्भुत और मौलिक है। यदि उस पर और अधिक गवेषणा की जाय तो सम्भवतः एक दिन सभी ऐतिहासिक उसे स्वीकृत करने लगें। परन्तु अभी उसमें अनेक इस प्रकार के दोष आते हैं, जिनके कारण हम इस ग्रन्थ में श्रीशास्त्री की कल्पना को मानने का साहस नहीं कर सकते। इन दोषों को हम अत्यन्त संक्षेप से यहाँ पर स्पष्ट करना चाहते हैं—

प्रथम दोष सम्राट् अशोक के सम्बन्ध में है। अशोक मौर्य्य-वंश का तृतीय सम्राट् था। इसके अनेक शिला-लेख वर्तमान समय में भी उपलब्ध होते हैं। इन शिलालेखों में पाँच विदेशीय राजाओं के नाम उत्कीर्ण हैं। अशोक लिखते हैं—

"यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय ने यहाँ (अपने राज्य में) तथा ६ सौ योजन दूर राज्यों में प्राप्त की है, जहाँ अन्तियोक नाम यवन-राजा राज्य करता है और उस अन्तियोक के बाद तुरमय, अन्तिकिनि, मक और अलिक सुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते हैं[1]।

इस तथा अन्य शिलालेखों में जिन पाँच राजाओं के नाम उत्कीर्ण हैं, वे सबके सब पाश्चात्य देशों के इतिहासों में ज्ञात हैं। वहाँ पर उनकी तिथियाँ भी निश्चित हैं। पाश्चात्य इतिहासों के अनुसार ये राजा निम्नलिखित हैं—

अन्तियोक—सीरिया तथा पश्चिमीय एशिया का अधिपति

---

१ चतुर्दश शिलालेख, सं० १३.

एण्टियोकस द्वितीय थिओस इसका शासन-काल २६१ ई० पू० से २४६ ई० पू० तक है।

तुरुमय— ईजिप्ट का अधिपति टॉल्मी द्वितीय फिलेडेल्फस (२८५-२४७ ई० पू०)

अन्तिकिनि—मैसिडोनिया का राजा एन्टिगोनस गोन्टस (२७६ ई० पू० से २३९ ई० पू०)

मक—साइरिनि का अधिपति मेगस (३०० ई० पू० से २५० ई० पू० तक)

अलिकसुन्दर—कारिन्थ का शासक एलेक्सन्डर (२५२ ई० पू० से २४४ ई० पू० तक)

ये सब राजा अशोक के समकालीन हैं। यदि श्रीनारायणशास्त्री के मतानुसार मौर्यवंशी अशोक का समय १५ वीं सदी ई० पू० में समझा जावे, तो इन समकालीन राजाओं का समय भी क्या पीछे कर दिया जावेगा? पाश्चात्य इतिहास में इन राजाओं का काल निश्चित है। उसे आगे या पीछे करने के लिए केवल अशोक के काल की युक्ति नहीं दी जा सकती। साध्य कोटि में निहित पक्ष हेतु का कार्य नहीं कर सकता। पाश्चात्य देशों के इतिहास में १५ वीं सदी ई० पू० में इन नामों के कोई राजा नहीं मिलते। इसलिए जिस सम्राट् के शिलालेखों में अन्तियोक आदि नाम प्राप्त हुए हैं, उसका समय तो तीसरी सदी ई० पू० में ही स्वीकृत करना होगा।

इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिए दो युक्तियों का प्रयोग किया जा सकता है। पहली युक्ति यह है कि ये शिलालेख सम्राट् अशोक के हैं ही नहीं। कई विद्वान् यह आशङ्का उठा चुके हैं। इनमें प्रायः सर्वत्र 'देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा' का प्रयोग होता है, अतः स्वाभाविक रूप से यह शङ्का की जा सकती है, कि इन्हें सम्राट् अशोक का ही क्यों समझा जावे। पुराने ज़माने में यह प्रथा थी कि प्रायः सभी बौद्ध राजा अपने नामों के साथ 'देवानां प्रियः प्रियदर्शी' जोड़ा करते थे, फिर इन शिलालेखों के अशोक द्वारा ही उत्कीर्ण होने में क्या प्रमाण है?

यद्यपि अनेक विद्वानों ने बड़ी योग्यता के साथ इस बात को सिद्ध कर दिया था कि इन शिलालेखों का प्रकाशित करनेवाला सम्राट् अशोक ही है, तथापि अब तो इस सम्बन्ध में कोई सन्देह ही नहीं रह गया है। इसका कारण यह है कि मास्की के प्रथम लघु शिलालेख में स्पष्टरूप से उत्कीर्ण, अशोक का नाम भी उपलब्ध हो गया है। वहाँ लिखा है कि—'देवताओं के प्रिय अशोक की ओर से ऐसा कहना'—इत्यादि।

हमारी विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिए दूसरी युक्ति यह दी जा सकती है कि जिस सम्राट् अशोक के शिलालेख उपलब्ध होते हैं, वह मौर्यवंश का अशोक नहीं। भारतीय साहित्य में अनेक अशोकों का उल्लेख मिलता है। इसमें क्या प्रमाण है कि बौद्धधर्म का संरक्षक और शिलालेखों का प्रकाशित करनेवाला अशोक मौर्यवंश का ही है? इसी पक्ष का प्रतिपादन करते हुए नारायण शास्त्री लिखते हैं[1]—

भारतीय इतिहास में अशोक नाम के तीन सम्राट् हुए हैं—

(१) अशोकवर्धन (चण्डाशोक)—यह मौर्यवंश का सम्राट् अशोक है और इसका वर्णन पुराणों में उपलब्ध होता है।

(२) अशोकादित्य व समुद्रगुप्त—यह गुप्तवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम का पुत्र था। यह परम प्रतापी सम्राट् हुआ है। ऐतिहासिक स्मिथ ने इस ही को 'भारतीय नैपोलियन' की उपाधि से विभूषित किया है। इसका वर्णन हरिषेण द्वारा उत्कीर्ण शिलालेख, कलियुग-राजवृत्तान्त तथा पुराणों में उपलब्ध होता है।

(३) अशोक (धर्माशोक)—इसका वर्णन कल्हण की राजतरङ्गिणी में मिलता है। यह गोनन्द वंश में उत्पन्न हुआ था। इसने बौद्धधर्म को स्वीकृत कर लिया था। इसने सहस्रों की संख्या में स्तूपों और विहारों का

---

१. The Age of Shankar—Appendix I, पृ० ६०.

निर्माण कराया था। राजतरङ्गिणी में जो इसका वर्णन किया गया है, उससे मालूम पड़ता है कि इसने लाखों स्तूप, विहार, भवन आदि बनवाये। श्रीनगर[1] का निर्माण भी इसी सम्राट् के प्रयत्न से हुआ। जिस अशोक का वर्णन बौद्ध-साहित्य में किया गया है, श्रीनारायण शास्त्री की सम्मति में वह यही काश्मीर का गोनन्दवंशी सम्राट् अशोक है। परन्तु आपकी सम्मति में बौद्ध लेखकों ने समुद्रगुप्त अशोकादित्य और गोनन्दवंशी धर्माशोक को परस्पर मिला दिया है। विस्तृत साम्राज्य, अपूर्व वैभव, दिग्विजयिनी शक्ति आदि भावों को तो समुद्रगुप्त से ले लिया गया है और बौद्धधर्म का अनुयायी होना, तथा सहस्रों लाखों स्तूपों और विहारों का निर्माण करना काश्मीर के अशोक से। वस्तुतः जिस अशोक ने बौद्धधर्म को ग्रहण किया वह भारत का चक्रवर्ती सम्राट् न था और जिस अशोक का सारे भारत में साम्राज्य विस्तृत था, वह बौद्ध न था। बौद्ध लेखकों ने दोनों को मिला दिया। वे इनमें भेद न कर सके और एक चक्रवर्ती बौद्ध सम्राट् की कल्पना कर ली। बौद्धों से यह हो जाना अस्वाभाविक भी नहीं, क्योंकि उनके ग्रन्थ परस्परविरुद्ध तथा असम्भव बातों से परिपूर्ण हैं। महावंश और दीपवंश कुछ लिखते हैं और दिव्यावदान तथा अन्य उत्तरीय ग्रन्थ कुछ और। दोनों—दक्षिणीय और उत्तरीय—बौद्ध साहित्यों में अत्यन्त भेद है। इस अवस्था में उनकी प्रामाणिकता को क्यों स्वीकृत किया जाय?

---

१. यः शान्तवृजिनो राजा प्रपन्नो जिनशासनम्।
शुष्कलेत्रवितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमण्डलैः॥
स षण्णवत्या गेहानां लक्षैर्लक्ष्मीसमुज्ज्वलैः।
गरीयसीं पुरीं श्रीमांश्चक्रे श्रीनगरीं नृपः॥

रा० त० प्रथम तरङ्ग १०२, १०४।

श्रीशास्त्री की युक्ति-परम्परा का यही अभिप्राय है। परन्तु इसमें विचारणीय बात यह है कि क्या सचमुच बौद्ध लेखकों ने दो अशोकों के विवरणों को मिला दिया है? यदि अशोक के शिलालेख उपलब्ध न होते और वे अपने प्रकाशक के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से सूचना न दे रहे होते, तब हमें बौद्ध-साहित्य की प्रामाणिकता को सिद्ध करने की आवश्यकता होती। परन्तु अब तो हमारा कार्य बहुत सरल हो गया है। ये शिलालेख सम्पूर्ण भारत में उपलब्ध होते हैं। इनके प्राप्ति-स्थान ही सूचित करते हैं, कि इनका प्रकाशक अशोक सम्पूर्ण भारत का सम्राट् था। शिला-लेखों की अन्तःसाक्षी भी यही सूचित करती है। अशोक अपने साम्राज्य की सीमा का निर्देश स्वयं करता है। ये शिलालेख सम्राट् समुद्रगुप्त अशोकादित्य के तो हो ही नहीं सकते। क्योंकि यह पुराना अशोक बौद्ध-धर्म का अवलम्बी था, हिंसा का विरोधी था, पाली-भाषा को अपनानेवाला था। दूसरी तरफ़ समुद्रगुप्त 'भागवत' धर्म का अनुयायी था, अश्वमेध-यज्ञ करके अश्व की बलि देता था और उसने संस्कृत को अपनाया था। पुराने अशोक ने कलिङ्ग की विजय के बाद ही यह अनुभव कर लिया था कि शस्त्र-विजय की अपेक्षा 'धम्म-विजय' अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। इसी लिए उसने इसके लिए 'प्रक्रम' प्रारम्भ कर दिया था। दूसरी ओर समुद्रगुप्त ने लग-भग सम्पूर्ण भारत में 'शस्त्र-विजय' की स्थापना के लिए यात्रा की थी। यह तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि ये शिलालेख समुद्रगुप्त अशोकादित्य के नहीं हैं। फिर ये किसके हैं? क्या काश्मीर के गोनन्द-वंशी अशोक के हैं? यदि राजतरङ्गिणी के आधार पर ही इस अशोक के राज्य आदि के सम्बन्ध में निश्चय करना हो, तो यह नहीं माना जा सकता कि इसका राज्य बहुत विस्तृत व विशाल था। राजतरङ्गिणी में इसके साम्राज्य की विशालता को सूचित करनेवाले कोई निर्देश विद्यमान नहीं। फिर, भारतीय राज-वंशों में इसको किस प्रकार और कौन सा स्थान दिया जा सकता है? यदि इसका राज्य सारे भारत में व्याप्त होता, तो पुराणों

की वंशावलियों में गोनन्द-वंश तथा उसके अशोक का उल्लेख अवश्य मिलता। वास्तविक बात तो यह है कि राजतरङ्गिणी की वंशावलियों में इतने प्राचीन काल के विषय में प्रामाणिकता बहुत कम है। इस प्राचीन काल के सम्बन्ध में अस्पष्टता बहुत अधिक है। ऐसा प्रतीत होता है कि काश्मीर में जिन विविध राजाओं ने एक के बाद एक करके राज्य किया, उनका उल्लेखमात्र कल्हण ने कर दिया है। उसने यह ध्यान नहीं रक्खा कि वे किस वंश के हैं। अनेक स्थलों पर जब काश्मीर किसी बाह्य साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया, तब उसी बाह्य-साम्राज्य के सम्राट् को काश्मीर की राजवंशावली में डाल दिया। हमारे विचार में यही बात अशोक के सम्बन्ध में की गई है। मौर्य-वंश के सम्राट् अशोक ने काश्मीर पर भी राज्य किया था। अतः उसका उल्लेख भी काश्मीर की वंशावली में कर दिया गया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस वंशावली में अशोक के पूर्ववर्ती राजा का नाम शचीनर दिया गया है। और लिखा है कि वह पुत्र-हीन अवस्था में मर गया और उसके बाद काश्मीर का राज्य अशोक के हाथ में चला गया। सम्भव यही है कि भारत के चक्रवर्ती मौर्य-सम्राट् अशोक ने राजा शचीनर के पुत्र-हीन अवस्था में मरने पर काश्मीर के राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया हो। अस्तु। अभी इस विवाद में पड़ने की हमें आवश्यकता नहा है। इतना निश्चित है कि यदि काश्मीर के इस राजा अशोक को पृथक् व्यक्ति समझा जाय, तो 'अशोक के शिलालेख इसी के हैं' यह किसी भी तरह नहीं माना जा सकता।

चीनी पर्यटक ह्यूनसांग, सम्राट् समुद्रगुप्त के लगभग दो सदी बाद भारत में यात्रा के लिए आया था। उसने भी अपने यात्रा-वृत्तान्त में अन्य बौद्ध-साहित्य की तरह ही अशोक का वर्णन किया है। हम श्रीशास्त्री महोदय से पूछना चाहते हैं कि क्या केवल दो सदियों में ही भारत में सच्चे इतिवृत्त का सर्वथा लोप हो गया था। आप तो भारतीयों को इतिहास-शास्त्र में पूर्णतया

दत्त मानते हैं। यदि दो सदी बाद आनेवाला ह्यूनसांग जैसा विद्वान् यात्री, आपके मतानुसार, भारतीयों से शुद्ध इतिवृत्त प्राप्त नहीं कर सकता, तो भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि की सत्ता कैसे स्वीकार की जाय ?

वस्तुतः, बौद्ध-साहित्य में परस्पर-विरुद्ध और असङ्गत बातें भी बहुत नहीं हैं। यद्यपि दक्षिणीय और उत्तरीय बौद्ध-साहित्यों में अनेक बातों में बहुत मतभेद है, तथापि सम्राट् अशोक के सम्बन्ध में मत-भिन्नता बहुत कम है। महावंश और दिव्यावदान की वंशावलियों में इतना ही तो भेद है कि दिव्यावदान सम्राट चन्द्रगुप्त का नाम छोड़ गया है। यदि इस दृष्टि से पुराणों को देखा जाय; तो उनमें कहीं अधिक मत-भेद प्रतीत होगा।

यदि मान भी लें कि बौद्ध-साहित्य अप्रामाणिक है और बौद्ध-लेखकों ने काश्मीर के बौद्ध-अशोक और गुप्तवंश के चक्रवर्ती सम्राट् अशोकादित्य समुद्रगुप्त को परस्पर मिला दिया है, तब भी तो बात ठीक नहीं बनती। बौद्ध-साहित्य में अशोक की जो वंशावली लिखी है, उसका समुद्रगुप्त के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। गुप्तवंशावली से वह सर्वथा भिन्न है। बौद्ध-साहित्य में तो अशोक को स्पष्टरूप से मौर्य्यवंशी कहा गया है[1]। इस अवस्था में समुद्रगुप्त और काश्मीर के अशोक को मिलाने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

अब तक जो विवेचना की गई है, उससे स्पष्ट होता है कि सम्राट् अशोक के सम्बन्ध में इस प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित

---

१. दिव्यावदान में अशोक को 'मौर्य्य' लिखा है—

'त्यागशूरो नरेन्द्रोऽसौ अशोको मौर्य्यकुञ्जरः।

Cowell and Neil—Divyavadan, पृ० 432.

महावंश में मौर्य्यवंश की उत्पत्ति 'मयूरनगर' से बताई गई है, तथा अशोक के वंश को मौर्य्यवंश कहा गया है। (इस सम्बन्ध में आगे चौथा अध्याय देखिए)

होती हैं, जिनसे श्रीनारायण शास्त्री की कल्पना ठीक नहीं समझी जा सकती। मौर्य्यवंशी सम्राट् अशोक के शिलालेखों में जिन विदेशी राजाओं का उल्लेख है, उनका काल निश्चित है। जब तक इन राजाओं का काल-परिवर्तन नहीं किया जाता, तब तक अशोक की तिथि में भी परिवर्तन होना असम्भव है।

इसके सिवाय एक बात यह है कि भगवान् बुद्ध का समय अनेक स्वतन्त्र प्रमाणों द्वारा निर्धारित किया गया है। भगवान् बुद्ध का निर्वाण पाँचवीं सदी ई० पू० में हुआ था, इस पक्ष की पुष्टि के लिए अनेक स्वतन्त्र निर्देश भी विद्यमान हैं[1]। सम्राट् अशोक बुद्ध से पीछे हुए थे। महावंश के अनुसार बुद्ध के निर्वाण और सम्राट् अशोक के राज्याभिषेक के बीच में २१८ वर्षों का अन्तर था[2]। यह अन्तर उत्तरीय बौद्ध-साहित्य के अनुसार १०० वर्ष का है। परन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि सम्राट् अशोक भगवान् बुद्ध के बाद हुए। हम यह कह चुके हैं कि बुद्ध की तिथि स्वतन्त्र प्रमाणों द्वारा भी पाँचवीं सदी ई० पू० में निश्चित होती है। इस अवस्था में यह कैसे माना जाय कि अशोक १५ वीं सदी ई० पू० में हुए थे। अशोक-सम्बन्धी विप्रतिपत्तियों के सिवाय, श्रीनारायण शास्त्री की कल्पना में अन्य भी अनेक दोष हैं। उनकी यह स्थापना ठीक नहीं है कि ग्रीक लेखकों का सैण्ड्राकोट्टस मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त न होकर गुप्तवंश का संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम है। इस

---

१. देखिए V. A. Smith—Early History of India (3rd edition), पृ० ४७.

यहाँ २ स्वतन्त्र प्रमाणों से बुद्ध की मृत्यु-तिथि ४८७ ई० पू० नियत की गई है।

२. जिननिब्बाणतो पच्छा पुरे तस्साभिसेकतो
साट्ठारसं वस्ससतद्वयमेवं विजानियं।

महावंश ५।२१

स्थापना को पुष्ट करने में शास्त्री महोदय ने अनेक भूलें की हैं। ग्रीक लेखकों ने सैण्ड्राकोट्टस और सैन्ड्रोकिप्टस को पृथक् रूप से नहीं लिखा। जस्टिन, प्लूटार्क और स्ट्रैबो आदि लेखकों ने एक ही व्यक्ति के लिए सैण्ड्राकोट्टस, एण्ड्रोकोट्टस, सैण्ड्रोकिप्टस और सैण्ड्रोकुप्टस शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें भेद कोई नहीं है। लेखक के भेद से कहीं कहीं शब्द का भेद आगया है। श्रीशास्त्री की कल्पना यह है कि आन्ध्रवंश के अन्तिम राजा का नाम चन्द्रश्री था। इसी को ग्रीक लेखकों ने क्सैण्ड्रमस लिखा है। इसे मार कर गुप्तवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त (ग्रीक लेखकों के सैण्ड्राकोट्टस) ने स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया। जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तब यही चन्द्रगुप्त (संक्षेप से जिसे चन्द्र भी कहते थे) राज्य कर रहा था। इसी को ग्रीक लेखकों ने सैण्ड्राकोट्टस लिखा है। इसका लड़का समुद्रगुप्त, अपने सौतेले भाई को राज्य मिलने की सम्भावना होने के कारण, स्वयं शक्ति प्रदर्शित करके राज्य छीन लेना चाहता था। इसी सम्बन्ध में वह सिकन्दर से भी मिला था। यही पीछे से विद्रोही पञ्जाब का नेता बना और अपने पिता चन्द्रगुप्त को मार कर मगध के सिंहासन पर बैठा। ग्रीक लेखकों ने इसी को सैण्ड्रोकिप्टस लिखा है। सिकन्दर के उत्तराधिकारी सैल्यूकस ने इसी पर आक्रमण किया था। मैगस्थनीज़ भी इसी के दरबार में रहा था। यदि श्रीशास्त्री की स्थापना को मान लिया जाय, तो इन उद्धरणों का क्या अर्थ होगा? :—

स्ट्रैबो लिखता है—"ये दोनों आदमी पालींब्रोथ्रा भेजे गये थे। मैगस्थनीज़ को सैण्ड्राकोट्टस के पास और डायमेचस को उसके पुत्र एलिट्रोचडस के पास।" स्ट्रैबो एक अन्य स्थान पर लिखता है—"मैगस्थनीज़ सैण्ड्राकोट्टस के दरबार में था।"

एथिनेइअस लिखता है—"फ़ाइलार्कस कहता है कि सैण्ड्राकोट्टस ने सैल्यूकस के पास जो उपहार भेजे थे, उनमें......"

एरियन ने अपनी 'इण्डिका' में लिखा है कि "मैगस्थनीज़

की सैण्ड्राकोट्टस के साथ भेंट हुई, जो कि भारतीयों का सबसे बड़ा राजा था[१]।"

इसी तरह के अन्य भी बहुत से उद्धरण पेश किये जा सकते हैं। इनके विद्यमान होते हुए यह किस तरह माना जा सकता है कि सैल्यूकस ने सैण्ड्रोकिण्ट्स पर आक्रमण किया था और मैगस्थनीज़ सैण्ड्रोकिण्ट्स के दरबार में रहा था, सैण्ड्रोकोट्टस के दरबार में नहीं। यदि ग्रीक लेखकों के लेखों को ज़रा भी ध्यान से पढ़ा जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि सैण्ड्रोकिण्ट्स, सैण्ड्राकोट्टस, व ऐण्ड्रोकोट्टस एक ही व्यक्ति के नाम हैं। हमें आश्चर्य है कि शास्त्री महोदय ने इनको पृथक् करने का साहस किस आधार पर किया। प्रायः सभी ग्रीक लेखों में सैल्यूकस के विजेता और मैगस्थनीज़ के आश्रयदाता सम्राट् के लिए 'सैण्ड्राकोट्टस' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। सैण्ड्रोकिण्ट्स तो एक दो लेखकों ने ही लिखा है।

मौर्य्यवंश के चन्द्रगुप्त को ग्रीक लेखकों के सैण्ड्राकोट्टस के साथ मिलाने में सबसे बड़ी विप्रतिपत्ति श्रीशास्त्री को यह है कि मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त ने राजा नन्द को मार कर सिंहासन प्राप्त किया। परन्तु ग्रीकों के सैण्ड्राकोट्टस ने क्सैण्ड्रमस को मार कर राज्य-प्राप्ति की। नन्द और क्सैण्ड्रमस में ध्वनि-साम्य नहीं है। उधर चन्द्रश्री और क्सैण्ड्रमस बिलकुल मिलते हैं, परन्तु अब तो इस विप्रतिपत्ति का भी निराकरण हो गया है। क्योंकि जस्टिन के एक लेख में क्सैण्ड्रमस के स्थान पर 'नेन्ड्रस' का प्रयोग किया गया है[२]। नेन्ड्रस और नन्द में ध्वनि-साम्य

---

१. J. W. M'Crindle—Invasion of India by Alexander the Great. P. 405.

२. "In the Agrammes, or Xandrames, of the Greek writers there has been no difficulties in recognising the Dhan-Nand of the Sanskrit books; and the very name, in the form Nandrus, has been conjecturally restored to the text of justin."

The Cambridge History of India, Vol. I. P. 469.

स्पष्ट है। अपनी कल्पना को पुष्ट करने की धुन में श्रीनारायण शास्त्री ने यहाँ तक लिख दिया है कि मौर्य्यवंशी चन्द्रगुप्त ने राज्य-प्राप्ति केवल चाणक्य की सहायता से की। भारतीय साहित्य के अनुसार चन्द्रगुप्त ने विदेशीय लोगों की सहायता नहीं ली। इसमें कोई शक नहीं कि मौर्य्य-साम्राज्य की स्थापना में आचार्य चाणक्य का बहुत बड़ा हाथ है, परन्तु उनकी सेनाओं का पराभव करने के लिए जो सेना एकत्रित की गई थी, उसमें अनेक अनावश्यक विदेशी राजा भी सेनाओं के साथ सम्मिलित थे। मुद्राराक्षस[1] के वर्णन से यह सर्वथा स्पष्ट है। साथ ही, महावंश टीका के अनुसार चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने पहले सीमाप्रान्त को अपने आधीन किया और फिर क्रमशः नगरों और ग्रामों को जीतते हुए मगध की राजधानी पाटलीपुत्र तक आये[2]। धननन्द को सिंहासनच्युत करना केवल चाणक्य के षड्यन्त्रों का ही फल न था, इसके लिए उन्हें बहुत सी सेनायें एकत्र करनी पड़ी थीं। यदि मुद्राराक्षस और महावंश के वर्णन पर ध्यान दिया जाय, तो ग्रीक-विवरण से अनेक समतायें ज्ञात होंगी।

इस तरह हमने उन आशङ्काओं को स्पष्ट कर दिया है, जिनके कारण हम श्रीनारायण शास्त्री की स्थापना को मानने का साहस नहीं कर सकते। यह होते हुए भी हम समझते हैं कि शास्त्री महोदय की कल्पना मौलिक और अद्भुत है। ऐतिहासिकों ने अब तक उस पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। इसी लिए हमें उस पर इतने विस्तार के साथ विचार करने की आवश्यकता अनुभव हुई है। तिथिक्रम के निर्णय में शास्त्री महोदय के विचारों पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए। कोई आश्चर्य नहीं

---

१. "विराधगुप्तः—एष कथयामि। अस्ति तावच्छकयवनकिरातकाम्बोजपारसीकबाल्हीकप्रभृतिभिश्चाणक्यमतिपरिगृहीतैश्चन्द्रगुप्तपर्वतेश्वरबलैरुदधिभिरिव प्रलयोच्चलितसलिलैः समन्तादुपरुद्धं कुसुमपुरम्।"

(मुद्राराक्षस द्वितीय अङ्क)

२ पाँचवाँ अध्याय देखिए

कि और अधिक अन्वेषण करने पर उनके विचार सत्य सिद्ध हों, क्योंकि वे भारतीय इतिवृत्त के बहुत अनुकूल हैं।

मौर्य-तिथि-क्रम (Chronology) में अन्य भी अनेक विवाद-ग्रस्त विषय हैं। परन्तु प्रारम्भ में उनका निर्णय कर सकना सम्भव नहीं है। हम यथा-स्थान इन विषयों पर विविध पक्षों का प्रदर्शन करते हुए किसी निर्णय तक पहुँचने का प्रयत्न करेंगे।

तीसरा अध्याय

साम्राज्य का विकास

प्राचीन ग्रन्थों में साम्राज्य शब्द अनेक स्थलों पर आता है[1]। पुराणों की वंशावलियों में अनेक चक्रवर्त्ती राजाओं के नाम पाये जाते हैं[2]। प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार सूर्य्यवंशी राजाओं ने सारी पृथिवी पर एकच्छत्र राज्य की स्थापना की थी। अन्य बहुत से वंशों में भी बड़े बड़े चक्रवर्त्ती सम्राटों के नाम उपलब्ध होते हैं। प्राचीन भारत में राजसूय और अश्वमेध यज्ञ

---

१. "साम्राज्यं......समन्तपर्य्यायी स्यात् सार्वभौम...आन्तादा-परार्द्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्य्यन्ताया एकराड् इति।"

ऐतरेयब्राह्मण ८।४।१

जो राज्य सब जगह फैला हुआ हो, उसे सार्वभौम या साम्राज्य कहते हैं। या, पृथिवी से लेकर समुद्रपर्यन्त जो एकमात्र राज्य हो, उसे साम्राज्य कहते हैं।

२. ऐतरेयब्राह्मण में विविध समयों के अनेक चक्रवर्ती सम्राटों का नाम लिखा है। उनमें से कुछ के नाम ये हैं—

कापवेयः, तुरः, साहदेव्यः, सोमकः, सार्ञ्जयः, सहदेवः, दैवावृधो-बभ्रुः, वैदर्भो भीमः, गान्धारो नग्नजित्, जानकिः, क्रतुतिन्, पैजवनः सुदासः।

इन राजाओं की नामावली देकर वहाँ यह भी लिखा है—

"सर्वे हैव महाराजा आसुरादित्य इव ह स्म श्रियं प्रतिष्ठितास्तपन्ति सर्वाभ्यो दिग्भ्यो बलिमावहन्तः।"

ऐतरेय ७।५।८

करना प्रत्येक सम्राट् का कर्त्तव्य समझा जाता था[1]। राजाओं की सर्वोच्च महत्त्वाकांक्षा यही रहती थी कि अश्वमेध यज्ञ कर इन्द्रपद को प्राप्त किया जावे।

भारतवर्ष का नाम पहले सप्तसैन्धव था। वैदिक काल में पंजाब की पाँच नदियों और गंगा, यमुना के तटवर्त्ती प्रदेश पर आर्यों का निवास था। इन नदियों के ही कारण यह देश सप्तसैन्धव कहलाता था। पीछे से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। भारतीय साम्राज्यवाद की दृष्टि से इस नाम-परिवर्तन का बड़ा महत्त्व है। इस देश का भारतवर्ष नाम राजा भरत के कारण

इसी तरह मैत्रायण्युपनिषद् में लिखा है—

"अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्त्तिनः केचित् सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्वयौवनाश्ववद्धियाश्वाश्वपतिशशबिन्दुहरिश्चन्द्रोऽम्बरीषोननूक्तस्वयातिययातिस्नरण्योचसेनोत्थमरुत्तभरतप्रभृतयो राजानः।

मैत्रायण्युपनिषद् १।४.

१. ब्राह्मणग्रन्थों में इन यज्ञों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। प्रत्येक राजा इन यज्ञों को करने का प्रयत्न करता था। रामायण, महाभारत और पुराणों में अनेक राजाओं का वर्णन है जिन्होंने कि ये यज्ञ किये। कुछ इन्द्रपद प्राप्त कर सके और कुछ असफल भी हुए। अश्वमेध यज्ञ के लिए एक घोड़ा छोड़ दिया जाता था। उसकी गति को कोई न रोक सकता था। वह जिधर चाहता जाता। यदि कोई व्यक्ति अश्वमेध यज्ञ करनेवाले राजा की शक्ति को स्वीकृत नहीं करता था, तो वह उस घोड़े को पकड़ लेता था। घोड़े के पीछे पीछे एक सेना चला करती थी। घोड़े की गति को रोकनेवाले के साथ यह सेना युद्ध करती थी। यदि सेना जीत जाती, तब तो घोड़ा छोड़ दिया जाता था। नहीं तो घोड़े के प्रतिहत गति होने के कारण अश्वमेध असफल समझा जाता था।

पड़ा है। ऐतरेयब्राह्मण में लिखा है[1], कि राजा भरत ने सम्पूर्ण पृथिवी का विजय कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। ऐसा ही वर्णन श्रीमद्भागवतपुराण में भी आता है। वहाँ लिखा है कि राजा भरत ने यवन, हूण, पाण्डुर आदि जातियों को जीत कर अपने अधीन किया। ऐसा प्रतीत होता है कि भरत पहला सम्राट् था, जो सारे भारत को पहले-पहल एक छत्र के नीचे लाने में समर्थ हुआ। तभी से इस देश का नाम भारत पड़ा। यह नाम इस देश की राजनैतिक एकता को सूचित करता है। इस देश के अन्य नाम केवल भूगोल के साथ सम्बन्ध रखनेवाले हैं। 'इंडिया' नाम विदेशी लोगों द्वारा दिया गया है। पारसी लोग सिन्धु नदी को 'हिन्धु' कहते थे। वे 'स' को 'ह' बोलते हैं। उनके बाद ग्रीक लोगों ने सिन्धु को 'इन्डस' कहा। इसी कारण सम्पूर्ण देश को भी उन्होंने 'इण्डिया' कहना शुरू किया। भारत का एक प्राचीन नाम 'जम्बुद्वीप' भी है। इस नाम का भौगोलिक महत्त्व है। अशोक के शिलालेखों और बौद्ध पुस्तकों में सम्राट् अशोक को जम्बुद्वीप का अधिपति लिखा गया है। इसी प्रकार पालवंशी राजाओं के साथ (जम्बुद्वीप सम्राट्) जुड़ा हुआ है। यद्यपि आर्यों ने समय समय पर अनेक उपनिवेश बसाये थे, परन्तु मातृभूमि एक भारतवर्ष ही समझी जाती थी। भारतवर्ष के साथ उसके सारे उपनिवेशों को मिला लिया जाय तो उस सारे साम्राज्य को जम्बुद्वीप कहा जाता था। 'ब्रिटेन' और 'ग्रेटर ब्रिटेन' में जो भेद वर्तमान समय में है, वही 'भारत' और 'जम्बुद्वीप' में था। इस देश के विविध भागों के नामउत्तरापथ, मध्यदेश, दक्षिणापथ आदि भी भौगोलिक ही हैं। राजनैतिक महत्त्व 'भारत' नाम का ही है। यह नाम बताता है कि

---

१. 'एतेन ह वा ऐन्द्रेण महाभिषेकेण दीर्घतमामामतेयो भरतं दौःष्पन्तिमभिषिषेच। तस्मादु भरतो दौःष्पन्तिः समन्तं सर्वतः पृथिवीं जयन्..., इत्यादि

ऐतरेयब्राह्मण ८।४।२३

यह देश राजनीतिक दृष्टि से एक साम्राज्य और एक शासन के अधीन रहा है।

यद्यपि प्राचीन साहित्य के अध्ययन से इस तरह प्राचीन समय में भी एक साम्राज्य की सत्ता प्रतीत होती है, तथापि भारत का पहला एकच्छत्रसम्राट् मौर्य्य चन्द्रगुप्त को समझा जाता है। इसके दो कारण हैं। पहला कारण यह कि भारत का अत्यन्त प्राचीन इतिहास उपलब्ध नहीं है। निस्सन्देह, प्राचीन ग्रन्थों में कुछ चक्रवर्त्ती सम्राटों के नाम मिलते हैं, परन्तु इनके विषय में कुछ भी ऐतिहासिक विवरण हमें मालूम नहीं। यही कारण है कि स्मिथ आदि ऐतिहासिक ६०० ई० पू० से पूर्व के काल को प्रागैतिहासिक (Pre-Historical) लिखते हैं। दूसरा कारण यह है कि मौर्य चन्द्रगुप्त से पूर्व जो सम्राट् हुए हैं, वे अन्य राजाओं पर केवल अपना प्रभुत्व ही स्वीकृत करा लेते थे। राजसूय और अश्वमेध करनेवाले सम्राटों को यह अभीष्ट न था कि अन्य राजा रहें ही नहीं। वे तो केवल यही दिखलाना चाहते थे कि उनकी शक्ति सबसे अधिक है, अन्य राजा उनकी अधीनता स्वीकृत करते हैं। राजा युधिष्ठिर ने जो राजसूय यज्ञ किया था, उसमें दूर दूर से राजागण सम्मिलित हुए थे, इन राजाओं के लिए यही आवश्यक था कि प्रबल शक्तिशाली राजा युधिष्ठिर को उपहार अर्पित कर अधीनता स्वीकृत कर लें[1]। इस प्राचीन काल में यह विचार प्रचलित था कि विजित देश के आन्तरिक प्रबन्ध में कोई हस्तक्षेप न करे। प्राचीन ग्रन्थों में जहाँ साम्राज्य और सार्वभौम राज्यों का वर्णन आता है वहाँ अन्य राज्यों के वर्णन की भी कमी नहीं है। इस प्रागैतिहासिक कहे जानेवाले काल में सम्राट् अवश्य होते थे, पर

---

१. महाराज युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ के लिए महाभारत के सभा-पर्व का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सम्राट् शब्द से 'अन्य राजाओं का स्वामी' यही अर्थ गृहीत होता था[1]। परन्तु चन्द्रगुप्त मौर्य ने जिस राज्य की स्थापना की, उसमें अन्य राजाओं से केवल प्रभुत्व ही स्वीकार नहीं कराया गया था, अपितु चन्द्रगुप्त का सारे भारत पर एकच्छत्र राज्य था। इसमें अधीन राजाओं की सत्ता न थी। इस विस्तृत देश को प्रान्तों में विभक्त कर अपने प्रान्तीय शासकों द्वारा मौर्य-सम्राटों ने शासित किया था। इस साम्राज्य की यही विशेषता है। हमको इसी साम्राज्य का क्रमिक विकास देखना है। प्राचीन काल के साम्राज्यों का वर्णन हमें ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में ही मिलता है। बौद्धकाल में भारत में अनेक राष्ट्र थे। सारा देश अनेक छोटे और बड़े राष्ट्रों में विभक्त था। राजनैतिक एकता इस काल में न थी। भिन्न भिन्न शासन-प्रणालियोंवाले विविध राष्ट्र इस काल में विद्यमान थे।[2]

१—ऐतरेयब्राह्मण की अष्टम पञ्जिका के तृतीय अध्याय के तृतीय खण्ड में अनेक राज्यों का वर्णन आता है। यथाः—

"उदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तर-मद्रा इति।"

अर्थात् हिमालय के उत्तर में उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र नाम के राज्य थे। इसी प्रकार—

"मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि ये के च कुरुपाञ्चालानां राजानः। सवशोशीनराणाम्।"

अर्थात् साम्राज्य के मध्यवर्ती देश कुरु और पाञ्चाल थे। इसी प्रकार—

"प्राच्यां दिशि ये के च प्राच्यानां राजानः" इत्यादि।

२—इन भिन्न भिन्न राष्ट्रों की शासन-प्रणालियां भी भिन्न भिन्न थीं। जैसे—

"ये के च प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते। ये के च सत्वतां राजानः भोज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते। ये के च नीच्यानां राजानः स्वराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते। ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वै राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते।"

भगवान् बुद्ध से कुछ समय पूर्व, भारत सोलह राष्ट्रों में विभक्त था। इन सोलह राष्ट्रों के नाम इस प्रकार हैं[1] :—

१	अङ्ग	५	वैज्जेन	९	कुरु	१३	अस्सक
२	मगध	६	मल्ल	१०	पाञ्चाल	१४	अवन्ती
३	काशी	७	चेदी	११	शूरसेन	१५	गान्धार
४	कोशल	८	वत्स	१२	मत्स्य	१६	काम्बोज

इन सोलह राष्ट्रों का एक नक्शा सामने दिया गया है। यह सूची निस्सन्देह पर्याप्त प्रामाणिक है। परन्तु प्रतीत होता है कि इसमें अनेक राष्ट्रों की गणना नहीं की गई है। शिवि, मद्र, सौवीर, उद्यान और विराट आदि राष्ट्रों की गणना इसमें नहीं की गई है।

बौद्ध लेखकों को प्रामाणिक समझते हुए हम मान लेते हैं कि जिस समय की यह सूची दी गई है उस समय ये ही सोलह राष्ट्र भारत में थे। इन राष्ट्रों में परस्पर युद्ध जारी रहते थे। शक्तिशाली राष्ट्र अपने पड़ोसी कमज़ोर राष्ट्रों को दबाने में सदा तैयार रहते थे। मगध के पूर्व में अङ्ग राष्ट्र था। इसकी राजधानी चम्पा थी। बुद्ध के समय में यह राष्ट्र मगध के अधीन था। अगले इतिहास में हम कभी अङ्ग देश को स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में नहीं देखते। बुद्ध के समय में अङ्गराज एक धनी सामन्त-मात्र ही था। मगध निस्सन्देह उस समय एक शक्तिशाली राष्ट्र था। काशी किसी समय एक प्रबल राष्ट्र था। परन्तु बुद्ध के समय इसकी दशा बड़ी हीन

इससे स्पष्ट हुआ कि ऐतरेयब्राह्मण के ही समय में अनेक शासन-प्रणालियोंवाले अनेक राष्ट्र थे। अतः साम्राज्य और सार्वभौम का यही भाव समझना चाहिए।

१—राजनैतिक एकता के अभाव से यह न समझना चाहिए कि उस समय भारत एक न था। अनेक राष्ट्रों के होते हुए भी भारत एक राष्ट्र था। यह किस प्रकार ?—इसके लिए पढ़िए—

The Fundamental Unity of India, by Prof. Radha Kumud Mukerji.

बौद्धकाल के सोलह महाजानपद।

थी। पश्चिम में कोशल एक प्रबल और शक्तिशाली राष्ट्र था। इसकी नज़र सदा काशी पर लगी रहती थी। इन सोलह राष्ट्रों में परस्पर संघर्षण होता रहा। अन्त में मैदान में ४ राष्ट्र (राजतन्त्र) और दस प्रजातन्त्र राज्य रह गये। इनमें भी संघर्षण पूर्ववत् जारी रहा। इन चार राजतन्त्र राष्ट्रों के नाम इस प्रकार हैं—

१—मगध का राष्ट्र	३—वंश वा वत्स का राष्ट्र
२—कोशल का राष्ट्र	४—अवन्ती का राष्ट्र।

इस काल के प्रजातन्त्र राष्ट्रों के नाम निम्नलिखित हैं:—

१	शिशुमार पर्वत के भग्ग	६	पावा के मल्ल
२	अल्ल कप्प के वुली	७	पिप्पलिवन के मौर्य
३	केशपुत्र के कालाय	८	शाक्य प्रजातन्त्र
४	रामनगर के कोलिय	९	मिथिला के विदेह
५	कुशीनगर के मल्ल	१०	वैशाली के लिच्छवी

अन्तिम दोनों राष्ट्र मिलकर 'वैज्जेन राष्ट्र संघ' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

अब स्थिति यह हुई कि ऊपर लिखित चारों राजतन्त्र राष्ट्र साम्राज्य बनाने की कोशिश करने लगे। साम्राज्य के इच्छुक राष्ट्रों के सामने दो काम थे। एक इन प्रजातन्त्रों का नाश करना और दूसरे आपस में एक दूसरे को नष्ट करना। इसके लिए निरन्तर संघर्ष होता रहा। अन्त में केवल मगध ही साम्राज्य बनाने में सफल हुआ। मगध अपना साम्राज्य किस प्रकार बना सका, इसका क्रमिक इतिहास अनुशीलन करने योग्य है। हम अत्यन्त संक्षेप में साम्राज्य के क्रमिक विकास का इतिहास लिखेंगे।

ऊपर हमने जिन चार राज्यों का उल्लेख किया है, महात्मा बुद्ध के समय में उनके राजा अग्र लिखित थे—

१ मगध का राज्य—इसकी राजधानी राजगृह थी। इस पर प्रसिद्ध शिशुनाग-वंश राज्य कर रहा था। पुराणों में महाभारत-युद्ध के पश्चात् बृहद्रथ-वंश से लेकर कण्व-सम्राटों तक की मगध के राजाओं की पूर्ण वंशावली उपलब्ध होती है। महात्मा बुद्ध के समय मगध में राजा बिम्बिसार राज्य कर रहा था। बुद्ध के जीवनकाल में ही बिम्बिसार का लड़का अजातशत्रु राजगद्दी पर बैठा।

२ कोशल का राज्य—इसकी राजधानी श्रावस्ती या सावट्ठी थी। बुद्ध के समय यहाँ पर राजा अग्निदत्त प्रसेनजित् राज्य कर रहा था और पीछे बुद्ध के जीवन में ही अग्निदत्त का लड़का विडूडभ राजगद्दी पर बैठा।

३ वत्स का राज्य—इसकी राजधानी कोशाम्बी थी। महात्मा बुद्ध के जीवन-काल में यहाँ राजा उदयन राज्य कर रहा था।

४ अवन्ती का राज्य—इसकी राजधानी उज्जैन थी। महात्मा बुद्ध के समय यहाँ राजा प्रद्योत (पज्जोत) राज्य कर रहा था।

इन चारों राज्यों में परस्पर संघर्ष जारी रहता था। इधर मगध और कोशल परस्पर प्रभुता के लिए युद्ध करते थे, और उधर वत्स और अवन्ती। वत्स और अवन्ती के पारस्परिक संघर्ष का वर्णन बौद्ध-साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ महावग्ग में किया गया है, वह इस प्रकार है:—

अवन्ती के राजा प्रद्योत ने एक बार अपने दरबारियों से पूछा कि क्या किसी राजा की कीर्ति मुझसे अधिक है? दरबारियों ने उत्तर दिया—कोशाम्बी का राजा आपसे अधिक कीर्तिमान् है। यह सुनते ही प्रद्योत ने उदयन पर आक्रमण करने का निश्चय कर लिया। परन्तु वत्सराज पर आक्रमण करना इतना सरल कार्य न था। शीघ्र ही प्रद्योत को अपनी

शक्ति का ज्ञान हुआ, और उसने सीधा आक्रमण करने की अपेक्षा नीति द्वारा ही उदयन को वश में करना अधिक उपयुक्त समझा।

उदयन को हाथियों का बहुत शौक था। वह हस्तिविद्या में बहुत निपुण था, और उत्तम हाथियों को पकड़ने में सदा उद्यत रहता था। इसलिए प्रद्योत ने एक नकली हाथी बनवाया। उसमें ५० सैनिकों को खड़ा कर नकली हाथी को अवन्ती और वत्स के सीमावर्ती जंगल के सघन प्रदेश में छिपा कर खड़ा कर दिया। अपने गुप्तचरों द्वारा उसने यह समाचार उदयन तक पहुँचवा दिया, कि एक सर्वगुणसम्पन्न हाथी आजकल सीमा के जङ्गल में आया हुआ है। उदयन हाथी को पकड़ने के लिए चला, पर अपने साथियों को पीछे छोड़कर वह ज्योंही उस नकली हाथी तक पहुँचा, त्योंही प्रद्योत के सैनिकों-द्वारा क़ैद कर लिया गया।

इसके बाद उदयन प्रद्योत के कारागार में पड़ा रहा। वहाँ उसका प्रद्योत की लड़की वासवदत्ता के साथ स्नेह होगया। यह स्नेह किस प्रकार हुआ, इस विषय में अनेक मतभेद हैं। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में लिखा है कि वह उदयन की सेवा में नियुक्त थी। परन्तु महावग्ग का लेखक उनके स्नेह की विचित्र कहानी लिखता है। उसे लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं।

अभिप्राय यह है कि वत्सराज उदयन अवन्ती की राज-कन्या को विचित्र युक्ति से हर कर ले गया।[1] प्रद्योत की सेनाओं ने

१—महावग्ग की इस उक्ति का कालिदास के वचनों द्वारा भी पोषण होता है। महाकवि कालिदास मेघदूत में "प्राप्यावन्तीमुदयनकथाकोविद-ग्रामवृद्धान्" आदि से शुरू करके लिखते हैं:—

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे।
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः॥

इत्यादि।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण में प्रद्योत और उदयन की इसी कथा का नाटक-रूप में वर्णन किया गया है। पर वहाँ कथा-क्रम कुछ भिन्न है।

उसका पीछा किया। पर वह उसके हाथ न आ सका। वह नीति-निपुणता के कारण अवन्ती की सीमा से निकल कर अपने राज्य में चला गया और वत्स तथा अवन्ती का पारस्परिक संघर्ष जारी रहा।

इस प्रकार जब इधर वत्स और अवन्ती परस्पर प्रभुता के लिए संघर्ष कर रहे थे, उधर मगध और कोशलों में युद्ध जारी था। इस युद्ध की कथा बौद्ध-ग्रन्थों में इस प्रकार आती है। अग्निदत्त प्रसेनजित् की बहन कोशलादेवी का विवाह मगधराज बिम्बिसार के साथ हुआ। बिम्बिसार की एक और भी स्त्री थी। यह विदेह की राजकुमारी थी और इसका नाम कूनिका था। इसका पुत्र था अजातशत्रु। कथा आती है कि बुद्ध के विद्रोही-शिष्य देवदत्त के भड़काने पर अजातशत्रु ने पिता को मार दिया और स्वयं राज्य पर अधिकार कर लिया। पति की मृत्यु के शोक में कोशलादेवी का देहान्त होगया। राजा प्रसेनजित् ने अपनी बहन के विवाह के समय काशी का राज्य दहेज रूप में मगधराज को प्रदान किया था। अब कोशला देवी की मृत्यु हो जाने पर प्रसेनजित् ने वह अपने हाथ में कर लिया। क्रुद्ध होकर अजातशत्रु ने अपने सौतेले मामा प्रसेनजित् पर आक्रमण किया। युद्ध होने पर मगध की पराजय हुई और अजातशत्रु पकड़ा गया। अन्त में संधि होगई। अजातशत्रु मुक्त कर दिया गया और संधि को स्थिर करने के लिए प्रसेनजित् ने अपनी पुत्री का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया। इस तरह यह युद्ध तो समाप्त हुआ। अब मगध और कोशल दोनों ही राज्यों का ध्यान पड़ोस के जनतन्त्र राज्यों की ओर गया।

अजातशत्रु ने मगधराज के उत्तर में स्थित वैज्जेन राष्ट्र-संघ पर आक्रमण करने का विचार किया। लिच्छवी और वैदेह के राज्य गङ्गानदी के उत्तर और गण्डक नदी के पूर्व में स्थित थे। इन राज्यों को अपने राज्य में मिला लेने का संकल्प कर अजातशत्रु अपने प्रधान अमात्य वस्सकार को भगवान्

बुद्ध के पास इस विषय में सम्मति लेने के लिए भेजा। वस्स-कार की बात सुनकर बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से कहाः—

'आनन्द! क्या तुम जानते हो कि वैज्जेन लोग अपनी राजनैतिक सभायें करते हैं?

आनन्द ने उत्तर दिया—'भगवान्! मैंने ऐसा ही सुना है।"

इस पर बुद्ध ने कहा—"जब तक वैज्जेन लोग इसी प्रकार अपनी सभायें करते रहेंगे, तब तक उनके अवनत होने का कोई डर नहीं है। वे निरन्तर समृद्ध होते जावेंगे।"

इसी बातचीत में भगवान् बुद्ध ने आगे कहा—"आनन्द! जब तक वैज्जेन लोग मिलकर संगठन में सब काम करेंगे, जब तक वे प्राचीन रीतिरिवाजों का अपने संघ में पालन करेंगे, जब तक कि वे किसी बात को पहले निश्चय किये बिना न करेंगे और निश्चित की हुई बातों का उल्लङ्घन न करेंगे, जब तक कि वे वैज्जेनों की देर से चली आती राजनैतिक संस्थाओं के अनुसार काम करते चले जावेंगे, जब तक कि वे संघ के वृद्ध-पुरुषों की सम्मति का पालन करते रहेंगे, तब तक वैज्जेन लोगों के ह्रास का कोई डर नहीं। पर वे निरन्तर समृद्धि ही लाभ करते जावेंगे[१]।"

पता नहीं भगवान् बुद्ध के इस उपदेश को सुनकर अजात-शत्रु ने क्या किया? कहते हैं कि उसने अपनी विजय-यात्रा मुलतवी कर दी। वैज्जेन जनतन्त्र राष्ट्र कोई साधारण न था। लिच्छवी और विदेहों के सिवाय आठ गणतन्त्र राष्ट्र इसमें और सम्मिलित थे। एक तरह उस समय में यह बड़ा राष्ट्र-सङ्गठन था[२]।

१—देखो—Ramesh Chandra Majumdar—The Corporate Life in Ancient India, पृ० ६१. ६२.

२—वर्तमान परिभाषा में हम 'The united estates of Vajjanas' कहने का साहस कर सकते हैं।

इन जनतन्त्र राष्ट्रों की शक्ति राजतन्त्र राजाओं से कहीं अधिक थी। इसी लिए कौटिल्य कहता है कि राजा के लिए मित्र, दण्ड, और सेना की प्राप्ति की अपेक्षा एक संघ (जनतन्त्र राज्य) की सहायता अधिक उपयोगी है, परन्तु जनतन्त्र राज्यों में परस्पर फूट डलवा देना और आपस में विरोध उत्पन्न कर शक्ति को कम कर देना बहुत सरल होता है। इसी लिए महात्मा बुद्ध ने वस्सकार के सम्मुख वैज्जेन राष्ट्र-संघ की इस सम्भावित कमज़ोरी की तरफ़ निर्देश किया था। वस्सकार जैसे चाणाक्ष प्रधानमन्त्री ने इस निर्देश का उपयोग किया। उसने उनमें फूट डालने का यत्न किया और अपने प्रसिद्ध साम्राज्यवादी उत्तराधिकारी चाणक्य की तरह वैज्जेन संघ में फूट डलवा कर उसे कमज़ोर कर दिया। अजातशत्रु तो मौक़े की ताक में ही था। तीन वर्ष बाद वस्सकार के प्रयत्नों से उसे अवसर मिला और उसने वैज्जेन-संघ को पराजित किया। वैज्जेन को पराजित करने के कारण मगध की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई।

मगध किस प्रकार वैज्जेन-राष्ट्र-संघ पर अपना अधिकार कर सका इसका वर्णन बौद्ध-साहित्य में बहुत मनोरञ्जक रीति से किया गया है। हम उसे संक्षेप में यहाँ उद्धृत करते हैं :—

आक्रमण-द्वारा वैज्जेन-राष्ट्र को पराजित कर सकना कठिन समझ वस्सकार और अजातशत्रु ने परस्पर परामर्श किया और कुटिल नीति-द्वारा वैज्जेन लोगों में फूट डलवाने का निश्चय किया। अजातशत्रु ने अपनी सभा बुलाई, उसमें विचार किया गया कि वैज्जेन लोगों पर आक्रमण किया जाय या नहीं। वस्सकार ने सभा में वैज्जेन लोगों का पक्ष लिया। अजातशत्रु ने विरोध किया। दोनों में ख़ूब दिखावटी कलह हुई। इसी प्रयोजन के लिए तो यह सभा बुलाई गई थी। इसी बात पर अजातशत्रु ने वस्सकार को अपमानित किया। अपमानित वस्सकार वैज्जेन-राष्ट्र में पहुँचा। वहाँ वैज्जेन लोग वस्सकार को

अपने राष्ट्र में लेने के लिए परस्पर विवाद करने लगे। अन्त में यही निश्चय हुआ कि अजातशत्रु के द्वारा अपमानित होने के कारण वस्सकार वैज्जेन लोगों का बहुत सहायक हो सकेगा। उसे एक महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त कर दिया गया। और वह अपनी नीति-कुशलता से शीघ्र ही वैज्जेन-राष्ट्र का कर्त्ता धर्ता बन गया। पहले तीन साल तक उसने कुछ नहीं किया, अपना विश्वास जमाता रहा। जब सब लोग उसके वश में हो गये तब उसने एक नागरिक को बुलाकर कहा, "क्या तुम भीख माँगते हो।" उसने कहा नहीं। वस्सकार बोला—मुझे तो उस नागरिक ने बतलाया था। एक अन्य नागरिक को बुलाया, उससे पूछा क्या तुम भेड़ बकरी चराते हो? उसने कहा नहीं। वस्सकार बोला—मुझे तो उस नागरिक ने बतलाया था। इस प्रकार धीरे धीरे सारे वैज्जेन-संघ में फूट डाल दी। उनमें यहाँ तक परस्पर विरोध हो गया कि एक दूसरे से बोलता तक न था। इस हालत को आक्रमण के लिए उपयुक्त जान वस्सकार ने अजातशत्रु को सन्देश भेजा। अजातशत्रु ने आक्रमण किया। परस्पर विभक्त हुवे हुवे वैज्जेना ने राष्ट्र की रक्षा न की और वे वस्सकार की नीति से पराजित हो गये[1]।

इस प्रकार जब मगध वैज्जेन-राष्ट्र-संघ को अधीन कर रहा था उधर कोशल के राजा भी चुप नहीं बैठे थे। वे भी समीपवर्त्ती जनतन्त्र-राज्यों को अपने वश में कर रहे थे। अग्निदत्त-प्रसेनजित् के बाद उसका लड़का विडूडभ राजगद्दी पर बैठा। इसने शाक्यों के प्रसिद्ध जनतन्त्र राज्य पर आक्रमण किया। बौद्ध ग्रन्थों में कथा आती है कि, अग्निदत्त-प्रसेनजित् ने महात्मा बुद्ध के सजातीय शाक्य लोगों से सम्बन्ध स्थापित

१—प्रतीत होता है कि प्रसिद्ध नीतिपुस्तक पञ्चतन्त्र का 'काकोलूकीय तन्त्र' इसी कथानक को सम्मुख रख कर बनाया गया है। कथा यही है केवल नामों का भेद है।

करना चाहा। इसके लिए उसने शाक्य लोगों के पास एक राजदूत यह सन्देशा देकर भेजा कि शाक्य लोगों में से एक शाक्य राजकुमारी के साथ प्रसेनजित् का विवाह कर देने के लिए प्रेरणा करें। जब प्रसेनजित् का राजदूत कपिलवस्तु पहुँचा तो शाक्य लोग अपने सन्थागार (सभाभवन) में सभा कर रहे थे। इतने में राजा अग्निदत्त का सन्देशहर सन्देशा लेकर पहुँचा और उसने सन्देशा सुनाया। बहुत देर तक इस बात पर विचार होता रहा। अन्त में निश्चय हुआ कि शाक्यराजकुमारी का विवाह प्रसेनजित् के साथ करने में शाक्य लोगों का अपमान है। अतः एक दासी-पुत्री को प्रसेनजित् के लिए भेज दिया गया। इसी दासीपुत्री से विडूडभ उत्पन्न हुआ था। जब विडूडभ राजगद्दी पर बैठा और उसे शाक्य लोगों के धोखे का पता लगा, तो उसे बहुत क्रोध आया। उसने अपने राजवंश के अपमान का बदला लेने के लिए कपिलवस्तु पर आक्रमण किया। शाक्यों और विडूडभ का भयानक युद्ध हुआ। अन्त में शाक्यों की पराजय हुई। कपिलवस्तु को भस्मसात् कर दिया गया। बहुत से शाक्यों की हत्या कर विडूडभ ने अपने राजवंश के अपमान का बदला लिया। इस प्रकार शाक्य-प्रजातन्त्र की भी स्वतन्त्रता का यहाँ अन्त होता है। और वह कोशल-राज्य का एक अंग बन जाता है।

इसी तरह से चारों राजतन्त्र राज्यों का परस्पर और जनतन्त्र राज्यों के साथ संघर्ष निरन्तर जारी रहता है। हमारे पास ऐतिहासिक सामग्री की कमी है। इसलिए भगवान् बुद्ध की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रकट होने से पहले इतिहास के रंगमंच पर क्या हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सिकन्दर के आक्रमण के साथ परदा उठता है, हमें एक नया ही दृश्य दिखाई देता है। हम देखते हैं कि मगध अपने यत्न में सफल हुआ है। कोशल, वत्स और अवन्ती के राष्ट्र साम्राज्य न बना सके। यह सब किस प्रकार हुआ यह लिखा जाना अत्यन्त कठिन है। परदा

उठने पर हमारे सामने नया दृश्य आता है। इस दृश्य का वर्णन यूनानी लेखक इस प्रकार करते हैं[1]।

"जब सिकन्दर ने भारत की आन्तरिक अवस्था के विषय में पूछा, तो उसे बताया गया कि सिन्धु नदी के परे १२ दिन में पार करने योग्य [कर्टियस के मत में ११ दिन के योग्य] एक विस्तृत मरुस्थल है। इस मरुस्थल के······गंगा नदी बहती है। गंगा से परे प्रेसिआई (Prasii—प्राच्य) और गंगेरडी (Gangardæ) लोग रहते हैं। उनका राजा क्सन्द्रमस (राजा नन्द) है। यह राजा युद्ध के लिए मैदान में २० हज़ार घुड़सवार, दो लाख पदाती, दो हज़ार रथ, चार सौ हाथी (कर्टियस के मत में ३००) ला सकता है। सिकन्दर ने इस वृत्तान्त की सत्यता के विषय में राजा पोरस से पूछा......"

निस्सन्देह सिकन्दर के आक्रमण के पहले ही मगध का राज्य अपना साम्राज्य बहुत कुछ स्थापित कर चुका था। इस मगध का राजा महापद्मनन्द था, पुराण आदि के अनुशीलन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इस महापद्मनन्द ने बहुत सी जातियों और राष्ट्रों का विजय किया था[2]।

---

१. Prof. Max Muller—The History of Ancient Sanskrit Literature. Allahabad Edition. Page 143.

२. पुराणों में नन्द का वर्णन इस प्रकार आता है—

महापद्मनन्दस्ततः शूद्रागर्भोद्भवोऽतिलुब्धोऽतिबलो महापद्मनन्दनामा परशुराम इवापरोऽखिलक्षत्रियान्तकारी भविष्यति। ततः प्रभृति शूद्रा भूपाला भविष्यन्ति। स च एकच्छत्रामनुल्लंघितशासनो महापद्मः पृथिवीं भोक्ष्यति।

विष्णुपुराण, IV, Ch. XXIV.

भागवतपुराण में—

महानन्दीसुतो राजन् शूद्रागर्भोद्भवो बली।
महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत ॥

इसके राज्य की सीमा पूर्व में अङ्गराज्य और पश्चिम में गंगा नदी थी। सिकन्दर ने इस पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया। उसकी शक्ति को सुनकर वह बहुत आश्चर्यान्वित हो गया था। कलियुगराजवृत्तान्त में लिखा है कि महापद्मनन्द ने शूरसेन, मैथिल, पाञ्चाल, हैहय आदि को जीता था। इससे हम स्वाभाविक तौर पर यह कल्पना कर सकते हैं कि राजा नन्द ने अनेक राष्ट्रों को जीत कर मगध का साम्राज्य बढ़ाया।

बुद्ध की मृत्यु और सिकन्दर के आक्रमण के मध्यवर्ती काल की घटनाओं को क्रमबद्ध करने का कुछ प्रयत्न डा० भाण्डारकर ने अपने Carmichael Lectures (1918) के द्वितीय व्याख्यान में किया है। आपका कहना है कि अजातशत्रु के बाद मगध में क्रमशः उदयभद्र, अनुरुद्ध, मुण्ड और नागदासक ने राज्य किया। नागदासक का शासन बहुत अलोकप्रिय था। अतः

ततो नृपा भविष्यन्ति
स एकच्छत्रां पृथिवीमनुल्लंघितशासनः।
शासिष्यति महापद्मो द्वितीय इव भार्गवः।

स्कन्ध १२, अध्याय २।

कलियुगराजवृत्तान्त में—

महानन्देश्च शूद्रायां महिष्यां कलिचोदितः।
उत्पत्स्यते महापद्मो धननन्द इतिश्रुतः॥
अतिलुब्धोऽप्यतिबलो सर्वक्षत्रान्तको नृपः।
ऐक्ष्वाकांश्च पाञ्चालान् कौरव्यांश्च हैहयान्॥
कालकामेकलिङ्गांश्च शूरसेनांश्च मैथिलान्।
जित्वा चान्यांश्च भूपालान् द्वितीय इव भार्गवः॥
एकराट् स महापद्मः, एकच्छत्रो भविष्यति।
स कृत्स्नामेवपृथिवी मनुल्लंघितशासनः॥
शासिष्यति महापद्मो मध्ये विन्ध्यहिमालयोः।
ततः प्रभृति भविष्यन्ति शूद्रायाः नृपाः कलौ॥

भाग ३, अध्याय २,

उसके मंत्री सुसुनाग ने उसे मारकर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया। उदयभद्र आदि की वंशावली तथा नागदासक को मारकर सुसुनाग के राज्य प्राप्त करने की बात महावंश में लिखी है। यद्यपि यह पुराणों के अनुकूल नहीं है, तथापि डा० भाण्डारकर इसी को प्रमाण मानते हैं। आपका मत है कि यह सुसुनाग बड़ा प्रतापशाली राजा था। इसी ने वत्स, अवन्ती और कोशल के राज्यों का अन्त किया। इसके प्रताप के ही कारण पुराणों ने भूल से इसे बिम्बिसार से पूर्व रख दिया है, और बिम्बिसार के वंश को (जिसका नाम वस्तुतः नागवंश था) सुसुनाग या शिशुनाग वंश लिख दिया है। वत्स, अवन्ती और कोशल के राज्यों का अन्त बुद्ध के समकालीन उदयन, प्रसेनजित् और प्रद्योत के चार पीढ़ी बाद हुआ। यह बात हमें प्राचीन साहित्य से मालूम है, क्योंकि इन राजाओं के बाद चार पीढ़ी तक तो इनके उत्तराधिकारियों के नाम हमें मिलते हैं, उसके बाद नहीं। उधर महावंश के अनुसार उदयन आदि के समकालीन मगध राजा अजातशत्रु के चार पीढ़ी बाद ही सुसुनाग हुआ है। अतः यही समझना चाहिए कि इस सुसुनाग ने ही वत्स आदि राज्यों का अन्त कर मगध के साम्राज्य की स्थापना की। पुराणों ने यद्यपि सुसुनाग को अजातशत्रु और बिम्बिसार से पहले रखने में भूल की है, पर उन्होंने अन्य विवरण ठीक रखा है। इसी लिए उनके मत में सुसुनाग या शिशुनाग ने अपने पुत्र को राज्य करने के लिए वाराणसी (काशी) में नियत किया और स्वयं गिरिव्रज (राजगीर) को अपनी राजधानी बनाया। काशी को पृथक् राजधानी बनाना ही यह स्पष्ट कर देता है कि सुसुनाग का राज्य बहुत विस्तृत था। तभी तो उसे दो राजधानियाँ बनाने की आवश्यकता पड़ी थी। इस तरह डा० भाण्डारकर के मत में सबसे पूर्व साम्राज्य-स्थापना-संघर्ष में मगधराज सुसुनाग सफल हुआ। उसके बाद इसी दिशा में महापद्मनन्द ने भी प्रयत्न किया।

परन्तु हमें डा० भाण्डारकर की यह कल्पना ठीक नहीं

प्रतीत होती। महावंश में सुसुनाग का जो वर्णन है, उससे यह नहीं मालूम पड़ता कि इसने किसी नवीन प्रदेश का विजय किया था[१]। पुराणों में भी उसके किसी विजय का निर्देश नहा। वहाँ इतना ही लिखा है कि उसने वाराणसी पर राज्य करने के लिए अपने पुत्र को नियत किया। इससे केवल इतना ही समझा जा सकता है कि वाराणसी उसके अधीन थी। इससे अधिक कुछ परिणाम इस वृत्त से नहीं निकल सकता[२]। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि काशी पहले सुसुनाग के हाथ में हो और फिर उसे महाकोशल के राजाओं ने जीत लिया। काशी का राज्य मगध और कोशल के बीच में था। ये दोनों ही साम्राज्यवादी राज्य थे और काशी का राज्य मगध और कोशल के पारस्परिक संघर्ष का कारण बना हुआ था। यह कभी एक के अधीन होता था और कभी दूसरे के। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि बिम्बिसार से पूर्व शिशुनाग के समय यह मगध के राज्य के अन्तर्गत हो और शिशुनाग ने इस प्रदेश पर शासन करने के लिए अपने पुत्र को नियत किया हो। हमारा तो यही विचार है कि वत्स, अवन्ती तथा कोशल के राज्यों को महापद्मनन्द ने ही पहले-पहल मगध के साम्राज्य में मिलाया। इसकी विजयों के महान् प्रभाव के कारण पुराणों ने इसे द्वितीय परशुराम लिखा है।

संपूर्ण उत्तरीय भारत भी राजा नन्द के शासन में नहीं था। कौटिल्यअर्थशास्त्र में हम तत्कालीन स्वतन्त्र प्रजातन्त्र-राज्यों

---

१. नागदासकराजानं अपजेत्वा समागता।
सुसुनागोति पञ्ञातं अमच्चं साधुसम्मतम्।
रज्जे समभिसिञ्चिसु सब्बेसं हितमानसां॥ महावंश ४।५-६

२. हत्वा तेषां यशः कृत्स्नं शिशुनागो भविष्यति।
वाराणस्यां सुतं स्थाप्य श्रयिष्यति गिरिव्रजम्।
शिशुनागश्च वर्षाणि चत्वारिंशत् भविष्यति॥
Pargiter—Dynasties of the Kali Age, पृष्ठ. २१.

के नाम इस प्रकार पढ़ते हैं।—"काम्भोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः। लिच्छिविकवृज्जिकमल्लकमद्रककुकुरकुरुपाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः"। यूनानी ऐतिहासिक भी मलोई, आक्सिड्राकोई, आदि प्रजातन्त्र राज्यों का वर्णन करते हैं। इनके सिवाय गंगा के पश्चिम में राजा पोरस, आम्भी आदि के स्वतन्त्र राज्य थे। सारा भारत नन्द के साम्राज्य में न था।

अब चन्द्रगुप्त का समय आता है। इस वीर ने आकर सारे भारत में एक साम्राज्य की स्थापना की। पहले सिकन्दर द्वारा अधीन किये गये प्रदेशों को स्वाधीन किया। फिर मगध के विस्तृत राज्य को अपने अधीन करके सारे भारत को राजनीतिक दृष्टि से भी एक किया। चन्द्रगुप्त ने सब विविध राष्ट्रों को नष्ट कर एक साम्राज्य स्थापित किया। चन्द्रगुप्त मौर्य्य ही भारत का पहला ऐतिहासिक सम्राट् है। इस बड़े भारी काम में उसकी सहायता करनेवाला आचार्य चाणक्य था। वास्तव में सब कुछ करनेवाला चाणक्य ही था। ये दोनों—चाणक्य और चन्द्रगुप्त—कौन थे[१] ? इस पर विस्तृत विचार हम आगे चल कर करेंगे। इन्होंने किस प्रकार इस भारी कार्य को किया, यही हमारे अगले अध्यायों का विषय है।

एक प्रश्न स्वाभाविक तौर पर उठता है कि मगध ही

---

१. श्री E. B. Havell इनके विषय में लिखते हैं—

"A year after Alexander's departure from India the revolt of the conquered provinces began, with the Brahman University town as its centre. There a learned Brahman of conspicuous ability, Chanakya by name, well versed in the Indo-Aryan polity—which induced diplomacy and military science—had for his companion or pupil a young nobleman named Chandragupta, who was connected on his father's side with the Nand dynasty of Magadha, . . . " The History of Aryan Rule in India, p. 66.

साम्राज्य क्यों बना सका ? कोशल, वत्स और अवन्ती के राज्य साम्राज्य क्यों न बना सके ? भारत के इतिहास के लिए यह प्रश्न आवश्यक है। हम इसका संक्षेप में उत्तर देने का यत्न करेंगे।

साम्राज्य-निर्माण में सबसे अधिक बाधक गणराज्य[1] या प्रजातन्त्र राज्य थे। साम्राज्य बनाने के लिए इन्हीं गणों की स्वतन्त्रता नष्ट करना आवश्यक था। इतना ही नहीं पर

१.—प्राचीन ग्रन्थों में 'गण' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है। प्रजातन्त्र राज्यों को भी गण कहा गया है। इसके लिए हमारे पास निम्नलिखित प्रमाण हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिच्छिवी वृज्जिक आदि को गण कहा गया है। हम जानते हैं कि ये स्वतन्त्र राष्ट्र थे। बौद्ध-ग्रन्थों में इनका इसी रूप में वर्णन है। समुद्रगुप्त अपने इलाहाबाद के स्तूप पर लिखते हैं—

"यौधेयगणपुरस्कृतमहाराजमहासेनपतेः"

फ्लीट इसका अनुवाद करते हैं—

Of the Maharaja and Mahasenapati who has been made the leader of the Yaudhaye tribe.

स्पष्ट है कि यौधेयों का एक गण था जो कि अपना राजा स्वयं चुनता था। यौधेयादि गणों के सिक्के अभी तक पाये जाते हैं। इनको देखने से तो इस विषय में कोई सन्देह रह ही नहीं जाता।

जैनकल्पसूत्र में आता है—'नवमल्लई नवलेच्छई कासी कोसलस्य अट्ठारस विगणरायाणो' जब महावीर की मृत्यु हुई उस प्रसंग में यह वाक्य आता है। स्पष्ट है कि मल्ल आदि पृथक् गण थे, जिनके १६ गण राजा (प्रत्येक सदस्य राजा शब्द से पुकारा जाता था) सम्मिलित हुए थे।

इस विषय में अधिक प्रमाणों के लिए देखो—

R. C. Majumdar—The Corporate Life in Ancient India. पृ. ६४. ६५.

और K. P. Jayaswal—Ancient Hindu Polity.

राजतन्त्र राज्यों के अन्तःस्वातन्त्र्य को भी नष्ट करना साम्राज्य बनाने के लिए आवश्यक था। गणराज्य साम्राज्य-निर्म्माण में अत्यन्त बाधक थे। इसके लिए यह प्रमाण काफ़ी है कि कौटिलीय अर्थशास्त्र में गणों की शक्ति तोड़ने के लिए विविध उपाय बताये गये हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र में एक प्रकरण 'संघवृत्तम्'[1] नाम से है। इसमें दो प्रकार के संघों का वर्णन है। पहले 'वार्ता' और 'शस्त्र' से जीवन व्यतीत करनेवाले संघ। दूसरे 'राजशब्दोपजीवी' या 'जनतन्त्रसंघ'। कौटिल्य कहता है कि लिच्छिवी, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पाञ्चाल आदि राजशब्दोपजीवी संघ हैं[2]। कौटिल्यकालीन गणों की यह सूची मननयोग्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि महापद्मनन्द तथा अन्य मगध के शक्तिशाली राजा इन प्रजातन्त्र राज्यों को अच्छे प्रकार नष्ट नहीं कर सके थे। कौटिल्य के समय भी ये गण अत्यन्त शक्तिशाली थे। कौटिल्य कहता है कि एक संघ की सहायता एक सेना व मित्र की सहायता से बहुत उत्कृष्ट है[3]। चाणक्य की साम्राज्यवाद की नीति इन प्रजातन्त्र राज्यों को बिलकुल उड़ाना चाहती थी। कौटिल्य की इसी नीति के कारण मौर्य्य-साम्राज्य की स्थापना हो सकी। इन गणों को नष्ट करने के लिए चाणक्य अनेक उपाय लिखता

१.—कौटिल्यअर्थशास्त्र का अधिकरण ११. प्रकरण १६०—१६१.

२,—कौटिल्य के वचन ये हैं—

"काम्भोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः संघाः"

"लिच्छिविकवृजिकमल्लकमद्रककुकुरकुरुपाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः संघाः"

इनको 'राजशब्दोपजीवी' इसलिए कहा गया है कि इनका प्रत्येक नागरिक राजा कहलाता था। इसी लिए एक जातक में कहा गया है कि लिच्छवी लोगों में ८४ हज़ार राजा थे।

३.—संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तमः।

है। गौतमबुद्ध ने सच कहा था कि एकता ही इन गणों की स्थिरता की जड़ है। चाणक्य ने इसी एकता पर अपनी नीति से कुठाराघात करना चाहा। चाणक्य इसका उपाय लिखता है—"राजा को चाहिए कि सभी संघों के पास अपने सत्री (गुप्तचर) लोगों को रक्खे, जो कि संघों के पारस्परिक द्वेष, ईर्ष्या, कलह आदि के कारणों का पता लगाकर उनसे लाभ उठावें। और उनके क्रमागत भेद को यह कह कर बढ़ावें कि "अमुक व्यक्ति या संघ तुम्हारी निन्दा करता है"। जब दोनों दल एक दूसरे पर क्रुद्ध हो जावें तो आर्च्य (नागरिक) के वेश में, विद्या, शिल्प, द्यूत आदि का व्यवहार करनेवालों के वेश में, या संघ के मुख्यों या कलवारा के वेश में तीक्ष्ण (इस नाम के सत्री) लोग उनको एक दूसरे के विरुद्ध भड़काकर उनमें छोटे छोटे झगड़े पैदा करें[1]।" वाह! चाणक्य ने कैसे अद्भुत उपाय इन गणों के मुख्यों में अप्रीति फैलाने के लिए निकाले थे। उपाय भी एक नहीं, अनेक बताये गये हैं। शराब और स्त्री आदि का प्रयोग करने की भी सलाह दी गई है। कौटिल्य लिखते हैं—"यदि वह लोग एक दूसरे पर आक्रमण करें तो कलवार के वेश में रहनेवाले गुप्तचर मैनफल के रस में भरे शराब के सौ सौ घड़े उनको यह कह कर दे देवें कि स्वर्ग में गये हुए लड़कों तथा स्त्रियों के लिए यह नैषेचनिक है (अर्थात् उनको तृप्त करते हैं[2])"। इसी प्रकार बंधकिपोषक[3] (रंडी बनाने के ख़ातिर लड़की

१.—सर्वेषामासन्नाः सत्रिणः संघानां परस्परन्यङ्गद्वेषवैरकलहस्थानान्युपलभ्य क्रमाभिनीतं भेदमपचारयेयुः—"असौ त्वा विजल्पति" इति। एवमुभयतो बद्धवैराणां (रोषाणां) विद्याशिल्पद्यतवैहारिकेष्वाचार्यव्यञ्जना बालकलहान् उत्पादयेयुः—इत्यादि।

२.—विक्रमकाले शौण्डिकव्यञ्जनाः पुत्रदारप्रेतापदेशेन "नैषेचनिकम्" इति मदनरसयुक्तान् मद्यकुम्भान् शतशः प्रयच्छेयुः।

३.—बन्धकिपोषकाः प्लवकनटनर्तकसौभिका वा प्रणिहिताः स्त्रीभिः परमरूपयौवनाभिः सङ्घमुख्यान् उन्मादयेयुः। जातकामानामन्यतमस्य

पालनेवाले), प्लवक, नट, नर्तक, सौभिक आदि लोग संघ के मुखियों को ख़ूबसूरत औरत के द्वारा उन्मत्त करें। इसके बाद औरत को दूसरे के पास भेज कर कहें कि संघ के अमुक मुखिया ने उस औरत को ज़बरन अपने पास रख लिया है। जब उनकी आपस में लड़ाई हो जाय तो तीक्ष्ण लोग अपना काम करें और कहें कि "अमुक कामी इस प्रकार मार डाला गया।" आप अन्य उपायों को पढ़िए, आश्चर्य होगा और कुछ संकोच भी होगा। नीतिनिपुण चाणक्य ने अपने साम्राज्यवाद के लिए इन कर्मों को करने का भी उपदेश किया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कौटिल्य की इन्हीं नीतियों से चन्द्रगुप्त सब प्रजातन्त्रराष्ट्रों का विनाश कर मौर्य्यसाम्राज्य स्थापित कर सका था। चाणक्य और चन्द्रगुप्त का साम्राज्य-निर्माण में यह बहुत बड़ा कार्य है।

मैसिडोनिया और मगध के साम्राज्य इन गणों को तोड़ते हैं। चाणक्य की सहायता से—निस्सन्देह कौटिल्य द्वारा उपदिष्ट उपायों द्वारा—चन्द्रगुप्त इन गणों को तोड़ता है, और साम्राज्य की स्थापना करता है। मगध के अन्य राजाओं ने भी इसके लिए भरसक प्रयत्न किया। मगध के राजा ही कृतकार्य क्यों हुए इसके लिए हम निम्नलिखित कारण पेश कर सकते हैं—

१—शुरू शुरू में साम्राज्यस्थापना का यत्न प्रायः एकाधिकारी (Autocrat) राजाओं द्वारा हुआ करता है। परिमित-सत्तावाले राजा भी साम्राज्य का निर्माण करते हुए सामयिक रूप से असाधारण अधिकार प्राप्त कर लेते हैं और समयान्तर में वही अधिकार प्रायः स्थिर हो जाते हैं। जनतन्त्र-राज्य शुरू में प्रायः साम्राज्यवादी न होकर साम्राज्यवाद के विरोधी रहते हैं। अतः इतिहास में पहले-पहल एकाधिकारी राजाओं ने ही साम्राज्य स्थापित किये। राजाओं के भी एकाधिकारी बनने में

प्रत्ययं कृत्वाऽन्यत्र गमनेन प्रसभहरणेन वा कलहान् उत्पादयेयुः। कलहे तीक्ष्णाः कर्म कुर्युः—"हतोऽयमित्थं कामुकः" इति।

विजातीय तत्त्व की बहुत आवश्यकता होती है। प्रायः देखा गया है कि विजातियों पर एकाधिकारी शासन सजातियों पर भी एकाधिकारी शासन का प्रारम्भ करता है। भारत में भी अनार्य लोगों पर शासन की एकाधिकारिता ने राजाओं की अपरिमित सत्ता को जन्म दिया।

भारत में पूर्व के राज्यों के लिए एकाधिकारी बनना सुगम था। उनके राज्य में अनार्य तत्त्व बहुत था। इस पर शासन करने के लिए अपने असाधारण अधिकारों का प्रयोग करना उनके लिए बिलकुल स्वाभाविक था। पूर्व के (मगध के) राज्य ने अनार्यों पर विजय पाई थी, वह बहुत अंश में अनार्यों पर शासन भी करता था, इसी लिए हम देखते हैं कि प्रारम्भ से ही इस प्राच्य राज्य में साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति थी। ब्राह्मण ग्रन्थों को देखने से मालूम होता है कि उस समय भारत में विविध राज्य थे। इनकी शासन-प्रणालियाँ भी भिन्न भिन्न थीं। भोज्य, स्वराज्य, वैराज्य, द्वैराज्य आदि प्रणालियाँ इन राष्ट्रों में विद्यमान थीं[1]। परन्तु प्राच्य देश के राज्य में 'साम्राज्य' प्रणाली थी[2]। उसके शासक को सम्राट् कहते थे। इससे स्पष्टतया सूचित होता है कि ब्राह्मणकाल में भी प्राच्य देश साम्राज्यवादी था और उसके शासक साम्राज्य-निर्माण के लिए प्रयत्न करते रहते थे। इस तरह भारत के इतिहास में साम्राज्यवाद का विचार सबसे पहले प्राच्य देश या मगध में प्रारम्भ होता है।

महाभारत के समय में भी मगध का राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली था। जरासन्ध मगध का सम्राट् था। यह जरासन्ध अन्य राजाओं को अपने अधीन करके मगध का साम्राज्य विस्तृत कर रहा था[3]। इसने न केवल विविध राजाओं को

---

१. देखो ऐतरेयब्राह्मण ८।१४

२. ये के च प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते।

८।३।३

३. महाभारत सभापर्व अध्याय १४

जीत कर कारागार में डाल रखा था, परन्तु अनेक जन-तन्त्र-राज्यों पर भी आक्रमण किया था। उस समय सबसे अधिक शक्तिशाली जन-तन्त्र-राज्य वृष्णियों का था। श्रीकृष्णचन्द्र इसी वृष्णि-जन-तन्त्र के प्रधान थे[१]। अपने साम्राज्य को विस्तृत करने की अभिलाषा से जरासन्ध ने इस पर भी आक्रमण किया। पहले-पहल उसे सफलता नहीं हुई। परन्तु अन्त में वह सफल हुआ और वृष्णि लोगों को अपना वास्तविक निवासस्थान छोड़कर द्वारिका जाना पड़ा[२]। महाभारत के समय में मगध के साम्राज्यवाद का इन जन-तन्त्र-राज्यों के साथ किस प्रकार संघर्ष चल रहा था, यह लिखने का यहाँ हमारा प्रयोजन नहीं है। हम तो यही प्रदर्शित करना चाहते हैं कि महाभारत-काल में भी मगध साम्राज्य-निर्माण में तत्पर था और उस समय वहाँ का सम्राट् जरासन्ध सबसे अधिक शक्तिशाली था। इसी लिए जब युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करने की अपनी इच्छा कृष्ण के सम्मुख प्रकट की, तब उसने स्पष्ट रूप से कह दिया कि जरासन्ध को पराजित किये विना राजसूय असम्भव है[३]।

इस तरह अनार्यतत्त्व पर शासन करने के कारण मगध में साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति पहले से ही विद्यमान थी। मगध की सफलता का यह मुख्य रहस्य है। भारत के अन्य कौशल, अवन्ती, वत्स आदि राज्य विशुद्ध आर्यों के केन्द्र थे। यद्यपि पीछे से इनमें भी साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति आ जाती है, पर इसमें वे मगध का कभी मुकाबला न कर सके। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि मगध के बहुत से सम्राट् भी अनार्य मूल के थे।

---

१. देखो Jayaswal—Hindu Polity, Appendix A.

२. वयञ्चैव महाराज जरासन्धभयात्तदा।
मथुरां सम्परित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम्॥ महा० सभा० १४।६७-८।

३. महा० सभा० अ० १४।

पुराणों में मगध के बहुत से सम्राटों को शूद्र कहा गया है। यह हम जानते हैं कि प्राचीन इतिहास में अनार्य जातियों को प्रायः शूद्र कहा जाता था। स्वाभाविकतया मगध के आर्य सम्राटों ने शूद्र या अनार्य स्त्रियों से भी विवाह किये। उनसे उत्पन्न सन्तान भी राजगद्दी पर बैठीं। मगध के साम्राज्य को जिस सम्राट् ने बहुत विस्तृत किया, वह महापद्मनन्द भी 'शूद्रा' के गर्भ से उत्पन्न हुआ था[१]। इस तरह अनार्य-तत्त्व-प्रधान मगध का राज्य स्वाभाविक रीति से साम्राज्य-निर्माण में अग्रसर हो सका।

(२) मगध की सफलता में एक कारण यह भी है कि वहाँ सेना के लिए हाथी प्रभूत संख्या में प्राप्त किये जा सकते थे। प्राचीन काल में युद्धों के लिए हाथियों की बड़ी महत्ता थी। हस्तिबल अन्य सब बलों से मुख्य समझा जाता था। आचार्य चाणक्य लिखता है कि "राजाओं की विजय मुख्य रूप से हाथियों पर ही आश्रित है[२]।" यही कारण है कि उसने विधान किया था कि जो कोई हाथी का वध करे उसे प्राणदण्ड दिया जावे[३]। ये हाथी कलिङ्ग और अङ्ग देश में बहुत होते थे[४]। ये देश मगध के बहुत समीप थे। पीछे से तो ये मगध के साम्राज्य में भी सम्मिलित होगये थे। अतः मगध के लिए हाथियों को प्राप्त कर सकना बहुत सुगम था। हाथियों की

---

१. 'महानन्दो सुतो राजन् शूद्रागर्भोद्भवो बली। भागवत १२,२.

२. 'हस्तिप्रधानो विजयो राज्ञाम्। परानीकव्यूहदुर्गस्कन्धावार-प्रमर्दना ह्यतिप्रमाणशरीराः प्राणहरकर्माणो हस्तिन इति।"
कौ० अर्थ० २।२।

३. 'हस्तिघातिनं हन्युः' कौ० अर्थ० २।२

४. कलिङ्गाङ्गगजाः श्रेष्ठाः प्राच्याश्चेति करूशजाः।
दशार्णाश्च परान्ताश्च द्विपानां मध्यमा मताः॥
कौ० अर्थ० २।२।

अधिकता के कारण ही मगध की सेना अन्य राज्यों की सेनाओं की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थी।

(३) अनार्यतत्त्व की प्रधानता से मगध को यह भी सुविधा थी कि वहाँ भृति पर बहुत सैनिक प्राप्त हो सकते थे। यही कारण है कि मगध की सेना बहुत विशाल थी। वस्तुतः यह अनार्यतत्त्व की प्रधानता ही मगध की सफलता में मुख्यतया कारण बनी[1]।

मगध अपनी इन विशेषताओं के कारण साम्राज्य बनाने में सफल हुआ। गण-राज्यों या जन-तन्त्र-राज्यों को नष्ट करके ही उसके साम्राज्य-वाद का मार्ग निष्कण्टक हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि मगध के सम्राट् और राजनीतिज्ञ विशेषतः चन्द्रगुप्त और चाणक्य—सदा के लिए इन गण-राज्यों को नष्ट कर सके। मौर्य-साम्राज्य के पतन के समय ये जन-तन्त्र-राज्य फिर उद्भूत हो जाते हैं। मिहिरकुल और समुद्रगुप्त को अपने साम्राज्यों को बनाते समय फिर इन गणों के साथ युद्ध करना पड़ा। तथापि मगध के सम्राट् पहले-पहल सामयिक रूप से इन गणों को नष्ट करने में समर्थ हुए।

---

१. अनेक विद्वानों के मत में आचार्य चाणक्य स्वयं भी आर्य न था, अपि तु द्रविड़ था। चाणक्य के अनेक नामों में एक नाम 'द्रामिल' भी है—

वात्स्यायनो मल्लिनागः कुटिलश्चणकात्मजः।
द्रामिलः पक्षिलः स्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः॥

यदि चाणक्य भी अनार्य हो, तब तो अनार्यतत्त्व की अतिशयरूप से प्रधानता मगध-राज्य में प्रतिपादित हो जायगी।

चौथा अध्याय

मौर्य्य-जाति का राजकुमार चन्द्रगुप्त

अनेक राष्ट्रों में विभक्त भारत को एक कर जिस महावीर ने साम्राज्य की स्थापना की, उसका पूर्व वृत्तान्त क्या है? यूनानियों के वृत्तान्तों में चन्द्रगुप्त एक वीर राजकुमार है, पीछे से वह मगध का साम्राज्य प्राप्त करता है। पर यह चन्द्रगुप्त था कौन? भारत के इतिहास में चन्द्रगुप्त का स्थान बहुत ऊँचा है। भारत का पहला ज्ञात सम्राट् चन्द्रगुप्त ही है। यूनानियों को भारत से निकालनेवाला, सैल्यूकस से सन्धि कर शान्ति स्थापना करनेवाला यह चन्द्रगुप्त है कौन? इस प्रतापी राजा का पूर्व वृत्तान्त क्या है?

पुराण हमें अधिक नहीं बताते। "नव नन्दों का चाणक्य ब्राह्मण नाश करेगा, और वही मौर्यचन्द्रगुप्त को राज्य देगा" इतनी भविष्यवाणी कर पुराण चुप हो जाते हैं। यह चन्द्रगुप्त कौन था, इस विषय में कुछ भी बताने का कष्ट पुराण उठाना नहीं चाहते। यदि अपने ऐतिहासिक आधारों का अच्छी तरह अध्ययन किया जावे, तो चन्द्रगुप्त के विषय में तीन प्रकार की सम्मतियाँ हम पाते हैं। तीनों मतों में परस्पर विरोध है। हम इन तीनों पर क्रमशः विचार करेंगे।

१—पहला मत यह है कि—महापद्मनन्द वा धननन्द की एक पत्नी का नाम मुरा था। मुरा जाति की शूद्रा थी। इसी से चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ था। मुरा का पुत्र होने से चन्द्रगुप्त को मौर्य्य कहते थे। इस मत को पुष्ट करनेवाले निम्नलिखित प्रमाण हैं। विष्णुपुराण में आता है—"उसके अनन्तर चाणक्य ब्राह्मण इन नव नन्दों का नाश करेगा।

नन्दों के नष्ट हो जाने पर मौर्य लोग पृथिवी पर शासन करेंगे। कौटिल्य ही "उत्पन्न" चन्द्रगुप्त को राज्यगद्दी पर बिठावेगा[1]।"

श्रीधर स्वामी ने विष्णुपुराण की टीका की है। इस टीका में वे 'उत्पन्न' शब्द की टीका करते हुए लिखते हैं—"नन्द की ही पत्नी मुरा नाम की थी। चन्द्रगुप्त उस ही से पैदा हुआ था[2]।

मुद्राराक्षस के प्रसिद्ध टीकाकार ढुण्ढिराज नाटक की कथा का उपोद्घात लिखते हैं। उसमें उन्होंने चन्द्रगुप्त की कथा इस प्रकार दी है।

"कलियुग के आदि में नन्द नाम के राजा शासन करते थे। इनमें से सर्वार्थसिद्धि नाम का राजा अपनी शक्ति के लिए विख्यात है। यह सारी पृथिवी पर राज्य करता था। इसकी सेना ६ करोड़ से अधिक थी। इस राजा के वक्रनास आदि मन्त्री थे। इनमें राक्षस नाम का ब्राह्मण बहुत विद्वान् और प्रसिद्ध था। यह दण्डनीति में प्रवीण, षड्गुणों का ज्ञाता, शूर और माननीय था, सब राजकाज यही करता था। नन्दराज की ज्येष्ठ पत्नी का नाम सुनन्दा था। और छोटी पत्नी मुरा नाम की एक शूद्राणी थी। एक बार कोई विद्वान् अतिथि राजा के घर आये। पत्नियों के सहित राजा ने ब्राह्मण का बड़ा मान और सत्कार किया। चरण धो चुकने पर चरणामृत के ६ छींटे
वभूवु
सिर पर जा पड़े और एक बिन्दु मुरा के। मुरा को बड़े भक्ति-भाव तथा आदर और प्रतिष्ठा के
तेपु
किया। इससे अतिथि बड़े प्रसन्न हुए।
वि

तश्च नव चैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याः पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्त-मुत्पन्नं राज्येऽभिषेक्ष्यति।

—नन्दस्यैव भार्यायां मुरासंज्ञायां सञ्जातम्।

इसके अनुसार मुरा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह मौर्य्य कहलाया। सुनन्दा के मांस का एक पिण्ड निकला। राक्षस ने इसके ६ टुकड़े कर तेल के एक पात्र में रख दिये। कुछ समय पीछे इससे नव नन्द पैदा हुए। राक्षस ने इनका पालन किया। जब राजा बूढ़ा हो गया, तो उसने राजकाज इन नन्दों को सौंप दिया। और सेना का अध्यक्ष मौर्य्य को नियुक्त किया। मौर्य्य के १०० लड़के हुए। चन्द्रगुप्त इन सबमें उत्तम था। ये मौर्य्य गुणों में नन्दों से बहुत बढ़ चढ़ कर थे। नन्दों को इनसे स्पर्धा हुई। इन्होंने मौर्यों के विरुद्ध षड्यन्त्र किया। एक गुप्तगृह में सबको बुलाकर सब मौर्य्यों का उन्होंने नाश कर दिया।

एक बार की बात है कि सिंहलद्वीप के राजा ने एक पिंजरे में मोम का जीता जागता-सा शेर बनाकर बन्द करके भेजा। और कहा कि जो कोई पिँजरे को खोले बिना ही इस सिंह को बाहर कर दे, वही वास्तव में सुमति है। सबके सब नन्द देखते रह गये। कुछ भी न समझ सके। चन्द्रगुप्त अभी तक जीता था। उसने लोहे की गरम लाल शलाका से मोम के सिंह को पिघला दिया। सिंह पिघल कर स्वयं बाहर हो गया। इस हेतु से उस गुप्त-गृह से चन्द्रगुप्त को मुक्ति दे दी गई।

कुछ समय बाद नन्दों ने फिर चन्द्रगुप्त के वध का उपाय सोचा। वे किसी अच्छे अवसर की प्रतीक्षा में थे। चन्द्रगुप्त भी अपनी ताक में था। एक बार उसने एक ब्राह्मण को देखा। यह स्वभाव का बड़ा क्रोधी था। उसके पैर में कुश की एक पत्ती चुभ गई, इस पर उसे इतना क्रोध आया कि कुशा के सम्पूर्ण झुण्ड को उखाड़ कर फेंक दिया। चन्द्रगुप्त ने सोचा—यदि यह व्यक्ति नन्दवंश पर क्रुद्ध हो जाये, तो निश्चय ही उनका नाश करके ही छोड़ेगा। इस ब्राह्मण का नाम विष्णुगुप्त था। यह दण्डनीति का बड़ा पण्डित और सब विद्याओं में पारङ्गत था। नीतिशास्त्र का तो यह आचार्य ही था। चाणक्य (विष्णुगुप्त) का चन्द्रगुप्त में बड़ा पक्षपात हुआ। एक दिन चन्द्रगुप्त ने नन्दों

से वीती सव वात विष्णुगुप्त को सुना दी। ब्राह्मण ने प्रतिज्ञा की कि वह सम्पूर्ण राज्य चन्द्रगुप्त को दे देगा।

एक वार चाणक्य नन्द की भुक्तिशाला में गया। वहाँ जाकर वह मुख्य अग्रासन पर वैठ गया। इस पर नन्दों को वड़ा क्रोध आया, और अग्रासन से चाणक्य को उतारने की आज्ञा दी। फिर क्या था; क्रोधी चाणक्य आगववूला हो गया। क्रोध में भर उसने प्रतिज्ञा की—'यह खींचे जाने से खुली हुई शिखा तव तक न वाँधूँगा, जव तक कि नन्दवंश को जड़ से उखाड़ कर फेंक न दूँगा।' यह प्रतिज्ञा कर चाणक्य वाहर आया[1]।"

१—ढुण्ढिराज के मूल श्लोकों के लिए देखो—मुद्राराक्षस-ढुण्ढिराज की टीका।

प्रो० विल्सन द्वारा सम्पादित।

कुछ आवश्यक श्लोक इस प्रकार हैं—

राज्ञः पत्नी सुनन्दासीज्ज्येष्ठान्या वृपलात्मजा।
मुराख्या सा प्रिया भर्तुः शीललावण्यसंपदा॥
स कदाचित्तपोनिष्ठमसतिथिं गृहमागतम्।
अर्घ्यपाद्यादिभिर्भक्त्या सभार्यः समपूपुजत्॥

× × ×

मुरा प्रासूत तनयं मौर्याख्यं गुणवत्तरम्।
सुनन्दा वहुगर्भाढ्यां मांसपेशीमसूत सा॥

× × ×

वभूवुर्नव ते वीरा राक्षससेनाभिवर्द्धिताः।

× × ×

तेपु राज्यं समासज्य तत्सेनान्यं महीमतिम्॥
विधाय मौर्यं राजासौ वृद्धः शमरतोऽभवत्॥

× × ×

ततो नन्दा दुरात्मानः सपुत्रं तमसूयया।
प्रवेश्यान्तर्भूमिगृहं मन्त्रव्याजादजीघनन्॥

× × ×

इस लम्बे उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि—चन्द्रगुप्त अन्तिम नन्द का पौत्र था, साथ ही चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन के विषय में बहुत सी बातें विदित होती हैं। ढुण्ढिराज और श्रीधर के मत में थोड़ा भेद है। श्रीधर चन्द्रगुप्त को नन्द का पुत्र समझता है; पौत्र नहीं। हमारे विचार में इस मतभेद पर अधिक ध्यान न देते हुए यह मानना चाहिए कि श्रीधर और ढुण्ढिराज की सम्मति में चन्द्रगुप्त नन्दवंश में ही उत्पन्न हुआ था। अन्य भाइयों का चाणक्य की सहायता से नाश कर मौर्य ने राज्य प्राप्त किया। इसकी कथा ऊपर के उद्धरण में अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है।

२—दूसरी सम्मति यह है कि चन्द्रगुप्त महापद्मनन्द का पुत्र था। महापद्मनन्द का और कोई पुत्र था ही नहीं। यह मत कथासरित्सागर का है। गुणाढ्य ने पैशाची भाषा

अन्नसत्राधिकारे तैर्नियुक्तः कालपर्ययम्।
प्रतीक्षमाणस्तत्रास्थात्स नन्दापचिकीर्षया॥
स कदाचिद् द्विजं कञ्चिदद्राक्षीदतिकोपनम्।
पादलग्नकुशोन्मूलदाहे कृतमहोद्यमम्॥

× × ×

विष्णुगुप्ताभिधानः स बाल एव द्विजोत्तमः।
औशनस्यां दण्डनीत्यां ज्योतिःशास्त्रे च पारगः॥
नीतिशास्त्रप्रणेता यश्चणकस्तस्य नन्दनः।
चाणक्य इति विख्यातः श्रोत्रियः सर्वधर्मवित्॥

× × ×

गुणाढ्ये चन्द्रगुप्तेऽस्य पक्षपातो महानभूत्।
स च नन्दकृतं तस्य व्यसनं स्वं न्यवेदयत्॥
नन्दराज्यं तदा तस्मै प्रतिश्रुत्य बुभुक्षितः।

× × ×

दर्पान्धान् दुर्मतीनेतानेवं मामवजानतः।
नन्दाधमान्ननुत्खाय न बध्नामि शिखामिमाम्॥

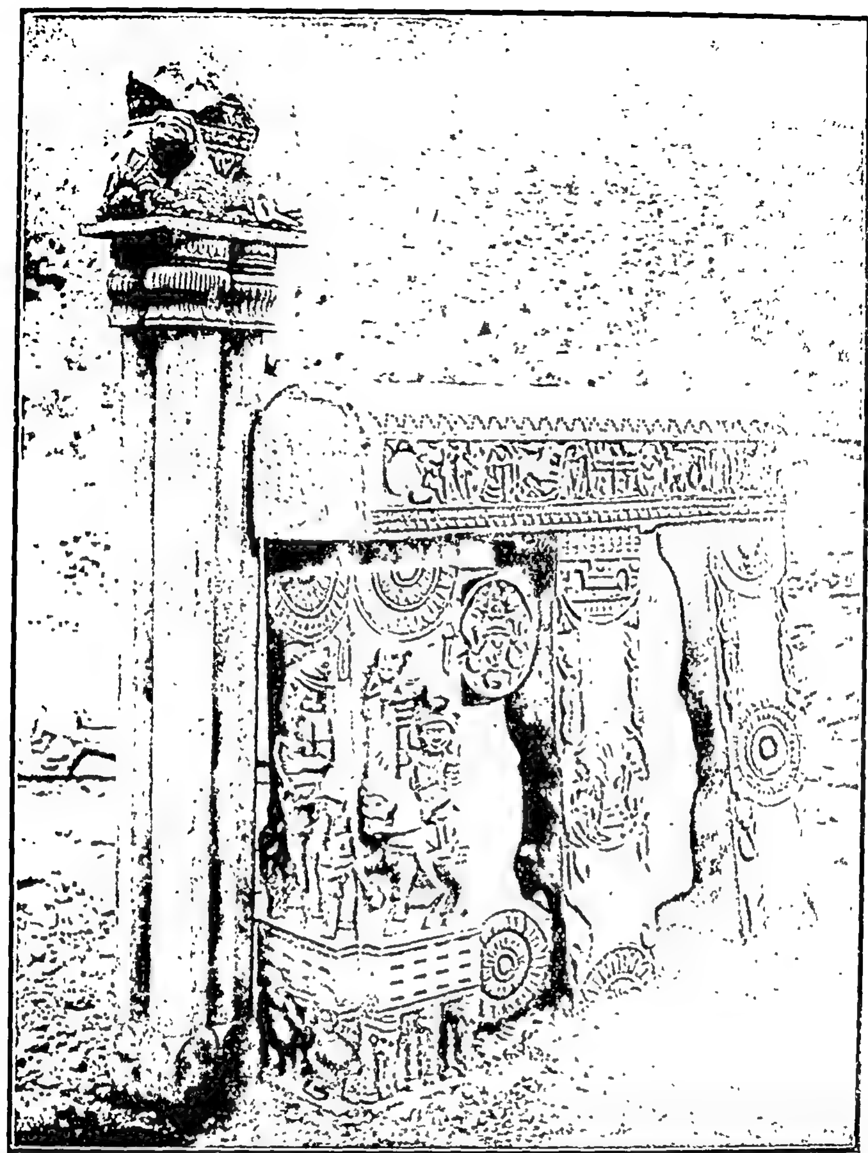
में 'वृहत्कथा' नाम की एक पुस्तक लिखी है। सोमदेव ने उसी का अनुवाद कथासरित्सागर नाम से संस्कृत में किया है। कथा इस प्रकार है—

"वररुचि, व्याडि और इन्द्रदत्त तीन सहपाठी थे। राजा नन्द अयोध्या में कुछ समय के लिए आये हुए थे। तीनों सहपाठियों ने सोचा कि गुरुदक्षिणा देने का यह अच्छा अवसर है। वे भिक्षा माँगने के लिए राजानन्द के भवन पर गये। ज्योंही वे पहुँचे, राजा दुर्भाग्य से मर गया। इन्द्रदत्त पर-काया-प्रवेश में बड़ा कुशल था। योगविद्या द्वारा वह राजा नन्द के मृत शरीर में घुस गया। घुसने से पहले उसने वररुचि से कहा कि तुम भिक्षा माँगने मेरे पास आना और व्याडि को अपने निर्जीव शरीर की रक्षा के लिए तैनात कर दिया। इन्द्रदत्त का शरीर किसी पुरातन मन्दिर के एक कोने में छिपा दिया गया। तब इन्द्रदत्त नन्द के शरीर में प्रविष्ट हो गया। राजा को फिर से जीता जागता देख लोग बड़े प्रसन्न हुए। नन्द के मन्त्री का नाम शकटार था। पुनर्जीवित होते ही शकटार को नन्द ने आज्ञा दी कि वररुचि को एक करोड़ सुवर्ण-मुद्रायें दे दो। शकटार को आश्चर्य हुआ। पुनर्जीवित हो जाना, एक-दम याचक का आजाना और राजा को सहसा अपरिचित को दान देते देखकर मन्त्री वास्तविक बात समझ गया। बुद्धिमान् लोग क्या नहीं समझ सकते? शकटार ने भिक्षा दे दी पर मन में सोचा—'नन्द का लड़का अभी बालक है। राज्य के शत्रु बहुत हैं। इसलिए यदि यह राजा बना रहे, तभी ठीक है। अतः इस देह की रक्षा करूँगा'। यह सोचकर मन्त्री ने आज्ञा दी कि देश में जितने मुर्दे हों, सबको जला दिया जावे। गुप्तचरों से ढुँढवा कर शकटार ने इन्द्रदत्त की देह भी जलवा दी। अब इन्द्रदत्त को राजानन्द का ही शरीर स्थिर रूप से लेने के लिए बाधित होना पड़ा। तब से उसका नाम योगानन्द पड़ा। योगानन्द या इन्द्रदत्त ने व्याडि से सलाह की और सोचा कि एक न एक दिन शकटार चन्द्रगुप्त (राजा नन्द का लड़का) को ही राज्य

देगा । राजा योगानन्द ने शकटार पर यह दोष लगाया कि उसने एक जीवित ब्राह्मण को जलवा दिया है। यह दोष लगवाकर योगानन्द ने शकटार को उसके पुत्रों सहित एक गढ़े में रखवा दिया। खाने को दिन भर में कुछ शाक और थोड़ा सा पानी ही भेजा जाता था। यह भोजन एक व्यक्ति के लिए भी काफी न था। योगानन्द ने वररुचि को प्रधानमन्त्री बनाया और राज्य करने लगा।

योगानन्द के असली नन्द की रानी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसका नाम हिरण्यगुप्त रक्खा गया। वररुचि ने ज़ोर लगाकर शकटार को क़ैद से छुड़वा लिया था। शकटार के सब लड़के मर ही चुके थे। अब उसने बदला लेने की सोची। एक बार शकटार कहीं जा रहा था। रास्ते में उसे एक ब्राह्मण मिला। यह ब्राह्मण क्रोध से पृथिवी को खोद रहा था। शकटार ने पूछा कि आप यह ज़मीन क्यों खोद रहे हैं? क्रोधी चाणक्य उत्तर देते हैं—"दर्भमुन्मूलयाम्यत्र पादो ह्येतेन मे क्षतः" मैं इस कुशा को उखाड़ रहा हूँ, क्योंकि इसने मेरे पैर को ज़ख़्मी कर दिया है। शकटार ने सोचा कि इस ब्राह्मण से काम बनेगा। नाम-धाम पूछ कर शकटार ने कहा—'कल राजा नन्द का श्राद्ध है। मैं आपको उसके लिए निमन्त्रण देता हूँ। दक्षिणा में आपको लाख सुवर्ण-मुद्रायें मिलेंगी।'

चाणक्य ने निमन्त्रण स्वीकार किया और मुख्य होता बनकर श्राद्ध में बैठ गया। एक और ब्राह्मण सुबन्धु नाम का था। वह चाहता था कि मैं श्राद्ध में मुख्य होता बनूँ। शकटार ने जाकर मामला नन्द के सामने पेश किया। नन्द ने कहा—'सुबन्धु मुख्य होता बने। दूसरा योग्य नहीं है।' भय से काँपता हुआ शकटार चाणक्य के पास गया। सब बात कह सुनाई। यह सुनना था कि चाणक्य क्रोध से जल उठा। और शिखा खोलकर प्रतिज्ञा की—'अब इस नन्द का सात दिन के अन्दर ही नाश करके छोड़ूँगा, और तभी मेरी यह



बर्हुत स्तूप, पूर्वीय प्रवेशद्वार। पृ० ६६

खुली शिखा बँधेगी[1] ।' यह प्रतिज्ञा कर कौटिल्य चला गया और अभिचार क्रिया द्वारा नन्द की मृत्यु की साधना की । शकटार की सहायता से, प्रतिज्ञात दिन नन्द की मृत्यु हो गई। शकटार ने योगानन्द के पुत्र हिरण्यगुप्त की भी हत्या की और वास्तविक नन्द के पुत्र—चन्द्रगुप्त—को राज्यगद्दी पर बिठाया। चाणक्य से ही शकटार ने महामन्त्री का पद ग्रहण करने की प्रार्थना की। जब चाणक्य प्रधानमन्त्री बन गया, तब बदला उतार कर पुत्रशोक से दुःखित शकटार वन में चला गया[2] ।"

चन्द्रगुप्त और चाणक्य के विषय में दूसरा मत यह है। पहले मत और इसमें बहुत भेद है। हम इन सब मतों की समीक्षा पीछे करेंगे। यहाँ इतना ही ध्यान में रखना चाहिए कि, चन्द्रगुप्त के पूर्ववृत्तान्त के विषय में क्या क्या सम्मतियाँ हैं।

(३) तीसरा मत हम महावंश (प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थ) के आधार पर जानते हैं। यह मत पूर्व वर्णित दोनों मतों से सर्वथा भिन्न है। यह अधिक सत्य और स्वाभाविक प्रतीत होता है। महावंश की सम्मति संक्षेप में इस प्रकार से है:—

कालाशोक के दस लड़के थे। इन दस भाइयों ने मिलकर २२ साल तक अच्छी तरह राज्य किया। उनके बाद ६ भाई और हुए, उन्होंने भी क्रम से २२ साल तक राज्य किया। इनमें अन्तिम धननन्द था। चणक (चाणक्य) नामक ब्राह्मण ने इस धननन्द का प्रचण्ड क्रोधावेश से विनाश किया और

---

१. अवश्यं हन्त नन्दोऽयं सप्तभिर्दिवसैः मया ।
विनाश्यो, बन्धनीया च ततो निर्मन्युना शिखा ॥

२. मूल कथा के लिए देखो—सोमदेवभट्ट-कथासरित्सागर कथा-पीठ-लम्बक । १. तरङ्ग-४.६ ।

मोरियों के वंशागत चन्दगुत्त (चन्द्रगुप्त) को सकल जम्बूद्वीप का राजा बनाया[1]।

इस उद्धरण में ध्यान देने योग्य बात यह है कि, महावंश कहता है—"मोरियों के एक वंशज चन्द्रगुप्त को सम्पूर्ण जम्बूद्वीप........." इस पर विस्तृत विचार हम पीछे करेंगे। महावंश ने कथा स्पष्ट नहीं की। इस कमी को टीकाकार पूरा करते हैं। वे धननन्द और कालाशोक का विस्तृत वृत्तान्त लिखकर चन्दगुत्त और चणक्क के विषय में विस्तार से लिखते हैं। यही हमारे प्रयोजन का है—

"यह उचित है कि इस स्थान पर हम इन दो व्यक्तियों के विषय में लिखें। यदि मुझसे पूछा जाय कि यह चणक्क कहाँ रहता था? और यह किसका पुत्र था? तो मैं उत्तर दूँगा कि, वह तक्षशिला के ही निवासी एक ब्राह्मण का एक पुत्र था। वह तीन वेदों का ज्ञाता, शास्त्रों में पारंगत, मन्त्र-विद्या में निपुण और नीतिशास्त्र का आचार्य था। जब उसका पिता मर गया, तब वह कर्त्तव्य जानकर अपनी माता की अच्छी तरह पालना करने लगा। यह बात जगविदित थी और सब यह जानते थे कि वह एक असाधारण व्यक्ति है। एक बार उसकी माता रो रही थी, चणक्क अपनी माता के पास गया

१—कालासोकस्स पुत्ता तु अहेसुं दसमातिका।
वावीसति ते वस्सानि रज्जं समनुसासिसुं॥
नव भातरो ततो आसुं कमेनेव नराधिप।
तेऽपि वावीस वस्सानि रज्जं समनिसासिसुं॥
मोरियानं खत्तियानं वंसे जातं सिरीधरं।
चन्दगुत्तोति पञ्ञत्तं चणक्को ब्राह्मणो ततो॥
नवमं धननन्दन्तं घातेत्वा चण्डकोधसा।
सकले जम्बूद्वीपम्हि रज्जे समभिसिंचि सो॥
महावंश ।५।१४—१७१।

और पूछा—"माँ तुम क्यों रोती हो ?" माता ने उत्तर दिया—'प्रिय पुत्र तुम्हारे भाग्य में छत्र धारण करना लिखा है। तुम क्यों छत्र धारण करने और राजशक्ति से युक्त होने का प्रयत्न नहीं करते ? प्रायः राजकुमार अपने सम्बन्धियों को भूल जाते हैं। मेरे पुत्र, क्या तुम भी मेरे को और मेरे प्रेम को भूल जाओगे ? यदि ऐसा हुआ तो मैं बड़ी कठिनाई में पड़ूँगी। मैं इसी सम्भावना से रोती हूँ।' तब उसने कहा, 'माता ! मेरे पास कौन सी ऐसी बात है ? मेरे कौन से अङ्ग पर श्री अङ्कित है ? माँ ने उत्तर दिया—मेरे प्रिय पुत्र ! 'तुम्हारे दाँत पर', यह सुनकर उसने अपना दाँत तोड़ दिया और खण्डदन्तो (खण्डदन्त) बन कर माता की रक्षा करने लगा और संसार में मातृपोषक ख्यात हुआ। उसके केवल दाँतही न टूटा हुआ था, पर उसके अंग टेढ़े थे और शरीर कुरूप था।

"इसी बीच में चणक पुष्पपुर[1]—नन्द की राजधानी—में गया। धननंद पहले जैसा कंजूस न रहा था। धन दबाने की प्रवृत्ति छोड़कर उसने दान देना प्रारम्भ किया हुआ था। उसका चित्त 'मच्छरिय मल' से रहित हो गया था। उसने एक भुक्तिशाला बनवाई हुई थी। उसमें वह ब्राह्मणों को दान दिया करता था। साधारण ब्राह्मणों को एक लाख का और संघ ब्राह्मणों को एक कोटि का। चणक इसी भुक्तिशाला में चला गया, और मुख्य ब्राह्मण या संघ ब्राह्मण के आसन पर बैठ गया।

"समय पर धननन्द सुन्दर वस्त्र पहिन कर अनेक मनुष्यों के साथ उसी भवन में दान देने के लिए आया। भुक्ति-शाला में प्रवेश करते ही धननन्द ने ब्राह्मण चणक को मुख्य स्थान पर बैठे हुए देखा। देखते ही उसके मन में आया, 'निश्चय से मुख्य

---

१. पुष्पपुर = कुसुमपुर = पाटलीपुत्र। मुद्राराक्षस में मगध की राजधानी का नाम कुसुमपुर है। प्राचीनकाल की रीति के अनुसार कुसुमपुर को पुष्पपुर लिख देना स्वाभाविक ही है।

स्थान का यह अधिकारी नहीं हो सकता' यह सोच कर उसने चणक्क से पूछा—'तुम कौन हो, जो मुख्य स्थान पर आ बैठे हो?' उधर से उत्तर मिला—'यह मैं हूँ'। नन्द ने क्रोध में आकर कहा, इस नीच ब्राह्मण को धक्के देकर निकाल दो, इसे यहाँ बैठने न दो'। यद्यपि साथियों ने (राजपुरुषों ने) उसे बार बार समझाया—देव! ऐसा मत कीजिए, पर राजा ने एक न मानी। इस पर राजपुरुष चणक्क के पास गये और बोले, 'आचार्य हम आपको राजाज्ञा से यहाँ से हटाने के लिए आये हैं। परन्तु हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि 'आचार्य! आप यहाँ से उठ जाइए' हम लज्जित होकर आपके सामने खड़े हैं।' नन्द पर क्रुद्ध होकर उठते हुए चणक्क ने कमण्डल को इन्द्रकील पर पटक दिया और ज़ोर से कहा—'राजा उद्धत हो गये हैं, चारों समुद्रों से घिरी हुई यह पृथिवी नन्द का नाश देख ले'[1]। राजपुरुषों ने यह बात राजा को कह सुनाई। राजा क्रोध से तमतमा कर गरज उठा—'पकड़ो, पकड़ो, इस दास को पकड़ो।' भागता हुआ चणक्क राजप्रासाद के एक गुप्त स्थान पर छिप गया। पीछा करनेवाले उसे न पकड़ सकें। उन्होंने राजा नन्द से आकर कह दिया कि ब्राह्मण नहीं मिल सका।

"रात को चणक्क राजकुमार के कुछ साथियों से मिला। उनकी सहायता से वह राजकुमार पब्बत से मिल सका। चणक्क ने विश्वास दिला दिया कि उसे वह राज दिला देगा। राजकुमार को अपनी ओर मिलाकर—उसे शीघ्र ही राज्य देने की आशा दिला—उसने राजप्रासाद से निकलने की युक्ति सोचनी शुरू की। अन्त में राजकुमार की माता से चाबी मँगवाकर गुप्तमार्ग से राजकुमार के साथ चणक्क ने प्रस्थान किया। वे दोनों विन्ध्याचल पर्वत के जङ्गलों की ओर चले गये। वहाँ रहते हुए चणक्क ने धन एकत्रित करना शुरू किया। प्रत्येक

---

१. इमाय चतुरन्ताय पथविया नन्दिनो बढिढताय मा होतु।

'काहापन' (कार्षापण) के आठ काहापन (कार्षापण) बनाकर उसने ८० करोड़ कार्षापण एकत्रित कर लिये। इस धन को कोष में गाड़-कर चणक्क किसी और राजकुमार की ढूँढ़ में निकला, जो कि जन्म से भी उपयुक्त हो। तब वह पूर्व कहे गये चन्दगुत्त को मिला। यह मार्यवंश का राजकुमार था। चन्दगुत्त की माता मौर्यनगर के राजा की रानी थी। मौर्यनगर का ज़िक्र पहले किया जा चुका है। जिस समय कि एक शक्तिशाली राजा ने मौर्यनगर पर धावा कर वहाँ के राजा को मार दिया, तब चन्दगुत्त की माता गर्भवती थी। रानी गर्भ की रक्षा के लिए भाइयों के साथ गुप्तवेश में पुष्पपुर चली आई। उसके भाई उसके साथ थे। उनकी संरक्षा म वह वहाँ रहती रही। गर्भ का समय पूरा हो चुकने पर उसके एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। माता ने उसे उक्खली में रखकर एक घोष-द्वार पर फेंक दिया। जिस प्रकार राजकुमार घोष की रक्षा चन्दो नामक वृषभ करता रहा था, उसी प्रकार इस राजकुमार की रक्षा चन्दो नाम का एक वृषभ करता रहा। पीछे से एक गोपालक ने राजकुमार की रक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया, और चन्दो वृषभ से रक्षित रहने के कारण उसका नाम चन्दगुत्त पड़ा। जब कि चन्दगुत्त की आयु इस योग्य हो गई कि वह स्वयं पशु चरा सके तो, एक शिकारी—जो उस गड़रिये का मित्र था—ने उसे अपने पास ले लिया। वह उसे अपने स्थान पर ले गया। और चन्दगुत्त उसी गाँव में रहने लगा।

"एक बार की बात है, जब कि चन्दगुत्त अन्य लड़कों के साथ पशु चरा रहा था, उन्होंने एक खेल खेलना शुरू किया। इस खेल को 'राजकीय खेल' कहते थे। वह स्वयं राजा बना। अन्यों को उसने उपराजा आदि के पद दिये। कुछ को न्यायाधीश बनाया गया। कइयों को राजा के गृह का अधिकारी बनाया। कई चोर और डाकू बनाये गये। इस प्रकार सब कुछ निश्चित करके वह न्याय के लिए बैठ गया। गवाहियाँ सुनी गईं।

दोनों तरफ़ से युक्तियाँ प्रत्युक्तियाँ पेश की गईं। जब देखा कि दोष अच्छी तरह सिद्ध हो गया, और राजा साहिब को सन्तोष हो गया, तब न्यायाधीशों के फ़ैसले के अनुसार, राजा ने कचहरी के आफ़िसरों को आज्ञा दी कि अभियुक्तों के हाथ पैर काट डाले जायँ। जब उन्होंने कहा—"देव! हमारे पास कुल्हाड़े नहीं हैं' तब उसने उत्तर दिया—'यह राजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा है कि इनके हाथ पैर काट डाले जावें। यदि तुम्हारे पास कुल्हाड़े नहीं हैं तो लकड़ी का डण्डा बनाओ और उसके आगे बकरी के सींग लगाकर कुल्हाड़ा बना लो।' उन्होंने वैसा ही किया। कुल्हाड़ा बन गया। तब हाथ पैर काट डाले गये। चन्द्रगुप्त ने हुक्म दिया, 'फिर जुड़ जावें' हाथ पैर फिर जुड़ गये।[1]

"चणक्क यह दृश्य खड़ा देख रहा था। वह बहुत आश्चर्यान्वित हुआ। वह बालक के साथ गाँव में गया और शिकारी के सामने एक हज़ार कार्षापण रख कर कहा—'मैं तुम्हारे पुत्र को सब कुछ सिखाऊँगा, उसे मेरे साथ कर दो।' तदनुसार चणक्क चन्द्रगुप्त को अपने साथ ले गया। उसके गले में उसने ऊन के एक तागे को सुवर्ण के एक तागे के साथ बट कर डाल दिया।

"चणक्क ने राजकुमार पव्वत के गले में भी इसी प्रकार एक तागा डाल दिया। जब ये दोनों युवा उसके साथ रह रहे थे, दोनों को एक एक सपना आया। दोनों ने अपने अपने सपने चणक्क से कहे। इन्हें सुनकर वह शीघ्र समझ गया कि

---

१. इस वर्णन को असम्भव नहीं समझना चाहिए। यहाँ लेखक ने अपनी लेखन-चातुरी दिखाई है। बालकों के खेल को बालकों के ही अर्थ में लेना चाहिए। बालक चन्द्रगुप्त की आज्ञा पालन होनी ही चाहिए थी और हुई भी। बालक बहुत बार अपने खेलों में मारा और जिलाया करते हैं। यह स्वाभाविक वर्णन है।

पव्वत राज्य नहीं प्राप्त कर सकेगा, और चन्दगुत्त शीघ्र ही जम्बूद्वीप का सम्राट् बनेगा। उसने यह बात राजकुमारों से कही नहीं।

"एक बार किसी न्यौते में खीर खाकर वे एक वृक्ष के नीचे लेटे हुए थे। उन्हें वहाँ नींद आगई। आचार्य चणक्क सबसे पहले जागा और राजकुमार पव्वत की परीक्षा के लिए उसे एक तलवार देकर कहा—चन्दगुत्त के गले में लिपटे हुए तागे को इस प्रकार मेरे पास ले आओ, कि वह न टूटे और नहीं गाँठ खुले। पव्वत कुछ न कर सका और ख़ाली हाथ लौट आया। ऐसे ही किसी अन्य दिन उसने चन्दगुत्त की परीक्षा ली। यही बात चन्दगुत्त से भी कही। उसने सोचा—यह काम करने का अन्य कोई उपाय नहीं है; केवल इसका सिर काट कर ही तागा प्राप्त किया जा सकता है, उसने ऐसा ही किया और तागे को आचार्य चणक्क के सामने रख दिया। चणक्क अत्यन्त ख़ुश हुआ।

"छः या सात साल तक अपने पास रखकर उसने चन्दगुत्त को ख़ूब तैयार किया। जब चन्दगुत्त सयाना हो गया तब चणक्क ने सोचा कि अब यह एक सेना चलाने योग्य हो गया है। तब उसने अपना कोष खोला और सेना इकट्ठी करनी शुरू कर दी। एक शक्तिशाली सेना तय्यार कर चणक्क ने चन्दगुत्त को दी। अब ग्रामों और नगरों को जीतना प्रारम्भ हुआ। लोग उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए। और सारी सेना को घेर कर नाश कर दिया। अब चणक्क और चन्दगुत्त जगल में भाग गये और सोचने लगे—'अब तक युद्ध का कोई परिणाम नहीं निकला। केवल हमारी सेना ही नष्ट हुई है। चलो, अब हम लोगों के विचारों का पता लगावें।' तब वेष बदलकर घूमना शुरू किया। दिन भर घूमकर रात को किसी गाँव या नगर में ठहर जाते और लोगों की बातचीत सुनते। एक स्त्री एक गाँव में पूवे बनाकर अपने लड़के को दे रही थी।

वह लड़का चारों ओर के किनारों को छोड़ता जाता था और बीच का भाग खा लेता था। यह देखकर माता ने कहा—'इस लड़के का व्यवहार चन्द्रगुप्त जैसा है, जिसने कि राज्य लेने का प्रयत्न किया था[1]।' यह सुनकर बालक ने पूछा—'माँ! मैं क्या कर रहा हूँ और चन्द्रगुप्त ने क्या किया था?' तब माता ने उत्तर दिया—'मेरे प्यारे पुत्र! तुम चारों ओर का भाग छोड़कर केवल बीच का भाग खा रहे हो। चन्द्रगुप्त सम्राट् बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता था, उसने बिना सीमा-प्रान्तों के अधीन किये राज्य के मध्य में ग्रामों और नगरों पर आक्रमण करना शुरू कर दिया। इसी लिए लोग उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए और सीमा-प्रान्त से आक्रमण कर उसकी सेना को नष्ट कर दिया। यह करना उसकी मूर्खता थी।'

"यह वार्तालाप सुनकर चन्द्रगुप्त और चणक्क ने फिर से सेना इकट्ठी की। अब की बार पहले उन्होंने सीमा-प्रान्त को अधीन किया और वहाँ से मध्य की ओर नगरों और ग्रामों को वश में करते हुए चले। धीरे धीरे पाटलीपुत्र तक बढ़ आये और धननन्द का नाश कर राज्य प्राप्त किया।

"यद्यपि राज्य प्राप्त हो गया, पर चणक्क ने चन्द्रगुप्त को एकदम गद्दी नहीं दे दी। उसने धननन्द के कोष का पता लगाना चाहा। इसके लिए एक मछियारे को राज्य देने का लालच देकर कोष का पता लगवा लिया। फिर इसको भी मार कर चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बिठा दिया।

"चन्द्रगुप्त की यह सारी कथा उत्तर विहार के श्रवणों की अट्ठ कथा में लिखी हुई है। जो अधिक विस्तार से देखना चाहें, वे वहाँ देख सकते हैं। हमने यहाँ संक्षेप रूप से लिखी है। चन्द्रगुप्त का पुत्र बिन्दुसार हुआ।"

महावंश का यह लम्बा उद्धरण बहुत आवश्यक है। हमारे

---

१. अयं दारको चन्दगुत्तस्स राजग्गहणं विय करोति।

सामने तीन विचार हैं, तीन सम्मतियाँ हैं। किसको मानें? हम इन तीनों पर विचार कर सत्य तक पहुँचने की कोशिश करेंगे।

कथासरित्सागर का मत अन्य ग्रन्थों से पुष्ट नहीं होता। सब पुराण इसके विरोध में हैं। दन्त-कथायें भी इसको पुष्ट नहीं करतीं। कथासरित्सागर की कथा प्राकृतिक दृष्टि से भी सम्भव प्रतीत नहीं होती। पर-शरीर में प्रवेश करने की बात को आजकल के विद्वान् किसी तरह भी मान नहीं सकते। इस सारी कथा का आधार यही बात है। फिर इस पर विश्वास किस तरह करें? कथासरित्सागर की कथाओं में सत्यता का अंश काफ़ी कम है। अन्य कथाओं के अध्ययन से भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। निस्सन्देह इन कथाओं का आधार मज़बूत है, पर इस पर बनाई हुई इमारत बहुत कमज़ोर है। कथासरित्सागर के पक्ष का समर्थन शायद ही कोई विद्वान् करे। इसलिए इसे छोड़कर हम शेष दो सम्मतियों पर विचार करेंगे।

श्रीधर और ढुण्ढिराज का मत काफ़ी दृढ़ है। मुद्राराक्षस भी इस ही का पोषण करता है। चतुर्थ अङ्क में मलयकेतु को बहकाता हुआ भागुरायण कहता है—"ठीक है, पर बात यह है कि अमात्य राक्षस का वैर चाणक्य से है, कुछ चन्द्रगुप्त से नहीं है, इससे चाणक्य की बातों से रूठ कर चन्द्रगुप्त उससे मन्त्री का काम ले ले और नन्दकुल की भक्ति से 'यह नन्द ही के वंश का है' यह सोच कर राक्षस चन्द्रगुप्त से मिल जाय और चन्द्रगुप्त भी अपने बड़े लोगों का पुराना मन्त्री समझ कर उसको मिला ले........"[1]

---

१. एवमेतत् किंत्वमात्यराक्षसश्चाणक्ये बद्धवैरो न चन्द्रगुप्ते। तद्यदि कदाचिच्चाणक्यमतिजितकाशिनमसहमानः साचिव्यादवरोपयेत्ततो नन्दकुलभक्त्या नन्दान्वय एवायमिति कृत्वा सम्पत् सुहृज्जनापेक्षया च अमात्यराक्षसः चन्द्रगुप्तेन सह संदधीत।

आगे पञ्चम अङ्क में एक स्थान पर क्रुद्ध मलयकेतु, निराश होकर राक्षस से कहता है—

'स्वामिपुत्र तुव मौर्य हम, मित्रपुत्र सह हेत।
पैहो उत वाको दियो, इत तुम हम को देत॥
सचिवहु भे उत दास ही, इत तुम स्वामी आप।
कौन अधिक फिर लोभ जो, तुम कीनो यह पाप[1]॥

इन दो उद्धरणों से स्पष्ट है कि विशाखदत्त की सम्मति में भी चन्द्रगुप्त मुरा नाम की दासी से नन्दराज का पुत्र था। इस पक्ष को सिद्ध करनेवाले प्रमाण ये ही हैं।

दूसरा पक्ष महावंश का है। महावंश का टीकाकार—जो कि बहुत प्राचीन है और विशाखदत्त व ढुण्ढिराज से पर्याप्त पहले हुआ है, वह यह भी कहता है कि 'यह सारी कथा उत्तर विहार की अट्ठकथा में लिखी है।' अब बताइए, ठीक किसको माना जाय।

इस प्रकार विचार करते हुए ऐतिहासिक के सामने कठिनाई यह उपस्थित होती है कि, वह सरलता से किसी को अशुद्ध नहीं ठहरा सकता। दो विरुद्ध पक्षों में से हम उसी को मानने का साहस कर सकते हैं जो कि अधिक स्वाभाविक हो और जो कि इतिहास में स्थान पा सके। इसी कसौटी पर हम दोनों मतों की परीक्षा करेंगे। ढुण्ढिराज के वृत्तान्त में असम्भव और युक्तिशून्य बातें काफ़ी हैं। सुनन्दा से मांसपिण्ड का निकालना और उसके ६ टुकड़े कर तेल में डालने की बात को शायद ही कोई मानने का साहस करे। फिर सिकन्दर के आक्रमण आदि के साथ भी वह पक्ष ठीक नहीं बैठता। इसके

---

१. मौर्य्योऽसौ स्वामिपुत्रः परिचरणपरो मित्रपुत्रस्तवाहम्।
दाता सोऽर्थस्य तुभ्यं स्वमतमनुगतस्त्वं तु मह्यं ददासि॥
दास्यं सत्कारपूर्वं ननु सचिवपदं तत्र ते स्वाम्यमत्र।
स्वार्थे कस्मिन् समीहा पुनरधिकतरे त्वामनार्यं करोति॥

विपरीत महावंश का मत जहाँ सम्भव और स्वाभाविक है, वहाँ इतिहास में ठीक स्थान भी पा जाता है। उसमें और ग्रीक लेखकों के लेखों में अनुकूलता स्थापित रहती है।

महावंश के अनुसार मौर्यवंश एक पृथक् वंश था। इसका इतिहास महावंश के प्रसिद्ध टीकाकार इस प्रकार लिखते हैं—"जब बुद्ध भगवान् अभी जीवित थे, विड्डभ राजा ने शाक्यों के राष्ट्र पर आक्रमण किया। शाक्य घराने के कुछ व्यक्ति इस आक्रमण से अपना देश छोड़कर हिमवन्त (हिमालय पर्वत) पर आ बसे। वहाँ उन्हें एक अत्यन्त सुन्दर और रमणीय स्थान निवास के लिए मिला। यह स्थान सघन वृक्षों के बीच शुद्ध जल के समीप था। यहाँ बस जाने की उनकी इच्छा हुई। एक प्रदेश पर, जहाँ अनेक मार्ग मिलते थे, सम्यक् प्रकार से रक्षित नगर बसाया गया। इस नगर के भवनों की रचना मयूर की गर्दन के समान क्रम में बनाई गई थी। मयूरों की केका-ध्वनि से यह नगर प्रतिध्वनित रहता था। इसलिए इस नगर का नाम 'मयूरनगर' पड़ा। इसी वास्ते इस नगर के निवासी और उनकी सन्तान जम्बूद्वीप में 'मौर्य' कहाती थी। इस समय से इसको मौर्य कहने लगे[1]"।

मौर्यों का यह वृत्तान्त हमें स्वाभाविक प्रतीत होता है। एक दासी—मुरा—के पुत्र होने से चन्द्रगुप्त और सारे वंश का मौर्य कहाया जाना अस्वाभाविक है। महावंश की कल्पना स्वाभाविक और इतिहास के अनुकूल है। यह मत

---

१. पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि बौद्ध-काल में चार मुख्य राष्ट्र थे। कोशल, मगध, अवन्ती और वत्स। ये चारों अपना साम्राज्य बनाने की कोशिश में थे। आस-पास के राष्ट्रों और प्रजातन्त्र राज्यों पर ये राष्ट्र आक्रमण करते रहते थे। उत्तर कोशल के राजा विड्डभ ने शाक्य प्रजातन्त्र पर आक्रमण कर उसका पूर्णतया नाश कर दिया था।

ग्रीक लेखकों के आधार से भी पुष्ट होता है। कनिङ्घम साहब ने रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में यह बात स्पष्ट की है[1]।

यूनानी लेखकों के आधार पर हमें यह निर्देश मिलता है कि, मौर्य नाम की एक जाति थी जो कि एक जंगल में रहती थी। निस्सन्देह यह जाति शाक्य लोगों की ही है, जिसका वर्णन हम विस्तारपूर्वक महावंश में देख चुके हैं।

अन्यत्र भी बौद्ध-साहित्य में मौर्यों का एक पृथक् जाति के रूप में वर्णन आता है। 'महापरिनिव्वानसुत्त' में लिखा है, कि जब भगवान् बुद्ध का देहान्त हो गया, तो 'पिप्पलीवन' के मौर्यों ने भी कुशीनार के मल्लों के पास निम्नलिखित सन्देश देकर एक दूत भेजा—'आप लोग भी क्षत्रिय हैं, हम भी क्षत्रिय हैं। इसी लिए हमें भी भगवान् बुद्ध के शरीर का भाग प्राप्त करने का अधिकार है[2]।......' इत्यादि।

---

१. See Cunningham—Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal, XXIII, पृ. ६८०.

प्रो० मैक्समूलर भी अपनी पुस्तक के पृष्ठ १४२ के फ़ुटनोट में लिखते हैं—

The wooden houses in which the tribe of the Mauryas is said to have lived may refer to the story of the Mauryas living in a forest.

देखो—प्रो. Max Muller—The History of Ancient Sanskrit Literature, पृ. १४६.

२. अस्सोसुं खो पिप्पलिवनिया—भगवा किर कुसिनारायं परिनिब्बुतोति। अथ खो पिप्पलिवनिया मोरिया कोसिनारकानं मल्लानं दूतं पाहेसुं। भगवापि खत्तियो मयमपि खत्तिया। मयमपि अरहाम भगवतो सरीरानं भागं। भगवतो सरीरानं थूपञ्च महञ्च करिस्सामाति। नत्थि भगवतो सरीरानं भागो। विभत्तानि भगवतो सरीरानि। इतो अङ्गारं हरथाति। ते ततो अङ्गारं हरिंसु (महापरिनिब्बाण सुत्त ६, ३१)

इस उद्धरण से स्पष्ट है, कि मौर्य चन्द्रगुप्त के बहुत पूर्व महात्मा बुद्ध की मृत्यु के समय मौर्य लोगों की पृथक् जाति व राज्य विद्यमान थे।

महावंश की कथानुसार विडूडभ या उसके उत्तराधिकारी किसी साम्राज्यवादी राजा ने यहाँ भी इस मयूरनगर में रहने के कारण मौर्य कहलानेवाले शाक्यों का पीछा न छोड़ा। वहाँ भी मौर्यों पर आक्रमण किया और मौर्यों को पराजित कर राजा (व राजाओं)[1] का घात किया। यह सम्भव और स्वाभाविक इतिहास है। महावंश की टीका में आगे दी हुई कथा को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है। अनाथ रानी अपने भाइयों के साथ भागकर पाटलिपुत्र में आई और गर्भ होने के कारण वहीं चन्द्रगुप्त की उत्पत्ति हुई। होनहार बालक चन्द्रगुप्त को यथायोग्य गुरु मिल गया। चाणक्य ने इस बालक को तय्यार किया। इसके पश्चात् चन्द्रगुप्त ने चाणक्य के निरीक्षण में किस प्रकार मौर्यसाम्राज्य की स्थापना की, इसका विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे।

ऊपर जो विवेचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है, कि अनेक प्राचीन प्रमाणों से मौर्यों का एक प्राचीन जाति होना सिद्ध होता है। ढुण्ढिराज और कथासरित्सागर के मत असम्भव बातों से भरे हुए हैं। उनकी अपेक्षा महावंश का मत बहुत प्रामाणिक और स्वाभाविक है। यह होते हुए भी प्रसिद्ध ऐतिहासिक विन्सेन्ट स्मिथ चन्द्रगुप्त को दासीपुत्र होना सिद्ध करता हुआ लिखता है—'मुद्राराक्षस नाटक में चन्द्रगुप्त के

१—शाक्य लोगों का कपिलवस्तु में सङ्घ-राज्य व लोकतन्त्र-राज्य था। उनमें एक नहीं, प्रत्युत हज़ारों राजा होते थे। प्रत्येक नागरिक राजा कहाता था। सम्भवतः उन्होंने अपनी यह विशेषता मयूरनगर में भी क़ायम रक्खी थी। इसी लिए यह बहुवचन प्रयुक्त किया गया है।

दासीपुत्र होने, और राजानन्द से सम्बद्ध होने पर बहुत ज़ोर दिया गया है। मेरा विश्वास है कि इन विषयों में मुद्राराक्षस का मन्तव्य बहुत ही प्रामाणिक तिवृत्त पर स्थित है[1]।'

उधर महावंश का टीकाकार भी अपने मन्तव्य की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए लिखता है कि "राजसिंहासन पर आरोहण से पूर्व और पश्चात् का चन्द्रगुप्त-विषयक सम्पूर्ण वृत्तान्त उत्तर बिहार के श्रमणों की अट्ठ-कथा में लिखा हुआ है। यहाँ मैंने संक्षेप में दिया है। जिन्हें विस्तार से देखना हो, वे वहाँ देख लें।"

बौद्ध-साहित्य के सिवाय, जैन-साहित्य में भी मौर्य-जाति को पृथक् माना गया है। परिशिष्ट पर्व के अनुसार चन्द्रगुप्त की उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है—

"......अतएव अब चाणक्य राजगद्दी के योग्य मनुष्य की खोज में फिरने लगा। जिस गाँव में राजा नन्द के मयूरपोषक लोग रहते थे, एक दिन चाणक्य परिव्राजक का भेष धारण कर भिक्षा के लिए उसी गाँव में चला गया। मयूरपोषकों का जो सरदार था, उसकी एक लड़की गर्भवती थी।[2]......" इस तरह आगे इसी लड़की से चन्द्रगुप्त की उत्पत्ति बताई गई है और 'चन्द्रगुप्त व चाणक्य' की लगभग वही कथा लिखी गई है, जो महावंश में है।

इसी तरह प्राचीन जैन-ग्रन्थ 'आवश्यक सूत्र' की हरिभद्रीया टीका में भी मौर्य-जाति की उत्पत्ति पृथक् रूप से लिखी गई है[3]।

---

१. V. A. Smith—Early History of India.

२. परिशिष्ट पर्व ८।२२९-२३१।

३. "नन्दस्स मोर पोसगा। तेसिं गामे गाओ परिव्वायगालिं गेणं। तेसिं च मयहर धूयाए चंद पियणं मि दोहलो। सा समुयाणिं बो

इस प्रकार प्राचीन साहित्य का अध्ययन कर हम इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि चन्द्रगुप्त नन्द का शूद्रागर्भ से उत्पन्न हुआ लड़का नहीं था, अपितु मौर्य-जाति का राजकुमार था, जिसने कि चाणक्य की सहायता से नन्दों का नाशकर राज्य प्राप्त किया।

गओ। पुच्छंति सो भणइ। इमं दाणं देह। तो णं पाएमि चंद।" इत्यादि

पाँचवाँ अध्याय

राज्य की प्राप्ति और विस्तार

पिछले अध्याय में 'महावंश टीका' के आधार पर हम प्रतिपादित कर चुके हैं, कि चाणक्य की सहायता से पहले चन्द्रगुप्त ने सेना एकत्रित कर मगध-राज्य के ग्रामों और नगरों पर आक्रमण करना शुरू किया। पर इस प्रयत्न में असफल होकर एक घर में होती हुई बातचीत से शिक्षा ले सीमाप्रान्त की ओर से विजय-यात्रा प्रारम्भ की। सीमाप्रान्त की राजनैतिक दशा का चन्द्रगुप्त ने उपयोग किया। उस समय भारत के पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश की राजनैतिक अवस्था में अनेक प्रकार के उथल पुथल हो रहे थे। प्रसिद्ध यूनानी विजेता सिकन्दर ने पर्शियन-साम्राज्य की शक्ति का विनाश कर मैसिडोनियन साम्राज्य की स्थापना की थी। पहले सम्पूर्ण ग्रीक नगर राष्ट्रों को पराजित कर सिकन्दर ने पर्शियन-साम्राज्य पर आक्रमण किया था। एशियामाइनर, फिनीशिया, ईजिप्ट, बैबिलोनिया आदि को अधीन करते हुए उसने भारत पर भी हमला किया था। सिकन्दर के आक्रमण के कारण पश्चिमीय भारत की राजनीतिक दशा बहुत कुछ परिवर्तित हो गई थी। इन परिवर्तनों को ठीक प्रकार समझने के लिए सिकन्दर की विजय-यात्रा का संक्षिप्त उल्लेख बहुत आवश्यक है।

३२५ ई० पू० में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। उस समय योरुप में निवास करनेवाली सब जातियों में यूनानी लोग विशेष विद्वान्, वीर और सर्वोत्कृष्ट थे। जक्सेसीज़[1] के

---

१. जिन दिनों मगध में बिम्बिसार और उसका पुत्र अजातशत्रु राज्य कर रहे थे, उन्हीं दिनों पश्चिमीय एशिया में डेरियस या दारा नाम का शक्तिशाली सम्राट् राज्य कर रहा था। ६२० ई० पू०

बाद पश्चिम में मैसिडोन के राजा सिकन्दर की शक्ति का बहुत अधिक विस्तार हुआ। पहले योरोप में अपने राज्य को सुदृढ़ बना कर सिकन्दर ने विस्तृत पर्शियन-साम्राज्य पर आक्रमण किया। इस विजययात्रा के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। पर्शियन-साम्राज्य, बैक्ट्रिया, आर्कोशिया आदि पर अपना अधिकार स्थापित कर सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया। अनेक अजेय दुर्गों को जीतता हुआ सिक-

से लेकर ५२० ई० पू० तक एक शताब्दी के बीच पाँच प्रसिद्ध साम्राज्यों की पश्चिम में समाप्ति हुई। लीडिया, मीडिया, असीरिया, बैबिलोनिया और ईजिप्ट—इन पाँचों साम्राज्यों का विनाश कर दारा के पिता ने प्रसिद्ध पर्शियन-साम्राज्य की स्थापना की। दारा ने भी पर्शियन-साम्राज्य को बहुत बढ़ाया, कहते हैं—राज्य की वृद्धि की इच्छा से इसने भारत पर भी आक्रमण किया। अपने सेनापति शैलाच (स्काईलैक्स) के प्रयत्न से दारा ने पश्चिमीय पञ्जाब का कुछ भाग अपने विशाल साम्राज्य में मिला लिया।

दारा के वंशधरों में जर्क्सेसीज़ नाम का सम्राट् सबसे प्रसिद्ध हुआ है। इसने पर्शियन-साम्राज्य को विस्तृत करने की इच्छा से हैलस्पर्नेट जलडमरूमध्य को पार कर योरोप पर आक्रमण किया। ग्रीक-राष्ट्रों को पराजित कर अपनी शक्ति को बढ़ाया। परन्तु जर्क्सेसीज़ की शक्ति वहाँ देर तक क़ायम न रह सकी। पीछे से मैसिडोन के राजा साम्राज्य बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। इनमें फिलिप का नाम बहुत प्रसिद्ध है। इसने सम्पूर्ण ग्रीक-राष्ट्रों को अपने अधीन किया और मैसीडोन की शक्ति को बहुत अधिक बढ़ाया। सिकन्दर फिलिप का ही पुत्र था। इसने अपने पिता के कार्य को जारी रखा। संसार-प्रसिद्ध दार्शनिक और नीतिज्ञ अरस्तू फिलिप के दरबार का रत्न और सिकन्दर का शिक्षक था।

न्दर उद्भाण्डपुर[1] के समीप सिन्ध नदी को पार करता है। जिस समय सिन्ध से पश्चिम के दुर्गम क़िलों और शक्तिशाली जातियों को पराजित कर सिकन्दर ने सिन्ध नदी को पार किया, उस समय उसके पास कुल मिला कर ५० हज़ार सैनिक थे। सिन्ध नदी के पूर्व में अनेक नृपतियों ने बिना किसी अड़चन के सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत कर ली। इन क्षुद्र नृपतियों में तक्षशिला के राजा आम्भी (आम्फ़िस) का नाम विशेष ध्यान देने योग्य है। आर्यावर्त के इस कुपुत्र ने अपने पड़ोसी प्रसिद्ध राजा पोरस के पराजय के निमित्त सिकन्दर को सब प्रकार की सहायता दी। बड़ी धूमधाम से उसका स्वागत किया। अनेक अधीनतासूचक उपहार भेंट किये। इसी सहायता से उत्तेजित होकर सिकन्दर ने जेहलम के पार पोरस को स्वयं अधीनता स्वीकृत करने और अधीनतासूचक उपहार भेंट करने के लिए सन्देश भेजा।

सिकन्दर का सन्देश सुन कर पोरस ने उत्तर में कहला भेजा कि 'मैं जेहलम के किनारे उपहार से नहीं, प्रत्युत सेना से तुम्हारा स्वागत करने के लिए चल पड़ा हूँ।' पोरस मध्य पञ्जाब का राजा था। उसने वीरतापूर्वक सिकन्दर का मुक़ाबला करने का निश्चय किया, और अपनी भारी सेना ले जेहलम के किनारे मोरचा लगा दिया। सामने पोरस की बलशाली सेना को देखकर सिकन्दर ने नीति से कार्य करने का विचार किया। एक रात घोर अन्धकार छाया हुआ था, वृष्टि हो रही थी, जेहलम का पानी भी बढ़ा हुआ था, इन सब विघ्न-बाधाओं की कुछ पर्वाह न करता हुआ सिकन्दर अपने कैम्प से १६ मील दूरी पर उत्तर की ओर एक अच्छे स्थान से रात्रि के समय ही जेहलम नदी पार कर गया। इधर पोरस की सेना अचेत पड़ी

---

1. उद्भाण्डपुर अटक से १६ मील उत्तर की तरफ़ है। प्राचीन समय में सिन्ध नदी को अटक से पार नहीं किया जाता था, उस समय उद्भाण्डपुर से ही इस महानदी को पार किया जाता था।

हुई सो रही थी। जब उसे शत्रु के नदी पार करने का समाचार मिला तो उसने अपने पुत्र की अधीनता में २,००० सैनिक सिकन्दर के मार्ग में बाधा डालने के लिए भेजे। परन्तु सिकन्दर के सिद्धहस्त सैनिकों ने इस छोटी सी सेना को बुरी तरह पराजित किया। ५०० सैनिकों का संहार हुआ, और शेष अपने को सिकन्दर के साथ मुक़ाबला करने में असमर्थ पा मैदान छोड़कर भाग गये। जब यह समाचार पोरस ने सुना, तो स्वयं अपनी विशाल सेना को साथ ले वह आगे बढ़ा। उभयपक्ष में तुमुल संग्राम हुआ। अन्त में सिकन्दर की विजय हुई। सहस्रा सैनिकों के साथ पोरस क़ैद कर लिया गया। बन्दी पोरस जब सिकन्दर के सन्मुख उपस्थित किया गया, तब सिकन्दर ने पोरस से पूछा—'हे क्षत्रिय! तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव किया जावे?' पोरस ने निधड़क होकर उत्तर दिया—'जैसा राजा लोग राजाओं के साथ करते हैं।' इस उत्तर को सुन कर सिकन्दर बहुत आश्चर्यान्वित हुआ। उसे पोरस की महत्ता का अनुभव हुआ। उसने प्रसन्न हो पराजित राज्य का स्वामी पोरस को ही नियत कर दिया। इतना ही नहीं, जेहलम, चनाब और रावी के मध्य जिन अन्य राज्यों व जातियों ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत कर ली थी, उन सबका आधिपत्य भी पोरस को दे दिया। इस प्रकार पोरस को अधीन कर और अपना परम सहायक बना सिकन्दर आगे बढ़ा। अनेक राज्यों ने बिना किसी 'ननु न च' के सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत कर ली। परन्तु अनेक दुर्गों को अधीन करते हुए उसे अनेक भयानक युद्ध भी लड़ने पड़े। इन युद्धों के वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं। धीरे धीरे विजय करता हुआ सिकन्दर व्यास नदी के तट पर पहुँच गया था। इसके आगे बढ़ने से उसके सैनिकों ने इन्कार कर दिया। सिकन्दर ने बहुत प्रयत्न किया, अनेक उपायों से उनको जोश दिलाना चाहा। पर वे युद्धों से इतने थक गये थे, कि किसी भी प्रकार आगे बढ़ने के लिए तैयार न हुए। अन्त में सिकन्दर को भी लौटने के लिए बाधित होना पड़ा। व्यास नदी

के तट पर अपना स्मारक बना कर और देवताओं की पूजा कर वह जेहलम नदी की ओर प्रस्थित हुआ।

बिना किसी अड़चन के सिकन्दर जेहलम वापिस चला आया। वहाँ उसने बड़ा भारी दरबार किया। इस दरबार में पोरस को व्यास नदी से लेकर जेहलम नदी तक के प्रदेश का सैट्रप (क्षत्रप[1]) नियत किया गया। जेहलम से लेकर सिन्ध नदी तक के प्रदेश का क्षत्रप आम्भी को बनाया गया। सिन्ध से पश्चिम के प्रदेश का क्षत्रप फिलिप्पोस नामक सेनापति नियत हुआ। इस प्रकार अपने नये जीते हुए प्रदेशों का प्रबन्ध कर सिकन्दर ने लौटना शुरू किया, परन्तु लौटने के लिए उसने नये ही मार्ग का अनुसरण किया। पहले जेहलम नदी के तट पर उसने जहाज़ और नावों को एकत्रित कराया। इन जहाज़ों की संख्या के विषय में ग्रीक लेखकों में मतभेद है। टालमी की सम्मति में इन जहाज़ों की संख्या २,००० के लगभग थी। संख्या कुछ भी हो, अभिप्राय यह है कि एक बड़ा जहाज़ी बेड़ा तैयार कर सिकन्दर ने जलमार्ग द्वारा लौटना आरम्भ किया। जेहलम के बीच सिकन्दर का बेड़ा चला जा रहा था, और दोनों ओर विशाल सेना चल रही थी।

इस समय पञ्जाब की नदियों के मध्यवर्ती (परन्तु दक्षिण

१, प्रसिद्ध पर्शियन-सम्राट् दारा ने अपने साम्राज्य को २० सैट्रैपीज़ में विभक्त किया था और प्रत्येक सैट्रैपी पर शासन करने के लिए अपनी ओर से एक शासक नियत किया था। इस प्रान्तीय शासक को सैट्रप (क्षत्रप) कहते थे। सिकन्दर ने भी दारा की इस पद्धति का अनुसरण किया। अपने साम्राज्य को स्थिर रखने की इच्छा से उसने भी अनेक सैट्रप नियत किये। भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश पर विजय प्राप्त कर उसने इसे भी ३ मुख्य सैट्रैपियों में बाँटा और इन पर अपने प्रतिनिधि के रूप में पोरस आदि को नियुक्त किया।

ओर) प्रान्तों में सिलोई, अगलासोई, मल्लोई, आक्सिड्राकोई[1] आदि जातियाँ निवास करती थीं। इनके राज्य को गणराज्य या प्रजातन्त्र राज्य कहते थे। इनकी शक्ति बहुत अधिक थी। अगलासोई के पास ४० हज़ार पदाति, और ३ हज़ार अश्वारोही सेना थी। इसी प्रकार अन्य जातियाँ भी बहुत वीर और शक्ति-युक्त थीं। वे परस्पर मिल कर सिकन्दर का मुक़ाबला करना चाहती थीं। परन्तु पहली दो जातियों को सिकन्दर ने अपनी बुद्धिमत्ता से मिलने न दिया। एक एक करके दोनों को जीत लिया। अगलासोई के २० हज़ार नर-नारियों ने बालकों समेत अपने आपको अग्नि में इसलिए भस्मसात् कर दिया, कि कहीं शत्रु के हाथ में न पड़ जावें। उधर मल्लोई और आक्सि-ड्राकोई भी परस्पर न मिल सकीं। क्योंकि संयुक्त-सेना का सेनापति कौन हो, इस बात पर उनमें झगड़ा हो गया। सिकन्दर ने इस झगड़े से लाभ उठा कर मल्लोई जाति पर आक्रमण कर दिया। दूर दूर तक मल्लोई लोगों का पीछा किया गया। यद्यपि इस वीर जाति को पराजित करते हुए सिकन्दर के एक घातक घाव लगा, पर अन्त में उसकी विजय हुई। यदि मल्लोई और आक्सिड्राकोई मिलकर सिकन्दर का मुक़ाबला करते, तो सम्भवतः उनकी पराजय न हो सकती, क्योंकि उनकी सम्मिलित सेना में ६० हज़ार पदाति, १० हज़ार घुड़सवार और ६०० रथ सम्मिलित थे।

सिकन्दर के समय सिन्ध की राजधानी अरोर थी। वहाँ के राजा का नाम था मूसीकैनो। यह बहुत ही पराक्रमी और शक्तिशाली राजा था। युद्ध बिना किये उसने सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत न की। इसलिए सिकन्दर को उस पर आक्र-मण करना पड़ा। अन्त में मूसीकैनो पराजित हुआ। इस प्रकार

---

१. सिलोई = शिवि।
मल्लोई = मल्ल या मालव।
आक्सिड्राकोई = चुद्रक।

सिन्ध को विजय करता हुआ सिकन्दर समुद्र-तट तक पहुँच गया। समुद्र के समीप पहुँच कर उसने अपनी सेना के दो विभाग कर दिये। न्यार्कस नामक सेनापति को जलमार्ग द्वारा ईरान पहुँचने की आज्ञा दी, और स्वयं बलोचिस्तान व मकरान के जङ्गलों में होता हुआ स्थलमार्ग द्वारा ईरान पहुँच गया। मार्ग में उसे अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़े। गर्मी और भूख से उसकी सेना का बुरी तरह संहार हुआ। नानाविध दुखों को सहता हुआ अन्त में वह सूसा पहुँच ही गया। परन्तु अपने विस्तृत साम्राज्य को वह देर तक न देख सका। ३२३ ई० पू० में उसकी मृत्यु हो गई।

यद्यपि सिकन्दर वीर तथा नीतिज्ञ था; पर उस समय के भारतीय भी भीरु न थे। केवल फूट से इस देश की अधोगति हुई है। सिकन्दर के आक्रमण में भी इस फूट के कारण ही भारतीयों को नीचा देखना पड़ा। फिर भी जिस वीरता और पराक्रम के साथ स्थान स्थान पर भारतीयों ने सिकन्दर का मुक़ाबला किया, वह सचमुच आश्चर्यजनक है। बाज़ के समान तेज़ चलनेवाले सिकन्दर को हिन्दुकुश से सिन्ध तक केवल दस मास लगे, पर सिन्ध से व्यास तक १९ मास लग गये।

सिकन्दर की विजय-यात्रा का यही संक्षिप्त वृत्तान्त है। वीर यूनानी विजेता के आक्रमण के कारण पश्चिमोत्तर भारत की राजनीतिक दशा बहुत अधिक परिवर्तित हुई थी। इसमें अनेक प्रकार के उथल पुथल हो रहे थे। इस विशेष अवस्था का चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने उपयोग किया। उन्होंने पश्चिमीय भारत में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। यूनानी प्रभुता के विरुद्ध क्रान्ति करने का प्रयत्न किया। प्रसिद्ध ऐतिहासिक मि० हैवेल ने इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—

'सिकन्दर के भारत से लौटने के एक साल बाद विजित प्रदेशों में विद्रोह प्रारम्भ हुआ। प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तक्षशिला इस विद्रोह का केन्द्र था। यहाँ चाणक्य नाम का एक

ब्राह्मण रहता था, जो कि दण्डनीति, कूटविद्या और सैन्यशास्त्र में पारंगत था। उसकी असाधारण योग्यता सब लोगों को ज्ञात थी। उसका चन्द्रगुप्त नामक एक शिष्य था।...... मैसिडोनियन आक्रमण के समय चन्द्रगुप्त तक्षशिला में ही था। सम्भवतः चन्द्रगुप्त ने ही सिकन्दर को मगध पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया था। परन्तु व्यास नदी के तट पर अपनी योरोपियन सेना के विद्रोह कर देने के कारण वह और आगे न बढ़ सका। सिकन्दर के किसी क्षत्रप ने राजा पोरस का घात कर दिया था, यद्यपि पोरस सिकन्दर की अधीनता स्वीकृत करता था। इस हत्या के कारण भारतीय जनता में बहुत असन्तोष फैल रहा था। एक दूसरे प्रान्त के क्षत्रप फिलिप्पोस का भी घात कर दिया गया और क्रान्ति होने के लिए विद्रोहियों को केवल एक योग्य नेता की आवश्यकता थी। चन्द्रगुप्त ने इन घृणित यूनानी लोगों को निकाल कर बाहर करने और मगध-राज्य का बदला लेने के इस सुवर्णावसर को हाथ से न जाने दिया। चाणक्य की सहायता से उसने पञ्जाब की जातियों को भड़का दिया और सिकन्दर की सेनाओं को पराजित कर उसी सेना की सहायता से पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। मगध के राजा को गद्दी से च्युत कर, व ग्रीक लेखकों के मतानुसार मार कर वह राजगद्दी पर बैठा।[1]'

मि० हैवेल के उपर्युक्त उद्धरण की पुष्टि ग्रीक-लेखकों के लेखों से होती है। जस्टिन कहता है—'इस राजकुमार ने ढिठाई के साथ सिकन्दर से बातचीत की। अतः इसे मृत्युदण्ड की आज्ञा हुई। पर इसने भाग कर अपने प्राण बचाये।' प्लूटार्क का

---

१ देखो—E. B. Habell—'The History of Aryan Rule in India, from the earliest times to the death of Akbar.' अध्याय ५

कहना है—'जब चन्द्रगुप्त घर से निकला हुआ था, उसने सिकन्दर से बातचीत की।' इस प्रकार स्पष्ट है कि मौर्य चन्द्रगुप्त मैसिडोनियन आक्रमण के समय पञ्जाब में ही मौजूद था, और उसकी सिकन्दर से भेंट भी हुई थी। निस्सन्देह चन्द्रगुप्त और चाणक्य इस समय पश्चिमोत्तर सीमा की तरफ़ से राज्य प्राप्त करने की इच्छा से यहाँ आये हुए थे।

आगे चन्द्रगुप्त ने क्या किया, इसके लिए भी प्राचीन ग्रीक-लेखकों के लेख देखिए। जस्टिन कहता है—'सिकन्दर के सामने चन्द्रगुप्त ने ढिठाई का बर्ताव किया। इससे अपमानित होने के कारण सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त के वध की आज्ञा दी। परन्तु भाग कर चन्द्रगुप्त ने अपने प्राण बचाये। यात्रा से थक कर चन्द्रगुप्त लेट गया। इस समय एक भयानक सिंह आया, और चन्द्रगुप्त के पसीने को चाटने लगा। वह चन्द्रगुप्त को विना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये लौट गया। इस अपूर्व घटना से चन्द्रगुप्त को बड़ी आशा हुई। वह महत्वाकांक्षी होगया। उसने डाकुओं के झुण्ड इकट्ठे किये और भारतीयों को विद्रोह के लिए खड़ा कर दिया। जिस समय चन्द्रगुप्त सिकन्दर के सेनापतियों के विरुद्ध लड़ाई की तैयारी कर रहा था, एक जङ्गली हाथी आया और पालतू हाथी के समान चन्द्रगुप्त को अपनी पीठ पर उठा लिया। जब सैल्यूकस अपने राज्य के लिए प्रयत्न कर रहा था, तब उसने चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि की और भारत की तरफ़ से निश्चिन्त होकर एण्टिगोनस की तरफ़ प्रस्थान किया।'

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त ने भारत की तत्कालीन अशान्तिमय अवस्था से लाभ उठाया और यूनानी-सेनापतियों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। फिलिप्पोस की हत्या कराई। जब यह समाचार सिकन्दर के पास पहुँचा, तो सिकन्दर को बहुत क्रोध आया। उसने तत्काल सिन्ध नदी के तट पर स्थित यूनानी-शिविर के सेनापति 'यूडीमौस' के नाम यह आज्ञा भेजी कि जब तक फिलिप्पोस का उत्तराधिकारी नियत नहीं किया

जाता, तब तक तुम ही फिलिप्पोस के स्थानापन्न क्षत्रप का कार्य करो।

परन्तु यूडीमौस के पास पर्याप्त सेना न थी। दूसरी ओर चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैसे लोकोत्तर शक्ति-सम्पन्न पुरुषों के नेतृत्व में विद्रोहियों की शक्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही थी। इसलिए यूडीमौस को अपने कृत्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। वह नाम-मात्र का निरीक्षक ही रह गया।

उधर सिकन्दर की मृत्यु (३२३ ई० पू०) हो जाने के कारण विस्तृत मैसिडोनियन-साम्राज्य के उत्तराधिकार के लिए झगड़े हो रहे थे। यह कलह मुख्य तौर पर एण्टिगोनस और सैल्यूकस नाम के दो सेनापतियों में जारी था। ३१७ ई० पू० में यूडीमौस बची-खुची यूनानी-सेना के साथ एण्टिगोनस की सहायता के लिए सिन्ध नदी पार कर गया।

इस प्रकार चाणक्य और चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में भारतीय विद्रोह को सफलता प्राप्त हुई। पञ्जाब और सीमाप्रान्त चन्द्रगुप्त के अधिकार में आ गये। इन प्रदेशों के नरपतियों ने स्वाभाविक रूप से अपने को स्वतन्त्र कराने वाले मौर्य चन्द्रगुप्त की अधीनता स्वीकृत की। इसी लिए प्राचीन ग्रीक-लेखक जस्टिन लिखता है—'सिकन्दर के लौटने पर चन्द्रगुप्त ने भारत को स्वतन्त्रता दिलाई। परन्तु कृतकार्य होने के अनन्तर शीघ्र ही स्वतन्त्रता के नाम को दासता में परिवर्तित कर दिया। जिन्हें उसने विदेशियों के जुए से स्वतन्त्र किया था, उन्हें अपने अधीन कर लिया'। चन्द्रगुप्त ने निस्सन्देह विदेशी शासन का विनाश कर उसके स्थान पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। अब महावंश टीका की ओर देखिए—

'सीमाप्रान्त से वे (चाणक्य और चन्द्रगुप्त) पूर्व की ओर बढ़ते गये। नगरों और ग्रामों को अपने अधीन करते हुए वे आक्रमण करते हुए चले गये। एक भारी सेना उनके साथ थी। ठीक समय पर उन्होंने पाटलिपुत्र पर हमला किया। धननन्द को मार कर राज्य प्राप्त कर लिया।'

इस विषय में विशाखदत्त के प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस की सम्मति भी ध्यान देने योग्य है। द्वितीय अङ्क में अमात्य राक्षस और विराधगुप्त की बातचीत इस प्रकार होती है[1]—

राक्षस—सखे ! चन्द्रगुप्त के पाटलिपुत्र में प्रवेश कर चुकने के बाद क्या कुछ हुआ। यह शुरू से सुनने की इच्छा है। हमारी ओर से चन्द्रगुप्त के वध के लिए नियुक्त लोगों ने क्या क्या किया ?

विराधगुप्त—शुरू से ही कहता हूँ। चाणक्य अपनी बुद्धि द्वारा वश में करके शक, यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक, बाह्लीक आदियों की बड़ी भारी सेना ले आया। चन्द्रगुप्त और पर्वतक की इन भारी सेनाओं ने प्रलय के समुद्र की तरह कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) को घेर लिया।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त ने जिन सेनाओं को साथ ले पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया था, उनमें पश्चिमोत्तर भारत में रहनेवाली यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक आदि जातियाँ सम्मिलित थीं। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि पञ्जाब व सीमाप्रान्त के विद्रोह में सफल होकर चंद्रगुप्त ने इन जातियों का नेतृत्व ग्रहण किया, या इनको अपनी कृतकार्य-सफल सेना में स्थान दिया। इस महती सेना को साथ ले चाणक्य और चंद्रगुप्त ने सीमाप्रान्त की ओर से विजय-यात्रा प्रारम्भ की। धन द्वारा

---

१. राक्षसः—सखे ! चन्द्रगुप्तस्यैव तावत् नगरप्रवेशात्प्रभृति तीक्ष्णरसदायिभिः किमनुष्ठितम् इत्यादितः श्रोतुमिच्छामि।

विराधगुप्तः—एष कथयामि। अस्ति तावत् शकयवनकिरातकाम्बोजपारसीकबाह्लीकप्रभृतिभिः चाणक्यमतिपरिगृहीतैः चन्द्रगुप्तपर्वतेश्वरबलैरुदधिभिरिव प्रलयोच्चलितसलिलैः समन्तात् उपरुद्धं कुसुमपुरम्।

मुद्राराक्षस २ य अङ्क

एकत्रित की हुई सेना से पाटलिपुत्र घेर लिया गया। परन्तु मगध के शक्तिशाली राज्य को केवल धन द्वारा एकत्रित सेना से जीत सकना कठिन था। इसलिए चाणक्य ने पश्चिमीय भारत के एक शक्तिशाली राजा पर्वतक को आधा राज्य देने का लालच देकर अपने साथ कर लिया। पर्वतक के साथ अधीनस्थ अनेक अन्य राजा चंद्रगुप्त की सेना में आये। बहुत समय तक पाटलिपुत्र घिरा रहा। अन्त में चंद्रगुप्त की विजय हुई। पुत्रों सहित राजा नन्द की मृत्यु होगई। अब राज्य के दो उम्मीदवार रह गये, चंद्रगुप्त और पर्वतक। क्योंकि नीति-निपुण चाणक्य ने दोनों को आधा आधा राज्य देने की प्रतिज्ञा की थी। किन्तु पुत्रसहित मगधराज नन्द के मारने से ही चाणक्य चंद्रगुप्त व पर्वतक को राजसिंहासन पर न बैठा सका।

राजा नन्द के अनेक मन्त्री थे। इनमें मुख्य का नाम राक्षस था। यह जाति से ब्राह्मण और नीतिशास्त्र का प्रकाण्ड पण्डित था। इस नीतिज्ञ प्रधानमन्त्री ने राजा नन्द के मरने पर उसके भाई सर्वार्थसिद्धि को सिंहासन पर बैठा कर राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। चाणक्य बड़ी मुश्किल में पड़ा। राक्षस युद्ध के लिए तैयार था, अभी पर्याप्त शक्ति उसके पास थी। घोर युद्ध प्रारम्भ हुआ। दोनों दल बहुत देर तक लड़ते रहे। इस बीच में कौटिल्य ने अपनी नीति से काम लिया। अपने अन्तरङ्ग मित्र विष्णुशर्मा को जीवसिद्धि क्षपणक के वेष में राक्षस के पास भेज दिया। इस नामधारी क्षपणक ने राजा सर्वार्थसिद्धि और अमात्य राक्षस के पास रहना शुरू किया और कुछ ही समय में उनका बड़ा विश्वासपात्र होगया। इसी जीवसिद्धि के बहकाने से राजा सर्वार्थसिद्धि वैरागी बन कर वन में चला गया।

इस समाचार से अमात्य राक्षस बहुत खिन्न हुआ। चन्दनदास नामी एक बड़े धनी जौहरी के घर में अपने कुटुम्ब को छोड़ कर और शकटदास कायस्थ तथा अनेक नीतिज्ञ विश्वासपात्र

मित्रों को अनेक आवश्यक काम सौंप कर राजा सर्वार्थसिद्धि को फेर लाने के लिए राक्षस तपोवन की ओर चला गया।

यह सुन कर चाणक्य ने राक्षस के पहुँचने से पहले ही अपने मनुष्यों द्वारा सर्वार्थसिद्धि को मरवा डाला। यद्यपि सर्वार्थसिद्धि को मार डालने से चाणक्य की नन्दकुल के नाश की प्रतिज्ञा पूरी हो गई, तथापि उसने सोचा कि राक्षस जब तक चन्द्रगुप्त का मन्त्री न होगा, तब तक राज्य स्थिर न होगा। वरंच बड़े विनय से राक्षस के पास मन्त्रित्व स्वीकार करने का संदेशा भेजा। राक्षस नन्द राजाओं का भक्त था, वह अपने आक्रान्तों का मन्त्रित्व कैसे स्वीकार कर सकता था?

तपोवन में कई दिन रह कर राक्षस ने सोचा कि जब तक चन्द्रगुप्त और पर्वतक में भेद नहीं डाला जायगा, तब तक काम न चलेगा। क्योंकि पर्वतक के नेतृत्व में ही पश्चिमीय प्रदेशों की सेना एकत्रित कर चाणक्य ने नन्दवंश का नाश किया था। पर्वतक को आधा राज्य देने की प्रतिज्ञा चाणक्य ने की थी। राक्षस ने उससे कहा—हम सम्पूर्ण राज्य देंगे। पर्वतक राक्षस की ओर हो गया।

जीवसिद्धि के द्वारा राक्षस की चालों का सब हाल जान कर चाणक्य ने अत्यन्त सावधानी से चलना शुरू किया। अनेक भाषा जाननेवाले बहुत से धूर्त पुरुषों को वेष बदल बदल कर भेद लेने के लिए चारों ओर नियुक्त कर दिया। चन्द्रगुप्त को राक्षस का कोई गुप्तचर धोखे से किसी प्रकार की हानि न पहुँचा सके, इसका भी पक्का प्रबन्ध कर लिया। पर्वतक ने राक्षस का पक्ष ले लिया था, अतः चाणक्य उसके वध का प्रयत्न कर रहा था। उसे एक सुवर्णावसर मिल गया। विश्वासघात करने के कारण उसका वध करना कौटिल्य के लिए सरल होगया। राक्षस ने चन्द्रगुप्त को मारने के लिए एक विषकन्या भेजी और अपना विश्वासपात्र समझ कर जीवसिद्धि को उसके साथ कर दिया। पर जीवसिद्धि तो चाणक्य का ही आदमी था। वह सब

भेद जान गया। साँझ होने के पीछे चाणक्य ने इस कन्या को पर्वतक के पास भेज दिया। इन्द्रिय-लोलुप पर्वतक उसी रात को उस कन्या के संग से मर गया[1]।

पर्वतक के पुत्र का नाम था मलयकेतु। इस कुमार को राक्षस ने अपनी ओर मिला लिया, और उसे सम्पूर्ण राज्य देने की प्रतिज्ञा की। परन्तु चाणक्य वड़ा चाणाक्ष था, उसने नीति से काम लिया। अपने विश्वासपात्र साथी भागुरायण को मलयकेतु के साथ कर दिया। यह भागुरायण मलयकेतु और राक्षस की सन्धि के जड़ में घुन की तरह लग गया।

अब चाणक्य और राक्षस में परस्पर नीतियुद्ध प्रारम्भ होता है। राक्षस का उद्देश्य था कि चन्द्रगुप्त का विनाश कर मलयकेतु को राजगद्दी पर बिठाया जाय। चाणक्य चाहता था कि चन्द्रगुप्त भारत का सम्राट् बने और राक्षस उसका मन्त्रित्व स्वीकार कर ले। यह दो नीतिपण्डितों का युद्ध था। कवि विशाखदत्त ने इस नीतियुद्ध का विस्तृत वर्णन अपने प्रसिद्ध नाटक 'मुद्राराक्षस' में किया है। मुद्राराक्षस नाटक पढ़ने और अनुशीलन करने योग्य है। इसके अनुसार इस नीति-युद्ध का संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है—

आचार्य चाणक्य ने नन्दवंश का विनाश कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली, पर विना अमात्य राक्षस को अपने वश में किये मौर्य चन्द्रगुप्त की स्थिति सुरक्षित न थी। क्योंकि राक्षस चन्द्रगुप्त का विनाश करने के लिए सतत उद्योग कर रहा था। पर्वतक के पुत्र मलयकेतु को अपने साथ मिला उसने बड़ी भारी

---

१. यह वृत्तान्त हमने हिन्दी-मुद्राराक्षस की पूर्वकथा से लिया है। मुद्राराक्षस का हिन्दी-अनुवाद भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया है। इसकी पूर्वकथा बहुत योग्यता और खोज के साथ लिखी गई है। हमने इन दो एक पृष्ठों का विषय ही हिन्दी-मुद्राराक्षस से नहीं लिया, अपि तु भाषा भी लगभग वहीं से ली है।

सेना एकत्रित कर ली थी और इस विशाल सेना की सहायता से पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने की तैयारियाँ कर रहा था। यह देखकर आचार्य चाणक्य बहुत चिन्तित हुए। और राक्षस को वश में करने के लिए नीतिजाल बिछाना शुरू कर दिया। चारों दिशाओं में विविध वेशधारी सैकड़ों गुप्तचर भेद लेने के लिए भेज दिये और नन्द के मन्त्रियों के परिवार तथा मित्रों की टोह लेने के लिए आदमी नियत कर दिये। जीवसिद्धि और भागुरायण तो क्रमशः राक्षस और मलयकेतु के विश्वासपात्र मित्र और सलाहकार पहले ही वन चुके थे। अव भद्रभट आदि विश्वस्त व्यक्तियों से चन्द्रगुप्त को सुरक्षित कर चाणक्य राक्षस को अपनी मुट्ठी में करने का उपाय सोचने लगा।

चाणक्य ने निपुणक नामी एक गुप्तचर को जनता का दिल परखने और अमात्य राक्षस के पक्षपातियों का पता लगाने के लिए भेजा था। यह चर, यमराज के चित्रपट को फैलाकर साधु के भेष में घूमता था और लोगों का भेद लेता था। पाटलिपुत्र में इसने तीन महत्त्वपूर्ण रहस्यों का पता लगाया। राक्षस अपना परिवार चन्दनदास श्रेष्ठी के यहाँ छोड़ गया है, और शकटदास कायस्थ तथा जीवसिद्धि क्षपणक राक्षस के पक्षपाती व चन्द्रगुप्त के विरोधी हैं। चन्दनदास के घर में यमपट को फैलाकर भीख माँगते हुए उसे राक्षस-पत्नी की अँगुली से गिरी हुई 'राक्षस' नाम से अङ्कित एक मुद्रा भी मिली। इस मुद्रा और परिज्ञात रहस्यों को उसने चाणक्य के सुपुर्द कर दिया। राक्षस की मुद्रा का चाणक्य के हाथ में पड़ जाना बहुत ही महत्त्व की बात थी। इसी के द्वारा वह नीतियुद्ध में राक्षस को पराजित कर सका।

चाणक्य ने एक ऐसे जालीपत्र का लेखा तैयार किया, जिसका कोई सरनामा आदि न था। अपने भेदिये सिद्धार्थक से इसकी प्रतिलिपि शकटदास के हाथ से कराई और इस पत्र को 'राक्षस' की मुद्रा से मुद्रित कर सिद्धार्थक के सुपुर्द कर दिया। सिद्धार्थक को सब बात समझा कर मलयकेतु के शिविर में

रवाना कर दिया गया और सिद्धार्थक को राक्षस का विश्वास-पात्र बनाने के लिए एक विचित्र चाल चली गई। शकटदास कायस्थ को फाँसी का हुकुम दे दिया गया और चाणक्य ने सिद्धार्थक से कह दिया कि 'जब चाण्डाल लोग शकटदास को शूली पर चढ़ाने के लिए ले जाते हों, तो दाँई आँख दबाकर इशारा कर देना। चाण्डाल लोग अलग हट जावेंगे। इस बीच में शकटदास को साथ लेकर राक्षस के पास चले जाना। मित्र के प्राण बचाने के कारण राक्षस तुम से बहुत ख़ुश होगा और तुम पर पूर्ण विश्वास करने लगेगा। यदि वह प्रसन्न होकर तुम्हें कोई उपहार आदि दे तो ले लेना।' सब बात समझ बूझ-कर सिद्धार्थक कार्यसिद्धि के लिए रवाना हो गया।

चाणक्य ने सोचा कि यदि चन्दनदास वश में आजाय और प्रलोभन में आकर अमात्य राक्षस का परिवार मेरे सुपुर्द कर दे तो अपने परिवार की रक्षा और अपने मित्र के बचाव के लिए राक्षस निश्चय से आत्म-समर्पण कर देगा। यह सोच कर चाणक्य ने चन्दनदास को बुलाया। उसे अनेक तरह के प्रलोभन दिये गये, डर दिखलाये गये, राज्यद्रोह का भयङ्कर परिणाम याद कराया गया, पर चन्दनदास बहुत दृढ़ व्यक्ति था। वह टस से मस न हुआ। वह भावी आपत्ति की आशङ्का से राक्षस के परिवार को पहले ही अन्यत्र भेज चुका था। परन्तु उसके वर्तमान पते का पता देने से भी उसने सर्वथा इन्कार कर दिया। राजद्रोह का अपराध लगाकर उसे परिवार-सहित क़ैद का दण्ड दिया गया।

चन्दनदास को क़ैद कर चाणक्य ने एक चाल और चली। चन्द्रगुप्त पर्वतक का संस्कार करना चाहता था, इसके लिए उसने चाणक्य से अनुमति माँगी। चाणक्य ने अनुमति देते हुए कह दिया कि 'दक्षिणा देते हुए पर्वतक के आभूषणों को गुणी ब्राह्मणों को दान देना, और इन गुणी ब्राह्मणों को मैं स्वयं भेजूँगा।' इस प्रकार विश्वावसु आदि तीन ब्राह्मणों को दक्षिणा लेने के लिए भेजकर पर्वतक के आभूषण चाणक्य ने प्राप्त कर

लिये। नीतिकुशल चाणक्य ने इनका प्रयोग किस प्रकार किया, यह हम पीछे देखेंगे।

यहाँ एक बात का और ख़याल रखना चाहिए। आचार्य चाणक्य केवल जीवसिद्धि, भागुरायण और सिद्धार्थक को ही शत्रुपक्ष में भेजकर सन्तुष्ट न हुआ। उसने भद्रभट, पुरुषदत्त, हिङ्गुरात, बलगुप्त, राजसेन आदि अनेक नीतिज्ञों और कुशल योद्धाओं को मलयकेतु की सेना में सम्मिलित करा दिया। भागुरायण की सहायता से इनको सेना में आवश्यक पद मिल गये।

उधर अमात्य राक्षस भी चुपचाप न बैठा था। बड़े धैर्य और बुद्धिकौशल से वह अपना नीति-जाल बिछा रहा था। उसने भी चाणक्य की नीति का पता लगाने, चन्द्रगुप्त का घात करने और पाटलिपुत्र निवासियों को चन्द्रगुप्त के विरुद्ध भड़काने के लिए अनेक निपुण और योग्य व्यक्ति नियत किये थे। ये लोग नानाविध भेषों में विविध प्रकार से अपना कार्य कर रहे थे। इसके सिवाय पाटलिपुत्र पर चढ़ाई करने के लिए ज़ोर शोर के साथ तैयारियाँ हो रही थीं। अनेक पार्वतीय राजाओं को अपने साथ मिलाकर राक्षस अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ा रहा था। मलयकेतु को उन पर पूर्ण विश्वास था।

जो कुछ भी सम्भव था, अमात्य राक्षस ने वह सब कुछ किया। पर भाग्य उसके प्रतिकूल था। चन्द्रगुप्त को मारने के लिए उसने बीसियों यत्न किये, पर सब निष्फल हुए। पहले विषकन्या भेजी गई, पर उससे पर्वतक मारा गया। पर्वतक के बाद चाणक्य ने उसके भाई वैरोचक को केवल दिखावटी तौर पर आधा राज्य देने की प्रतिज्ञा की। शुभ मुहूर्त में नगरप्रवेश की ठहरी। इसी समय चन्द्रगुप्त और वैरोचक में आधा आधा राज्य बाँटा जाना था। राक्षस के गुप्तचर अपने कार्य में व्यग्र थे, उन्होंने इनके स्वागत के लिए तोरण की रचना इस प्रकार से की कि जब चन्द्रगुप्त नीचे से गुज़रे तो तोरण को गिरा दिया जावे और इस प्रकार

चन्द्रगुप्त का घात किया जा सके। राक्षस के चरों की चाल को चाणक्य समझ गया और चन्द्रगुप्त को जुलूस में आगे न रख वैरोचक को सबसे आगे कर दिया। तोरण की कल को लेकर राक्षस का गुप्तचर दारुवर्मा पहले से ही तैयार था। उसके पास ही एक वर्वरक गुप्तछुरिका लेकर तैयार खड़ा था कि यदि कहीं तोरण के गिरने से चन्द्रगुप्त का घात न हो सके तो एक-दम आक्रमण कर उसे मार दिया जावे। पर दोनों चालें निष्फल हुईं। दारुवर्मा लक्ष्य चूक गया। तोरण से विचारा वर्वरक मारा गया। निशाने को व्यर्थ गया देख दारुवर्मा ने लोहे की कील को ज़ोर से फेंका। पर उसे वैरोचक में चन्द्रगुप्त का भ्रम हो रहा था। निशाना ठीक उतरा और दारुवर्मा के प्रहार से वैरोचक मारा गया।

चन्द्रगुप्त के घात के लिए राक्षस ने अन्य भी बहुत यत्न किये। अपने विश्वासपात्र एक वैद्य को चन्द्रगुप्त की सेवा में नियत करवा दिया। इस वैद्य ने विष द्वारा चन्द्रगुप्त को मारना चाहा। पर चाणक्य ताड़ गया। विषमय औषध से चन्द्रगुप्त की रक्षा कर उसने वैद्य का ही उसके द्वारा घात कर दिया।

इस पर भी राक्षस ने प्रयत्न न छोड़ा। उसने अपना नीति-जाल इतना विस्तृत किया कि उसके अनेक गुप्तचरों ने राज-प्रासाद के नीचे सुरङ्गें लगा लीं और उन्हें बारूद से इसलिए भरना शुरू किया ताकि मौक़ा पाकर आग लगा दी जावे; जिससे महल उड़कर चन्द्रगुप्त का नाश हो जावे। पर चाणक्य बहुत सचेष्ट था। राजप्रासाद में चावल ले जाती हुई कीड़ियों को देखकर उसने इस भयङ्कर षड्यन्त्र का पता लगा लिया और सब षड्यन्त्रकारियों को नष्ट कर दिया। अमात्य राक्षस के गुप्त-चर चन्द्रगुप्त के शयनागार तक में नियुक्त थे। चन्द्रगुप्त के अन्दरूनी सेवकों तक में अमात्य राक्षस के प्रणिधि शामिल थे। पर इनकी भी सब चेष्टायें विफल हुईं। आचार्य चाणक्य के सजग रहने और राक्षस के दुर्भाग्य से गुप्तचरों की एक न चली।

सब प्रयत्नों के विफल होने पर भी अमात्य राक्षस ने हिम्मत न छोड़ी। अब उसने चन्द्रगुप्त और चाणक्य में परस्पर विरोध उत्पन्न करने की ठानी। अनेक गुप्तचर इस काम के लिए नियत किये। ये लोग जब मौक़ा देखते, अपना काम करते। यदि कभी चन्द्रगुप्त और चाणक्य में किसी बात पर मतभेद या मनमुटाव पाते तो आग में घी डालने का काम करते। एक बार चाणक्य और चन्द्रगुप्त में 'कौमुदी-महोत्सव' मनाने के विषय में मतभेद था। चाणक्य चाहता था, यह उत्सव न मनाया जाय और चन्द्रगुप्त ने उत्सव मनाने की आज्ञा प्रचलित कर दी थी। इस बात पर दोनों में कलह होगया। राक्षस के चर तो मौक़ा ताक ही रहे थे। झट स्तनकलश नाम का एक चर गायक के रूप में पहुँच गया और इस सुलगती हुई कलहाग्नि में आहुति डालनी शुरू कर दी। पर बिचारा स्तनकलश क्या जानता था! यह भी तो चाणक्य की चाल थी। यह कलह नक़ली थी, असली नहीं। चाणक्य बहुत गहरी छुरी चला रहा था। वह नक़ली तौर पर चन्द्रगुप्त से कलह कर मलयकेतु और राक्षस की सन्धि पर कुठाराघात कर रहा था। यह कैसे, इसका भेद अभी खुल जायगा।

राक्षस का प्रयत्न तो यह था कि चन्द्रगुप्त और चाणक्य में विरोध हो जाय, पर भागुरायण राक्षस के नीति-वृक्ष में घुन की तरह लगा हुआ था। उसने राक्षस की चालों के विषय में मलयकेतु को बहकाना शुरू किया। उसने कहा—'चन्द्रगुप्त और चाणक्य में विरोध उत्पन्न करने का उद्देश्य यह है कि चन्द्रगुप्त चाणक्य को मन्त्रिपद से हटा कर राक्षस को मन्त्री बना ले। राक्षस का विरोध चन्द्रगुप्त से नहीं, अपितु चाणक्य से है। वह यही चाहता है कि चाणक्य को नीचा दिखा सके।' परन्तु यह सब करते हुए भागुरायण ने बहुत बुद्धिमत्ता से काम लिया। वह धीरे धीरे मलयकेतु के कान में मन्त्र फूँकने लगा। जब देखा भूमि तैयार है, बीज डालने का समय आगया है, तब अवसर पाकर जीवसिद्धि क्षपणक से मलयकेतु के सम्मुख यह

कहलवा दिया कि पर्वतक का घात राक्षस ने कराया है, चाणक्य ने नहीं। क्षपणक ने यह भी कहा कि यह घात राक्षस ने मेरे द्वारा ही कराया था। फिर क्या था—मलयकेतु भड़क गया। पर नीतिनिपुण भागुरायण ने उसे सँभाला। वह समझता था कि मलयकेतु को राक्षस के विरुद्ध कर देने से ही काम न बनेगा। उसे तो राक्षस द्वारा एकत्रित भारी सेना के विनाश की फ़िक्र थी। वह यह भी समझता था कि चाणाक्ष राक्षस अभी मामले को सँभाल सकता है। इसलिए उसने धैर्य से काम किया, जल्दबाज़ी नहीं की।

अब वह समय आया, जब कि चाणक्य की 'नीतिलता' ने अपने फल दिखलाये। आक्रमण के लिए राक्षस-द्वारा एकत्रित भारी सेना उत्तर से दक्षिण की तरफ़ प्रस्थान कर रही थी। पाटलिपुत्र समीप आगया था। इसलिए बिना आज्ञापत्र लिये किसी का शिविर से बाहर आना-जाना सर्वथा निषिद्ध था। आज्ञापत्र देने का काम भागुरायण के सुपुर्द था। वह और मलयकेतु साथ में बैठे थे। भागुरायण अपना नीतिबाण चला रहा था। वह राक्षस के विरुद्ध मलयकेतु को निरन्तर भड़का रहा था। इतने में एक मनुष्य आया।

"मनुष्य—कुमार की जय हो। कुमार के कटकद्वार के रक्षाधिकारी दीर्घचक्षु ने निवेदन किया है कि "मुद्रा लिये बिना एक पुरुष कुछ पत्र सहित पकड़ा गया है सो उसको एक बार आप देख लें।"

भागुरायण—अच्छा, उसको ले आओ।

मनुष्य—जो आज्ञा।

(जाता है और हाथ बाँधे हुए सिद्धार्थक को लेकर आता है)

सिद्धार्थक—(आप ही आप)

गुन पै रिझवत दोस सों, दूर बचावत जौन।
स्वामि-भक्ति जननी सरिस, प्रनमत नित हम तौन॥

पुरुष—(हाथ जोड़कर) कुमार ! यही मनुष्य है।

भागुरायण—(अच्छी तरह देखकर) यह क्या बाहर का मनुष्य है या कहीं किसी का नौकर है ?

सिद्धार्थक—मैं अमात्य राक्षस का पासवर्ती सेवक हूँ।

भागुरायण—तो तुम क्यों मुद्रा लिये विना कटक के बाहर जाते थे ?

सिद्धार्थक—आर्य ! काम की जल्दी से।

भागुरायण—ऐसा कौन काम है जिसके आगे राजाज्ञा का भी कुछ मोल नहीं गिना ?

सिद्धार्थक—(भागुरायण के हाथ में लेख देता है)

भागुरायण—(लेख देखकर) कुमार ! इस लेख पर अमात्य राक्षस की मुहर है।

मलयकेतु—ऐसी तरह खोल कर दो कि मुहर न टूटे।

भागुरायण—(पत्र खोल कर मलयकेतु को देता है)

मलयकेतु—(पढ़ता है) 'स्वस्ति ! यथास्थान में कहीं से कोई किसी पुरुष-विशेष को कहता है। हमारे विपक्ष को निराकरण करके सच्चे मनुष्य ने सचाई दिखलाई। अब हमारे पहले से रखे हुए हमारे हितकारी चरों को भी जो जो देने को कहा था वह देकर प्रसन्न करना। यह लोग प्रसन्न होंगे तो अपना आश्रय छूट जाने पर सब भाँति अपने उपकारी की सेवा करेंगे। सच्चे लोग कभी नहीं भूलते तो भी हम स्मरण कराते हैं। इनमें से कोई तो शत्रु का कोष और हाथी चाहते हैं और कोई राज चाहते हैं। हमको सत्यवादी ने जो अलङ्कार भेजे सो मिले। हमने भी लेख अशून्य करने को जो कुछ भेजा है सो लेना। और ज़बानी हमारे अत्यन्त प्रामाणिक सिद्धार्थक से सुन लेना।'

यह वही लेख था जिसको चाणक्य ने शकटदास से धोखा देकर लिखवाया था और अपने हाथ से उस पर राक्षस की मुहर कर सिद्धार्थक को "कार्यसिद्धि" के लिए दिया था।

सिद्धार्थक को "कार्यसिद्धि" करने का मौक़ा मिल गया। नक़ली तौर पर बात छिपाने और अपने को बचाने की बहुत कोशिश की। पर अपराधी और न्यायाधीश दोनों ही चाणक्य के आदमी थे। सिद्धार्थक को पीटा गया। धीरे धीरे उसने सारा 'रहस्य' खोल दिया।

"सिद्धार्थक ने कहा—कुमार! मुझको अमात्य राक्षस ने यह पत्र देकर चन्द्रगुप्त के पास भेजा था।

मलयकेतु—ज़बानी क्या कहने को कहा था वह कहो।

सिद्धार्थक—कुमार! मुझको अमात्य राक्षस ने यह कहने को कहा था कि मेरे मित्र कुलूत-देश के राजा चित्रवर्मा, मलयाधिपति सिंहनाद, काश्मीरेश्वर पुष्कराक्ष, सिन्धु के महाराज सिन्धुसेन और पारसीक पालक मेघाक्ष इन पाँच राजाओं से आपसे पूर्व में सन्धि हो चुकी है। इसमें पहले तीन तो मलयकेतु का राज चाहते हैं और बाक़ी दो ख़ज़ाना और हाथी चाहते हैं। जिस तरह महाराज ने चाणक्य को उखाड़ कर मुझको प्रसन्न किया उसी तरह इनको भी प्रसन्न करना चाहिए। यही राज-सन्देश है।"

बस सिद्धार्थक ने 'कार्यसिद्धि' कर दी। मलयकेतु और राक्षस में फूट पड़ गई। मलयकेतु की सेना के आधार-स्तम्भ चित्रवर्मा आदि पाँचों नृपति मरवा दिये गये। भागुरायण के प्रभाव से मलयकेतु ने ही अपने सेनापति से इनका घात करवा दिया।

यह होना था कि राक्षस की कमर टूट गई। उसने बहुत यत्न किया। अवस्था को सँभालने की बहुत कोशिश की। पर अब क्या हो सकता था। सब प्रयत्न विफल हुआ। निराश होकर वह अपने मित्र चन्दनदास की सुध लेने के लिए पाटलिपुत्र की ओर वेष बदलकर चल पड़ा। पर चाणक्य के गुप्तचरों ने यहाँ भी उसका पीछा न छोड़ा। वे छाया की तरह उसके साथ साथ फिर रहे थे। उन्होंने पहले ही राक्षस को ख़बर दे दी कि चन्दन-दास को आज फाँसी मिलनेवाली है। निराश राक्षस अपने

मित्र की दुरवस्था का समाचार न सुन सका। उसे चन्दनदास के उपकारों का ख़्याल आया। जो महापुरुष अपने मित्र के लिए अपने प्राणों तक को न्यौछावर करने को तैयार था, क्या राक्षस उसकी रक्षा के लिए कुछ कसर बाक़ी रखेगा? कभी नहीं। अमात्य राक्षस तीर की तरह तेज़ी के साथ गया और आत्म-समर्पण कर अपने मित्र की रक्षा की। अब क्या था, चाणक्य महाराज ने दर्शन दिये। दो नीति-योद्धाओं का मेल होगया। अमात्य राक्षस ने सम्राट् चन्द्रगुप्त का मन्त्रिपद स्वीकृत किया और चन्द्रगुप्त का मार्ग सर्वथा कण्टकहीन हो गया।

मगध का विस्तृत राज्य अब चन्द्रगुप्त के हाथ में आ गया। मगध का राज्य बहुत ही शक्तिशाली था। इसके विषय में यूनानी लेखकों के निम्नलिखित उद्धरण ध्यान देने योग्य हैं—"जब सिकन्दर ने भारत की आन्तरिक अवस्था के विषय में पूछा, तब उसे बताया गया कि सिन्ध नदी से परे १२ दिन में पार करने योग्य (कर्टियस के मतानुसार ११ दिन) एक मरुस्थल है। इस मरुस्थल की परली हद पर गङ्गा नदी बहती है। उसे बताया गया कि इस नदी के परली ओर प्रेसिआई (Prasii) और गंगेरडी (Gangaridie) लोग रहते हैं। उनके राजा का नाम क्सेण्ड्रमस (नन्द) है, जो कि मैदान में २० हज़ार घोड़े, २ लाख पदाति, २ हज़ार रथ और चार हज़ार हाथी ला सकता है। पहले सिकन्दर ने इस बात पर विश्वास नहीं किया। उसने राजा पोरस से पूछा......।"

निस्सन्देह पाटलिपुत्र की विजय के बाद इस महती सेना ने चन्द्रगुप्त की अधीनता स्वीकृत की। चन्द्रगुप्त स्वयं भी बड़ी भारी सेना विजय के लिए लाया था। प्लूटार्क कहता है—"६ लाख सेना के साथ चन्द्रगुप्त ने भारत पर आक्रमण शुरू किया, और सम्पूर्ण को जीत लिया।" प्लूटार्क की इस संख्या पर साधारणतया विश्वास नहीं होता, पर इतना निश्चित समझना चाहिए कि चन्द्रगुप्त ने बहुत बड़ी सेना के साथ पाटलिपुत्र पर

आक्रमण किया था। इस सेना में कौन कौन से राजा सम्मिलित थे, इसका हमें ज्ञान है। अनेक विद्वानों ने 'मुद्राराक्षस' में दिये इन नामों को यूनानी लेखकों द्वारा दिये राजाओं के नामों से मिलाने का प्रयत्न किया है। 'कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इण्डिया' में श्रीयुत थामस लिखते हैं—

'पोरस की सहायता के विना इस आक्रमण का सफल हो सकना सम्भव नहीं था। इसलिए हमारे सम्मुख दो मार्ग हैं। या तो पोरस ने आक्रमण में भाग लिया और यही नाटक के चन्द्रगुप्त का मित्र पर्वतक है।......या यह कोई पोरस का उत्तराधिकारी है।

एक विद्वान् ने पारसीकाधिराज मेघाक्ष को मैगस्थनीज़ से मिलाया है। एक का कहना है कि विशाखदत्त ने ग़लती से शैलाक्ष को मेघाक्ष लिख दिया है और यह शैलाक्ष सैल्यूकस ही है, अन्य कोई नहीं। अभिप्राय यह है कि इन नामों को यूनानी लेखकों के द्वारा लिखित नामों से मिलाने का वहुत अधिक प्रयत्न हुआ है। परन्तु कोई समुचित परिणाम नहीं निकल सका। हम इस बात पर विशेष ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं समझते। गुप्त सम्राटों के समय कई शताब्दियों पीछे विशाखदत्त ने यदि नामों को कुछ अशुद्ध लिख दिया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

पाटलिपुत्र के हस्तगत हो जाने पर और अमात्य राक्षस के अपने पक्ष में हो जाने पर चन्द्रगुप्त की शक्ति वहुत बढ़ गई। वह मगध का निर्विवाद सम्राट् वन गया। मौर्य चन्द्रगुप्त भारत का पहला ऐतिहासिक सम्राट् था। भारत के अनेक राष्ट्रों को अपने वश में कर उसने एक साम्राज्य की स्थापना की। गणराज्यों को अपने अधीन कर तथा अन्य अनेक स्वतन्त्र प्रदेशों को अपने वश में कर उसने साम्राज्य का निर्माण किया। यह महान् कार्य वड़ी भारी सेना की सहायता से ही हो सकता था। चन्द्रगुप्त ने सेना की उन्नति और वृद्धि के लिए वहुत प्रयत्न किया।

मैगस्थनीज़ के अनुसार चन्द्रगुप्त की सेना में ६ लाख पदाति, ३० हज़ार घुड़सवार, ६,००० हाथी और कम से कम ४,००० रथ थे। सेना की इस वृद्धि के सिवाय चन्द्रगुप्त ने सैनिक प्रबन्ध को उत्तम करने के लिए दो नये विभागों का प्रारम्भ किया, पहला जल-सेना-विभाग और दूसरा कमसरियेट का महकमा। इस शक्ति-शाली सेना की सहायता से चन्द्रगुप्त ने सम्पूर्ण उत्तरीय भारत में और नर्मदा नदी के दक्षिण की ओर भी अपना साम्राज्य विस्तृत किया। इस राज्य-विस्तार का वृत्तान्त अज्ञात है। तथापि अगले अध्याय में हम इस विषय पर भी कुछ लिखने का यत्न करेंगे।

छठा अध्याय

सम्राट् चन्द्रगुप्त का शासन

और

सैल्यूकस का आक्रमण

विजेता चन्द्रगुप्त ने मगध का विस्तृत राज्य प्राप्त करके ही अपने विजयों का अन्त नहीं कर दिया। अपनी विश्व-विजयिनी सेनाओं की सहायता से उसने सम्पूर्ण उत्तरीय भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की। तीसरे अध्याय में हम साम्राज्य के विकास का इतिहास देख चुके हैं। महापद्मनन्द, चन्द्रगुप्त से पहले ही गङ्गा से लेकर वङ्गाल तक अपना राज्य स्थापित कर चुका था। कोशल, अवन्ति, वत्स, काशी और अङ्ग के राज्य चन्द्रगुप्त से पूर्व ही मगध के साम्राज्य में शामिल थे। लिच्छवि, शाक्य आदि जनतन्त्र राज्यों पर भी मगध का अधिकार था। परन्तु गङ्गा से पश्चिम का प्रदेश अभी मगधसाम्राज्य के बाहर था। चन्द्रगुप्त का राज्य प्राप्त करने के पश्चात् प्रथम कार्य यह था कि इस प्रदेश को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करे। परन्तु सिकन्दर के आक्रमण ने उसका कार्य सरल कर दिया था। सिकन्दर के आक्रमण के कारण, इस प्रदेश में जो उथल पुथल मच गई थी, जो अस्थिरता की अवस्था प्रादुर्भूत हो गई थी, उसी का उपयोग कर—जैसा कि हम पाँचवें अध्याय में देख चुके हैं—चन्द्रगुप्त ने अपनी शक्ति को बढ़ाया। वह 'विद्रोही भारत' का नेता बना और सिकन्दर का आधिपत्य नष्ट कर स्वयं सम्राट् बन गया। क्योंकि चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में गङ्गा के परवर्ती राज्यों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की थी, अतः ये मगध के आक्रमण में

उसके साथ सम्मिलित हुए। सम्भवतः उस समय उन्हें यह विचार न था कि एक दिन यह 'विद्रोहियों का नेता' सम्पूर्ण भारत का सम्राट् बन जायगा। वे मगध को जीतने के लिए आये, मगध को जीता भी, परन्तु चन्द्रगुप्त के सम्राट् बनते ही उनका अपना राज्य भी जीत लिया गया। विशाखदत्तकृत मुद्राराक्षस नाटक के अनुसार—जिसको वी० ए० स्मिथ अत्यन्त प्रामाणिक आधारों पर स्थित बतलाता है—ये पश्चिमी भारत के राजा अमात्य राक्षस के नीति-जाल में फँस गये। चन्द्रगुप्त का साथ छोड़कर उसके विरोध में होगये। परन्तु चाणक्य की कुटिलनीति से भ्रम में पड़कर मलयकेतु ने इन सब राजाओं का घात करा दिया। अमात्य राक्षस के अनुरोध से चाणक्य ने मलयकेतु को अभय-दान दिया और उसे अपने राज्य में लौट जाने दिया।

मूर्खता से मलयकेतु ने जिन राजाओं को मरवा दिया था, उनके नाम निम्नलिखित हैं—कुलूताधिपति चित्रवर्मा, मलय जनपद का अधिपति सिंहनाद, काश्मीर देशाधिप पुष्कराक्ष, सिन्धुराज सिन्धुसेन, पारसीकाधिपति मेघाक्ष। निस्सन्देह ये सभी पश्चिमी भारत के राजा हैं। इनके घात के पश्चात् सम्भवतः इनके राज्य चन्द्रगुप्त के हाथ में आये। यद्यपि मलयकेतु इस समय तो अपने देश में लौट गया, परन्तु शीघ्र ही उसका राज्य भी चन्द्रगुप्त ने अपने हाथ में कर लिया।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त जब अपने भारतीय साम्राज्य को दृढ़ कर रहा था, उसी समय उसका प्रधान विरोधी सैल्यूकस निकेटर पश्चिमीय व मध्य-एशिया में अपनी शक्ति को स्थापित कर रहा था। सैल्यूकस का आक्रमण चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन की मुख्य घटना है। इसको ठीक प्रकार से समझने के लिए हम ज़रा पहले से इतिहास को शुरू करते हैं।

सिकन्दर की मृत्यु ३२३ ई० पू० में बेबीलोन नगर में हुई। इस विश्वविजेता की मृत्यु के पश्चात् शीघ्र ही विस्तृत मैसिडो-

नियन साम्राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में झगड़े प्रारम्भ हो गये। इन झगड़ों का वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। इतना लिखना पर्याप्त है कि मैसिडोनियन साम्राज्य के एशियाई प्रदेश को प्राप्त करने के लिए दो उम्मीदवारों में परस्पर युद्ध प्रारम्भ हुआ। इनके नाम हैं सैल्यूकस और एण्टिगोनस। ये दोनों ही सिकन्दर के प्रतिष्ठित सेनापति थे। दोनों सेनापतियों में निरन्तर युद्ध जारी रहा है। कभी सैल्यूकस की विजय हुई, कभी एण्टिगोनस की। ६ साल तक यह युद्ध इसी तरह जारी रहा। प्रारम्भ में विजयश्री ने एण्टिगोनस का साथ दिया। उसने सैल्यूकस को पराजित कर भगा दिया। परन्तु ३१२ ई० पू० में सैल्यूकस ने बैबीलोन जीत लिया। अब से युद्ध की गति बदल गई। सैल्यूकस ने निरन्तर विजय प्राप्त किये और राजा की पदवी धारण की। आगे कुछ वर्षों तक एण्टिगोनस के साथ कतिपय युद्ध और हुए, जिनमें उसे पराजित होकर ईजिप्ट भागना पड़ा। अब सैल्यूकस मैसिडोनियन-साम्राज्य के एशियाई भाग का निर्द्वन्द्व राजा बन गया। ३०६ ई० पू० में सैल्यूकस का राज्याभिषेक बड़े समारोह और शान के साथ किया गया। अब से ही उसने अपने आपको 'निकेटर' या 'विजेता' की पदवी से उद्घोषित किया। यद्यपि इतिहास में सैल्यूकस को प्रायः 'सीरिया का राजा' कहा जाता है, पर वस्तुतः वह सम्पूर्ण पश्चिमीय और मध्य-एशिया का सम्राट् था। उसके साम्राज्य की पूर्वीय सीमा भारतवर्ष के साथ आ लगी थी। ३०५ ई० पू० में सैल्यूकस के दिल में यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि मैं पञ्जाब तथा सिन्ध में फिर से यूनानी राज्य क्यों न स्थापित करूँ? इसी इच्छा से उसने ससैन्य सिन्ध नदी को पार किया। उसका मुक़ाबला करने के लिए विजेता चन्द्रगुप्त की सेनायें अच्छी तरह सन्नद्ध थीं। चन्द्रगुप्त के साथ भारी युद्ध हुआ। यह निश्चित कर सकना बहुत कठिन है कि सैल्यूकस की सेनायें भारत में कहाँ तक बढ़ आई थीं।

(ग) इस सन्धि को स्थिर करने के लिए दोनों सम्राटों में वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किया गया, जिसके अनुसार, सम्भवतः, सैल्यूकस ने अपनी लड़की का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया।

चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि होते ही सैल्यूकस ऐण्टिगोनोस का मुक़ाबला करने के लिए चल पड़ा। एण्टिगोनोस अब फिर सैल्यूकस को पराजित करने के लिए घोर प्रयत्न कर रहा था। अब की वार सैल्यूकस ने उसके साथ अन्तिम युद्ध किया। एण्टिगोनोस न केवल पराजित हुआ, अपि तु ३०१ ई० पू० के लगभग फ्रीगिया में मारा भी गया।

हैं। ये यूनानी लेखक स्ट्रैबो, एरियन, प्लूटार्क, जस्टिन और प्लिनी हैं। परन्तु मि० बेवन आदि ने इस कथन की आलोचना की है और कहा है कि यह केवल सिद्ध ही नहीं हुआ है, अपि तु ऐसा होना सम्भव भी नहीं है। अतः यह दिखाना आवश्यक है कि हमारा मत सुदृढ़ ऐतिहासिक प्रमाणों पर आश्रित है।

स्ट्रैबो का यह कथन कि "भारतीयों ने मैसिडोनियन लोगों से एरियाना का बड़ा भाग प्राप्त किया" स्पष्टरूप से हमारे पक्ष का पोषक है। एरियाना से उस सम्पूर्ण प्रदेश का अभिप्राय है, जो कि सिन्ध नदी से पश्चिम में है और जो पर्शियन लोगों के हाथ में रह कर फिर सिकन्दर को प्राप्त हुआ था, और जिसे सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को दिया था। इसी तरह एरियन, प्लूटार्क तथा जस्टिन के उद्धरण सूचित करते हैं कि सैल्यूकस ने सिन्ध नदी को पार किया और एक अकृतकार्य्य लड़ाई लड़ी। अन्त में उसे सन्धि करनी पड़ी, जिसमें कि शर्तें प्रतिपक्षी के बहुत अनुकूल तथा सैल्यूकस के बहुत प्रतिकूल थीं। इनके प्रकाश में हमें प्लिनी का यह वाक्य पढ़ना चाहिए कि 'बहुत से लेखक भारत के अन्दर जिड्रोशिया, आर्कोशिया, एरिया और पैरेपैनिसडेई—इन चार प्रान्तों को सम्मिलित करते हैं।' प्लिनी ने अपने ग्रन्थ की रचना ७८ ई० पू० के लगभग की थी। स्पष्ट है कि उसके समय से पूर्व ये प्रदेश भारतीय साम्राज्य के अन्तर्गत थे। प्लिनी ने

सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के साथ जो सन्धि की, उसके द्वारा हिन्दूकुश पर्वतश्रेणी, जिसे कि यूनानी लोग पैरोपेनिसस या भारतीय कौकेशस कहते थे, चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की पश्चिमीय सीमा बन गई। इस सीमा के विषय में श्रीयुत वी० ए० स्मिथ लिखते हैं—"दो हज़ार साल से भी अधिक हुए, भारत के प्रथम सम्राट् ने इस प्रकार उस 'वैज्ञानिक सीमा' को प्राप्त किया, जिसके लिए उसके ब्रिटिश उत्तराधिकारी व्यर्थ में ही आहें भरते हैं और जिसको कि १६ वीं और १७ वीं शताब्दी के मुग़ल सम्राटों ने भी कभी पूर्णता से प्राप्त नहीं किया"।[1]

वास्तव में ही भारत की इस स्वाभाविक और वैज्ञानिक सीमा को सबसे पहले—और सबसे अन्त में भी—चन्द्रगुप्त ने ही प्राप्त किया है।

३०३ ई० पू० में यह सन्धि हुई। सन्धि के तत्क्षण बाद ही

अपने ग्रन्थ की रचना प्रायः मैगस्थनीज़ आदि चन्द्रगुप्तकालीन यूनानी लेखकों के लेखों के आधार पर की थी। अब बताइए इस सन्धि के सिवाय और कौन सा उपयुक्त समय हो सकता है जब ये प्रान्त भारत में सम्मिलित किये गये हों। स्ट्रेबो तो स्पष्ट ही 'एरियाना' के बड़े भाग का सन्धि में दिया जाना उल्लिखित करता है।

जिड्रोशिया का प्रान्त बहुत बड़ा है। सम्भवतः इसका पूर्वीय भाग ही मौर्यसाम्राज्य के अन्तर्गत था। मालिन की पर्वत-शृङ्खला—जिसे पार करने में सिकन्दर ने इतनी कठिनता अनुभव की थी, सम्भवतः चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा बनी होगी।

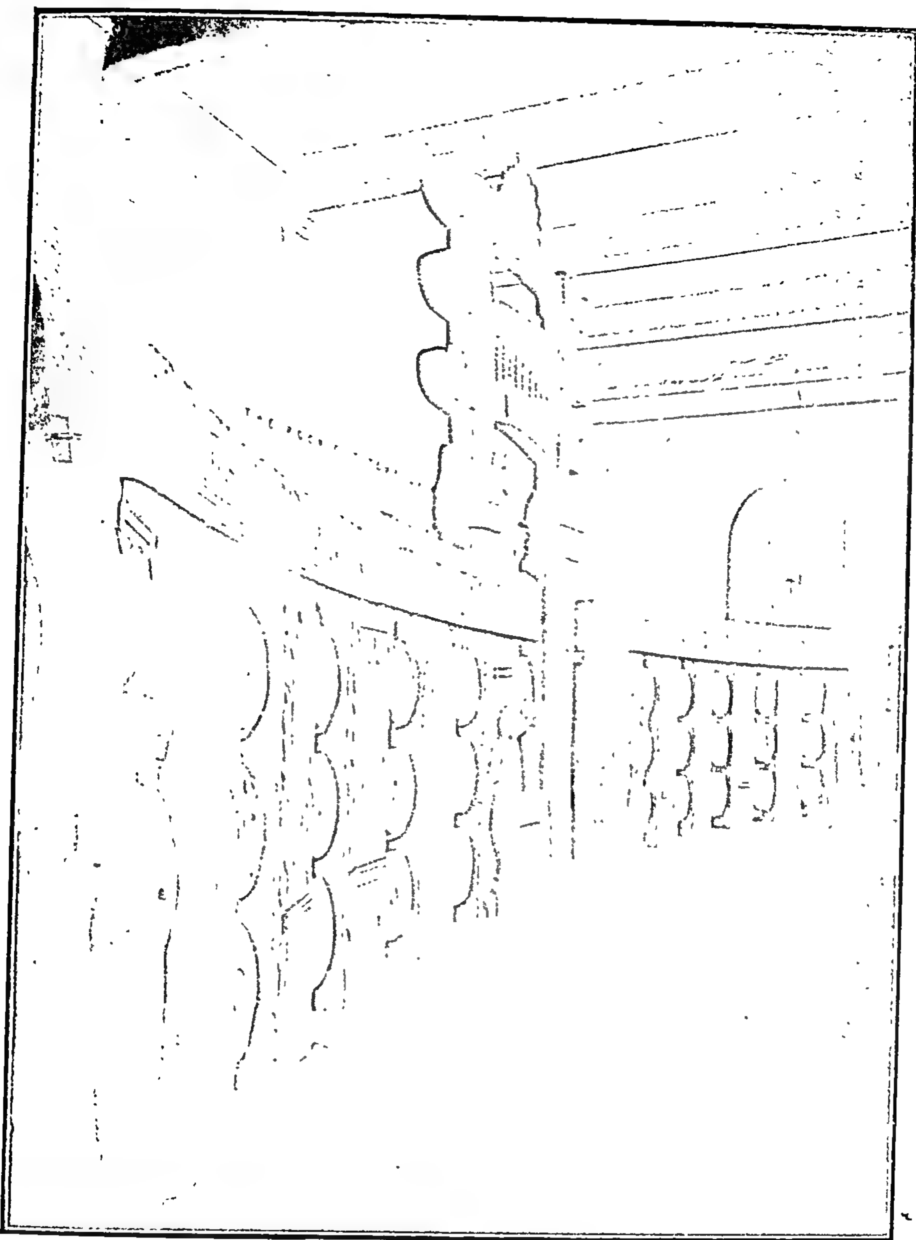
१ 'The first Indian Emperor, more than two thousand years ago, thus entered into possession of that "scientific frontier" sighed for invain by his English successors, and never held in its entirety even by the Moghal monarchs of the sixteenth and seventeenth centuries."—V. A. Smith, Early History of India (4th edition), p. 126.

सैल्यूकस ने अपने अधिकारियों में से मैगस्थनीज़ को राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा। मैगस्थनीज़ चिरकाल तक साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में रहा। उसने अपना रिक्त समय इस देश की भौगोलिक स्थिति, उपज और भारतीय संस्थाओं के वर्णन को लेखबद्ध करने में व्यतीत किया। मैगस्थनीज़ ने जिन बातों को अपनी आँखों से देखकर लिखा है, वे निस्सन्देह प्रामाणिक हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने नया साम्राज्य स्थापित किया और उस पर दृढ़ता-पूर्वक शासन किया। यूनानी लेखक लिखते हैं कि राज्य प्राप्त करने के बाद चन्द्रगुप्त अत्याचारी होगया था। राज्य-परिवर्तन के बाद सख़्ती करना अस्वाभाविक नहीं। हो सकता है कि राज्य को स्थिर रखने के लिए चन्द्रगुप्त ने शुरू शुरू में सख़्ती से काम लिया हो। परन्तु चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था बहुत ही उत्तम और जनसत्तात्मक थी। इसका विस्तृत वर्णन हम अगले अध्यायों में करेंगे।

सम्राट् चन्द्रगुप्त का साम्राज्य कितना विस्तृत था, इसका ठीक ठीक उल्लेख कर सकना आसान काम नहीं है।

हमें मालूम है कि अशोक का राज्य-विस्तार कितना अधिक था। अशोक के शिलालेखों, स्तूपों आदि द्वारा हमें उसके विस्तृत साम्राज्य की सीमाओं का निश्चित रूप से परिज्ञान है। परन्तु अशोक ने अपने राज्यकाल में केवल काश्मीर और कलिङ्गदेश का ही विजय किया था। इस विजय के बाद उसकी मनोवृत्ति बदल गई थी। काश्मीर और कलिङ्गदेश को छोड़ कर शेष सम्पूर्ण साम्राज्य उसे अपने पिता बिन्दुसार से प्राप्त हुआ था। बिन्दुसार चन्द्रगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी था। इस विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि दक्षिण का विजय चन्द्रगुप्त ने किया था वा बिन्दुसार ने। बिन्दुसार की एक पदवी है—अमित्र-घात। इससे प्रतीत होता है कि उसने भी अपने पिता द्वारा प्रारम्भ किये हुए विजयों को जारी रखा था। अधिक सम्भव यही है कि दक्षिण का विजय बिन्दुसार ने ही किया था।



बर्हुत स्तूप का प्रवेशद्वार और पाषाण-वेष्टनी। पृ० १४४

परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की सीमा समुद्र को छूती थी और दक्षिणापथ का कुछ प्रदेश भी उसमें सम्मिलित था। इसी लिए विशाखदत्त ने लिखा है—

अम्भोधीनां तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनानाम्।
आपारेभ्यश्चतुर्णां चटुलतिमिकुलाक्षोभितान्तर्जलानाम्॥
मालेवाज्ञा सपुष्पा नतनृपतिशतैरुह्यते या शिरोभिः।
सा मय्येव स्खलन्ती प्रथयति विनयालङ्कृतं ते प्रभुत्वम्॥

यदि चन्द्रगुप्त के राज्य में दो समुद्रों के अन्तर्गत प्रदेश—दक्षिणापथ—का कुछ भी भाग सम्मिलित न होता तो विशाखदत्त शायद ऐसा वर्णन न करते। अस्तु, यह निश्चित है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपनी विश्वविजयिनी सेना और चाणक्य की अलौकिक प्रतिभा की सहायता से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें कि कम से कम सम्पूर्ण उत्तरीय भारत, अफ़ग़ानिस्तान और बिलोचिस्तान के राज्य अन्तर्गत थे।

इस विशाल साम्राज्य में अन्य छोटे राजाओं की क्या स्थिति थी, यह भी अत्यन्त विचारणीय प्रश्न है। हम जानते हैं, कि जिस प्रदेश में चन्द्रगुप्त ने अपना साम्राज्य बनाया, उसमें पहले अनेक जनतन्त्र या राजविहीन (Non-monarchical) और राजतन्त्र राज्य थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से प्रतीत होता है कि राजविहीन या संघ-राज्यों की स्वतन्त्रता को सर्वथा नष्ट नहीं किया गया था। अपितु उनको साम्राज्य के अन्दर ही सम्मानपूर्वक स्वतन्त्रता से रहने का अवसर दिया गया था। अशोक के समय में भी ये संघ-राज्य विद्यमान थे। राजतन्त्र राज्यों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता, इसलिए यह अनुमान करना अस्वाभाविक नहीं है कि उनको पूर्णरूप से साम्राज्य में ही मिला दिया गया था।

इन अर्ध-स्वतन्त्र संघ-राज्यों के साथ क्या नीति बरती जाती थी, इसके लिए कौटिलीय अर्थशास्त्र के अग्रलिखित संदर्भ अनुशीलनयोग्य हैं—

'दण्ड और मित्र की प्राप्ति की अपेक्षा संघ की प्राप्ति अधिक उत्तम है।'[1]

'काम्भोज, सुराष्ट्र तथा अन्य क्षत्रिय-श्रेणियाँ कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य तथा शस्त्रों पर आश्रित हैं।'

'लिच्छविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक, कुकुर, कुरु, पाञ्चाल आदि राजशब्दोपजीवी संघ हैं।'

'राजा कोशिश करे कि साम और दान के प्रयोग से संघ अपने साथ सम्बद्ध हो जावें, जो संघ अनुकूल बन जावें, उनका पालन करे। जो अपने अनुकूल न बन जावें, उनमें फूट डालने का यत्न करे तथा उन पर सेना-द्वारा आक्रमण करे।'[2]

इसके बाद प्रतिकूल संघों के साथ किस प्रकार भेद और दण्ड का प्रयोग करे, यह वर्णित कर चाणक्य लिखते हैं—

'इस प्रकार सब संघों का एक-राज (absolute monarch) बन जावे। और संघ भी एक-राजता को स्वीकृत कर अपने को विविध आपत्तियों से बचावें।[3]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त ने सब संघराज्यों को नष्ट नहीं कर दिया था। उसने अपनी कुटिल भेद-नीति का प्रयोग केवल उन्हीं संघराज्यों के विरुद्ध किया था, जिन्होंने कि उसकी अनुकूलता प्राप्त नहीं कर ली थी।

---

१. 'संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तमः।'

२. 'काम्भोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः।' 'लिच्छविकवृजिकमल्लकमद्रककुकुरकुरुपाञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः।'

'संघाभिसंहतत्वादधृष्यान् परेषां ताननुगुणान् भुञ्जीत सामदानाभ्याम्। द्विगुणान् भेददण्डाभ्याम्।'

३. 'सङ्घेष्वेवं एकराजो वर्तेत। सङ्घाश्चाप्येवमेकराजाः तेभ्योऽतिसंधानेभ्यो रक्षेयुः।' कौ० अर्थ० ११।१।

इन अनुकूलता-प्राप्त संघों को अपनी पृथक् सेना रखने का अधिकार था। इनकी सेनायें बहुत शक्तिशाली हुआ करती थीं, तभी तो कौटिल्य ने मित्रराज्य की सेनाओं की अपेक्षा संघराज्य की प्राप्ति को अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है।

यह कह सकना बहुत कठिन है कि किन किन संघ-राज्यों ने इस प्रकार से अनुकूलता प्राप्त करके मौर्य-साम्राज्य में सम्मानयुक्त स्थान प्राप्त कर लिया था। सम्भवतः, जिन संघा का नाम कौटिल्य ने उल्लिखित किया है, वे सब मौर्य-साम्राज्य में स्थान पाये हुए थे। जिनका नाम कौटिल्य ने नहीं लिखा है, सम्भवतः उन्हें भेद तथा दण्ड के प्रयोग से नष्ट कर दिया गया था।

इस तरह अपने साम्राज्य की स्थापना कर मौर्य चन्द्रगुप्त ने अपने विस्तृत साम्राज्य का अच्छी तरह शासन किया। चन्द्रगुप्त के शासन-प्रबन्ध तथा तत्कालीन भारत के विषय में हम अगले अध्यायों में विस्तार के साथ विचार करेंगे। यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अनेक लोकोपयोगी कार्य किये। भारतवर्ष में उपज की वृद्धि के लिए सिंचाई का प्रबन्ध अत्यन्त आवश्यक है। इसी लिए चन्द्रगुप्त ने एक पृथक् सिञ्चन-विभाग खोला था। जिसका कार्य भूमियों को मापना और नदियों में से नहरों को निकालकर आवश्यकतानुसार खेतों तक जल का पहुँचाना था। गिरनार पर्वत काठियावाड़ में अरब समुद्र के समीप है। पाटलिपुत्र से इसकी दूरी लगभग १,००० मील है। साम्राज्य के इतने सुदूरवर्ती प्रान्त में कृषकों के जलकष्ट निवारण की चन्द्रगुप्त को चिन्ता थी। इसी लिए अपने प्रतिनिधि शासक पुष्पगुप्त को उसने यह आज्ञा दी कि वह गिरनार की नदी के सम्मुख डाम लगाकर उसे झील के रूप में परिणत कर दे। इसी के अनुसार गिरनार नदी के सम्मुख डाम लगाकर झील बनाई गई और इसका नाम सुदर्शन झील रखा गया। अशोक के समय इसी झील में से आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न दिशाओं में छोटी छोटी नहरें निकाली गईं और

कृषकों का कष्ट निवारण किया गया। अशोक के समय इस प्रान्त का शासक तुषाश्व था। यह डाम १५० ई० पू० तक तो अवश्य ही स्थिर रहा। राजा रुद्रदामन ने इसकी मरम्मत कराई थी।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन की एक अन्य घटना भी उल्लेखनीय है। एक बार सम्राट् चन्द्रगुप्त को धन की बहुत आवश्यकता हुई। यह आवश्यकता सम्भवतः सैल्यूकस के साथ युद्ध तथा अन्य विजयों में व्यय हुई धनराशि को पूर्ण करने के लिए हुई थी। इसके लिए साधारण कर पर्याप्त न थे। विशेष अवस्थाओं में विशेष कर लगाने के जो विधान चाणक्य ने किये हैं, सम्भवतः वे भी इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए पर्याप्त न थे। अतः एक नये उपाय से धन इकट्ठा करना पड़ा। महर्षि पतञ्जलि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ महाभाष्य (निर्माणकाल—दूसरी सदी ई० पू०) में पाणिनि के 'जीविकार्थे चापण्ये' (५, ३, ९९) सूत्र पर भाष्य करते हुए इस उपाय का निर्देश किया है। आप लिखते हैं—

"अपण्ये इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति। शिवःस्कन्दो विशाख इति। किं कारणम्। मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः, भवेत्तासु न स्यात्।"

अर्थात् धन की इच्छा रखनेवाले मौर्यों ने पूजा के लिए मूर्त्तियाँ बनवा कर सुवर्ण एकत्रित किया। जैन-ग्रन्थों के अनुसार चन्द्रगुप्त ने ८० करोड़ घटिया (Debased) रजतमुद्रायें कोश पूर्ण करने के लिए चलाईं।

सातवाँ अध्याय

चन्द्रगुप्त-कालीन भारत

(१)

शासन-व्यवस्था

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय भारत की शासन-व्यवस्था क्या थी, इस विषय का निश्चित रूप से ज्ञान वर्तमान अवस्थाओं में उपलब्ध नहीं होता। चन्द्रगुप्त-कालीन इतिहास को तैयार करने के लिए जो साधन प्राप्त होते हैं, वे सर्वथा अपूर्ण और अपर्याप्त हैं। उनके आधार पर शासन-व्यवस्था का ठीक ठीक पता लगा सकना बहुत कठिन है। इस पर भी कठिनता यह है, कि कौटिलीय अर्थशास्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के अनेक भाग अभी तक स्पष्ट नहीं हो सके हैं। फिर भी चन्द्रगुप्त-कालीन शासन-व्यवस्था का खाका तैयार कर सकना असम्भव नहीं है। मैगस्थनीज़ के यात्रा-वृत्तान्त और कौटिलीय अर्थशास्त्र को आधार बना कर हम चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था का चित्र खींचने का यत्न करते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। इतने बड़े साम्राज्य पर शासन करने के लिए केवल केन्द्रित सरकार (Central Government) ही पर्याप्त नहीं हो सकती थी। अतः इस विशाल साम्राज्य के सुशासन के लिए भारत को अनेक प्रान्तों में विभक्त किया गया था। अशोक मौर्य के समय में हम इस प्रान्त-विभाग के विषय में अच्छा ज्ञान रखते हैं। यह न मानने में कोई कारण नहीं दीखता, कि इसी प्रकार का प्रान्त-विभाग सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में भी विद्यमान था। राजधानी पाटलिपुत्र के निकटवर्त्ती प्रदेशों का प्रबन्ध स्वयं सम्राट् की

अधीनता में किया जाता था, परन्तु सुदूर सीमावर्त्ती प्रान्त सम्राट् के प्रतिनिधियों-द्वारा शासित होते थे। ये राजकीय प्रतिनिधि प्रायः राजघराने के ही व्यक्ति होते थे।

प्रान्तों की संख्या कम से कम चार अवश्य थी। पहला, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त—इसकी राजधानी तक्षशिला थी। इस प्रान्त में पञ्जाब, सिन्ध, काश्मीर और सिन्ध नदी से लेकर हिन्दुकुश पर्वत तक के प्रदेश सम्मिलित थे। सम्राट् बिन्दुसार के शासन-काल में अशोकवर्धन इस प्रान्त का शासक था। दूसरा, दक्षिण-पश्चिमी प्रान्त—गुजरात, मालवा और काठियावाड़ के प्रदेशों को मिलाकर जो प्रान्त बनता था, उसकी राजधानी उज्जैन थी। अशोकवर्धन कुछ समय के लिए इस प्रान्त का भी शासक रहा था। सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय इस प्रान्त का शासक पुष्पगुप्त था। सुदर्शन झील बनाने के लिए सम्राट् ने अपने इसी प्रतिनिधि को आज्ञा भेजी थी। तीसरे प्रान्त में दक्षिणीय भारत सम्मिलित था। यह नहीं कहा जा सकता कि सम्पूर्ण दक्षिणीय भारत पर चन्द्रगुप्त का अधिकार था, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि दक्षिणापथ का बड़ा भाग सम्राट् चन्द्रगुप्त के साम्राज्य के अन्तर्गत था। चौथा प्रान्त मगध का था। इसका शासन पाटलिपुत्र नगरी में केन्द्रित सरकार-द्वारा ही होता था। सम्राट् अशोक के समय एक पाँचवाँ भी प्रान्त था। इसका नाम था कलिङ्ग, पर चन्द्रगुप्त के समय यह मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत न था।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय साम्राज्य के सुशासन के लिए केवल प्रान्त ही न थे, परन्तु द्रोणमुख, संग्रहण आदि अन्य भी अनेक विभाग थे। आगे चल कर हम स्थानीय स्वशासन के विषय में विस्तार से विचार करेंगे।

१. केन्द्रित सरकार

केन्द्रित सरकार का मुखिया स्वयं सम्राट् था। परन्तु यह सम्राट् एकाधिकारी न था। अनेक सभा समितियों-द्वारा

सम्राट् की शक्ति नियन्त्रित थी । सम्राट् की स्वेच्छाचारिता का नियन्त्रण करने के लिए अनेक साधन थे। इन साधनों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

क. मन्त्रि-परिषद्

ख. पौर जानपद

ग. अन्य विविध प्रभाव

हम इन पर क्रमशः पृथक् पृथक् विचार करेंगे।

क. मन्त्रि-परिषद्

आचार्य चाणक्य लिखते हैं—'सम्राट् को अवश्य ही सचिव बनाने चाहिएं, क्योंकि राज्यत्व सहायसाध्य है। सहायकों और सलाहकारों के बिना वह नहीं चल सकता। जिस प्रकार रथ एक पहिये से नहीं चल सकता, उसी प्रकार राज्यत्व भी सचिवों के बिना केवल राजा से नहीं चल सकता। इसलिए राजा को चाहिए कि सचिवों को नियुक्त करे और उनकी सम्मति का श्रवण करे।'[1]

कौटिल्य की परिभाषा में सचिव या अमात्य का क्या अर्थ है, इस पर पूरा ध्यान नहीं दिया गया। सचिव और अमात्य पर्यायवाची शब्द हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु अमात्य और मन्त्री में बहुत भेद है। अमात्य का अर्थ है, राजकर्मचारी या स्टेट का आफिसर। क्योंकि चाणक्य कहते हैं—

'अमात्य के विभव (Functions) को देश, काल, और कर्म के आधार पर विभक्त करे, और उनके लिए अमात्य नियत करे। वे सारे कर्मचारी अमात्य तो हैं, पर मन्त्री नहीं।'[2]

---

१. सहायसाध्यं राज्यत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां च श्रृणुयान्मतम् ॥
कौ० अर्थ० १ । ३

२. विभज्यामात्यविभ ं देशकालौ च कर्म च।
अमात्यास्सर्व एवैते कार्यास्स्युर्न तु मन्त्रिणः।
कौ० अर्थ० १ । ४

इस उद्धरण पर ध्यान दीजिए । अमात्य विभव = राज्य के विविध कार्य (Functions of State) । अमात्य विभव को या राज्य के कार्य को तीन बातों को सम्मुख रख कर विभक्त किया जावे—

(१) देश—राज्य के किस प्रान्त पर या किस विभाग पर राजकर्मचारी को नियत किया जाना है।

(२) काल—कितने काल के लिए राजकर्मचारी की नियुक्ति होनी है।

(३) कर्म—किस प्रदेश पर, कितने समय के लिए और साथ ही किस कर्म के लिए राजकर्मचारी की नियुक्ति होनी है।

इस प्रकार देश-भेद से, कर्म-भेद से और काल-भेद से राज्य में बहुत से अमात्य हुए। अब इस बात को दृष्टि में रखकर अर्थशास्त्र का अध्ययन कीजिए । न्यायाधीशों को कौटिल्य ने अमात्य शब्द से कहा है। आचार्य कहते हैं—

'धर्मस्थीय न्यायालयों में तीन धर्मस्थ अमात्यों को न्यायाधीश नियत किया जावे। जनपदसन्धि, सङ्ग्रहण, द्रोणमुख और स्थानीय सब धर्मस्थीय न्यायालयों में तीन तीन अमात्यों की नियुक्ति हो[1] ।'

इसी तरह 'कण्टकशोधन' न्यायालयों के न्यायाधीशों को भी चाणक्य अमात्य शब्द से कहते हैं[2]। केवल न्यायाधीश ही नहीं, पर सब उच्च राजकर्मचारी इसी शब्द से पुकारे गये हैं। यही कारण है, कि राजधानी से सुदूरवर्ती प्रदेशों पर शासन करनेवाले राजकर्मचारियों की क्रियाओं से राजा को परिचित रखने के लिए गुप्तचरों की व्यवस्था करते हुए चाणक्य कहते हैं—'उप-

---

१. 'धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या जनपदसन्धिसङ्ग्रहणद्रोणमुखस्थानीयेषु व्यवहारिकानर्थान् कुर्युः ।' कौ० अर्थ० ३ । १

२. कौ० अर्थ० ४ । १

धाओं से अमात्यों के शौचाशौच का ज्ञान प्राप्त करे[1]। इस प्रकरण[2] को पढ़कर यह आसानी से समझ में आ सकता है कि अमात्य का अर्थ मन्त्री (Minister) नहीं है, प्रत्युत राज्य-कर्मचारी है।

अभिप्राय यह है, कि मन्त्री और अमात्य भिन्न पद हैं। मन्त्री या मन्त्रिपरिषद् क्या चीज़ है, अब इस विषय पर विचार कीजिए। आचार्य चाणक्य लिखते हैं—

'मानव-सम्प्रदाय का मत है कि "बारह अमात्यों की मन्त्रि-परिषद् बनाई जावे"।

'परन्तु बार्हस्पत्य-सम्प्रदाय का मत है—"बारह की नहीं, अपितु सोलह की"।

'औशनस-सम्प्रदाय का कहना है कि "बीस अमात्यों की"।

परन्तु आचार्य चाणक्य का मत है—संख्या निश्चित करने की आवश्यकता नहीं, जितनी सामर्थ्य हो, जितनी आवश्यकता हो, उतनी संख्या रखी जा सकती है[3]।'

---

१. 'सामान्येष्वधिकरणेषु स्थापयित्वाऽमात्यानुपधाभिश्शोचेत्।'
कौ० अर्थ० १। ६

२. इस प्रकरण (उपधाभिश्शौचाशौचज्ञानममात्यानाम्) में निम्नलिखित पंक्तियाँ हमारी स्थापना में बहुत सहायक हैं—'तत्र धर्मोपधाशुद्धान् धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषु स्थापयेत्। अर्थोपधाशुद्धान् समाहर्तृसन्निधातृचयकर्मसु। त्रयोपधाशुद्धानासन्नकर्मसु राज्ञः।' इत्यादि।

३. "मन्त्रिपरिषदं द्वादशामात्यान्कुर्वीतेति" मानवाः।
"षोडशेति" बार्हस्पत्याः।
"विंशतिम्" इत्यौशनसाः।
"यथासामर्थ्यं" इति कौटिल्यः
कौटि० अर्थ० अधि० १। अध्याय १५

श्रीयुत जायसवाल अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Hindu Polity (द्वितीय खण्ड) के १२२ पृष्ठ पर फ़ुटनोट में लिखते हैं—'अमात्यान् के

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि 'मन्त्रिपरिषद्' के सदस्य कुछ अमात्य (राज्य के पदाधिकारी) हुआ करते थे। मन्त्रिपरिषद् के स्वरूप के विषय में विद्वानों ने विविध प्रकार की कल्पनायें की हैं। श्रीयुत रमेशचन्द्र मजूमदार लिखते हैं—

"प्रतीत होता है कि वैदिक 'समिति' की सच्ची प्रतिनिधि मन्त्रिपरिषद् (प्रिवी कौंसिल) है, जिसका ज़िक्र कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। (अधि० १, अध्याय १५) यह मन्त्रिपरिषद् सामान्य मन्त्रियों की सभा से स्पष्टतया भिन्न है, क्योंकि कौटिल्य ने आवश्यक कार्य के समय राजा को सलाह दी है कि मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद् व प्रिवी कौंसिल को बुलाया जाय (मन्त्रिणः मन्त्रिपरिषदञ्च) किसी समय इसके सदस्यों की बहुत अधिक संख्या होती थी, यह बात चाणक्य के इस कथन से स्पष्ट है कि 'इन्द्र की मन्त्रिपरिषद् में १,००० ऋषि सदस्य होते हैं[1] ।"

आगे चलकर फिर मजूमदार महाशय लिखते हैं—

"यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत में भी शासिका-संस्थाओं का विकास इँगलैण्ड की ही तरह से हुआ है। जिस प्रकार इँगलिश लोगों की 'नेशनल कौंसिल' से 'परमनैण्ट कौंसिल' की उत्पत्ति हुई, और यह पीछे जाकर 'प्रिवी कौंसिल' के रूप में परिणत होगई, इसी प्रिवी कौंसिल से राजा अपने विश्वस्त मन्त्रियों को चुनते रहे और मन्त्रिमण्डल (कैबिनट) का निर्माण हुआ, इसी तरह से भारत में भी

स्थान पर अमात्याम् पढ़िए' इस तरह मूलपाठ हो जायगा—'मन्त्रिपरिषदं द्वादशामात्यां कुर्वीत' इति मानवाः। इस पाठ के अनुसार तो जो अर्थ हमने किया है, उसमें कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। इससे यह ध्वनि स्पष्टरूप से निकलती है कि मन्त्रिपरिषद् में १२ अमात्य हों।

१. देखो—Corporate Life in Ancient India (द्वितीय संस्करण), पृष्ठ० १२६, १२७।

वैदिककाल की 'समिति' पीछे से 'मन्त्रिपरिषद्' के रूप में परिणत हो गई और इसी परिषद् से राजा अपने 'मन्त्रिमण्डल' के मन्त्रियों को चुनते रहे[1]।"

श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने 'मन्त्रिपरिषद्' की स्थिति पर बहुत विस्तार के साथ विचार किया है। सब बातों पर विचार करके आप जिस परिणाम पर पहुँचे हैं, उसको संक्षेपतः इस प्रकार लिखा जा सकता है—

मन्त्रिपरिषद् एक सभा होती थी, जिसमें कि निम्न-लिखित सदस्य हुआ करते थे—

(१) मन्त्रधर—वे मन्त्री जिनसे राजा विशेषरूप से सलाह लेते थे।
(२) अन्य पदाधिकार से युक्त मन्त्री
(३) पदाधिकार से विहीन मन्त्री
(४) अन्य

कौटिल्य ने मन्त्राधिकार-प्रकरण में लिखा है कि आवश्यक कार्य के समय मन्त्रियों और मन्त्रिपरिषद् (मन्त्रिणः मन्त्रि-परिषदश्च) को बुलाया जाय। इससे यह ध्वनि निकलती है कि मन्त्रिपरिषद् की भी अन्य एक छोटी उपसमिति हुआ करती थी, और राज्य के आवश्यक विषयों पर इसमें भी विचार हुआ करता था। इस अन्दरूनी उपसमिति के सदस्यों को 'मन्त्रधर' या 'मन्त्रवृद्ध' कहा जाता था।

इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् के विषय में हमारे सम्मुख दो कल्पनायें हैं। एक श्रीयुत मजूमदार महाशय की और दूसरी श्रीयुत जायसवाल की। श्री० मजूमदार मन्त्रिपरिषद् को प्रिवी कौंसिल समझते हैं, और उसकी एक अन्य उपसमिति की सत्ता स्वीकार करते हैं। श्रीयुत जायसवाल मन्त्रिपरिषद् को राष्ट्रसभा (Council of State) का स्थान देते हैं।

---

१. तथा पृ० १२८, १२९।

परन्तु हमारी सम्मति में ये दोनों कल्पनायें निश्चित नहीं, अपितु विचारणीय हैं। हमारी सम्मति में मन्त्रिपरिषद् का अर्थ है—वर्तमान समय की 'मिनिस्ट्री'। इस सम्मति का आधार यह बात है कि मन्त्रिपरिषद् में केवल अमात्य (राज्य के पदाधिकारी) ही सदस्य होते थे, अन्य नहीं। अमात्यों या राज्य के पदाधिकारियों में से ही मुख्य व्यक्तियों को मन्त्रिपरिषद् का सदस्य बनाया जाता था। इस स्थापना को हम निम्नलिखित प्रमाणों से पुष्ट कर सकते हैं—(१) "मन्त्रिपरिषदं द्वादशामात्यान् (या द्वादशामात्यां) कुर्वीत" इति मानवाः—इससे स्पष्ट है कि बारह अमात्यों से ही मन्त्रिपरिषद् का निर्माण होना चाहिए, यह मानव-सम्प्रदाय की राय है।

(२) विभज्यामात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्यास्सर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मन्त्रिणः॥

इस श्लोक से भी स्पष्ट है कि सब राजपदाधिकारियों को अमात्य तो कहा जायगा, पर मन्त्री नहीं। अर्थात् मन्त्री इनमें से ही कुछ को निर्वाचित किया जायगा।

(३) इसी लिए आगे चल कर कौटिल्य कहते हैं—
'सर्वोपधाशुद्धान् मन्त्रिणः कुर्यात्।'

प्रसङ्ग के अनुसार इस वाक्य का अर्थ है—'जो अमात्य सब प्रकार से निर्दोष साबित हों, जो धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा, भयोपधा आदि उपधाओं से शुद्ध हों, उनको मन्त्री बनाया जाय।'

कौटिलीय अर्थशास्त्र में 'मन्त्रिपरिषद्' के निर्माण के सम्बन्ध में ये ही दो तीन निर्देश मिलते हैं। इनसे तो यही सिद्ध होता है कि मन्त्रिपरिषद् में केवल चुने हुए (निर्वाचित नहीं) अमात्य ही सदस्य होते थे।

श्रीयुत मजूमदार ने अपनी कल्पना का आधार यह रखा है कि 'मन्त्रिपरिषद्' एक अच्छी बड़ी सभा मालूम पड़ती है। क्योंकि चाणक्य लिखते हैं—"इन्द्र की मन्त्रिपरिषद् में

१,००० ऋषि होते हैं। वे ऋषि ही इन्द्र की आँखें हैं, इसी लिए उसे 'सहस्राक्ष' कहा जाता है।"

परन्तु केवल इस वाक्य से, जो कि एक अप्रासङ्गिक निर्देश मालूम होता है, किसी आवश्यक परिणाम को निकालना उचित नहीं प्रतीत होता। साथ ही मानव आदि सम्प्रदायों के अनुसार इस परिषद् के सदस्यों की संख्या १२, १६ और २० है। ये संख्यायें ऐसी नहीं हैं, जिनसे कि हम मन्त्रिपरिषद् का अर्थ 'प्रिवी कौंसिल' कर सकें।

श्रीयुत जायसवाल ने 'मन्त्रिपरिषद्' की रचना के विषय में जो कल्पना की है, उसके लिए वे शुक्रनीति का निम्नलिखित प्रमाण पेश करते हैं—

सभ्याधिकारि-प्रकृति-सभासत्सुमते स्थितः।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन[1]॥

आपने इसका अर्थ करते हुए लिखा है—मन्त्रिपरिषद् की रचना पर इस श्लोक से प्रकाश पड़ता है। राजा को इनकी सम्मति के अनुसार कार्य करना चाहिए—(१) सभ्य—मन्त्रिपरिषद् का सभापति (२) आधिकारिन्—भिन्न भिन्न राजकीय विभागों के अध्यक्ष (३) प्रकृति-सभासद्—पौरजानपद[2] के प्रतिनिधि।

हमारी सम्मति में यह श्लोक मन्त्रिपरिषद् की रचना के विषय में कोई प्रकाश नहीं डालता, यह तो केवल इतना कहता है कि राजा को किस किस संस्था की सम्मति के अनुसार कार्य करना है। यदि इस दृष्टि से हम इसका अर्थ करें, तो भिन्न ही परिणाम निकलेगा। तब इसका अर्थ इस प्रकार होगा। राजा को निम्नलिखित की सम्मति के अनुसार कार्य करना चाहिए—

---

१. शुक्रनीतिसार अध्याय २ श्लोक ३।

२. पौरजानपद के विषय में हम आगे इसी अध्याय में विचार करेंगे।

(१) सभ्याधिकारी—वे अधिकारी (राज्यपदाधिकारी) या अमात्य, जो कि सभ्य हैं, जो मन्त्रिपरिषद् के सभासद् हैं, क्योंकि पहले हम अर्थशास्त्र के आधार पर देख चुके हैं कि कुछ पदाधिकारियों (अमात्यों) के द्वारा मन्त्रिपरिषद् की रचना होती थी। (२) प्रकृति-सभासद्—प्रजा व जनता के प्रतिनिधि। श्रीयुत जायसवाल ने जिन पौर जानपद सभाओं की सत्ता सिद्ध की है, प्रकृति-सभासद् से उन्हीं के सदस्यों का ग्रहण करना चाहिए।

इस तरह हमारे अर्थ के अनुसार 'राजा को मन्त्रिपरिषद् और पौरजानपद के सदस्यों की सम्मति के अनुसार कार्य करना चाहिए, अपनी राय के अनुसार नहीं।' यही शुक्राचार्य का अभिप्राय है।

श्रीयुत जायसवाल ने महाभारत और रामायण के जो प्रमाण दिये हैं, उनका अर्थ भी इसी दृष्टि से किया जा सकता है।

मन्त्रिपरिषद् की भी अन्य एक उपसमिति होती थी। इस विषय में हम श्रीयुत जायसवाल का मत स्वीकृत करते हैं। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान इँगलिश शासन-पद्धति में जो स्थान 'मिनिस्ट्री' को प्राप्त है, वही चन्द्रगुप्त-कालीन भारत में 'मन्त्रिपरिषद्' को था। जिस तरह इँगलिश शासन-पद्धति में 'मिनिस्ट्री' से एक छोटी समिति होती है, जिसे 'कैबिनट' कहते हैं, उसी तरह 'मन्त्रिपरिषद्' की भी एक छोटी समिति होती थी। इसके विषय में कौटिल्य ने इस तरह विचार किया है[1]—

"गुह्य विषयों पर राजा अकेला ही विचार करे" यह भारद्वाज का मत है। क्योंकि मन्त्रियों के भी मन्त्री होते हैं और उनके भी अन्य सलाह देनेवाले होते हैं और यह मन्त्रियों की परम्परा मन्त्र को गुप्त नहीं रहने देती। इसलिए राजा क्या

१. कौ० अर्थ० अधि० १। अ० १५।

करना चाहता है, यह किसी को भी न मालूम पड़े। काम शुरू होने पर या शुरू किये हुए काम के ख़तम होने पर ही राजा का दिली हाल दूसरों पर खुले।

"परन्तु आचार्य विशालाक्ष का मत है, 'अकेले कभी मन्त्र-सिद्धि नहीं होती।' राजा के काम ही ऐसे हैं कि उसको अपने देखने के साथ साथ दूसरों के देखने पर भी निर्भर रहना पड़ता है। यह मन्त्रियों का ही काम है कि जो बात मालूम नहीं है, उसका पता लगावें; जिसका पता है, उसका निश्चय करें; जहाँ सन्देह है वहाँ सन्देह मिटावें; तथा जिस बात की पूरी ख़बर न हो, उसका पता लगावें। इसलिए राजा बुद्धि-वृद्ध लोगों के साथ मिलकर सलाह मशवरा करे। सबकी सलाह सुने, किसी की भी बात न काटे। बुद्धिमान् लोग छोटे बच्चे की भी उपयोगी बात को काम में ले आते हैं।

"आचार्य पराशर कहते हैं, कि 'इस ढंग से मन्त्र का ज्ञान तो हो सकता है, परन्तु उसकी रक्षा सम्भव नहीं है।' इसलिए राजा को जो काम करना हो, उससे उलटा करके मन्त्रियों से पूछे। 'यह कार्य है, यदि यह हालत हो, तो किस तरह करना चाहिए?' इस प्रकार मन्त्रियों की सम्मति जाने, जैसा वे कहें वैसा ही करे। इस ढंग से मंत्र का ज्ञान भी हो जाता है और रक्षण भी।

"पिशुनाचार्य कहते हैं—'यह भी ठीक नहीं है।' मंत्री लोगों से जब ऐसे वृत्त या अवृत्त काम के विषय में सलाह ली जाती है, जिससे उनका कोई सीधा सम्बन्ध न हो, तो वे बड़ी बेपरवाही के साथ सलाह देते हैं, और बहुधा प्रकाशित भी कर देते हैं। इसलिए जिन लोगों के साथ जिन कामों का सम्बन्ध हो, उन कामों के विषय में उन्हीं से सलाह ली जाय। ऐसा करने से उचित सलाह भी मिलती है और मन्त्र की रक्षा भी हो जाती है।

"कौटिल्य इससे भी सहमत नहीं हैं। आप कहते हैं—'इसमें भी अनवस्था और गड़बड़ की आशङ्का है।

अतः तीन या चार मन्त्रियों के साथ विचार किया जाय। एक के साथ विचार करने पर कठिन विषयों पर फैसला हो सकना कठिन हो जाता है। और वह एक मन्त्री बेलगाम होकर यथेच्छ कार्य करने लगता है। दो के साथ विचार करने पर यदि वे परस्पर मिल जायँ, तो राजा की कुछ नहीं चलती और यदि परस्पर-विरोधी हों, और लड़ें, तो सारा काम बिगाड़ देते हैं। तीन या चार के साथ सलाह करने पर ये दोष नहीं आते। सब काम सिद्ध हो जाता है। यदि संख्या इससे अधिक कर दी जाय, तब भी खराबी है, क्योंकि उस हालत में भी निश्चय पर पहुँच सकना कठिन होता है।"

इस सुदीर्घ उद्धरण से स्पष्ट है कि मन्त्रिपरिषद् की भी एक उपसमिति होती थी, जिसमें तीन या चार सदस्य होते थे। इस उपसमिति को यदि हम 'कैबिनट' का नाम दे सकें, तो अनुचित न होगा। इस कैबिनट या मन्त्रिमण्डल में गुह्य विषयों पर विचार होता था। राज्य की अनेक नीतियों का निर्धारण इसी छोटे से 'ग्रुप' में किया जाता था।

इस कैबिनट में किन विषयों पर विचार किया जाता था, या किस तरह का मन्त्र निर्धारित होता था, इस विषय पर भी अर्थशास्त्र से प्रकाश पड़ता है। ये विषय निम्नलिखित हैं[1]—

(१) राज्य में जो कार्य प्रारम्भ करने हैं, उनको पूर्ण करने के उपाय, उनके लिए विविध योजनायें।

(२) उनको पूरा करने के लिए कितने द्रव्य की आवश्यकता होगी, और कितने आदमी लगेंगे—इसका हिसाब।

(३) राजकार्य के सम्पादन के लिए भिन्न भिन्न विभागों में राजकार्य को बाँटना और उन पर निश्चित समय के लिए अमात्यों को नियुक्त करना।

---

१. कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिरिति पञ्चाङ्गो मन्त्रः। कौ० अर्थ० अधि० १, अ० १५।

(४) राष्ट्रीय आपत्तियों का निराकरण ।

(५) कार्यसिद्धि।

मन्त्रिपरिषद् के कार्यों के सम्बन्ध में भी अर्थशास्त्र प्रकाश डालता है। चाणक्य लिखते हैं—'मन्त्रिपरिषद् में स्वपक्ष और परपक्ष (Home Affairs and Foreign Affairs) के विषय में विचार किया जाय। जो कार्य अभी तक नहीं किये गये हैं उनको प्रारम्भ करें, जो कार्य प्रारम्भ हो चुके हैं उनको समाप्त करें, जो समाप्त हो चुके हैं उनकी उन्नति करें[१] ।

राजा प्रत्येक कार्य मन्त्रिपरिषद् की सम्मति के अनुसार ही करता था। आचार्य चाणक्य कहते हैं—'जो बहुसम्मति हो, राजा उसी का अनुसरण करे[२] ।' श्रीयुत जायसवाल का मत है कि मन्त्रिपरिषद् के निर्णय पर राजा को निषेध (वीटो) का अधिकार नहीं होता था, परन्तु कौटिल्य कहते हैं— 'या वह करे जो सिद्धिकर प्रतीत हो, (कार्यसिद्धिकरं वा)।' इससे यह भी प्रतीत होता है कि राजा को वीटो का अधिकार प्राप्त था। यदि वह मन्त्रिपरिषद् के किसी निर्णय को 'असिद्धिकर' समझता था, तो 'कार्यसिद्धिकर' बात को ही करता था, अन्य को नहीं।

मन्त्रिपरिषद् के जो सदस्य उपस्थित न हो सकते थे, उनकी सम्मति पत्र भेजकर मँगवाई जाती थी[३] । परन्तु यह सब कुछ होते

१. ते ह्यस्य स्वपक्षं परपक्षं च चिन्तयेयुः । अकृतारम्भमारब्धानुष्ठानमनुष्ठितविशेषं नियोगसम्पदं च कर्मणां कुर्युः ।
कौ० अर्थ० अधि० १, अ० १५ ।

२. आत्ययिके कार्य्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात । तत्र यद्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात् ।
कौ० अर्थ० अधि० १, अ० १५ ।

३. आसन्नैः सह कार्याणि पश्येत् । अनासन्नैः सह पत्रसम्प्रेषणेन मन्त्रयेत् ।

हुए भी इस बात का बहुत ख़याल रक्खा जाता था कि मन्त्र गुप्त रहे, जो सलाह-मशवरा हो वह कहीं और लोगों को न पता लग जाय[1]।

मन्त्रिपरिषद् में किस किस अमात्य (राज्यपदाधिकारी) को स्थान मिलता था, इसका निर्णय कर सकना बहुत कठिन है। वैसे तो चन्द्रगुप्तकालीन भारत के प्रायः सभी पदाधिकारियों का हमें ज्ञान है, परन्तु उनमें से कौन कौन से मन्त्रिपरिषद् में स्थान पाते थे, इसका ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं। कौटिल्य तो मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या निश्चित करने के भी पक्ष में नहीं, वह तो यही कहता है—

'जो अमात्य सर्वोपधाशुद्ध हों, उनको मन्त्रिपरिषद् में स्थान दे दिया जाय।' ये सब कठिनाइयाँ होते हुए भी हम मन्त्रिपरिषद् के कुछ मन्त्रियों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

चन्द्रगुप्त के शासन में सबसे मुख्य स्थान मन्त्री और पुरोहित नामक अमात्यों को प्राप्त था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वे दोनों अमात्य शासनकार्य में राजा के सबसे बड़े सहायक होते थे। राजा इन्हीं की सम्मति से अन्य अमात्यों को नियत करता था। इनके साथ मिल कर वह अन्य अमात्यों की विविध 'उपधाओं' के द्वारा परीक्षा करता रहता था। चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक शासनकाल में इन दोनों पदों पर आचार्य चाणक्य विद्यमान थे। 'मुद्राराक्षस' के अनुसार पीछे से अमात्य राक्षस ने मन्त्री पद स्वीकृत कर लिया था और आचार्य चाणक्य केवल पुरोहित ही रह गये थे। ये दोनों अमात्य अवश्य ही मन्त्रिपरिषद् के सदस्य होते थे।

---

१. नास्य गुह्यं परे विद्युः छिद्रं विद्यात्परस्य च।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि यत्स्यात् विवृतमात्मनः।

कौ० अर्थ० १।१५।

मन्त्रि और पुरोहित के सिवाय कौटिलीय अर्थशास्त्र से हमें अन्य अनेक आवश्यक अमात्यों का परिज्ञान मिलता है, जो निस्सन्देह मन्त्रिपरिषद् में सम्मिलित किये जाते थे। परन्तु कौटिल्य के इधर-उधर बिखरे हुए निर्देशों को एकत्रित करने के स्थान पर अन्य नीतिशास्त्र की पुस्तकों से मन्त्रियों की सूची दे देना अधिक उचित और लाभकर होगा। ये नीति पुस्तकें भी चन्द्रगुप्त-कालीन अवस्था पर कुछ प्रकाश डालती हैं, इसका विवेचन हम 'मौर्यइतिहास के आधारों' पर विचार करते हुए कर चुके हैं। शुक्र-नीतिसार के अनुसार मन्त्रि-परिषद् के मन्त्रियों की सूची इस प्रकार है[1]।

(१) सुमन्त्र—या अर्थसचिव (Minister of Finance)

(२) पण्डितामात्य—या क़ानून-सचिव (Minister of Law)

(३) मन्त्री या गृह-सचिव (Home Minister)

(४) प्रधान (President of Council)

(५) सचिव या युद्ध-सचिव (Minister of War)

(६) अमात्य या कृषि व राज्य-कर का सचिव (Minister of Revenue and Agriculture)

(७) प्राड्विवाक या न्याय-सचिव (Minister of Justice and Chief Justice)

(८) प्रतिनिधि या पौरजानपद का प्रतिनिधि।

(९) दूत या परराष्ट्र-सचिव (Minister of Diplomacy)

ऊपर जो मन्त्री लिखे गये हैं; कौटिलीय अर्थशास्त्र में इनमें से अनेक नाम सर्वथा उपलब्ध नहीं होते। कुछ नाम उपलब्ध होते हैं, परन्तु उनके अर्थों में भेद है। परन्तु शुक्राचार्य ने जो

---

१. अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित् स्मृतः सदा॥
सुमन्त्रः पण्डितो मन्त्री प्रधानः सचिवस्तथा।
अमात्यः प्राड्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः॥
इत्यादि
शुक्र-नीतिसार २। ७१-७२।

पद गिनवाये हैं, उनके लिए कोई न कोई नाम अर्थशास्त्र में अवश्य आता है। यहाँ इनको प्रदर्शित करने का अभिप्राय केवल यह है कि सम्भवतः ये ही पदाधिकारी व अमात्य चन्द्रगुप्त की मन्त्रिपरिषद् में भी सम्मिलित होंगे।

इन मन्त्रियों के सिवाय अर्थशास्त्र में कुछ अन्य पदाधिकारी बहुत महत्त्व रखते हैं, जैसे युवराज और कुमार। अर्थशास्त्र में युवराज और कुमार पृथक् पदाधिकारियों के रूप में आये हैं[1]।

इस प्रकार हमने चन्द्रगुप्त-कालीन मन्त्रिपरिषद् का विस्तार से वर्णन किया और यह भी प्रदर्शित किया कि राजा इस परिषद् की ही सम्मति के अनुसार कार्य करता था। मैगस्थनीज़ भी इस अमात्य-परिषद् की सत्ता को स्वीकार करता है। भारतीय जनता की सात श्रेणियों के विषय में वर्णन करता हुआ यह प्रसिद्ध यूनानी लेखक लिखता है—

"सातवीं श्रेणी सलाहकारों और सहायकों (Councillors and Assessors) की है। ये सार्वजनिक कार्यों पर विचार करते हैं। संख्या की दृष्टि से यह श्रेणी सबसे छोटी है, पर प्रतिष्ठा की दृष्टि से यह सबसे बड़ी है, क्योंकि इनकी बुद्धि और इनका आचार सर्वोपरि है।"

"सातवीं श्रेणी में राजा को सम्मति देनेवाले, सहायक और कानूनी सलाहकार हैं। सरकार के सर्वोच्चपद इन ही के पास हैं। न्याय का सञ्चालन और सार्वजनिक कार्यों का शासन ये ही लोग करते हैं।"

"संख्या की दृष्टि से यह एक छोटी सी ही श्रेणी है। परन्तु न्याय और बुद्धि की दृष्टि से इसकी बहुत प्रतिष्ठा है। यही प्रान्तीय शासकों, अध्यक्षों, सहायक-अध्यक्षों, कोश के निरीक्षकों, सेना के सेनापतियों, नौविभाग के अध्यक्षों और कृषि के अध्यक्षों को निर्वाचित करती है।"

---

१. कौ० अर्थ० अधि० ९ अ० २

मैगस्थनीज़ के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय राजा को सम्मति देनेवाले सहायकों, और क़ानूनी सलाहकारों की एक विशेष श्रेणी थी। इसमें कुछ भी सन्देह न करना चाहिए कि यह मन्त्रिपरिषद् के सभ्यों का ही वर्णन है। अन्तिम उद्धरण बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे मन्त्रि-परिषद् के कार्यों (Functions) पर भी प्रकाश पड़ता है। राजा को सलाह देने के सिवाय यह परिषद् साम्राज्य के अधिकारियों की भी नियुक्ति करती थी, निस्सन्देह सम्राट् चन्द्रगुप्त की शक्ति इस परिषद्-द्वारा नियन्त्रित थी, उनके अधिकार बहुत परिमित थे। इसी लिए कवि विशाखदत्त अपने प्रसिद्ध नाटक 'मुद्रा-राक्षस' में आचार्य चाणक्य—जो कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के मन्त्रि-पुरोहित थे—के मुख से कहलवाते हैं—

"वृषल! सुनो, अर्थशास्त्र के विद्वान् तीन प्रकार की सिद्धियों का वर्णन करते हैं, राजायत्त, सचिवायत्त, उभयायत्त। तुम तो सचिवायत्तसिद्धि हो अर्थात् तुम्हारे तो सब कार्य सचिव के अधीन हैं। इसलिए तुम्हें प्रयोजन पूछने से क्या मतलब? क्योंकि इस कार्य के लिए हम ही नियुक्त हैं[1]।"

इसी प्रकार चतुर्थ अङ्क में अमात्य राक्षस, कुमार मलयकेतु को कहते हैं—

"हाँ, असमर्थ है। क्यों? क्योंकि यह स्वायत्तसिद्धि राजाओं में ही हो सकता है। दुरात्मा चन्द्रगुप्त तो सचिवायत्तसिद्धि है। जिस प्रकार विकल चक्षुवाले मनुष्य के लिए लोकव्यवहार अप्रत्यक्ष होता है, उसी तरह चन्द्रगुप्त के लिए भी सब लोकव्यवहार अप्रत्यक्ष है[2]।"

---

१. वृषल! श्रूयताम्, इह खल्वर्थकारास्त्रिविधां सिद्धिमुपवर्णयन्ति। राजायत्तां, सचिवायत्तामुभयायत्तां चेति। तत्र सचिवायत्तसिद्धेस्तव किं प्रयोजनमन्वेषणेन। यतो वयमेवात्र नियुक्ताः वेत्स्यामः।

२. बाढमसमर्थः। कुतः स्वायत्तसिद्धिषु तत्सम्भवति। चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा नित्यं सचिवायत्तसिद्धावेव स्थितचक्षु-

इन उद्धरणों को पढ़कर इसमें कोई भी सन्देह नहीं रह जाता कि सम्राट् चन्द्रगुप्त परिमित शक्तिवाले सम्राट् थे, उनकी शक्तियाँ सबसे पहले मन्त्रि-परिषद् द्वारा ही नियन्त्रित थीं।

(ख) पौर-जानपद

केन्द्रित सरकार में मन्त्रि-परिषद् की रचना पर हम विचार कर चुके। प्रश्न यह है कि केन्द्रित शासन के लिए इस परिषद् के सिवाय अन्य कोई सभा-समिति आदि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में विद्यमान थी या नहीं? सर्वसाधारण जनता की आवाज़ से राजकीय कार्यों को प्रभावित करने के लिए कोई अन्य संगठन मौजूद था या नहीं? इस कठिन प्रश्न का उत्तर सरलता से नहीं दिया जा सकता। प्रो० काशीप्रसाद जायसवाल ने इस प्रश्न पर बहुत विस्तार से विचार किया है। उन्होंने कल्पना की है कि प्राचीन काल में 'पौर-जानपद' नाम की दो सभायें होती थीं, जिनमें सर्व-साधारण जनता के प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे और इन सभाओं का राज्य में बहुत महत्त्व था। श्रीयुत जायसवाल ने जिस युक्ति-परम्परा से अपनी स्थापना सिद्ध की है, उसे हम संक्षेप से यहाँ उल्लिखित करते हैं—

प्राचीन साहित्य में 'पौर-जानपद' शब्द बहुत स्थानों पर आते हैं। ६०० ई० पू० से लेकर ६०० ई० प० तक के समय में भारत में राज्य को दो भागों में विभक्त किया गया है,—राजधानी या पुर और जनपद। राजधानी के लिए पुर, नगर और दुर्ग शब्दों का प्रयोग हुआ है। इसी तरह जनपद के लिए जनपद के सिवाय राष्ट्र और देश का भी प्रयोग किया गया है। अब तक 'जानपद' और 'पौर' के अर्थ जनपद का निवासी और पुर का

विकल इव अप्रत्यक्षलोकव्यवहारः कथमिव स्वयं प्रतिविधातुं स्यात्........"

१. देखो—K. P. Jayaswal, 'Hindu Polity,' Part II, Ch. XXVII और XXVIII.

निवासी—यही किये जाते रहे हैं। परन्तु ये पारिभाषिक शब्द हैं। यदि हम प्राचीन साहित्य का अध्ययन करें, तो यह स्थापना अच्छी तरह परिपुष्ट हो जाती है। रामायण में जब राजा दशरथ ने राम को राज्य देना चाहा, तो उसने पौर-जानपद सभा को बुलाया। इस प्रसङ्ग में वाल्मीकि कहते हैं—

'ब्राह्मणाः बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह,
उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम्,
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः ॥'

इससे स्पष्ट है कि 'पौर-जानपद' संगठित सभायें हैं। यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पिछले श्लोक में 'उपतिष्ठति' क्रिया एकवचन है अतः कर्ता भी एकवचन ही होना चाहिए। कर्ता है 'पौरजानपदाः', जो कि बहुवचन है। असल तौर पर कर्ता एकवचन ही है और शुद्धपाठ 'पौरजानपद' ही होना उचित है। यह शुद्ध पाठ रामायण की कुछ हस्त-लिखित प्रतियों में पाया भी जाता है। इस प्रकार 'पौरजानपदः' के एकवचन होने पर इसके एक संगठित सभा होने में कोई भी सन्देह नहीं रह सकता।

मानवधर्म-शास्त्र में भी 'जाति', 'जानपद' और 'श्रेणि' के धर्मों को स्वीकृत करने के लिए कहा गया है[1]। यह हमें निश्चितरूप से मालूम है कि 'जाति' और 'श्रेणि', संगठित या सामूहिक संस्थायें थीं,[2] इसके साहचर्य से 'जानपद' को भी एक संगठित सभा स्वीकृत करना आवश्यक होगा।

---

१. जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित् ।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥
मनु० ८।४१।

२. इसके लिए देखो—Mukerji—Local Government in Ancient India. Mazumdar—Corporate Life in Ancient India. इस पुस्तक में भी इस विषय पर १२ वें अध्याय में संक्षेप से विचार किया गया है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में भी 'जाति', 'श्रेणि', 'गण' और 'जानपद' को संगठित संस्था के रूप में वर्णित किया गया है।[1]

इसी तरह मनुस्मृति में 'देशसंघ' और 'ग्रामसंघ' का वर्णन है[2]। हम पहले बतला चुके हैं कि 'देश' और 'जनपद' एक ही बात है।

कलिङ्गराज खारवेल के 'हाथीगुम्फा' शिलालेख ने तो इस बात का निर्णय ही कर दिया है। इस शिलालेख में कहा गया है कि 'जानपद' को राजा ने कुछ विशेष अधिकार दिये। इस शिलालेख में जानपद शब्द के साथ एकवचन का (जानपदम्) प्रयोग किया गया है।

जिस प्रकार 'जानपद' जनपद या देश का सङ्घ होता था, उसी तरह 'पौर' पुर या राजधानी की सभा होती थी। खारवेल के शिलालेख में एकवचनान्त 'पौर' (पौरम्) को भी विशेष अधिकार देने का वर्णन है। दिव्यावदान में भी लिखा है कि कुनाल ने पौर में प्रवेश किया। यहाँ भी 'पौर' एकवचनान्त है। इसका अर्थ यहाँ पर पौर-सभा के सिवाय और क्या हो सकता है ?

'वीर मित्रोदय' में स्पष्ट रूप से कहा गया है—'पौरः पुरवासिनां समूहः।' प्राचीन नीतिपुस्तकों में समूह भी एक पारिभाषिक शब्द है। इसका प्रयोग अनेक संगठित संस्थाओं के लिए किया गया है[3]।

---

१. व्यवहारान् स्वयं पश्येत् सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम्।
कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणाञ्जानपदानपि॥
याज्ञवल्क्य १।१६०।

२. यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन संविदम्।
विसंवदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद् विप्रवासयेत्॥
मनु ८।२१६।

३. यथा—
'समूहः वणिजादीनां पूगः सम्प्रकीर्तितः,
'आर्हतसौगतानां तु समूहः सङ्घ उच्यते। इत्यादि

यह पौरसभा राजधानी की शासिका-सभा (म्यूनिसिपैलिटी) भी थी और जानपद के साथ मिलकर राज्य के शासन का भी कार्य करती थी।

इतिहास में हम पढ़ते हैं कि सम्राट् विन्दुसार ने तक्षशिला के 'पौर' को यह आज्ञा भेजी थी कि वे यहाँ के 'उपराजा' को पदच्युत कर दें। इससे मालूम होता है कि यह पौर कोई संगठित सभा ही थी। प्राचीन साहित्य में जहाँ कहीं भी ये शब्द आते हैं और इनका इकट्ठा प्रयोग हुआ है, उन सब स्थलों से श्रीयुत जायसवाल ने यही सिद्ध किया है कि ये संगठित सभायें ही थीं।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी ये शब्द अनेक स्थलों पर आते हैं। इन स्थलों पर विचार करने से पूर्व यह प्रदर्शित करना आवश्यक है कि 'पौर-जानपद' सभाओं के कार्य क्या थे ?

'पौर-जानपद' सभाओं को युवराज नियत करने के लिए बुलाया जाता था। साथ में प्रसिद्ध ब्राह्मण और जनता के नेता भी एकत्रित होते थे। रामायण के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। जब दशरथ ने राम को युवराज बनाना चाहा तो 'पौर-जानपद' का अधिवेशन बुलाया गया और उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी।

इसी तरह यदि किसी राजपुत्र को 'पौर-जानपद', राज्य-प्राप्ति के अयोग्य समझते थे, तो उसे वे अनधिकारी उद्घोषित कर देते थे और वह राजगद्दी नहीं प्राप्त कर सकता था। 'पौर-जानपद' सभायें राजाओं को राजच्युत भी कर सकती थीं।

इस विषय पर हम अधिक विस्तार से नहीं लिखते। सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय इन सभाओं की सत्ता प्रदर्शित करना ही हमें अभिप्रेत है। कौटिलीय-अर्थशास्त्र में इनका ज़िक्र आता है। कौटिल्य लिखते हैं—

'जब महामन्त्री के साथ मिलकर राजा राज्य के बड़े पदाधिकारियों का भेद ले चुके, उनके शौचाशौच का ज्ञान कर

चुके तो 'पौर-जानपदों' का भेद लेने के लिए गुप्तचरों का प्रयोग करे।

परस्पर प्रतिद्वन्द्वी बने हुए गुप्तचर तीर्थ सभाशाला और पूगसमवाय (पौरसभा) तथा जनसमवाय (जानपदसभा) में वाद-विवाद करते हुए जावें और इस प्रकार झगड़ने लगें—"सुनते तो यह हैं कि यह राजा सर्वगुणसम्पन्न है, परन्तु हमको तो इसमें कोई गुण दिखलाई नहीं देता। यह पौर-जानपदों पर दण्ड तथा कर लगाकर अत्याचार करता है।" वहाँ पर जो लोग राजा की प्रशंसा करें, उनको गुप्तचर इस प्रकार कहे—'मात्स्य-न्याय से अभिभूत होने पर लोगों ने मनु को अपना राजा बनाया। उसके बदले में धान्य का छठा भाग, व्यापारीय द्रव्य का दसवाँ भाग तथा हिरण्य देना स्वीकृत किया। उसी को लेकर राजा प्रजा का कल्याण करते हैं[1]।'

इस उद्धरण से जहाँ 'पौर-जानपद' सभाओं की सत्ता सिद्ध होती है, वहाँ इनके कार्यों के प्रति भी कुछ निर्देश मिलता है। राजा को इस बात की चिन्ता रहती थी कि 'पौर-जानपद' की

---

१. 'गूढपुरुषप्रणिधिः कृतमहामात्यापसर्पः पौरजानपदानपसर्पयेत् सत्रिणो द्वन्द्विनस्तीर्थसभाशालापूगजनसमवायेषु विवादं कुर्युः.........'

'तीर्थसभा शाला पूगजनसमवाय' का अर्थ जायसवाल ने इस प्रकार किया है—

(i) तीर्थ सभाशाला समवाय—or the sectional sub-assembly of the Paura in charge of the sacred places and public buildings.

(ii) पूगसमवाय or the sub-assembly in charge of trades and manufactures.

(iii) जनसमवाय—or the popular assembly that is what the मृच्छकटिक calls the जनपदसमवाय।

क्या सम्मति है। वह उनकी सम्मति को जानने तथा उसको परिवर्तित करने की कोशिश करता रहता था।

राज्यकर के ऊपर पौर-जानपद का विशेष अधिकार था। साधारणतया करों का निश्चय रीति-परम्परा के अनुसार होता था। परन्तु बहुत बार राजा को विशेषरूप से धन की आवश्यकता होती थी। इसके लिए असाधारण कर लगाने पड़ते थे। इन करों के लिए 'पौर-जानपद' की ही शरण लेनी आवश्यक थी इसीलिए कौटिल्य कहते हैं—

"समाहर्ता धन एकत्रित करने का प्रयोजन बतला कर 'पौर-जानपद' से भिक्षा माँगे।... राजा स्वयं पौर-जानपद से अपील करे[1]।" प्रायः 'पौर-जानपद' सभा में राजा की करनीति पर विचार हुआ करता था, तभी तो भेद लेनेवाले गुप्त-चरों ने भी इसी विषय का अनुसरण करना उचित समझा, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं।

चाणक्य ने शत्रुदेश की पौर-जानपद-सभा का भी अपनी कुटिल नीति में उपयोग किया है। आप लिखते हैं—"शत्रु के दुर्ग में गुप्तचर शून्यपालों के मित्र बन कर उनसे घनिष्ठता स्थापित कर लें। (शून्यपाल का अर्थ है—स्थानापन्न राजा या Regent; राजा तो युद्ध के लिए गया हुआ है, पीछे उसके प्रतिनिधि शून्यपाल के साथ कौटिल्य के गुप्तचरों ने मित्रता स्थापित कर ली है) और पौर-जानपद के साथ मैत्री स्थापित करने के लिए उन्हें कहें—'शून्यपाल ने राजकर्म्मचारियों तथा फौजों को कहा है कि राजा भयङ्कर सङ्कट में पड़ गया है। अब उसका जीते जी लौटना असम्भव है। यदि ज़बर्दस्ती धन एकत्रित करके शत्रुओं का नाश न किया गया तो राजा का जीवित लौटना सम्भव नहीं।' जब पौर-जानपद शून्यपाल की इस माँग पर

१. समाहर्त्ता कार्यमपदिश्य पौरजानपदान् भिक्षेत।
एतेन प्रदेशेन राजा पौरजानपदान् भिक्षेत।"
कौ० अर्थ० ५। २।

सम्मति देने के लिए एकत्रित हों, तो तीक्ष्ण गुप्तचर उनके नेताओं को मरवा दें और प्रसिद्ध कर दें—इन्हें इसलिए मारा गया है, क्योंकि इन्होंने शून्यपाल की आज्ञा का विरोध किया था। फिर वे गुप्तचर ही शून्यपाल के स्थान पर खून से लथपथ हथियार आदि को फेंक दें और लोगों में फैला दें कि शून्यपाल ने ही इनका वध किया है[१]।" इस चाल का उद्देश्य शत्रु-देश में परस्पर विरोध फैलाना है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह भी पता लगता है कि ये पौर-जानपद-सभायें राजा से प्रायः 'अनुग्रह' की याचना किया करती थीं और इस अनुग्रह का स्वरूप प्रायः आर्थिक होता था, अर्थात् दुर्भिक्ष, आक्रमण आदि के समय कर से सर्वथा मुक्ति या कर को कम करने की माँग पेश की जाती थी। इसी लिए चाणक्य लिखते हैं—'शत्रु-देश में गुप्तचर पौर-जानपदों को भड़कावें कि तुम्हारे यहाँ दुर्भिक्ष पड़ा हुआ है, चोर और डाकुओं ने अशान्ति मचा रखी है, राजा से कर-मुक्ति या अनुग्रह की याचना करो और कहो कि अगर अनुग्रह नहीं करोगे तो और देश में चले जावेंगे'[२]। इस नीति का उद्देश्य भी शत्रु-देश में आन्तरिक विरोध फैलाना है।

अपने देश के लिए तो चाणक्य लिखते हैं—'पौर-जानपदों की याचना पर कर का परिहार कर दे या कुछ कमी कर दे, क्योंकि ऐसा करना कोशवृद्धिकर ही होता है, परन्तु ऐसे अनुग्रह और परिहार न करे जिनसे कोश का विनाश होता हो।' फिर

---

२. देखो कौ० अर्थ० अधि० १२ अध्याय २।

१. 'दुर्भिक्षस्तेनाटव्युपघातेषु च पौरजानपदानुत्साहयन्तः सत्रिणो ब्रूयुः राजानमनुग्रहं याचामहे निरनुग्रहाः परत्र गच्छाम इति।'

कौ० अर्थ० अधि० १३ अ० १।

आचार्य कहते हैं—'कोश के कम हो जाने पर राजा पौर-जानपद की ही शामत लेता है[1] ।'

इन उद्धरणों से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि कर का बढ़ाना, हटाना या कम करना 'पौर-जानपद' के ही अधीन था। इन सभाओं का कार्य इतना अधिक था कि राजा को प्रतिदिन इनके लिए समय देना पड़ता था। तभी कौटिल्य ने दिन के द्वितीय भाग में राजा के लिए पौर-जानपदों का कार्य अवलोकन करने का विधान किया है[2] ।

सम्राट् अशोक के इतिहास का अध्ययन करते हुए हम इस 'पौरजानपद' के विषय में और अधिक विचार करेंगे। परन्तु जो प्रमाण ऊपर एकत्रित किये गये हैं, उनके अनुशीलन से चन्द्र-गुप्त-कालीन भारत की शासन-व्यवस्था में 'पौरजानपद' की सत्ता स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सभाओं के द्वारा भी सम्राट् चन्द्रगुप्त की शक्ति बहुत परिमित थी।

परन्तु श्री० काशीप्रसाद जायसवाल की इस स्थापना पर श्री० प्रो० विनयकुमार सरकार ने आशङ्का की है। आप लिखते हैं—

"के० पी० जायसवाल ने माडर्न रिव्यू फरवरी १९२० में 'हिन्दू-सम्राटों की अधीनता में हिन्दू पार्लमेंट' शीर्षक से जो लेख लिखा है, उसमें कोई भी प्रमाण इतना दृढ़ नहीं है जिससे कि जानपद एक 'संस्थाविशेष' है अर्थात् यह जनपद (देश) की सभा की संज्ञा है—यह सिद्ध हो सके। जो

---

१. 'अनुग्रहपरिहारो चैभ्यः कोशवृद्धिकरौ दद्यात्। कोशोपपातिकौ वर्जयेत्। अल्पकोशो हि राजा पौरजानपदानेव ग्रसते।'
कौ० अर्थ० २। १।

२. 'द्वितीये पौरजानपदानां कार्याणि पश्येत्।'
कौ० अर्थ० ८।१९।

साक्षियाँ एकत्रित की गई हैं, उनसे जानपद का एक पारिभाषिक शब्द होना सिद्ध नहीं हो सकता। जानपद का अर्थ है जनपद का निवासी, इससे अधिक इस शब्द का और कोई अभिप्राय नहीं निकल सकता। बेशक जानपद शब्द एकवचन में प्रयुक्त होता है। परन्तु इससे किसी को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए क्योंकि व्याकरण के 'जातौ एकवचनम्' सूत्र से ऐसे स्थलों पर एकवचन के होते हुए भी 'श्रेणि' अर्थ होता है।'

'खारवेल के हाथीगुम्फावाले शिलालेख में जो जानपद शब्द आया है, उसको भी असाधारण महत्त्व नहीं देना चाहिए। ... हमें केवल यही अभिप्राय लेना चाहिए कि खारवेल ने अपनी प्रजाओं की सन्तुष्टि के लिए साधन किये। उस सन्दर्भ का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि 'पार्लमेण्ट' को कोई विशेषाधिकार दिये गये।''

श्रीयुत सरकार का मतभेद होते हुए भी हम समझते हैं कि श्री जायसवाल का पक्ष बहुत पुष्ट है और सारे विषय को अध्ययन करने के पश्चात् उसको स्वीकृत करना ही उचित प्रतीत होता है।

(ग) अन्य विविध प्रभाव

प्राचीन भारत में राजा की शक्ति को नियंत्रित करने के लिए न केवल मन्त्रिपरिषद् और पौर-जानपद जैसी संस्थायें ही विद्यमान थीं, परन्तु अन्य भी अनेक इस तरह के प्रभाव थे, जिनके कारण राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते थे। उन प्रभावों का निर्देश किये बिना यह प्रकरण पूरा नहीं किया जा सकता।

प्राचीन राजाओं के नीति-निर्धारण में सार्वजनिक सम्मति या लोकमत अनेक प्रकार से प्रभाव डालता था। जहाँ लोकमत को प्रकट करने के लिए पौर-जानपद जैसी सभायें मौजूद थीं, वहाँ संन्यासी-ब्राह्मण भी इस कार्य को पूरा किया करते थे। यद्यपि वे नगर-बस्ती से बाहर जङ्गल में निवास किया करते

थे,[१] परन्तु देश की घटनाओं और नीति पर उनकी सदा नज़र रहती थी। जब वे राजा को कुपथ प्रवृत्त देखते थे, उसे कुमार्गगामी समझते थे, तो उसका विरोध करना उनका कर्तव्य हो जाता था। इसी लिए चाणक्य लिखते हैं—

'यदि ठीक तरह शासन न किया जाय, या राजनीति में काम क्रोध और अज्ञान आजावें, तो वानप्रस्थ और परिव्राजक लोग भी कुपित हो जाते हैं[२]।' ये ब्राह्मण बहुत ग़रीबी और सादगी के साथ जङ्गलों में निवास किया करते थे। राज्य पर इनका बहुत प्रभाव होता था। राजा लोग प्रायः इनकी सलाह से ही कार्य किया करते थे। राजा श्रीकृष्ण ने वृष्णिसंघ में विरोध हो जाने पर नारद से सलाह ली थी। अजातशत्रु ने लिच्छविसंघ पर आक्रमण करने से पूर्व अपने प्रधानामात्य वस्सकार को भगवान् बुद्ध से सम्मति लेने के लिए भेजा था। कोशल का राजा विडूडभ एक बार शाक्य जनतन्त्र पर आक्रमण करने से इसी लिए रुक गया था क्योंकि महात्मा बुद्ध ने उसे मना किया था। चन्द्रगुप्त के शासन से कुछ पूर्व ही जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तब उसकी बहुत से ऐसे नीतिज्ञ ब्राह्मणों से भेंट हुई थी। ये ब्राह्मण सिकन्दर के विरुद्ध भारतीय राजाओं को उभार रहे थे। एक बार एक ऐसे ब्राह्मण से सिकन्दर ने पूछा, 'तुम क्यों इस

---

१. देखो—Benoy Kumar Sarakar. 'The Political Institutions and Theories of the Hindus.'
पृष्ठ ७१

२. 'प्रदिष्टाभयस्थावरजङ्गमानि च ब्राह्मणेभ्यो ब्रह्मसोमारण्यानि तपोवनानि च, तपस्विभ्यो गोत्रपराणि प्रयच्छेत्।'
कौ० अर्थ० २। २।

३. दुष्प्रणीतः (दण्डः) कामक्रोधाभ्यामकारणं...वानप्रस्थपरिव्राजकान कोपयति।
कौ० अर्थ० १। ४।

राजा को मेरे विरुद्ध भड़काते हो ?' ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'मैं चाहता हूँ कि यदि वह जीवे तो सम्मानपूर्वक जीवे, नहीं तो सम्मानपूर्वक मर जावे।' कहा जाता है कि एक और ब्राह्मण संन्यासी सिकन्दर के पास आया और बोला—'तुम्हारा राज्य तो एक सूखी हुई खाल की तरह है, जिसका कोई गुरुता केन्द्र नहीं होता, जब सिकन्दर राज्य के एक पार्श्व पर खड़ा होता है, तो दूसरा पार्श्व विद्रोह कर देता है।'

तक्षशिला के एक वृद्ध दण्डी (Dandamis) को सिकन्दर के सम्मुख यह डर देकर बुलाने की कोशिश की गई कि 'सिकन्दर तो दुनिया के मालिक द्यौः (Zeus) का पुत्र है, यदि तुम उसके सामने नहीं जाओगे तो वह तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देगा।' यह सुनकर दण्डी ने उपेक्षाजनक हँसी हँस कर कहा—'मैं भी द्यौः का उसी तरह पुत्र हूँ, जिस तरह सिकन्दर। मैं अपने देश भारत से पूर्णतया सन्तुष्ट हूँ, जो कि माता की तरह मेरी पालना करता है।' उस दण्डी ने व्यङ्ग से यह भी कहा—'यदि सिकन्दर गङ्गा के पार के प्रदेश में जावेगा, तो (नन्द की सेना) उसे विश्वास दिला देगी कि वह अभी सारे संसार का स्वामी नहीं बना है[1]।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे निर्भीक ब्राह्मणों का राज्य पर बहुत प्रभाव पड़ता था। राजा की स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए ये बहुत बड़े प्रतिबन्ध थे। ये लोग सारे देश में ऐसी आग लगा देते थे, जो राजा का सर्वनाश करके ही छोड़ती थी। चाणक्य स्वयं एक त्यागी ब्राह्मण था, परन्तु नन्द के अपमान ने उसे क्रुद्ध कर दिया। परिणाम यह हुआ कि नन्द राजाओं का मूलसहित सर्वनाश हो गया। राजा भी सर्वदा इस बात में प्रयत्नवान् रहते थे कि प्रजा को प्रसन्न किया जावे। प्रजा को कष्ट देनेवाली बातों को दूर किया जावे। तभी तो कौटिल्य ने इस बात का अनुभव किया था कि 'जनता का को-

---

१. देखो K. P. Jayaswal—Hindu Polity.

सब कोपों से अधिक बढ़कर है'[1] कौटिल्य अच्छी तरह समझता था कि 'यदि राजा न भी हो और जनता की अवस्था अच्छी हो, तो राज्य अच्छी तरह चल सकता है'[2]।

कौटिल्य तो यहाँ तक कहता है—'ध्वजमात्रोऽयम्' राजा तो ध्वजमात्र है। असली कार्य करनेवाले तो और लोग हैं, राजा तो केवल राज्य की शोभा बढ़ाने के लिए है। बेशक, आचार्य चाणक्य के नेतृत्व से युक्त मन्त्रिपरिषद् के अधीन सम्राट् चन्द्रगुप्त 'ध्वजमात्र' ही थे। उनकी शक्तियाँ बहुत परिमित थीं। वे 'सचिवायत्तसिद्धि' थे।

राजा की शक्ति इतनी प्रतिबद्ध और नियन्त्रित थी, पर फिर भी राजा का व्यक्तित्व राज्य के लिए स्वाहा हुआ होता था। कौटिल्य तो राजा को राज्य की सम्पत्ति समझते हैं। राजा की प्रत्येक क्रिया पर, उसके पल पल पर राज्य का अधिकार था। न उसकी कोई स्वतन्त्र इच्छा थी, और न कोई स्वतन्त्र स्थिति। इसी लिए जन्म से ही राजा को इस तरह की शिक्षा दी जाती थी, इस तरह उसे विनीत किया जाता था कि उसकी स्वतन्त्र आकाङ्क्षायें सर्वथा नष्ट हो जावें। फिर उसे यह उपदेश करके कि 'तुम्हें प्रधान मन्त्री की आज्ञा का उस तरह अनुसरण करना है, जिस तरह शिष्य आचार्य की, पुत्र पिता की और भृत्य स्वामी की आज्ञा का पालन करता है',[3] उसके कान में यह मन्त्र फूँक दिया जाता था—

'प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, प्रजा के हित में ही राजा का हित है। हितकारक बात वह नहीं है, जो राजा को

---

१. प्रकृतिकोपः सर्वकोपेभ्यो गरीयान्।

२. अनायकमपि प्रकृतिसम्पन्नं राज्यं नीयते।

३. 'तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यस्स्वामिनमिव चानुवर्तेत'।

अच्छी लगती है, परन्तु हितकारक बात तो वह है जो प्रजा को प्रिय लगती है[१]।'

(२) केन्द्रित सरकार का संगठन

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में केन्द्रित सरकार का संगठन किस प्रकार का था, अब हम इस विषय पर विचार करेंगे। मौर्य चन्द्रगुप्त के समय राज्य पर शासन करने के लिए १८ महामात्य (महामात्र या उच्च-पदाधिकारी) होते थे। ये राज्य के सबसे बड़े पदाधिकारी होते थे। महाभारत और रामायण में भी इन १८ महामात्यों का वर्णन 'तीर्थ' के रूप में किया गया है। विष्णुगुप्त या चाणक्य के समकालीन और सहाध्यायी विष्णुशर्मा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक पञ्चतन्त्र में नारदोक्त अष्टादश तीर्थों का उल्लेख कर १८ प्रधान कर्मचारियों की परिगणना की है। कौटिल्य के अनुसार ये महामात्य निम्नलिखित हैं। मन्त्री, पुरोहित, समाहर्त्ता, सन्निधाता, सेनापति, युवराज, प्रदेष्टा, नायक, व्यावहारिक, कार्मान्तिक, मन्त्रिपरिषद् अध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, अन्तपाल, पौर, प्रशास्तृ, आन्तर्वंशिक, द्वारिक और आटविक[२]। इन बड़े पदाधिकारियों के अधीन अन्य अनेक विभाग होते थे। और प्रत्येक विभाग के पृथक् पृथक् अध्यक्ष होते थे। हम इन पर क्रमशः विचार करेंगे—

(१) मन्त्री और पुरोहित[३]—ये राज्य के कर्णधार होते थे सारे राज्य का सञ्चालन यही करते थे। राजा इन्हीं के साथ

---

१. प्रजासुखे सुखं राज्ञः, प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः, प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

२. तान् राजा स्वविषये मन्त्रिपुरोहितसेनापतियुवराजदौवारिकान्तर्वंशिकप्रशास्तृसमाहर्तृसन्निधातृप्रदेष्टनायकपौरव्यावहारिककार्मान्तिकमन्त्रिपरिषदध्यक्षदण्डदुर्गान्तपालाटविकेषु श्रद्धेयदेशवेषशिल्प......,

३. मन्त्रि और पुरोहित यद्यपि भिन्न भिन्न पद थे, परन्तु ये प्रायः परस्पर मिल कर ही कार्य करते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इनका प्रायः

मिल कर अन्य राजकर्मचारियों के शौचाशौच की परीक्षा लेता था,[1] प्रजा की सम्मति जानने के लिए गुप्तचरों को नियत करता था[2], संघराज्यों और विदेशों में अपनी नीति को सफल करने के लिए विविध प्रकार के गुप्तचरों की व्यवस्था करता था[3]। इन्हीं की सम्मति से राजा राजदूतों को नियत करता था और उनके द्वारा परराष्ट्र-नीति का सञ्चालन करता था[4]।

प्रतीत होता है कि शिक्षा का कार्य भी इन्हीं के अधीन होता था। इसी लिए कौटिल्य लिखते हैं[5]—

"मन्त्री और पुरोहित के साथ मिलकर भिन्न भिन्न पदाधिकारियों को राज्य के विभिन्न भागों में स्थापित करके उनके शौचाशौच की परीक्षा ले।' और फिर—'यदि कोई पुरोहित आज्ञा देने पर अछूत को वेद न पढ़ाये या अछूत का यज्ञ कराने से इन्कार करे तो उसको पदच्युत कर दे।'

एक साथ उल्लेख आया है। इनके कार्यों का निर्देश भी प्रायः एक साथ ही किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ समय के लिए ये दोनों पद सर्वथा एक ही हो गये थे। यही कारण है कि अष्टादश तीर्थों की गणना करते हुए इन्हें एक ही समझ लिया गया है और कौटिल्य ने इनके सिवाय १७ अन्य तीर्थ लिखे हैं। श्री जायसवाल ने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने बिना कारण प्रदर्शित किये अन्तिम तीर्थ 'आटविक' को छोड़ दिया है। मन्त्रि और पुरोहित के प्रायः एक साथ काम करने के कारण हमने इन पर साथ ही विचार किया है।

१. कौ० अर्थ० १ । १०
२. ,, ,, १ । ११ और १ । १२
३. ,, ,, १ । १४
४. ,, ,, १ । १६
५. ,, ,, १ । १०

ऐसा मालूम पड़ता है कि शिक्षा-विभाग मन्त्री और पुरोहित के अधीन था, इसके सिवाय अन्य विभागों पर भी उनका पूरा निरीक्षण था। चाणक्य चन्द्रगुप्त के मन्त्री और पुरोहित दोनों थे। वह चन्द्रगुप्त को 'ध्वजमात्र' रखकर स्वयं राज्य का संचालन करता था।

(२) समाहर्त्ता—(The Minister of Revenue) यह भी राज्य का बहुत महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी होता था। यह राजकीय कर को एकत्रित करता था[१] और जनपद शासन (Rural Administration) का सबसे उच्च कर्मचारी होता था[२]। राजकीय आय के सात मुख्य अङ्ग थे—दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज और वणिक्[३]। हम इन पारिभाषिक शब्दों की विस्तृत व्याख्या एक पृथक् अध्याय 'राजकीय आय-व्यय' में करेंगे। यहाँ समाहर्ता के कार्य को स्पष्ट करने के लिए और यह दिखाने के लिए कि इसके अधीन और कौन कौन से विभाग थे, इस विषय का संक्षेप में उल्लेख किया जाता है[४]।

'दुर्ग' से शुल्क, दण्ड, पौतव, नागरिक, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुरा, सूना, सूत्र, तैल, घृत, क्षार, सौवर्णिक, पैण्यसंस्था, वेश्या, द्यूत, वास्तुक, कारुशिल्पिगण, देवताध्यक्ष, द्वारादेय और बाहिरिकादेय का ग्रहण होता था।

'राष्ट्र' से सीता, भाग, बलि, कर, वणिक्, नदीपालस्तरः, पट्टन, विवीत, वर्तनी, रज्जू और चोररज्जू का ग्रहण होता था।

'खनि' से सुवर्ण, रजत, वज्र, मणि, मुक्ता, प्रवाल, लोह, लवण,

---

१. कौ० अर्थ० २। ६
२. ,, ,, २। ३५
३. ,, ,, २। ६
४. ,, ,, २। ६

भूमिप्रस्तर, रस और अन्य धातुओं का ग्रहण होता था।

'सेतु' से पुष्प, फल, वाट, षण्ड, केदार, मूल, और वाप का ग्रहण किया जाता था।

'व्रज' से गो, महिष, अजा, अवि, खर, उष्ट्र, अश्व, और अश्वतर का ग्रहण होता था।

'वन' से पशुद्रव्य, मृगद्रव्य, हस्ति, तथा अन्य जाङ्गलिक पदार्थों का ग्रहण किया जाता था।

'वणिक्पथ' से स्थलपथ तथा वारिपथ का ग्रहण किया जाता था।

उपरिलिखित सूची से समाहर्त्ता के कार्यों का अच्छा परिज्ञान हो सकता है। इन विस्तृत कार्यों का प्रबन्ध करने के लिए समाहर्त्ता के अधीन अनेक विभाग थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन विभागों का विस्तार से वर्णन है। हम यहाँ इनका निर्देश-मात्र करना ही पर्याप्त समझते हैं—

१. शुल्काध्यक्ष[1]—शुल्क-विभाग का अध्यक्ष, विविध प्रकार के व्यापार से सम्बन्ध रखने वाले करों को एकत्रित करता था।

२. पौतवाध्यक्ष[2]—तोल-माप का अध्यक्ष। तोल तथा माप के विविध परिमाणों का नियन्त्रण राज्य की तरफ़ से होता था, यह कार्य पौतवाध्यक्ष के अधीन था।

३. मानाध्यक्ष[3]—देश तथा काल को मापने के विविध साधनों का सञ्चालन तथा नियन्त्रण राज्य के अधीन था। यह कार्य मानाध्यक्ष करता था।

४. सूत्राध्यक्ष[4]—राज्य की तरफ़ से अनेक व्यवसाय चलाये जाते थे। विधवा, विकल अंगवाले मनुष्य, अनाथ लड़की, भिखारी, राज्य के क़ैदी, वेश्याओं की वृद्ध मातायें, वृद्ध

---

१. कौ० अर्थ० २। २१
२. ,, ,, २। १९
३. ,, ,, २। २०
४. ,, ,, २। २३

राजदासी, देवदासी आदि की रक्षा के लिए राज्य की ओर से काम दिया जाता था। इन कामों में सूत कातना, कवच बनाना, कपड़ा बुनना और रस्सी बटना विशेष थे। यह काम एक पृथक् अध्यक्ष के सुपुर्द था, जिसे सूत्राध्यक्ष कहा जाता था।

५. सीताध्यक्ष[1]—कृषिविभाग के अध्यक्ष को सीताध्यक्ष कहते थे। यह न केवल देश में कृषि की उन्नति पर विशेष ध्यान देता था, अपितु राजकीय भूमि पर दास, मज़दूर आदि से खेती भी करवाता था।

६. सुराध्यक्ष[2]—शराब का निर्माण तथा प्रयोग राज्य के अधिकार में था। सुराध्यक्ष शराब बनवाता था, उसको बिकवाने का प्रबन्ध करता था तथा शराब के प्रचार को नियन्त्रित करता था।

७. सूनाध्यक्ष[3]—यह देश के बूचड़खानों पर नियन्त्रण रखता था। बूचड़खानों के विषय में अनेक प्रकार के नियम थे। अनेकविध पशुओं और पक्षियों के घात का निषेध था। अनेक इस प्रकार के जङ्गल भी थे, जिनमें प्राणियों को मारना राजाज्ञा से निषिद्ध था। सूनाध्यक्ष न केवल देश भर के बूचड़खानों का निरीक्षण करता था, अपितु राजकीय बूचड़खाने का सब प्रबन्ध आदि भी करता था।

८. गणिकाध्यक्ष[4]—मौर्यकाल में वेश्याओं का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों से भी किया जाता था। इसलिए राज्य की ओर से बहुत सी वेश्याएँ रखी जाती थीं। इन राजकीय वेश्याओं के वेतन आदि सब निश्चित थे। केवल राजनीतिक प्रयोजनों के लिए ही नहीं, अपितु राजा

---

१. कौ० अर्थ० २ । २४
२. ,, ,, २ । २५
३. ,, ,, २ । २६
४. ,, ,, २ । २७

के स्नान, मर्दन, छत्रधारण, शिविका, पीठिका, रथ आदि के लिए भी राज्य की ओर से वेश्याओं को रखा जाता था। यह सारा महकमा गणिकाध्यक्ष के अधीन था। स्वतन्त्र वेश्याओं का सम्पूर्ण प्रवन्ध तथा निरीक्षण आदि भी इसी विभाग के अन्तर्गत था।

वेश्याओं के सिवाय नट, नर्तक, गायक, वादक, भांड, भाट, रस्सी पर नाच करनेवाले, तमाशा दिखानेवाले, चारण, स्त्रियों का व्यापार करनेवाले और खुफिया-विभाग में काम करनेवाली स्त्रियाँ गणिकाध्यक्ष के ही अधीन थीं।

९. मुद्राध्यक्ष[1]—देश से वाहर आने जाने के लिए मुद्राध्यक्ष से मुद्रा या पासपोर्ट लेना आवश्यक था। यह कार्य मुद्राध्यक्ष के अधीन था।

१०. विवीताध्यक्ष[2]—यह गोचरभूमियों का निरीक्षण करता था। चोर तथा हिंसक जन्तुओं से विवीतों या गोचरभूमियों को रक्षित रखता था। जहाँ पानी न हो वहाँ पशुओं के सुभीते के लिए पानी का प्रवन्ध करता था। इसके लिए तालाव और कूप वनवाये जाते थे। इसके सिवाय चोर तथा शत्रुओं से राज्य को सुचित रखना, जङ्गलात की सड़कों को ठीक रखना, व्यापारियों के माल की रक्षा करना, व्यापारियों के काफिले को वचाना आदि कार्य भी विवीताध्यक्ष के अधीन थे।

११. नावध्यक्ष[3]—जलमार्गों को पार करने का प्रवन्ध 'नावध्यक्ष' के अधीन था। छोटी वड़ी नदियों, समुद्रतटों तथा महासमुद्रों को पार करनेवाली वड़ी व छोटी नौकाओं का यही प्रबन्ध करता था। इस विषय का हमने पृथक् विस्तार के साथ वर्णन किया है।

---

१. कौ० अर्थ० २ । ३४
२. ,, ,, २ । ३३
३. ,, ,, २ । २८

१२. गोऽध्यक्ष[1]—राजकीय आय तथा सैनिक दृष्टि से राज्य की ओर से गऔं तथा अन्य उपयोगी पशुओं की उन्नति करने का विशेष प्रयत्न किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य की ओर से बड़ी बड़ी पशुशालायें थीं। इनका प्रबन्ध 'गोऽध्यक्ष' के अधीन था।

१३. अश्वाध्यक्ष[2]—सैनिक दृष्टि से घोड़ों का बहुत महत्त्व था। उनके पालन-पोषण, नसल में उन्नति आदि पर राज्य की ओर से बहुत ध्यान दिया जाता था। उनको युद्ध के लिए तैयार किया जाता था, विविध प्रकार की क़वायद आदि सिखाई जाती थीं।

१४. हस्त्यध्यक्ष[3]—यह हाथियों के पकड़ने, हस्तिवनों की रक्षा करने और हाथियों को पालने पर ध्यान देता था।

प्रतीत होता है कि खर, उष्ट्र, महिष, अज, अवि आदि के भी पृथक् विभाग होते थे और उनके पृथक् अध्यक्ष होते थे[4]।

१५. कुप्याध्यक्ष[5]—यह कुप्य पदार्थों का अध्यक्ष होता था। कुप्य पदार्थों से अभिप्राय शाक, तिन्नी के चावल, अर्जुन, महुआ, तिल, लोध्र, सागवान, शीशम, खैर, खिन्नी, शिरीष,

---

१. कौ० अर्थ० २।२६

२. ,, ,, २।३०

यद्यपि मुख्यरूप से अश्वों का प्रयोग सैनिक दृष्टि से होता था, परन्तु फिर भी इनकी उन्नति करना, नसल ठीक करना आदि कार्य्य 'अश्वाध्यक्ष' के अधीन होते थे और यह 'समाहर्त्ता' के अधीन होता था, न कि सेनापति के। क्योंकि 'सेनापति-प्रचार' में इसकी परिगणना नहीं की गई है। यही बात 'हस्त्यध्यक्ष' आदि के विषय में भी समझनी चाहिए।

३. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् २।३१

४. ,, २।३०

'तेन गोमण्डलं खरोष्ट्रमहिषमजाविकं च व्याख्यातम्।'

५. कौ० अर्थ० २।१७

विट्खैर, देवदार, ताल, राल, अश्वकर्ण, कत्था, मांसरोहिणी, रोहिणी, आम्रप्रियक, धव का फूल इत्यादि पदार्थों से है। इन कुप्य पदार्थों के सिवाय अनेक विध ओषधि, पत्र, पुष्प, लता, रस्सी, फल आदि का प्रबन्ध भी कुप्याध्यक्ष के अधीन था। अभिप्राय यह कि जङ्गलों में जो भी विविध पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उन सबको कुप्याध्यक्ष एकत्रित कराता था और उनको तैयार माल (Manufactured या Finished goods) के रूप में परिणत करने के लिए कारखानों में भेज देता था।

कुप्याध्यक्ष के अधीन दो और आवश्यक कर्मचारी होते थे। इन्हें द्रव्यपाल और वनपाल कहा जाता था।

१६. पण्याध्यक्ष[1]—इसे हम व्यापार-सचिव कह सकते हैं। यह न केवल स्वदेशी और विदेशी व्यापार को नियन्त्रित करता था, अपितु राज्य-द्वारा अधिकृत व निर्मित पदार्थों को बेचने का प्रबन्ध करता था। यह स्थलपथ तथा वारिपथ से आने जानेवाले स्थल वा जल में पैदा होनेवाले पदार्थों की उपयोगिता, अनुपयोगिता, बाजारी क़ीमत, उसका चढ़ाव-उतराव, माँग आदि का ज्ञान रखता था। साथ ही यह भी ख़्याल में रखता था, कि उनके विभाग, एकत्रीकरण, क्रय-विक्रय तथा प्रयोग का कौन सा समय है।

स्वदेशी वस्तुओं को विदेशों में बिकवाने का यह प्रबन्ध करता था, और विदेशी वस्तुओं के सम्बन्ध में अपनी नीति का निर्धारण करता था।

१७. लक्षणाध्यक्ष[2]—या सिक्कों का अध्यक्ष—सम्पूर्ण मुद्रापद्धति इसके अधीन होती थी। मौर्यकालीन सिक्के का नाम

---

१. कौ० अर्थ० २।१६

व्यापार के सम्बन्ध में 'राजकीय आय व्यय' तथा 'आर्थिक स्थिति' के अध्यायों में विस्तार से विचार किया गया है।

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र— २।१२

'पण' था। यह एक चाँदी का सिक्का होता था, जिसमें कि कुछ ताम्र तथा अन्य धातुएँ भी मिली होती थीं। पण के सिवाय 'अर्धपण', ' ादपण' तथा 'अष्टभागपण' नाम के सिक्के भी थे, जिस तरह आजकल रुपया, अठन्नी चवन्नी आदि हैं। इन सिक्कों को तैयार करने का काम लक्षणाध्यक्ष के अधीन था।

१८. आकराध्यक्ष[1] या खानों का अध्यक्ष—मौर्यकाल में खानों से धातुओं को निकालने का व्यवसाय बहुत उन्नत था। यह विभाग आकराध्यक्ष के अधीन था। इसके नीचे निम्नलिखित अन्य अध्यक्ष होते थेः—

क. लोहाध्यक्ष

ख. लवणाध्यक्ष

ग. खन्यध्यक्ष

घ. सुवर्णाध्यक्ष[2] आदि

१९. देवताध्यक्ष[3]:—

२०, सौवर्णिक या टकसाल का अध्यक्ष—इसका कार्य मुद्राओं का निर्माण होता था। टकसाल का सम्पूर्ण कार्य इसके अधीन था।

इन भिन्न भिन्न विभागों के सिवाय 'समाहर्त्ता' के निरीक्षण में जनपद का सम्पूर्ण शासन भी होता था।[4] हम पहले लिख चुके हैं, कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय भारत का विस्तृत साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभक्त था। इन जनपदों पर शासन

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्रम् २।१२

२. ,, ,, २।१३

३. ,, ,, २।६

४. ,, ,, २।१

'अष्टशतग्राम्यमध्ये स्थानीयं, चतुश्शतग्राम्या द्रोणमुखम्, द्विशतग्राम्या खार्वटिकम्, दशग्रामी संग्रहेण संग्रहण स्थापयेत्।'

करने के लिए प्रान्तीय शासक नियत किये जाते थे। इस सम्पूर्ण स्थानीय शासन का उच्चतम अधिकारी समाहर्त्ता होता था। कौटिल्य के अनुसार जनपद को पहले 'स्थानीय' नाम के विभागों में विभक्त करना चाहिए। फिर प्रत्येक स्थानीय को 'द्रोणमुख' नामक उपविभागों में, फिर प्रत्येक 'द्रोणमुख' को 'खार्वटिक' नामक विभागों में; और फिर प्रत्येक 'खार्वटिक' को 'सङ्ग्रहण' नामक विभागों में विभक्त करना चाहिए। आज-कल भी प्रान्त, कमिश्नरी, ज़िला, तहसील, ताल्लुक़ा आदि उपविभाग प्रचलित हैं।

समाहर्त्ता के अधीन स्थानीय शासन (Local Government) का क्या स्वरूप था, इसका विवेचन हम फिर करेंगे।

(३) सन्निधाता—(The Minister of Treasury) मौर्य चन्द्रगुप्त के समय में सन्निधाता भी मन्त्रि, पुरोहित और समाहर्त्ता की तरह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण महामात्य (राजपदाधिकारी) होता था।[1] यह राजकीय कोष का स्वामी होता था और उसका सञ्चालन करता था। यह आय-व्यय का परिज्ञान रखता था और राजकीय आय-व्यय (Finance) का कार्य इसी के अधीन था। कौटिल्य लिखते हैं—'सन्निधाता को सैकड़ों वर्ष की बाहरी तथा अन्दरूनी आय-व्यय का परिज्ञान होना चाहिए, जिससे कि वह बिना किसी संकोच के व घबराहट के व्ययशेष (Net income या surplus) को बतला सके।'[2]

सन्निधाता के अधीन अनेक विभाग थे। कौटिल्य ने इनका परिगणन इस प्रकार किया है—कोशगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार,

---

१. कौटिलीयमर्थशास्त्रम् २।५

२. ,, ,, २।५

'बाह्यमाभ्यन्तरं चायं विद्याद्वर्षशतादपि।
यथापृष्ठो न सज्येत व्ययशेषं च दर्शयेत् ॥'

कुप्यगृह, आयुधागार और बन्धनागार[1]। हम इन पर क्रमशः संक्षेप में विचार करेंगे।

१. कोशगृह[2]—इस विभाग के अध्यक्ष को कोशाध्यक्ष कहते थे। कोशाध्यक्ष कोशगृह में विविध पदार्थों का संचय करता था। कोशगृह के विषय में चाणक्य इस प्रकार लिखते हैं—"एक चौकोन बावड़ी खोदी जाय, जिसमें न पानी हो और न नमी। उसे चारों ओर बड़े बड़े पत्थरों से पक्का बनाया जाय। उसके अन्दर पक्की लकड़ी का पिँजरे की तरह एक मकान बनाया जाय, जो तिमञ्ज़िला हो, अनेक कमरों से युक्त हो। इस मकान में दरवाज़ा केवल एक ही हो। फ़र्श पत्थर का पक्का बना हुआ हो। इसमें 'यन्त्रयुक्त सोपान' (ऐसी सीढ़ी जिसका उपयोग यन्त्र द्वारा होता हो, कहीं अभिप्राय Lift से तो नहीं है?) लगी हो और देवता स्थापित किया गया हो।"

'इसके ऊपर कोशगृह बनाया जाय। कोशगृह में एक भी दरवाज़ा न हो, दीवारें ईंट की बनी हुई हों, और चारों ओर खाई से घिरा हो।[3]'

इस सुदृढ़ और पूर्णरूप से सुरक्षित कोशगृह में राज्य-कोश को सञ्चित किया जाता था। कोशगृह में कोशप्रवेश योग्य रत्न, सार, फल्गु और कुप्य पदार्थों को, उन उन वस्तुओं की जाँच करने में कुशल लोगों से जाँच करवा कर संगृहीत किया जाता था। कौटिल्य ने इन सब वस्तुओं के गुणों और अवगुणों पर विस्तार के साथ लिखा है। उसके पढ़ने से प्रतीत होता है कि मौर्य चन्द्रगुप्त के समय रत्नों के सैकड़ों भेद लोगों को

---

१. कौटिलीय अर्थशास्त्र २।५
२. ,, ,, २।११
३. ,, ,, २।५

ज्ञात थे। उनको बड़े शौक और प्रयत्न के साथ संगृहीत किया जाता था। चन्दन, अगर तथा अन्य बीसियों भाँति की सुगन्धित लकड़ियों का 'सार' शब्द से ग्रहण होता था। विविध तरह की खालें, चमड़ा, ऊन आदि का भी कोशगृह में संग्रह किया जाता था। कोशाध्यक्ष उत्तम से उत्तम माल प्राप्त करने तथा उसे सुरक्षित रूप से संगृहीत करने में सचेष्ट रहता था। इसी लिए कौटिल्य ने लिखा है—'कोशाध्यक्ष का कर्तव्य है कि वह रत्नों के मूल्य, प्रमाण, लक्षण, जाति, रूप, प्रयोग, पुरानों का संशोधन, नया बनाना, देश तथा काल के अनुसार घिसना तथा नष्ट होना, मिलावट, हानि का प्रत्युपाय आदि भिन्न भिन्न बातों का परिज्ञान प्राप्त करे।'

२. पण्यगृह[1]—जिस प्रकार कोशगृह में राजकीय कोश संगृहीत किया जाता था, उसी तरह पण्यगृह में राजकीय पण्य (विक्रेय पदार्थ) एकत्रित किये जाते थे। पण्याध्यक्ष राजकीय व्यापारिक पदार्थों के क्रय-विक्रय की फ़िक्र करता था। पण्यगृह के विषय में अर्थशास्त्र में लिखा है—'पण्यगृह की दीवारें तथा खंभे पक्की ईंटों के बनाये जायँ। एक दरवाज़ा हो। बहुत से कमरे तथा बहुत से स्तम्भ हों। यह चारों ओर मकानों से घिरा हुआ हो।'[2]

पण्याध्यक्ष के कार्यों का संक्षिप्त उल्लेख हम 'समाहर्ता' के प्रकरण में कर चुके हैं। यहाँ पर इसके दुबारा उल्लेख पर आश्चर्य न करना चाहिए। पण्याध्यक्ष एक द्वितीय श्रेणी का राजपदाधिकारी होता था, जिसका कार्य राजकीय पण्य का परिचालन करना और देश के व्यापार का निरीक्षण करना होता था। इसका समाहर्त्ता

---

१. कौटिलीयमर्थशास्त्रम् २।१६

२. ,, ,, २।५

और सन्निधाता दोनों से ही सम्बन्ध था। समाहर्त्ता और सन्निधाता के भेद पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जावेगी। कुप्यगृह और कुप्याध्यक्ष के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए।

३. कोष्ठागार[1]—कोष्ठागाराध्यक्ष कोष्ठागार में निम्नलिखित स्थानों व विभागों से प्राप्त पदार्थों को संगृहीत करता था—कृषि से उत्पन्न पदार्थ (सीता); 'राष्ट्र'[2] शब्द से जिनका ग्रहण किया जाता है, उनसे प्राप्त पदार्थ, क्रीत पदार्थ, परिवर्तन (Barter) में प्राप्त पदार्थ, फिर वापिस कर देने की प्रतिज्ञा कर प्राप्त, शस्य आदि पदार्थ, चावल, तेल, शराब आदि तैयार माल, नुक़सान हुई तथा खोई हुई वस्तुएँ, व्ययप्रत्याय, व्याजी तथा उपस्थान।

कोष्ठागार में जो पदार्थ एकत्रित किये जाते थे, उनका प्रयोग राजकीय ख़र्च के लिए किया जाता था। हस्ति, अश्व, पदाति आदि सेना के ख़र्च के लिए कोष्ठागार से ही धन द्रव्य आदि लिया जाता था। राजकीय नौकरों, मजूरों तथा दासों का भी इसी से पालन होता था। दुर्भिक्ष आदि आपत्ति के समय राज्य की तरफ़ से दुर्भिक्ष-पीड़ितों को कोष्ठागार से ही मुफ़्त धन बांटा जाता था।[3]

४. कुप्यगृह[4]—इसमें कुप्य पदार्थों को एकत्रित किया जाता था।

---

१. कौटिलीयमर्थशास्त्रम् २।१५

२. 'राष्ट्र' का अर्थ विस्तृत रूप से 'राजकीय आय-व्यय' प्रकरण में लिखा गया है।

३. कौ० अर्थ० ४।३

४. " २।३६

५. आयुधागार[1]—इसके लिए एक पृथक् अध्यक्ष होता था; जिसे आयुधागाराध्यक्ष कहते थे। आयुधागार में विविध प्रकार के हथियारों को एकत्रित किया जाता था। कौटिल्य ने विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। आयुधागाराध्यक्ष न केवल हथियारों को सुरक्षित रूप से संगृहीत रखता था, अपितु हथियार तैयार कराने का काम भी इसी के अधीन था। हथियारों की सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था, इसी लिए कौटिल्य ने लिखा है—'बारंबार उनके (आयुधों के) स्थानों का परिवर्तन करे और धूप तथा हवा लगने का प्रबन्ध करे। जो हथियार भाप, नमी, गरमी, सरदी, कीड़े से ख़राब हो जानेवाले हैं, उनको अन्यत्र रखे। उनका जाति, रूप, लक्षण, प्रमाण (आकृति), आगम (प्राप्ति) मूल्य तथा गुण के अनुसार वर्गीकरण करे।' अन्त में फिर लिखते हैं—'आयुधेश्वर' या आयुधागाराध्यक्ष युद्ध-उपयोगी पदार्थों की माँग, उत्पत्ति, उपलब्धि, प्रयोग, उत्पत्ति-व्यय तथा क्षय व्यय (नाश तथा ख़र्च) का ज्ञान प्राप्त करे।'

६. वन्धनागार[2]—इसके विषय में चाणक्य लिखते हैं—'बन्धनागार के संपूर्ण कमरे सब ओर से सुरक्षित हों और स्त्री तथा पुरुष के रहने के लिए कमरे पृथक् पृथक् बने हों।' बन्धनागार का भी एक पृथक् अध्यक्ष होता था, परन्तु यह सन्निधाता के अधीन था।

इस प्रकार मौर्य चन्द्रगुप्त के समय में सन्निधाता राज्य का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण महामात्य (राज्यपदाधिकारी) होता था, जिसके नीचे अनेक आवश्यक विभाग थे।

---

१. कौ० अर्थ० २।३६

२. ,, ,, २।५

(४) सेनापति[1] (The Minister for the Army)

सेनापति युद्ध-विभाग का प्रधानतम पदाधिकारी होता था। इसके नीचे अन्य अनेक पदाधिकारी होते थे। मैगस्थनीज़ ने मौर्य चन्द्रगुप्त की सेना का वर्णन किया है। सैनिक संगठन के विषय में वह लिखता है—

"नगर के शासकों के बाद एक तीसरा शासकवर्ग है, जो सैनिक विभाग का सञ्चालन करता है। इसके भी ६ विभाग हैं, प्रत्येक विभाग में ५, ५ सदस्य हैं।

प्रथम विभाग जहाज़ी बेड़े के अध्यक्ष (Admiral of the Fleet) के साथ सहयोग करने के लिए नियत किया गया है।

दूसरा विभाग सेना के लिए उपयुक्त खाद्य-सामग्री तथा युद्धोपयोगी उपकरण यथासमय आवश्यकतानुसार पहुँचाने का कार्य करता है और गाड़ियों के अध्यक्ष की सहायता करता है।

तीसरा विभाग पदाति सेना का निरीक्षण करता है।

चौथे विभाग के अधीन घुड़सवार सेना का प्रबन्ध है।

पाँचवाँ विभाग रथ सेना का प्रबन्ध करता है।

छठा विभाग हस्ति-सेना का प्रबन्ध करता है।

हाथियों और घोड़ों के लिए राजकीय अश्वशालायें और हस्तिशालायें हैं। अस्त्र-शस्त्रों के लिए एक पृथक् आयुधागार भी है, क्योंकि सिपाही को युद्ध से लौटने पर अपने हथियार आदि वापिस कर देने होते हैं।[2]"

मैगस्थनीज़ के इस उद्धरण से हमें मौर्यकालीन सैनिक

---

१. कौटिलीयमर्थशास्त्रम् २।२३

२. J. W. McCrindle : 'Ancient India as described by Megasthenes and Arrian,' p. 88.

संगठन का अच्छी प्रकार ज्ञान हो जाता है। कौटिल्य ने भी कुछ अस्पष्ट रूप से इसी सैनिक प्रबन्ध का वर्णन किया है। सैनिक संगठन के इन्हीं ६ विभागों का कौटिल्य ने नावध्यक्ष, गोऽध्यक्ष, पत्यध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्ष द्वारा वर्णन किया है। जहाँ तक इन विभागों का सैनिक स्वरूप था, सेना के साथ सम्बन्ध था, वहाँ तक ये सेनापति के अधीन थे। वस्तुतः इनका अधिक सम्बन्ध सेनापति के ही साथ था। यद्यपि हम ऊपर 'समाहर्त्ता' के अधीन इनका वर्णन कर चुके हैं, तथापि समाहर्त्ता के साथ इन विभागों का वहाँ तक सम्बन्ध था, जहाँ तक कि इनसे राजकीय आय में वृद्धि होती है। मैगस्थनीज़ के द्वारा इन अध्यक्षों के विषय में तो हमें ज्ञान मिलता ही है, साथ ही यह भी पता चलता है कि इनकी सहायता के लिए अनेक उप-समितियाँ भी होती थीं, जिनमें प्रत्येक में पाँच पाँच सदस्य होते थे। सेनापति कौन हो, इसके विषय में कौटिल्य लिखते हैं:—

'सेनापति सम्पूर्ण युद्धविद्या तथा अस्त्र-शस्त्र-विद्या में पारङ्गत हो। हाथी, घोड़े तथा रथ के सञ्चालन में समर्थ हो। वह चतु-रङ्ग (पदाति, अश्व, रथ, हस्ति) सेना के कार्य तथा स्थान का निरीक्षण करे। अपनी भूमि (मोरचा), युद्ध का समय, शत्रु की सेना, सुदृढ़ व्यूह का भेदन, टूटे हुए व्यूह का फिर से निर्माण, एकत्रित सेना का तितर-वितर करना, तितर-वितर हो जाने पर सेना का संहार करना, क़िले को तोड़ना, युद्ध-यात्रा का समय आदि बातों का हर समय ध्यान रखे।'

इस प्रकार सेनापति सेना-विभाग का मुख्यतम महामात्य होता था। परन्तु ध्यान रहे कि यह युद्ध-मन्त्री है न कि युद्ध करनेवाला। प्राचीन काल में सेनापति शब्द युद्ध-मन्त्री के लिए आता है। कमान्डर-इन-चीफ़ के लिए नायक शब्द है, इस पर हम पीछे विचार करेंगे।

(५) युवराजः—

प्राचीन भारत में यह प्रथा थी कि राजा अपने शासन-काल में ही अपने पुत्र या किसी अन्य योग्य व्यक्ति को लोकसभा की

अनुमति से युवराज बना दिया करते थे। युवराज जहाँ राजा की मृत्यु के पश्चात् राज्य का उत्तराधिकारी होता था, वहाँ अपने राजा के शासनकाल में भी बहुत कुछ कार्य करता था। सम्भवतः राजा की अनुपस्थिति में यही शून्यपाल (रीजैण्ट) का कार्य करता था। यह राजा के सब कार्यों में हाथ बटाता था और उसकी सहायता करता था।

(६) प्रदेष्टा (The Chief Justice of Administrative Court)

प्रदेष्टा का क्या अभिप्राय है, यह पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो सका है। श्रीयुत जायसवाल लिखते हैं—'इसके कार्यों का स्पष्ट रूप से हमें पता नहीं।' श्रीयुत भाण्डारकर तथा अन्य अनेक विद्वानों ने प्रदेष्टा और प्रादेशिक को एक कर दिया है। अशोक के शिलालेखों में प्रादेशिक शब्द अनेक स्थानों पर आया है। इन विद्वानों ने प्रादेशिक की व्याख्या करते हुए उसे प्रदेष्टा के साथ मिला दिया है। परन्तु हमारी सम्मति में यह उचित नहीं है। यदि हम कौटिलीय अर्थशास्त्र का ध्यानपूर्वक अनुशीलन करें, तो प्रदेष्टा का ठीक ठीक अर्थ जान सकना असम्भव नहीं है।

कौटिल्य लिखते हैं—'प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयो वाऽमात्याः कण्टकशोधनं कुर्युः।'[1]

कण्टकशोधन एक प्रकार के न्यायालय होते थे, जिन्हें हम वर्तमान समय के Administrative Court का स्थानापन्न समझ सकते हैं। अगले अध्याय में न्यायव्यवस्था पर विचार करते हुए हम इसका प्रतिपादन करेंगे। जिस प्रकार धर्मस्थीय[2] न्यायालयों का उल्लेख करते हुए न्यायाधीशों को 'धर्मस्थ' कहा गया है, उसी प्रकार 'कण्टकशोधन' न्यायालय के न्यायाधीशों को

१. कौ० अर्थ० ४।१

२. कौ० अर्थ० ३।१

'प्रदेष्टा' कहा गया है। कण्टक-शोधन के न्यायाधीश का ही नाम प्रदेष्टा होता था, इसके लिए हम निम्नलिखित अन्य प्रमाण भी उद्धृत कर सकते हैं—

कौटिल्य लिखते हैं– 'धर्मस्थं प्रदेष्टारं च विश्वासोपगतं सत्री ब्रूयात्...' इत्यादि[1]। यहाँ न्यायाधीशों के शौचाशौच का पता लगाने का प्रकरण है। इस प्रकरण में प्रदेष्टा शब्द का 'धर्मस्थ' के साथ होना, इसे भी एक विशेष प्रकार का न्यायाधीश होना सिद्ध करता है। अन्य अनेक स्थानों पर भी प्रदेष्टा धर्मस्थ के साथ आया है[2]।

प्रदेष्टा न केवल कण्टकशोधन का मुख्य न्यायाधीश होता था, अपितु इस तरह के प्रत्येक न्यायालय के न्यायाधीशों को प्रदेष्टा कहा जाता था। न्याय के सिवाय प्रदेष्टा के कुछ अन्य कार्य भी थे। 'कण्टकशोधन' का जो स्वरूप है, उसके अनुसार ये कार्य असंगत नहीं कहे जा सकते। ये कार्य निम्नलिखित हैं—

प्रदेष्टा समाहर्त्ता के साथ मिल कर विविध अध्यक्षों तथा अध्यक्षों के अधीनस्थ राजकर्मचारियों का नियमन करते थे। बेईमानी, चोरी, रिश्वत आदि से बचाव करते थे।[3]

प्रतीत होता है कि 'धर्मस्थ' न्यायाधीशों पर भी इनका कुछ अधिकार था।[4] ये लोग बलिग्रहण भी करते थे।[5]

(७) नायक (Commander-in-Chief)

नायक सेना का मुख्य सञ्चालक होता था। छावनी (स्कन्धावार) तैयार कराने का काम इसी के सुपुर्द था। यह बढ़ई

---

१. कौटिलीयमर्थशास्त्रम् ४।४

२. यथा 'धर्मस्थः प्रदेष्टा वा हैरण्यमदण्ड्यं क्षिपति' ।४।९

३. कौ० अर्थ० ४।९

४. ,, ,, ४।९

५. ,, ,, २।३५

तथा ज्योतिषी की सहायता से उत्तम भूमि पर छावनी का कैम्प बनवाता था। जिधर से शत्रु के आक्रमण का डर होता था, उधर खाई शहरपनाह दीवार तथा अटारी बनाई जाती थी। छावनी में विविध सेनाओं तथा विविध पदाधिकारियों के रहने के लिए पृथक् पृथक् स्थान होते थे। यह सम्पूर्ण प्रबन्ध नायक के सुपुर्द था।[1]

युद्ध के समय सबसे आगे आगे नायक चलता था।[2]

(८) व्यावहारिक (Chief Justice of धर्मस्थीय या Ordinary Courts)—व्यावहारिक धर्मस्थीय न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश को कहते थे, इसका दूसरा नाम 'धर्मस्थ' भी था।

(९) कार्मान्तिक (The Officer-in-charge of Manufactories)—मौर्यकाल में राज्य की ओर से अनेक व्यवसायों का सञ्चालन होता था। खानों, जङ्गलों, खेतों आदि से एकत्रित कच्चे माल को भिन्न भिन्न उपयोगों के लिए तैयार किया जाता था। इसके लिए राज्य की ओर से अनेक कारख़ाने थे। कार्मान्तिक का इन पर ही अधिकार था। इसके निरीक्षण में सबका सञ्चालन होता था। कौटिल्य लिखते हैं—'खानों से जो धातुएँ निकलें उनको अपने अपने कारख़ानों में भेज दिया जाय। जो माल पैदा हो उसको बेचने का एक स्थान पर प्रबन्ध किया जाय। इस नियम का पालन न करनेवाले क्रेता-विक्रेता तथा कर्त्ता (पक्का माल तैयार करनेवाला) को दण्ड दिया जाय।'[3]

(१०) मन्त्रिपरिषदध्यक्ष (The President of the Council)—हम ऊपर मन्त्रिपरिषद् का विस्तार से वर्णन कर चुके हैं। इसका अध्यक्ष भी प्रधानामात्यों में समझा जाता था। यह मन्त्रिपरिषद् के अधिवेशनों में अध्यक्ष बनता था। प्रतीत होता है कि मौर्य

१. कौ० अर्थ० १०।१
२. ,, ,, १०।२
३. ,, ,, २।१२

चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद् का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था, इसी लिए उसके अध्यक्ष का परिगणन महामात्यों में किया गया है।

(११) दण्डपाल (The Officer-in-charge of the Maintenance of Army)

हम सैनिक संगठन के अनेक पदाधिकारियों का वर्णन पहले कर चुके हैं। सेनापति युद्ध-विभाग का मन्त्री था, युद्ध-विभाग का सञ्चालन करता था। नायक छावनी का प्रवन्ध करता था और स्वयं युद्ध का नेतृत्व करता था, सेनाओं को चलाता था। दण्डपाल का कार्य इनसे भिन्न है। इसका काम सेना की स्थिति सम्पादित करना है। सेना की सब आवश्यकताओं को पूरा करना है, उसके लिए सब भाँति का प्रवन्ध करना है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसका उल्लेख वहुत कम आया है।

(१२) अन्तपाल (The Officer-in-charge of the Frontiers)—मौर्यकाल में सीमाओं का वहुत अधिक महत्त्व था। मौर्य सम्राटों ने पहले-पहल अपना साम्राज्य इतना अधिक विस्तृत किया था। जिस प्रकार मध्यकालीन यूरोपीय इतिहास में मार्श प्रदेशों का महत्त्व था उसी तरह मौर्य-साम्राज्य में सीमाओं का। सीमा-प्रदेश की रक्षा के लिए वहुत से विशेष दुर्ग बनाये गये थे। उनके द्वारा विदेशीय आक्रमणों से स्वदेश का वचाव किया जाता था। अपने देश में आने के जो मार्ग थे उनमें भी अन्तपाल की अध्यक्षता में अनेक सेनायें स्थापित थीं।[1] वर्तमान समय में भी भारत की पश्चिमोत्तर सीमा की रक्षा के लिए ब्रिटिश शासकों को वहुत अधिक सचेष्ट रहना पड़ता है। सीमाप्रान्त में अपनी रक्षा में अनेक ऐसी जातियों को भी वसाया जाता था, जो लड़ाई में ही आनन्द लेती थीं, जिनका पेशा ही युद्ध करना

१. अन्तेषु अन्तपालदुर्गाणि। जनपदद्वाराणि अन्तपालाधिष्ठितानि स्थापयेत्।

था।[1] इनको विविध प्रकार से अपने पक्ष में कर स्वदेश रक्षा का कार्य सम्पन्न किया जाता था। न केवल पश्चिमोत्तर सीमा पर, परन्तु भारतीय साम्राज्य के चारों ओर ऐसे दुर्ग बनाये गये थे, जिनमें हर समय युद्ध की तैयारी रहती थी।[2] भारत की अनेक-विध सीमा के कारण ये दुर्ग भी अनेक विध होते थे। पर्वतीय सीमा पर पार्वत-दुर्ग, जङ्गल प्रधान सीमा पर वन-दुर्ग और समुद्र से आवृत सीमा पर उदकदुर्ग बनाये गये थे।[3]

यह सम्पूर्ण विभाग अन्तपाल के अधीन था। वह मौर्य-साम्राज्य की रक्षा में सदा तत्पर और सजग रहता था।

(१३) दुर्गपाल[4] (The Officer-in-charge of Homedefence)—प्राचीन काल में यह प्रथा थी कि नगरों को किले की तरह बनाया जाता था। नगर के चारों ओर दीवार बनाई जाती थी और उसके चारों ओर खाई खुदी रहती थी। इसी लिए 'दुर्ग' शब्द प्रायः नगरों के लिए भी आता है। ये दुर्ग स्वदेश-रक्षा के लिए बहुत ही आवश्यक थे। कौटिल्य ने दुर्गों का विस्तार के साथ वर्णन किया है, उसको पढ़ने से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि सभी दुर्ग बड़े बड़े नगर थे और उनमें सब प्रकार के मनुष्य निवास करते थे। दुर्गपाल इन्हीं दुर्गों व नगरों का पदाधिकारी था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसका सम्बन्ध शासन की अपेक्षा सेना से अधिक था। क्योंकि दुर्गों के शासन के लिए एक पृथक् अमात्य की व्यवस्था की

---

१. तेषामन्तराणि वागुरिकशबरपुलिन्दचण्डालारण्यचरा रक्षेयुः। कौ० अर्थ० २। १

२. चतुर्दिशं जनपदान्ते साम्परायिकं देवकृतं दुर्गं कारयेत्।

३. अन्तर्द्वीपं स्थलं वा, निम्नावरुद्धमौदकं, प्रास्तरं गुहा वा पार्वतम्। इत्यादि। कौ० अर्थ० २। ३

४. देखो कौटिलीयमर्थशास्त्रम् २। ३ और २। ४

गई है। जिस प्रकार सीमा-प्रदेश के दुर्ग अन्तपाल के अधीन थे, उसी तरह साम्राज्य के अन्तर्वर्ती दुर्गों पर दुर्गपाल का अधिकार था।

(१४) पौर या नागरक [1] (The Governor of the Capital) जिस प्रकार समाहर्त्ता के अधीन जनपद का शासन (Rural Administration) था, उसी तरह पौर या नागरक के अधीन राजधानी का। हम पहले दिखला चुके हैं कि मौर्य-काल में साम्राज्य को शासन की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया हुआ था—जनपद और पुर। पुर का अभिप्राय है राजधानी। (पुरं मुख्यनगरम्) पुर के सिवाय अन्य छोटे बड़े नगर समाहर्त्ता के ही अधिकार में थे। नागरक पौर सभा की सहायता से राजधानी का शासन करता था। शासन के सुभीते के लिए पुर को अनेक भागों में विभक्त किया हुआ था। प्रत्येक विभाग के शासन के लिए विविध कर्मचारी नियुक्त थे। पुर के प्रत्येक चतुर्थ भाग पर 'स्थानिक' नामी कर्मचारी का अधिकार होता था। उसके अधीन गोप आदि अनेक कर्मचारी नियत थे।

(१५) प्रशास्ता [2] (The Officer-in-charge of Records) कौटिल्य लिखते हैं—'राजकीय लिखित आज्ञाओं पर ही शासन आश्रित है। सन्धि-विग्रह का मूल राजकीय आज्ञायें ही हैं,[3] और इसी लिए राजा लोगों के लिए लिखित आज्ञाओं की बड़ी मुख्यता है, अतः एक ऐसे आदमी को जिसमें अमात्य के सब गुण विद्यमान हों, जो सब 'समयों'[4] का ज्ञान रखता हो, जिसको

---

१. कौ० अर्थ० २। ३६

२. ,, ,, २। १०

३. शासने शासनमित्याचक्षते। शासनप्रधाना हि राजानः, तन्मूलत्वात् सन्धि-विग्रहयोः।

४. 'समय' एक पारिभाषिक शब्द है। प्राचीन नीतिग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया है कि राजा 'कुल, श्रेणि, गण, सङ्घ आदि के

सब ग्रन्थों (Records) के साथ पूर्ण परिचय हो, जिसका लेख सुन्दर हो और जो पढ़ने और लिखने में बहुत निपुण हो, ऐसे व्यक्ति को लेखक बनाया जाय।

हमारा विचार है कि इसी लेखक को अष्टादश तीर्थों में प्रशास्ता शब्द से कहा गया है। 'शासन' की जो मुख्यता कौटिल्य ने प्रतिपादित की है, उसको देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसके अमात्य का भी परिगणन तीर्थों या महामात्यों में अवश्य होना चाहिए। 'शासन' का पदाधिकारी ही 'प्रशास्ता' शब्द से कहा गया है। यह प्रशास्ता न केवल सब राजकीय आज्ञाओं को सुरक्षित रखता था, परन्तु सब विभागों का लेख-सम्बन्धी कार्य इसी के अधीन होता था। पत्र-व्यवहार-सम्बन्धी सब कार्य इसी के निरीक्षण में होता था।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम मौर्यकालीन प्रधान राजकीय कार्यालय के विषय में भी कुछ परिज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। कौटिल्य ने इस राजकीय प्रधान कार्यालय को 'अक्षपटल' शब्द से कहा है। आप लिखते हैं—'अक्षपटल का अध्यक्ष अक्षपटल को इस तरह से बनवावे, जिससे कि मुख्यद्वार पूर्व दिशा या उत्तर दिशा की ओर हो, विविध कर्मचारियों के बैठने के स्थान पृथक् पृथक हों। विविध रजिस्टर (निबन्ध-पुस्तक) अपने अपने स्थानों पर रखे हों। इनमें निम्नलिखित बातों का उल्लेख होगा।[2]

१. विविध राजकीय विभागों की संख्या।

२. विविध कारखानों (कार्मान्त) में क्या क्या कार्य हो रहा है, और उससे क्या उत्पत्ति हुई है, इसका उल्लेख।

३. राज्य की ओर से जो जो कार्य प्रारम्भ किये गये हैं,

'समयों' को ख़्याल रखे। इनके नियमों को स्वीकृत करे।' इत्यादि।

२. कौ० अर्थ० २।७

उनमें कितना मुनाफ़ा हुआ है, कितना नुक़सान हुआ है, कितना खर्च हुआ है, व्याजी और प्रयाम (Delayed earnings) की क्या मात्रा है, कितने काम हैं जिनमें रुपया फँसा है, कितनी तनख्वाहें दी जा रही हैं, कितनी बेगार ली जाती है—इन सब बातों का पूरा विवरण।

४. इसी तरह रत्न, सार, फल्गु और कुप्य पदार्थों के विषय में—उनकी प्रचलित क़ीमत क्या है, प्रतिमान (Barter) में उनके बदले में क्या प्राप्त हो सकता है, उनका भार कितना है, परिमाण कितना है, उनकी संख्या कितनी है—इन सब बातों का पूरा उल्लेख।

५. देशसंघ, ग्रामसंघ, जातिसंघ, कुलसंघ तथा अन्य इसी तरह के समूहों (Corporate Bodies) के रीतिरिवाज, नियम, चरित्र, संस्थान आदि का वृत्तान्त।

६. सरकारी नौकरों को कितनी तनख्वाह दी जाती है, कितना अलाउंस मिलता है, इसका वर्णन। यदि उनके कर आदि में किसी तरह की कमी की गई है, कोई अनुग्रह परिहार आदि किया गया है, तो उसका उल्लेख।

७. राजा, राजमहिषी, कुमार आदि को रत्न, भूमि, विशेषाधिकार आदि के रूप में जो कुछ प्राप्त हुआ है, उसका हिसाब।

८. राष्ट्रीय आपत्तियों के प्रतिकार के लिए पृथक् किये हुए धन का हिसाब।

९. शत्रु और मित्र देशों के साथ क्या क्या सन्धियाँ हुई हैं, उनमें कौन सी ऐसी शर्तें हैं, जिनके कारण विक्रम (Ultimatum) दिया जा सकता है। विदेशों से क्या उपहार आदि आये हैं, और क्या विदेशों में भेजे गये—इसका उल्लेख

इस उद्धरण को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मौर्य चन्द्रगुप्त के समय में कार्यालय-विभाग बहुत अधिक उन्नत था।

अक्षपटल के अध्यक्ष के नीचे अनेक प्रकार के क्लार्क होते थे। इन्हें कौटिल्य ने संख्यायक, लेखक, कारणिक, गाणनिक्य आदि संज्ञाओं से कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्पूर्ण विभाग का उच्चतम पदाधिकारी प्रशास्ता होता था।

(१६) दौवारिक (Lord Mayor of Palace) मौर्यकाल में 'दौवारिक' भी बहुत महत्त्वपूर्ण राजकर्मचारी होता था। सम्पूर्ण राजप्रासाद इसकी अध्यक्षता में था। साधारण तौर पर दौवारिक का अर्थ चौकीदार कर दिया जाता है। परन्तु यह सर्वथा अशुद्ध है। 'दौवारिक' की स्थिति पर प्रसिद्ध कवि बाण के हर्षचरित से अच्छा प्रकाश पड़ता है। हर्ष-चरित के एक उद्धरण को हम नीचे टिप्पणियों में उद्धृत करते हैं।[1] इस उद्धरण में कुछ शब्द बहुत ध्यान देने योग्य हैं। 'द्वारपाललोकेन प्रत्यभिज्ञाय-

---

१. अभवच्चास्य जातविस्मयस्य मनसि—'कथमिवेदमियत्प्रमाणं प्राणिजातं जनयतां प्राणिसृजां नासीन्महाभूतानां वा परिचयः।...... मेखलकस्तु दूरादेव द्वारपाललोकेन प्रत्यभिज्ञायमानः 'तिष्ठतु तावत्क्षणमात्रमत्रैव पुण्यभागी।' इति तमभिधायाप्रतिहतः पुरः प्राविशत्।

अथ स मुहूर्त्तादिव प्रांशुना, कर्णिकागौरेण, वीध्रकंचुकच्छन्नवपुषा, समुन्मिषन्माणिक्यपदकबन्धबन्धुरशास्त्रगन्धकृशावलग्नेन ....विकच पुण्डरीकमुण्डमालिकयेव दीर्घया दृष्ट्या दूरादेवानन्दयता, नैष्ठुर्याधिष्ठानेऽपि प्रतिष्ठितेन पदे प्रश्रयमिवावनम्रेण मौलिना पाण्डुरमुष्णीषमुद्वहता, वामेन स्थूलमुक्ताफलच्छुरणदन्तुरत्सरुं करकिसलयेन कलयता कृपाणं, इतरेणापनीततरलतां ताडिनीमिव लतां शातकौम्भीं वेत्रयष्टिमुन्मृष्टां धारयता पुरुषेणानुगम्यमानो निर्गत्यावोचत्—'एष खलु महाप्रतीराणामनन्तरश्चक्षुष्यो देवस्य पारियात्रनामा दौवारिकः। समागृह्णत्वेनमनुरूपया प्रतिपत्त्या कल्याणाभिनिवेशी॥

हर्षचरित द्वितीय उच्छ्वास पृ० ६१, ६२

(निर्णयसागर)

मानः' इससे प्रतीत होता है, कि द्वारपाल के नीचे अनेक कर्मचारी तथा सेवक होते थे। 'नैष्ठुर्याधिष्ठानेऽपि प्रतिष्ठितेन पदे प्रश्रयमिवावनम्रेण' अर्थात् यद्यपि द्वारपाल का कार्य बहुत कठोर है, उत्तरदायिता के कारण उसको निष्ठुरता की आवश्यकता होती है, परन्तु प्रतिष्ठित पद पर वह प्रश्रय की तरह नम्र है। 'महाप्रतीहाराणामनन्तरः चक्षुष्यो देवस्य पारियात्रनामा दौवारिकः।' दौवारिक महाप्रतिहारों में सबसे मुख्य है। बाण के ये वाक्य निस्सन्देह दौवारिक की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं, वह एक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायी पदाधिकारी प्रतीत होता है।

दौवारिक के अधीन अनेक कर्मचारी हर समय राज-प्रासाद की रक्षा करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि न केवल राज-प्रासाद के अन्दर और बाहर जाने के लिए दौवारिक की अनुमति आवश्यक थी, अपितु पुर (राजधानी) से बाहर या भीतर जाना आना भी दौवारिक की अधीनता में था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से प्रतीत होता है कि पुर के भीतर आनेवाले लोगों पर राज्य की ओर से कड़ा निरीक्षण रखा जाता था।[1] यह निरीक्षण सम्भवतः दौवारिक का ही कार्य था।

(१७) आन्तर्वंशिक (The Officer of Royal Guards) दौवारिक की तरह आन्तर्वंशिक का भी अधिक सम्बन्ध राजा के साथ होता था। राजा की रक्षा के लिए एक बड़ी अङ्गरक्षक सेना होती थी, आन्तर्वंशिक उसी सेना का सेनापति होता था।

---

१. न च बाह्यं न संसर्गः कश्चिदाभ्यन्तरो व्रजेत्।
सर्वं चावेक्षितं द्रव्यं निबद्धागमनिर्गमम्॥
निर्गच्छेदभिगच्छेद्वा मुद्रासङ्क्रान्तभूमिकम्॥

कौ० अर्थ० १।१७

२।३६ को भी देखिए।

यह राजा की हर तरह से रक्षा करता था। आन्तर्वंशिक सेना अन्तःपुर तक में रहती थी। कौटिल्य लिखते हैं—'अन्तःपुर के विविध कमरों के बीच के स्थानों पर आन्तर्वंशिक की सेना ठहरे।'

अन्तःपुर के अन्दर कोई भी न जाने पाता था। हर समय आन्तर्वंशिक सेना उसके साथ रक्षा के लिए होती थी। जिस समय राजा रानी से मिलता था, तभी वह अकेला होता था। पर उस समय में भी रानी को राजा से अकेले में मिलने देने के लिए यह अच्छी तरह देख लिया जाता था, कि रानी के कमरे में कोई अन्य व्यक्ति तो छिपा हुआ नहीं है। वृद्ध परिचारिकायें रानी की भी अच्छी तरह परीक्षा कर लेती थीं। इसके लिए चाणक्य युक्ति देते हैं—'राजा भद्रसेन को, रानी के कमरे में छिपकर उसके अपने ही भाई ने मार दिया। अपनी माता के विस्तरे के नीचे छिपकर राजा कारुश को उसके अपने लड़के ने मार दिया। खीलों में शहद की तरह ज़हर लगाकर काशिराज को उसकी रानी ने मार दिया। विष से बुझे हुए नूपुरों से वैरन्त्य को—उसकी अपनी रानी ने ही मार दिया। हीरे की मेखला से सौवीर का उसकी रानी ने ही घात कर दिया। विषयुक्त शीशे (दर्पण) से जालूथ को उसकी रानी ने ही मार दिया। वेणी में छिपाये हुए शस्त्र से विदूरथ को उसही की रानी ने मार दिया।[1]'

कितनी प्रबल युक्तियाँ हैं! मौर्यसाम्राज्य की स्थापना के समय चन्द्रगुप्त का जीवन कितना अरक्षित था, इसका परिज्ञान हमें मुद्राराक्षस से अच्छी तरह हो सकता है। उसको देखकर कौटिल्य की व्यवस्था को न्याय्य ही कहना पड़ता है। इस तरह राजा तथा अन्तःपुर की रक्षा का सम्पूर्ण कार्य आन्तर्वंशिक सैन्य के सुपुर्द था। इस सैन्य का बहुत महत्त्व था। अत्यन्त विश्वास-

१. कौ० अर्थ० १।१६

पात्र व्यक्ति ही इसमें भर्ती किये जाते थे । चाणक्य लिखते हैं—

राजा अपने अङ्गरक्षक उन्हीं लोगों को बनाये, जो पिता पितामह के समय से चले आ रहे हों, जिनका राजा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो, जिनके ताल्लुक़ बड़े प्रतिष्ठित आदमियों के साथ हों, जो शिक्षित और राजा में अनुरक्त हों और जिनकी पुरानी सेवायें बहुत अच्छी हों । अन्यदेशीय व्यक्तियों को आन्तर्वंशिक सेना में भर्ती नहीं किया जावेगा । वे लोग भी इसमें शामिल नहीं किये जावेंगे, जिन्होंने राजा से अच्छी सेवा का पुरस्कार तथा उच्चपद न प्राप्त किये हों । ऐसे लोग भी आन्तर्वंशिक सेना में नहीं लिये जावेंगे जो 'अकृत्य' कामों में लगे हुए हों ।[1]

राजा के निजी प्रयोग के लिए जो पदार्थ आते थे, वे पहले आन्तर्वंशिक के हाथ से गुज़रते थे । वह उनकी शुद्धता की परीक्षा करता था । उन पर आन्तर्वंशिक की मुहर लगती थी । आन्तर्वंशिक की मुहर लगाने के बादही वे राजा के उपयोग के लिए भेजे जा सकते थे ।[2]

(१८) आटविक (The Officer-in-charge of Forests and Forest-tribes)

आटविक के कार्य को स्पष्ट करने के लिए हम कौटिलीय अर्थशास्त्र से कुछ वाक्य उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं—

'यश्च मुख्यः पक्षवान् दुर्गाटवीस्थो वा वैगुण्यं भजेत तमुपग्राहयेत्'[3]

---

१. कौ० अर्थ० १।२१

२. कल्पकप्रसाधकास्स्नानशुद्धवस्त्रहस्तास्समुद्रमुपकरणमन्तर्वंशिकहस्ता-दादाय परिचरेयुः ।

कौ० अर्थ० १।२१

३. कौ० अर्थ० पृ० २२४

'आटविकामित्रैर्वा वैरं ग्राहयेत्'[१]

'यदा वा पश्येत्—"स्वदण्डैर्मित्राटवीदण्डैर्वा समं ज्यायांसं वा कर्शयितुमुत्सहे" इति'[२]

'इष्यामित्राटवी निग्रहं वा विगृहीतो न करिष्यति'[३]

'परानीकस्य प्रत्यनीकं मित्राटवीनां वा शत्रोर्विभूमीनां'[४]

'मौलभृतश्रेणी मित्राटवी बलानामन्यतममलब्धदेशकालं'[५]

'अमित्राटवीबलं वा व्यवहितदेशकालम्'[६]

उपर्युक्त उद्धहरणों से स्पष्ट है कि एक 'अटविबल' या 'अटवि-सेना' भी होती थी, जिसका प्रधान 'आटविक' या 'अटविपाल' कहलाता था। इस सेना की भी बहुत मुख्यता थी। हमें मालूम है कि मौर्यकाल में बहुत से प्रदेश जङ्गलों से आच्छन्न थे, उनमें विविध जातियाँ निवास करती थीं। ये जातियाँ पूर्णरूप से अधीन नहीं की जा सकी थीं। इन्हीं की देख रेख के लिए आटविक नाम से एक पृथक् अधिकारी नियत था। इसका कार्य था, कि इन अटवियों में निवास करनेवाली जातियों को अपने वश में रखे और उनका प्रयोग साम्राज्य की भलाई के लिए करे। इस बात का बहुत प्रयत्न किया जाता था कि ये अटवि की जातियाँ कहीं शत्रुओं के साथ न मिल जावें।

अटवि जातियों को अपने वश में रखने के सिवाय आटविक जङ्गलात के महकमे का भी उच्चतम अधिकारी था। इस कार्य के लिए इसके अधीन अन्य अनेक अधिकारी भी थे। इनको

१. कौ० अर्थ० पृ० २५४
२. ,, ,, २७२
३. ,, ,, २७२
४. ,, ,, २८४
५. ,, ,, २८८
६. ,, ,, २८८

नागाध्यक्ष, वनाध्यक्ष, नागपाल, वनपाल आदि संज्ञाओं से अर्थशास्त्र में कहा गया है।[१]

इस प्रकार मौर्य-कालीन शासन-व्यवस्था में केन्द्रित सरकार का संगठन किस प्रकार का था, इस बात पर हमने संक्षेप में विचार किया। अब हम स्थानीय शासन के विषय में विचार करेंगे।

आठवाँ अध्याय

चन्द्रगुप्त-कालीन भारत

[२]

शासन-पद्धति

स्थानीय स्वशासन और न्याय-व्यवस्था

१—स्थानीय स्वशासन (जनपद-सम्बन्धी)

सर जार्ज वर्डवुड ने एक स्थान पर लिखा है—"भारतवर्ष में जितनी धार्मिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ हुई हैं, उतनी संसार के अन्य किसी देश में नहीं हुईं। परन्तु यह होते हुए भी ग्रामसंस्थाओं की अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं आया, वे उसी उत्साह और शक्ति के साथ काम करती रहीं। स्कीदियन, ग्रीक, सरासीन, अफ़ग़ान, मुग़ल और मराठे पहाड़ों से आये और पोर्तुगीज़, इँगलिश, फ्रेञ्च और डेन समुद्र की तरफ़ से आये तथा यहाँ अपना अधिकार स्थापित कर लिया। परन्तु उनके आने और चले जाने से यहाँ की धार्मिक और व्यापारिक ग्राम-संस्थाओं पर उतना ही प्रभाव पड़ा, जितना कि एक चट्टान पर लहरों के आने और चले जाने का पड़ता है।"

इसी विषय में सर चार्ल्स मेटकाफ का कथन भी ध्यान देने योग्य है। आप लिखते हैं—"ग्राम-संस्थायें छोटे छोटे जनतंत्र-राज्यों का नाम था, जो कि अपने आप में पूर्ण थीं, जो कुछ भी उन्हें चाहिए था अपने अन्दर विद्यमान था, उनका अपने से बाहर के साथ बहुत कम सम्बन्ध था। ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ अन्य कोई नहीं बचा, वहाँ वे बची रहीं। एक राजवंश के

बाद दूसरा राज्यवंश आता है, एक क्रान्ति के बाद दूसरी क्रान्ति होती है......परन्तु ग्राम-संस्थायें वहीं की वहीं उसी तरह से स्थिर रहती हैं......मेरी सम्मति में यही ग्राम संस्थायें, जिनमें से प्रत्येक एक पृथक् राज्य की तरह है, भारतीय जनता की रक्षा में सबसे अधिक कारण हैं, इन्हीं के द्वारा सब परिवर्तनों और क्रान्तियों में जनता की रक्षा होती रही। उनको जो कुछ प्रसन्नता-स्वतन्त्रता आदि प्राप्त हैं, उनमें सबके लिए यही सबसे अधिक सहायक हैं।"

इसका क्या कारण है, इसके लिए श्रीयुत राधाकुमुद मुकर्जी लिखते हैं—"सदा से भारत में हस्ताक्षेप न करने की नीति को ही राज्य के लिए आदर्श समझा जाता रहा है।"

इन उद्धरणों से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन भारत में स्थानीय स्वशासन का कितना अधिक महत्व था। भारत का इतिहास बड़े बड़े युद्धों, परिवर्तनों तथा क्रान्तियों का इतिहास नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहाँ भी अनेक वंश आये और गये, बड़ी बड़ी क्रान्तियाँ हुईं, परन्तु उनके अध्ययन से हम भारतीय जनता का हाल नहीं जान सकते। भारत का इतिहास उन ग्राम-संस्थाओं का इतिहास है जिनके साथ भारतीय जनता का सबसे अधिक सम्बन्ध रहा है, जिनके साथ उनका हित अहित, सुख दुख सम्बद्ध रहा है।

यद्यपि सम्राट् चन्द्रगुप्त ने अपना विशाल साम्राज्य स्थापित किया, सम्पूर्ण भारत में केन्द्रित शासन का प्रारम्भ किया, परन्तु इन 'प्राचीन ग्राम-संस्थाओं' के विषय में 'हस्ताक्षेप न करने की' ही नीति का उसने प्रयोग किया। इन ग्राम-संस्थाओं का क्या स्वरूप था, इसको विस्तार के साथ दिखाने का यहाँ स्थान नहीं है, विषय के साथ भी इसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रत्येक ग्राम अपने साथ सम्बन्ध रखने-वाली सब बातों में स्वतन्त्र था, वह अपना शासन अपने आप करता था। ग्राम की अपनी सभा होती थी, उसमें ग्राम के

साथ सम्बन्ध रखनेवाली सब बातों पर विचार होता था, हितकारी नियम बनाये जाते थे, अपराधियों को दण्ड मिलता था और मुक़द्दमों का फ़ैसला होता था। ग्राम की नानाविध क्रियाओं की यह सभा केन्द्र थी। इसमें धार्मिक और सामाजिक विषयों पर भी विचार होता था। लोगों के आनन्द के लिए अनेक विध खेलों और तमाशों का प्रबन्ध होता था। किसी छायादार पेड़ के नीचे या ऊँचे चबूतरे के ऊपर ग्राम-सभा की बैठक होती थी। परिवारों के प्रतिनिधि, वृद्ध, तथा अन्य अनुभवी लोग एकत्रित होते थे। देश में कोई राजा राज्य कर रहा हो, पर इन ग्रामवासियों को क्या? इन पर तो इनकी सभा ही—इनकी ग्राम-संस्था ही राज्य करती है। इन स्वतन्त्र ग्राम-जनतन्त्रों में भारतीय जनता स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करती थी।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से चन्द्रगुप्त-कालीन ग्रामसंस्थाओं के विषय में पर्याप्त परिज्ञान मिल सकता है। कौटिल्य लिखते हैं[1]—"जब ग्रामिक (ग्राम का मुखिया) सम्पूर्ण ग्राम के लिए किसी काम पर कहीं जावे, तो ग्रामवासियों को बारी बारी से उसके साथ जाना होगा।

"जो ऐसा न करें, उन्हें प्रति योजन के हिसाब से १½ पण जुर्माना किया जाय।

"चोर तथा व्यभिचारी के अतिरिक्त यदि किसी अन्य व्यक्ति को ग्रामिक गाँव से बाहर निकाले, तो २४ पण जुर्माना किया जाय। परन्तु यदि निरपराधी व्यक्ति को निकालने के अपराध में सारा गाँव सम्मिलित हो तो उस पर उत्तम साहस दण्ड दिया जाय।"

---

१. ग्रामार्थेन ग्रामिकं व्रजन्तं उपवासाः पर्यायेण अनुगच्छेयुः अननुगच्छन्तः पणार्धपणिकं योजनं दद्युः।

ग्रामिकस्य ग्रामादस्तेन पारदारं निरस्यतः चतुर्विंशति पणोदण्डः। ग्रामस्योत्तमः।

आगे आचार्य चाणक्य फिर लिखते हैं[1]—

"जो कृषक गाँव में खेती करने के लिए आता है और फिर खेती नहीं करता, उस पर जुर्माना किया जाय। जुर्माना ग्राम स्वयं ले ले। यदि वह काम करने के लिए कुछ धन अगाऊ ले लेवे और फिर काम न करे तो उससे, जो कुछ उसने लिया था; उससे दुगना वसूल किया जावे। यदि वह किसी प्रवहण[2] या समाज में सम्मिलित हुआ हो और वहाँ उसे भोजन-छादन मिला हो, तो उसका दुगना ले लिया जावे।

"नाटक आदि तमाशे के लिए जो काम किया जा रहा हो, उसमें हिस्सा न लेनेवाले को तमाशा आदि देखना न मिले। जो छिपे छिपे ऐसे काम को सुने या देखे और बचने की खातिर सामने न आवे तो औरों के हिस्से से दुगना हिस्सा उससे ज़बर्दस्ती लिया जावे। यदि कोई सबको लाभ पहुँचानेवाले काम को करना चाहे तो सब लोग उसकी आज्ञा पर चलें। जो उसके कहने के अनुसार काम न करें, उन पर १२ पण जुर्माना किया जाय।"

---

१. कर्षकस्य ग्राममभ्युपेत्य अकुर्वतो ग्राम एवात्ययं हरेत्। कर्माकरणे कर्मवेतनद्विगुणं हिरण्यदानं प्रत्यंशद्विगुणं भक्ष्यपेयदाने च प्रवहणेषु द्विगुणमंशं दद्यात्।

प्रेक्षायामनंशदः सस्वजनो न प्रेक्षेत। प्रच्छन्नश्रवणेक्षणे च सर्वहिते च कर्मणि निग्रहेण द्विगुणमंशं दद्यात्। सर्वहितमेकस्य ब्रुवतः कुर्युराज्ञाम्। अकरणे द्वादशपणो दण्डः।

कौ० अर्थ० ३।१०

२. 'प्रवहण' एक प्रकार के मेले होते थे, जिनमें लोगों के आनन्द के लिए अनेकविध साधन उपस्थित किये जाते थे। भोजन, छादन आदि भी इसमें मुफ़्त बँटता था। इस पर हम पृथक् अध्याय में विचार करेंगे।

इन उद्धरणों से ग्राम के संगठन या सभा का अच्छा परिज्ञान मिलता है। प्रत्येक ग्राम का एक ग्रामिक होता था, जो कि ग्राम का काम करता था। वह अपने कार्य में औरों को सहायता देने के लिए बाधित कर सकता था। ग्रामिक ग्रामनिवासियों के साथ मिल कर अपराधियों को दण्ड देता था और किसी व्यक्ति को ग्राम से बहिष्कृत भी कर सकता था। यह बात कि ग्रामिक और ग्राम—दोनों को दण्ड मिल सकता था, सूचित करती है कि ग्राम-निवासियों का कोई न कोई संगठन अवश्य था, जिसका अध्यक्ष ग्रामिक हुआ करता था। परन्तु यह न समझना चाहिए कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता और वैयक्तिक अधिकार विद्यमान न थे और ग्राम-सभा का व्यक्तियों पर अनियमित अधिकार था, क्योंकि उपरिलिखित उद्धरणों के अनुसार भी ग्राम-सभा को राजा की तरफ़ से दण्ड मिल सकता था। उसके ऊपर राजकीय न्यायाधीशों का निरीक्षण था और ग्राम के निर्णय से ऊपर अपील की जा सकती थी।

ग्राम की कोई सर्वसाधारण निधि (फण्ड) भी अवश्य होती थी। जो जुर्माने किये जाते थे, वे इसी निधि में जाते थे। ग्राम की तरफ़ से अनेक सार्वजनिक हित के कार्य भी किये जाते थे। लोगों के आनन्द के लिए तमाशों आदि का प्रबन्ध होता था, इनमें सबके लिए भाग लेना आवश्यक होता था। जो लोग अपने सार्वजनिक कर्तव्य की उपेक्षा करते थे उन्हें बाधित किया जा सकता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि ग्राम का अपना स्वतन्त्र संगठन था, जिसके पास शासन और नियमनिर्माण का कार्य था। यह संगठन न्याय का काम भी करता था। ग्राम-सभाओं में बनाये गये नियम 'धर्मस्थानीय' न्यायालय में मान की दृष्टि से देखे जाते थे। इसी लिए चाणक्य लिखते हैं—

'इस तरह देश-संघ' जाति-संघ और कुल-संघ जो "समय" करें, उसका उल्लंघन न किया जाय, यह बताया गया[1]।

---

१. 'तेन देशजातिकुलसङ्घानांसमयस्य अनपाकर्म व्याख्यातम्।' कौ० अर्थ० ३।१०.

एक अन्य स्थान पर लिखा है—'अक्षपटल का अध्यक्ष देश-संघ, ग्राम-सङ्घ, जाति-संघ और कुल-संघ के धर्म (Laws) व्यवहार, चरित्र, संस्थान आदि को रजिस्टरों में सुरक्षित रखे[1]।'

इससे न केवल ग्राम के पृथक् संघ व संगठन की सत्ता सिद्ध होती है, अपितु ग्राम-संघ के नियमों की राजा द्वारा स्वीकृति भी स्पष्टरूप से प्रतीत होती है।

ग्रामनिवासियों में सामूहिक भाव की वृद्धि के लिए बहुत प्रयत्न किया जाता था। इस तरह के नियम उसमें सहायक होते थे—

'जो लोग देश के लिए हितकारक पुल सड़क आदि को बनाते हैं तथा ग्राम की शोभा को बढ़ाने और रक्षा करने के लिए सदा प्रयत्न करते रहते हैं, राजा उनका प्रिय हित करेगा[2]।'

यद्यपि कौटिलीय अर्थशास्त्र के ये उद्धरण ग्राम-संस्थाओं की अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डालते, परन्तु उनकी सत्ता में कोई सन्देह भी नहीं रहने देते। बौद्ध तथा हिन्दू साहित्य में स्थान स्थान पर इनका उल्लेख आता है। स्मृति तथा नीति-ग्रन्थों में इनका विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। यहाँ हम इनके विषय में इतना लिखना ही पर्याप्त समझते हैं।

मौर्य चन्द्रगुप्त के समय इन ग्रामों को पहले आबादी के अनुसार तीन प्रकार से विभक्त किया गया था—ज्येष्ठ, मध्यम

---

१. 'देशग्रामजातिकुलसंघानां धर्म-व्यवहारचरित्रसंस्थानं निबन्ध-पुस्तकस्थं कारयेत्'

कौ० अर्थ० २।७

२. राजा देशहितान् सेतून् कुर्वतां पथि सङ्क्रमात्।
ग्रामशोभाश्च रक्षाश्च तेषां प्रियहितं चरेत्॥

कौ० अर्थ० ३।१०

और कनिष्ठ। फिर सब प्रकार के ग्रामों को राज्य-कर की दृष्टि से इन चार तरह से बाँटा गया था[1]—

१. ग्रामाग्र—(साधारण ग्राम)—जिन पर 'राज्यकर' के सामान्य नियम लगते थे।

२. परिहारक—(राज्यकर से सर्वथा मुक्त)—इन ग्रामों से राज्य-कर बिलकुल नहीं लिया जाता था। ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रियों को बहुत सी ऐसी ज़मीनें मुफ़्त दे दी जाती थीं, जिनसे कि राज्य-कर नहीं लिया जाता था। ये ग्राम इन्हीं के अधीन होते थे, ये राज्य-कर को वसूल कर स्वयं उपभोग करते थे, राज्य को नहीं देते थे। सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए ये लोग जो प्रयत्न करते थे, यह एक तरह उसके वेतन होते थे। इसी तरह से विविध अध्यक्ष, संख्यायक, गोप, स्थानिक, अनीकस्थ, चिकित्सक, अश्वदमक, जांघरिक आदि राजकर्मचारियों को भी राज्य-कर से विहीन ज़मीनें मिली होती थीं। परन्तु इनका ज़मीनों पर अधिकार सामयिक होता था, सदा के लिए नहीं[2]।

३. आयुधीय—(योद्धाप्रधान ग्राम) मौर्यकाल में ऐसे भी बहुत से ग्राम थे, जिनसे राज्य-कर कुछ नहीं लिया जाता था, परन्तु इनके निवासियों को युद्ध के समय सिपाही बनना होता था। सम्भवतः इन 'आयुधीय' ग्रामों के सङ्घ को ही 'शस्त्रोपजीवी'[3] सङ्घ कहा गया है।

---

१. 'समाहर्त्ता चतुर्धा जनपदं विभज्य ज्येष्ठमध्यमकनिष्ठविभागेन ग्रामाग्रं परिहारकमायुधीयं धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टि(कर) प्रतिकरं इदमेतावदिति निबन्धयेत्।'

कौ० अर्थ० २।३५

२. कौ० अर्थ० २।१

३. कौ० अर्थ० ११।१

४. धान्य, पशु, सोना, जाङ्गलिक द्रव्य, स्वतन्त्र श्रम आदि कर में देनेवाले ग्राम। इन ग्रामों से राज्यकर धन के रूप में न लेकर धान्य आदि के रूप में लिया जाता था।

हम ऊपर दिखला चुके हैं कि प्रत्येक ग्राम का शासन करने के लिए 'ग्रामिक' नामी राजकर्मचारी होता था, जो कि 'ग्रामसङ्घ' की सहायता से ग्राम पर शासन करता था। पाँच से लेकर दस ग्रामों तक का प्रबन्ध 'गोप' नामक राज्यकर्मचारी के अधीन था[1]। अनेक स्थानों पर 'गोप' के अधिकार-क्षेत्र में २० या ४० गाँव भी होते थे। यह ग्रामों की जनसंख्या पर आश्रित था। जहाँ ग्राम बड़े बड़े होते थे, वहाँ 'गोप' पाँच या १० ग्रामों का ही प्रबन्ध करता था। पर जहाँ ग्राम छोटे छोटे होते थे, वहाँ गोप ४० गाँवों तक का स्वामी होता था[2]।

'गोप' का मुख्य कार्य राज्य-कर एकत्रित करना ही होता था। इसके कार्यों का वर्णन चाणक्य ने किया है। तदनुसार गोप के कार्यों को इस तरह विभक्त किया जा सकता है[3]—

१. ग्रामों की सीमाओं को निश्चित करना।
२. भूमि का विभाग करना। ग्रामों में विविध प्रकार की भूमियों का विभाग करना, यथाः—जुता हुआ खेत, बेजुता हुआ खेत, खाली पड़ी हुई भूमि, केदार, बाग़, तरकारी का खेत, बगीचा, जंगल, मकान, मन्दिर, चैत्य, तालाब, श्मशान, सत्र (जहाँ भोजन मुफ़्त मिले), प्रपा (प्याऊ), तीर्थ, चरागाह, मार्ग आदि। गोप के पास प्रत्येक ग्राम के लिए विविध रजिस्टर होते थे, जिनमें वह प्रत्येक ग्राम का जुता हुआ खेत आदि बातों को लिखता

१. तत्प्रदिष्टः पञ्चग्रामीं दशग्रामीं वा गोपश्चिन्तयेत्।
कौ० अर्थ० २।३५

२. कौ० अर्थ० २।३६

३. कौ० अर्थ० २।३५

था। उनकी सीमा, विस्तार, क्षेत्र आदि का ठीक ठीक पता इन रजिस्टरों (निबन्ध-पुस्तकों) को देखकर मिल सकता था।

३. जङ्गलों तथा मार्गों का पूरा परिज्ञान रखना।

४. ज़मीनों के क्रय-विक्रय का उल्लेख करना।

५. ज़मीनों के दान तथा प्रतिदान का उल्लेख करना।

६. किसको किस ढङ्ग की राजकीय सहायता मिली है, इसका उल्लेख करना।

७. कौन सी ज़मीन राज्यकर से मुक्त है, इसका उल्लेख करना।

८. मकानों के विषय में भी, कौन सा मकान राज्यकर देता है और कौन सा मुक्त है, इसका उल्लेख करना।

९. प्रत्येक ग्राम में कितने मनुष्य बसते हैं, किस जाति के कितने मनुष्य हैं, किसान, ग्वाले, बनिये, कारीगर, मेहनती मज़दूर तथा दास कितने कितने हैं, इसका परिगणन करना तथा उल्लेख करना।

१०. दो पैरवाले जानवरों तथा चौपायों की संख्या किस गाँव में कितनी है, इसका उल्लेख करना।

११. किस गाँव से कितना सोना, स्वतन्त्रश्रम, चुंगी, शुल्क तथा जुरमाना प्राप्त होता है, इसका उल्लेख करना।

१२. किन किन स्त्रियों तथा पुरुषों को कौन कौन सी कलायें (Arts) आती हैं, इसका पता रखना।

१३. किस गाँव में कितने स्त्री व पुरुष हैं, उनमें कितने वृद्ध व बालक हैं, उनका काम, पेशा तथा आय-व्यय क्या है, इत्यादि बातों का परिगणन या उल्लेख करना।

ऊपर जिन कार्यों का उल्लेख किया गया है, उनके अध्ययन से प्रतीत होता है कि 'गोप' बहुत ही आवश्यक पदाधिकारी होता था। 'गोप' के ऊपर अन्य अनेक राजकर्मचारी होते थे।

मौर्य चन्द्रगुप्त के समय में राज्य या जनपद का विभाग इस प्रकार किया गया है—

ग्राम—	'ग्रामिक'	
संग्रहण—	'गोप'	१० ग्रामों का समूह
खार्वटिक		२०० ग्रामों का समूह
द्रोणमुख		४०० ग्रामों का समूह
स्थानीय	'स्थानिक'	८०० ग्रामों का समूह
जनपद	'समाहर्त्ता'	सम्पूर्ण राज्य

खार्वटिक और द्रोणमुख ये दो विभाग शासन-प्रबन्ध के लिए नहीं, अपितु 'न्याय-व्यवस्था' के लिए किये गये थे। चन्द्रगुप्तकालीन न्याय-व्यवस्था पर विचार करते हुए हम खार्वटिक और द्रोणमुख के न्यायाधीशों का भी उल्लेख करेंगे। परन्तु शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से इन दो विभागों का कुछ महत्त्व नहीं प्रतीत होता।

गोप से ऊपर 'स्थानिक' नामक पदाधिकारी होता था, यह ८०० ग्रामों के 'स्थानीय' का प्रबन्ध करता था। जो कार्य 'संग्रहण' में 'गोप' का है, वही 'स्थानीय' में 'स्थानीक' का है।

'गोप' और 'स्थानीक' के सिवाय अन्य अनेक कर्मचारियों का भी अर्थशास्त्र में उल्लेख है। 'युक्त' और 'उपयुक्त' इनमें मुख्य हैं। इनका काम प्रायः राज्यकर को एकत्रित करना था।

(२) स्थानीय स्वशासन (पुर-सम्बन्धी)

मैगस्थनीज़ ने पाटलिपुत्र के शासन-प्रबन्ध का वर्णन किया है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र का प्रबन्ध करने के लिए एक नागरिक सभा या पौर सभा थी, जिसे वर्तमान परिभाषा में 'म्यूनिसिपल कार्पोरेशन' कह सकते हैं। यह कार्पोरेशन ६ उपसमितियों (Boards) में विभक्त था। प्रत्येक उपसमिति में पाँच पाँच सभासद् होते थे। इन उपसमितियों के कार्य अग्रलिखित हैं—

पहली उपसमिति का कार्य औद्योगिक तथा शिल्प का निरीक्षण करना था। मज़दूरी की दर निश्चित करना तथा इस बात पर विशेष ध्यान रखना कि शिल्पी लोग शुद्ध तथा पक्का पदार्थ काम में लाते हैं। मज़दूरी के लिए समय का नियत करना भी इसी उपसमिति का कार्य था। चन्द्रगुप्त के समय शिल्पी लोग विशेषरूप से आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। प्रत्येक शिल्पी राष्ट्रीय सेवा में नियुक्त समझा जाता था। इसलिए यदि कोई मनुष्य किसी शिल्पी के ऐसे अङ्ग को विकल कर देता था कि जिससे उसके हस्तकौशल में न्यूनता आजावे तो उसके लिए अपराधी को मृत्युदण्ड की आज्ञा थी।

दूसरी उपसमिति का कार्य विदेशियों का सत्कार करना था, या वे सारे कार्य करने होते थे जो कि इस समय विदेशों के प्रतिनिधि दूत किया करते हैं। सब विदेशियों को अधिकारी लोग अच्छी तरह ताड़ते थे। उनके निवास, पहरे और समय समय पर औषधि का भी प्रबन्ध करते थे। मृत विदेशियों को दबाया जाता था। उनकी जायदाद का प्रबन्ध भी यही उपसमिति करती थी। आय पात्र व्यक्ति को दे दी जाती थी।

तीसरी उपसमिति का कार्य मर्दुमशुमारी करना होता था। इसका कार्य मृत्यु और जन्म की सूची रखना तथा कर लगाने के लिए मर्दुमशुमारी करना होता था। उपसमिति के इस कार्य को देखकर निस्सन्देह चन्द्रगुप्त-कालीन भारत के राज्य-प्रबन्ध पर आश्चर्य होता है। ऐतिहासिक विन्सेण्ट ए० स्मिथ[1] के शब्दों में 'भारत में ऐंग्लो-इण्डियन शासन ने भी, जिसका संगठन बहुत ही जटिल है और जो यूरोपियन विचारों के अनुसार चलाया जा रहा है, अभी कुछ समय पूर्व तक इस तरह की जनसंख्या के अङ्क एकत्रित करने का प्रयत्न नहीं किया था, और सदा ही

---

१. V. A. Smith—'The Early History of India,' 4th Edition, पृ० १३८

ठीक अङ्क प्राप्त करने में बहुत अधिक कष्ट अनुभव किया है।' और फिर—'चन्द्रगुप्त के सम्पूर्ण शासन में इससे अधिक आश्चर्य की और कोई बात नहीं कि उसमें जन्म और मरण का नियमपूर्वक उल्लेख किया जाता था।'

चौथी उपसमिति का कार्य व्यापार के सम्बन्ध में यह था कि वह क्रय-विक्रय के नियमों को निर्धारित करती थी। भार तथा माप के परिमाणों को निश्चित करना तथा उनका निरीक्षण करना भी इसी उपसमिति का कार्य था। व्यापारी लोग किसी ख़ास वस्तु को बेचने का अधिकार प्राप्त करने के लिए कर देते थे। एक से अधिक वस्तुओं को बेचने का अधिकार प्राप्त करना हो, तो वही कर यथाक्रम दुगुना या तिगुना हो जाता था।

पाँचवीं उपसमिति का कार्य यह था कि वह देखे कि व्यापारी लोग नई और पुरानी वस्तुओं को मिला कर तो नहीं बेचते। नियमानुसार नई और पुरानी वस्तुओं को मिला कर बेचना निषिद्ध था। इस नियम का भङ्ग करने पर दण्ड दिया जाता था। यह नियम इसलिए बनाना पड़ा था कि पुरानी वस्तुओं का बाज़ार में विक्रय कुछ अवस्थाओं को छोड़ कर सर्वथा निषिद्ध था।

छठी उपसमिति का कार्य विक्रय पर कर संगृहीत करना होता था। उस समय जो कोई भी चीज़ जिस मूल्य पर बेची जाती थी, उसका दसवाँ हिस्सा सरकार को कर-रूप में देना पड़ता था। इस कर को न देने के लिए धोखा आदि करने पर मृत्युदण्ड मिलता था।

इस प्रकार उपसमितियों के कार्य को वर्णन करके मैगस्थनीज़ लिखते हैं—"ये कार्य हैं, जो ये उपसमितियाँ पृथक् पृथक् रूप से करती हैं। परन्तु अपने सामूहिक रूप में उनको अपने अपने विशेष कार्यों का तो ख़्याल करना ही होता है, अपितु सार्वजनिक या सर्वसाधारण हित के कार्यों पर भी ध्यान देना

होता है। यथा—सार्वजनिक इमारतों को सुरक्षित रखना, उसकी मरम्मत का ख़्याल रखना, क़ीमतों को नियन्त्रित करना, बाज़ार, बन्दरगाह और मन्दिरों पर ध्यान देना[1]।" यह निस्सन्देह पाटलिपुत्र की म्यूनिसिपैलिटी या पौर सभा का ही वर्णन है। पौर सभा की स्थिति के विषय में हम ऊपर लिख चुके हैं। मैगस्थनीज़ ने इसी पौर सभा का वर्णन किया है[2]।

इस पौर सभा के सिवाय राज्य की ओर से 'नागरक' नाम का महामात्य या उच्चपदाधिकारी नगर का शासक होता था। शासन के सुभीते के लिए नगर को चार भागों में विभक्त किया जाता था। प्रत्येक विभाग को 'स्थानीय' कहते थे, इस 'स्थानीय' प्रदेश का शासन 'स्थानिक' नामक पदाधिकारी के अधीन था। इसके अधीन भी अनेक 'गोप' होते थे। कौटिल्यकृत विभाग के अनुसार नगर को भी अनेक भागों में विभक्त किया गया था। प्रत्येक १०, २० या ४० कुलों पर 'गोप' का अधिकार था। नगर का शासन भी लगभग उसी तरह का है, जिस तरह कि जनपद का[3]।

यह शासन केवल पाटलिपुत्र में ही न था, परन्तु अन्य बड़े नगरों में भी इसी तरह से पौर सभा द्वारा शासन होता था। तक्षशिला, उज्जैनी, तुषाली, सुवर्णगिरि आदि प्रान्तीय राजधानियों में तो निस्सन्देह इसी प्रकार का शासन विद्यमान था। दिव्यावदान आदि ग्रन्थों से राजा अशोक के समय में तक्षशिला

१. McCrindle. Fragm. XXXIV.

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी मैगस्थनीज़-द्वारा वर्णित पौर सभा के विषय में अनेक निर्देश मिलते हैं, इस बात का प्रतिपादन श्रीराधाकुमुद मुकर्जी ने नरेन्द्रनाथलॉ कृत 'Studies in Ancient Hindu Politiy' की 'Introduction' में किया है।

३. कौ० अर्थ० २। ३६

नगर में इस पौर सभा की सत्ता सिद्ध है[1]। यह मानने में कोई कारण नहीं कि चन्द्रगुप्त के समय में प्रान्तीय राजधानियों में यह सभा विद्यमान न थी।

इस प्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में स्थानीय शासन का क्या स्वरूप था, इस बात पर हमने विचार किया। शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ एक बातें और भी विचारणीय हैं। परन्तु हमारे पास जो साधन हैं, वे उन बातों पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डालते। इसलिए यहाँ उनका उल्लेख कर सकना बहुत कठिन है, कुछ बातों का उल्लेख हम 'राजप्रबन्ध की उत्कृष्टता' इस शीर्षक के नीचे १३ वें अध्याय में करेंगे।

(३) न्याय-व्यवस्था

सम्राट् चन्द्रगुप्त के विस्तृत साम्राज्य में न्याय के लिए एक ही न्यायालय पर्याप्त नहीं हो सकता था। इसलिए पाटलिपुत्र के बड़े न्यायालय के सिवाय अन्य अनेक छोटे बड़े न्यायालय साम्राज्य में विद्यमान थे। सबसे छोटा न्यायालय 'ग्रामसङ्घ' का होता था, ग्राम की सभा भी अपनी ग्राम-सम्बन्धी बातों का फैसला स्वयं किया करती थी। इसके ऊपर 'संग्रहण' का न्यायालय होता था, इसके ऊपर 'द्रोणमुख' का और द्रोणमुख के ऊपर 'जनपदसन्धि' का। 'जनपदसन्धि-न्यायालय' के ऊपर पाटलिपुत्र का केन्द्रीय 'मुख्य न्यायालय' होता था। सबसे ऊपर राजा का अपना न्यायालय होता था, इसमें राजा स्वयं उपस्थित होता था और उसकी सहायता के लिए अन्य अनेक न्यायाधीश होते थे।

---

१. राजा ह्यशोको बलवान् प्रचण्ड आज्ञापयत् तक्षशिलाजनंहि
उद्धार्यतां लोचनमस्य शत्रोर्मौर्यस्य वंशस्य कलङ्क एषः।
दिव्यावदान

इस विषय में अन्य बहुत से प्रमाण सम्राट् अशोकविषयक अध्यायों में मिलेंगे।

ग्रामसङ्घ और सम्राट् के न्यायालयों के सिवाय शेष पाँच श्रेणियों के न्यायालय दो भागों में विभक्त थे। दोनों की रचना और कार्य सर्वथा भिन्न भिन्न थे। एक का नाम था धर्मस्थीय और दूसरे का कण्टकशोधन। 'धर्मस्थीय' न्यायालयों में तीन तीन न्यायाधीश होते थे, इन्हें 'धर्मस्थ' या 'व्यावहारिक' कहा जाता था[१]। इसी प्रकार 'कण्टकशोधन' न्यायालयों में भी तीन तीन न्यायाधीश होते थे, परन्तु इन्हें 'प्रदेष्टा' कहा जाता था[२]।

इन दोनों प्रकार के न्यायालयों में किन किन विषयों पर विचार होता था, इसका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है। पहले 'धर्मस्थीय न्यायालय को लीजिए—

१. व्यवहारस्थापना—दो व्यक्तियों या व्यक्तिसमूहों या व्यक्ति और व्यक्तिसमूह के पारस्परिक 'समय' (Contracts) विषयक विवादों का निर्णय। व्यक्तियों के पारस्परिक 'व्यवहार'-विषयक मुक़द्दमों का फ़ैसला।

२. समयस्यानपाकर्म—परस्पर किये हुए 'समयों' को तोड़ना। सेवक ने मालिक के साथ जो 'समय' किया था, उसका पालन न करना या 'स्वामी' ने जो शर्तें की थीं, उनका उल्लङ्घन करना।

३. स्वाम्यधिकारः—स्वामी (Employer) के अधिकार।

४. भृतकाधिकारः—भृत्य (Employee) के अधिकार, मालिक और मज़दूर, पूँजीपति और श्रमजीवी के पारस्परिक विवाद।

५. दासकल्पः—दासों (Slaves) सम्बन्धी झगड़े।

---

१. धर्मस्थास्त्रयस्त्रयो वाऽमात्याः जनपदसन्धिसंग्रहण-द्रोणमुखस्थानीयेषु व्यावहारिकान् अर्थान् कुर्युः।

कौ० अर्थ० ३ । १

२. प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयो वामात्याः कण्टकशोधनं कुर्युः।

कौ० अर्थ० ४ । १

६. ऋणादानम्—ऋण को चुकाने के सम्बन्ध में झगड़े।
७. औपनिधिकम्—धन को अमानत पर रखने से उत्पन्न विवाद।
८. विक्रीतक्रीतानुशयः—क्रयविक्रय-सम्बन्धी विवाद।
९. दत्तस्यानपाकर्म—दिये हुए दान को फिर लौटाने की इच्छा करना, या प्रतिज्ञात दान को न देना।
१०. साहसम्—डाका, चोरी और लूट सम्बन्धी।
११. दण्डपारुष्यम्—किसी पर हमला करना।
१२. वाक्यपारुष्यम्—गाली, कुवचन आदि देना, मानहानि के अभियोग।
१३. द्यूतसमाह्वयम्—जूए-सम्बन्धी।
१४. अस्वामिविक्रयः—मिल्कियत के बिना ही किसी दूसरे की सम्पत्ति को बेच देना।
१५. स्वस्वामिसम्बन्धः—मिल्कियत-सम्बन्धी विवाद।
१६. सीमाविवादः—सीमा-सम्बन्धी विवाद।
१७. वास्तुकम्—इमारतों के निर्माण-सम्बन्धी विवाद।
१८. वास्तुविक्रयः—इमारत वा अन्य स्थिर सम्पत्ति का विक्रय।
१९. विवीतहिंसा—चरागाहों को ख़राब करना।
२०. क्षेत्रहिंसा—खेतों को ख़राब करना।
२१. पथहिंसा—मार्गों को ख़राब करना।
२२. विवाहधर्म—पति-पत्नी के पारिस्परिक मुक़द्दमे।
२३. स्त्रीधनकल्पः—स्त्रीधन-सम्बन्धी विवाद।
२४. दायविभाग—सम्पत्ति का बँटवारा।
२५. दाय क्रम—सम्पत्ति का उत्तराधिकार।
२६. सम्भूयसमुत्थान—सहोद्योग, कम्पनी तथा साझे के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मुक़द्दमे।
२७. बाधावाधिकम्—विविध रुकावटें।
२८. विवादपदनिबन्ध—न्यायालय में स्वीकृत निर्णय-विधि-सम्बन्धी विवाद।

२१. प्रकीर्णकानि—विविध।

इसी तरह 'कण्टकशोधन न्यायालयों' में निम्नलिखित बातों पर विचार होता था—

१. कारुकरक्षणम्—शिल्पियों व कारीगरों की रक्षा तथा उनसे रक्षा।
२. वैदेहकरक्षम्—व्यापारियों की तथा व्यापारियों से रक्षा।
३. उपनिपातप्रतीकारः—राष्ट्रीय व सार्वजनिक आपत्तियों का निराकरण।
४. गूढ़ाजीविनां रक्षा—नियमविरुद्ध उपायों से आजीविका करनेवाले लोगों को पकड़ना।
५. सिद्धव्यञ्जनैर्मानवप्रकाशनम्—अपने गुप्तचरों द्वारा अपराधियों को पकड़ना।
६. शङ्कारूपकर्माभिग्रहः—शक होने पर या वस्तुतः बुरा काम करने पर पकड़ना।
७. आशुमृतकपरीक्षा - मृतदेह की परीक्षा कर मृत्यु के कारण का पता लगाना।
८. वाक्यकर्मानुयोगः—अपराध का पता लगाने के लिए विविध भाँति के प्रश्नों तथा शारीरिक कष्टों का प्रयोग।
९. सर्वाधिकरणरक्षणम्—सरकार के सम्पूर्ण विभागों की रक्षा।
१०. एकाङ्गवधनिष्क्रयः—अङ्ग आदि के काटने का दण्ड मिलने पर उसके बदले में जुर्माना देने की व्यवस्था।
११. शुद्धश्चित्रश्च दण्डकल्पः—शारीरिक कष्ट के साथ या बिना मृत्युदण्ड का निर्णय।
१२. कन्याप्रकर्म—कन्या पर बलात्कार।
१३. अतिचारदण्डः—न्याय का उल्लङ्घन करने पर दण्ड।

धर्मस्थीय और कण्टकशोधन न्यायालयों के कार्यों का यदि ध्यान से अवलोकन किया जाय, तो इनका मौलिक भेद स्पष्ट रूप से पता लग जावेगा। धर्मस्थीय न्यायालयों में व्यक्तियों के

पारस्परिक साधारण मुक़दमों का फैसला होता था, ये मुक़दमे बहुत गम्भीर न होते थे, इनके लिए दण्डरूप में प्रायः जुर्माने किये जाते थे। परन्तु कण्टकशोधन न्यायालयों में वे मुक़दमे पेश होते थे, जिनका सम्बन्ध राष्ट्र के साथ होता था, जिन मुक़दमों में हत्या, घात आदि का सम्बन्ध होता था, जिनका प्रभाव सरकार पर पड़ता था। अनेक विद्वानों ने धर्मस्थीय को Civil और कण्टकशोधन को Criminal न्यायालय कहा है। परन्तु धर्मस्थीय का अभिप्राय 'Ordinary Court of Justice' तथा कण्टकशोधन का अभिप्राय 'Administrative Court of Justice' प्रतीत होता है। कण्टकशोधन का अर्थ भी यही है, कि राज्य के कण्टकों को दूर करना। यदि कौटिलीय अर्थशास्त्र के 'कण्टकशोधनम्' और 'धर्मस्थीयम्' दोनों अधिकरणों का ध्यानपूर्वक अनुशीलन किया जाय, तो यह भेद सर्वथा सुस्पष्ट हो जावेगा।

न्यायालयों का वर्णन हो चुका; अब प्रश्न यह है कि न्याय करने के आधार कौन से नियम थे? सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में क़ानूनों का स्वरूप क्या था? क़ानूनों को बनाना किसके अधीन था? नियम-निर्माण की शक्ति किसके पास थी?

आचार्य चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में चार प्रकार के क़ानून लिखे हैं। धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन[1]। इन पारिभाषिक शब्दों के अर्थ क्या हैं, इसको भी कौटिल्य स्वयं स्पष्ट करते हैं। 'धर्म का आधार सत्य है, व्यवहार साक्षियों पर आश्रित है, मनुष्यों के परम्परागत प्रचलित नियम चरित्र हैं, और राजकीय आज्ञाओं का नाम राजशासन है[2]।'

---

१. धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थचतुष्पादः पश्चिमः पूर्ववाधकः॥
कौ० अर्थ० ३।१

२. अत्र सत्यस्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु।
चरित्रं संग्रहे पुंसां पश्चिमः पूर्ववाधकः॥
कौ० अर्थ० ३।१

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में न्यायालयों में चार प्रकार के नियम प्रचलित थे—

१. धर्म—इसका आधार 'सत्य' था। वर्तमान परिभाषा में इन्हें 'Natural Law' या 'Eternal Law' कह सकते हैं। इस धर्म या 'शाश्वत नियम' का प्रतिपादन धर्मशास्त्रों में किया गया है। इनको सम्मुख रख कर बहुत से विवादों का निर्णय किया जाता था।

२. व्यवहार—दो व्यक्तियों या व्यक्तिसमूहों या व्यक्ति और व्यक्तिसमूह के पारस्परिक समझौते का नाम व्यवहार है। इसे हम 'Contractual Relations created by the Parties' कह सकते हैं। इसी लिए इसका निर्णय करते हुए साक्षियों को सम्मुख रक्खा जाता था। साक्षियों (Evidences) के आधार पर ही इसका निर्णय होता था।

३. चरित्र—या Customary Laws—कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर हम जानते हैं कि इस काल में व्यापारी, शिल्पी, श्रमी आदि के गण (Guilds) विद्यमान थे। इनके बनाये नियमों को राजा स्वीकृत करता था। इनके विशेष नियमों को 'चरित्र' शब्द से कहा जाता था। इसके सिवाय मनुष्यों में प्रचलित अलिखित (Unwritten) नियमों को प्रामाणिक समझा जाता था। न्याय करते हुए उनका सदा ख़याल रक्खा जाता था।

४- राजशासन—या Statutory Laws—राजशासन से यह न समझना चाहिए कि इन नियमों को राजा स्वयं बनाता था। निस्सन्देह मन्त्रिपरिषद्, पौर जानपद आदि सभायें ही नियम-निर्माण का काम करती थीं। उनके द्वारा जो नियम बनाये जाते थे, वे 'राजशासन' के रूप में प्रचलित किये जाते थे।

इन चार प्रकार के नियमों में न्याय करते समय किसको मुख्यता दी जाय, इसके विषय में चाणक्य लिखते हैं—

'पश्चिमः पूर्ववाधकः'[1] अर्थात् पिछला पहले का वाधक है। यदि 'राज-शासन' और 'चरित्र' में विरोध हो, तो 'राजशासन' को प्रामाणिक समझा जाय। इसी तरह से अन्य स्थानों पर भी ग्रहण करना चाहिए। परन्तु 'राजशासन' की मुख्यता होने पर भी कौटिल्य कहते हैं—'यदि कहीं धर्मशास्त्र (ख़याल रखिए धर्म का नहीं) का व्यवहार से विरोध पड़े, या धर्मशास्त्र का चरित्र से विरोध पड़े तो वहाँ 'धर्म' से अर्थ का निश्चय करे।' और फिर 'यदि देखे कि धर्मशास्त्र का धर्मन्याय (Law based on Equity) से विरोध है तो धर्मन्याय को ही प्रमाण माना जाय, धर्मशास्त्र को नहीं। समझ लिया जाय कि यहाँ धर्मशास्त्र का पाठ अशुद्ध है[2]।

इस प्रकार चाणक्य के अनुसार सब क़ानूनों का आधार धर्म (Natural Law) होना चाहिए, परन्तु धर्म या प्राकृतिक नियम क्या है इसका निर्णय धर्मशास्त्र के अनुसार नहीं करना, अपितु न्याय या उचित अनुचित के आधारभूत सिद्धान्तों को सम्मुख रख कर करना है।

---

१. 'पश्चिमः पूर्ववाधकः' का अर्थ श्रीयुत नरेन्द्रनाथ ला करते हैं—"In case of conflict between (1) and (2), or between (3) and (4), the former prevailed over the latter (पश्चिमः पूर्वबाधकः); so that a contract could not transcend sacred law or a statute custom." हम यह अर्थ पढ़ कर आश्चर्य होता है। प्रो० प्राणनाथ ने भी इसका अर्थ यही किया है। हमें कोई कारण नहीं समझ पड़ता कि 'पश्चिमः पूर्ववाधकः' का सीधा अर्थ क्यों न लिया जावे?

२. संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम्।
यस्मिन्नर्थे विरुद्ध्येत धर्मेणार्थं विनिश्चयेत्॥
शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित्।
न्यायस्तत्र प्रमाणं स्यात् तत्र पाठो हि नश्यति॥

कौ०अर्थ० ३।१

न्यायालयों में मुक़दमे किस प्रकार से किये जाते थे, इस विषय पर भी अर्थशास्त्र से अच्छा प्रकाश पड़ता है। जब निर्णय के लिए कोई मुक़दमा आता था, तब निम्नलिखित बातें रजिस्टर में दर्ज की जाती थीं[1]—

१. ठीक तारीख़—जिससे कि वर्ष, ऋतु, मास, पक्ष और दिन का ठीक ठीक पता लग सके।

२. अपराध का स्वरूप।

३. घटनास्थल।

४. यदि ऋण का मुक़दमा है, तो ऋण की मात्रा।

५. वादी और प्रतिवादी दोनों का देश, ग्राम, जाति, गोत्र, नाम और पेशा।

६. दोनों पक्षों की युक्तियों तथा प्रत्युक्तियों का पूरा विवरण।

मुक़दमा लड़ते हुए परोक्त दोष' से बचने का बड़ा यत्न किया जाता था। 'परोक्तदोष' में ग्रस्त हो जाने से अपना पक्ष कमज़ोर हो जाता था। यह दोष अनेक प्रकार से आ पड़ता था। यथा[1]—

१. जिरह करने पर प्रकरण में आई हुई बात को छोड़कर अन्य बात कहने लगना।

२. पहले कही गई बातों का पीछे स्वयं खण्डन करना।

३. बार बार दूसरे व्यक्ति से सम्मति लेने का आग्रह करना।

४. प्रश्न का उत्तर देते समय न्यायालय के किसी बात पर 'निर्दिश' कहने पर निर्दिष्ट न कर सकना।

५. जो कुछ पूछा जा रहा हो उसका उत्तर न देकर अन्य बातें कहना।

६. पहले कोई बात कह देना और फिर उससे मुकर जाना।

७. अपने गवाह द्वारा कही गई बातों को स्वयं न मानना।

८. साथियों के साथ न्यायालय में बिना आज्ञा के भाषण करना।

---

१. कौ० अर्थ० ३।१

जो इन 'परोक्त दोषों' को करता था, उसका पक्ष गिर जाता था। इन आठ 'परोक्त दोषों' के सिवाय अन्य तरह भी यही दोष आ पड़ता था।

समझा जाता था, कि जिस वादी ने मुक़दमा किया है वह प्रतिवादी की बातों का उत्तर देने के लिए तैयार है। इसलिए जिस दिन प्रतिवादी वादी द्वारा लगाये गये दोष का जवाब देता था उसी दिन वादी को प्रतिवादी के उत्तर का प्रत्युत्तर भी देना पड़ता था। यदि वह उसी दिन प्रत्युत्तर नहीं दे सकता था तो परोक्त दोष से दूषित हो जाता था। परन्तु प्रतिवादी को मुक़दमा तैयार करने के लिए समय दिया जाता था। उसे तैयार होने के लिए ३ दिन से ७ दिन तक का समय मिलता था। यदि वह इतने अरसे में मुक़दमा तैयार कर ले तब तो ठीक, नहीं तो इससे अधिक समय लेने पर प्रति दिन के ३ पण से १२ पण तक के हिसाब से जुर्माना देना पड़ता था। परन्तु इस तरह भी अधिक से अधिक ४५ दिन दिये जा सकते थे। यदि इतने दिनों में भी वह मुक़दमा न तैयार कर सके, तो उसे 'परोक्तदोष' का भागी समझा जाता था।

मुक़दमे में जिसकी पराजय होती थी, उसे दण्ड मिलता था। विजेता को विजित की सम्पत्ति में से अपने मुक़दमे का खर्च मिल जाता था। इस सम्बन्ध के अन्य अनेक नियमों का वर्णन चाणक्य ने किया है। विस्तार के भय से हम उनका यहाँ उल्लेख नहीं करते।

मुक़दमे में साक्षियों की बड़ी महत्ता थी। क्योंकि दोष का निर्णय करते हुए उनका प्रयोग होता था। परन्तु गवाह की सत्यता पर बहुत ख़याल रक्खा जाता था। जिन पर पक्षपाती होने का ज़रा भी सन्देह होता था, उन्हें गवाह नहीं बनने दिया जाता था। इसी लिए कौटिल्य ने निम्नलिखित व्यक्तियों को गवाह बनने के अयोग्य ठहराया है—

१. श्याल—धर्मपत्नी का भाई, २. सहाय, ३. आबद्ध—क़ैदी, ४. धनिक—जिसने साक्षी दिलानेवाले को रुपया उधार दिया

हो। ५. धारणिक—ऋणी, ६. वैरी, ७. न्यङ्ग—आश्रित, ८. धृत-दण्ड—गिरफ़ार व्यक्ति।

इनके सिवाय निम्नलिखित व्यक्ति भी विशेष अवस्थाओं को छोड़ कर गवाही नहीं दे सकते थे—

१ राजा, २. श्रोत्रिय, ३. ग्रामभृत, ४. कुष्ठी, ५. व्रणी, ६. पतित, ७. चण्डाल, ८ कुत्सितकर्मा, ९. अहंकारी, १० स्त्री और ११. राजपुरुष।

साक्षी देने से पूर्व गवाह को सत्य बोलने की शपथ लेनी पड़ती थी। कौटिल्य लिखते हैं—"साक्षियों को पानी, अग्नि तथा ब्राह्मण के सम्मुख ले जाया जाय। यदि साक्षी ब्राह्मण हो तो न्यायाधीश सत्य बोलने की प्रतिज्ञा कराता हुआ उससे कहे 'सत्यं ब्रूहि' सत्य बोलो। यदि वह क्षत्रिय वा वैश्य हो तो उससे कहे—(यदि तुम झूठ बोलोगे) तो तुमको यज्ञ का फल न मिले, शत्रु की सेना को जीतने के बाद खप्पर हाथ में लेकर तुम इधर-उधर भीख माँगते फिरो'। यदि वह शूद्र हो तो उससे कहे—('यदि तुम झूठ बोलोगे) तो मरने के बाद तुम्हारा पुण्य फल राजा को मिले। राजा के पाप तुम्हारे सिर पर चढ़े। यदि तुम झूठ बोलोगे तो तुमको दण्ड भी मिलेगा[1]।'

यदि गवाह परस्पर मिल कर गुट बना लेते थे और एक सप्ताह तक प्रतीक्षा करने पर भी सत्य बात प्रकाशित न करते थे, तो उन्हें दण्ड मिलता था। परन्तु न्याय करने के लिए केवल गवाहों की साक्षी पर ही आश्रित नहीं रहा जाता था। सत्य बात का पता लगाने के लिए न्यायालय की तरफ़ से गुप्तचर नियत थे। ये चर मुक़दमे की असली बातों का पता लगाने का प्रयत्न करते थे और पता लगने पर न्यायालय को सूचना देते थे। उनकी सूचनाओं को मानना न मानना न्यायाधीश के अधीन था, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके विवरणों का यथोचित रीति से उपयोग किया जाता था।

---

१. कौ० अर्थ० ३। ११

यदि किसी मुक़दमे में गवाह नहीं मिलते थे, तो उसे 'गिरा' नहीं दिया जाता था, अपितु तब भी ठीक न्याय करने का प्रयत्न किया जाता था। इस अवस्था में 'गुप्तचरों' द्वारा दी हुई सूचनाओं से बहुत सहायता मिलती थी।

न्यायाधीशों को न्याय करते हुए बहुत सावधानी से काम करना पड़ता था। यदि वे ठीक प्रकार से अपना कार्य नहीं करते थे, तो उन्हें भी दण्ड मिल सकता था, क्योंकि चाणक्य कहते हैं—

'यदि न्यायाधीश आपस में विवाद करते हुए मनुष्यों को डाँटे डपटे, धक्का दे या बोलने न दे, तो सबसे पहले उसी को साहसदण्ड दिया जाय। और यदि वह गाली दे तो उसको दुगुना दण्ड मिले। यदि वह पूछने के योग्य बात को न पूछे, न पूछने लायक़ बात को पूछे, पूछ कर बीच में ही छोड़ दे, सिखाये, याद दिलाये या पहले कही बात का उद्धरण दे तो उसको मध्यम साहसदण्ड, और यदि वह उचित परिस्थिति के विषय में न पूछे, अनुचित परिस्थिति के विषय में पूछे, बेमौक़े काम टाले, छल करे, देरी करके दोनों पक्षों को थकावे, जिस बात पर मुक़दमे का फ़ैसला होता हो उसको बीच में ही छोड़ जाय, गवाहों को सहायता दे या निर्णय की हुई बात को पुनः पेश करे, तो उसको उत्तम साहसदण्ड दिया जाय[1]।'

आगे भी कौटिल्य ने न्यायाधीशों के दण्ड का वर्णन किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय न्याय-व्यवस्था बहुत ही उन्नत और विकसित थी। न्यायालयों में ठीक ठीक न्याय करने का अत्यन्त प्रयत्न किया जाता था।

---

१. कौ० अर्थ० ४। ६

नवम अध्याय

चन्द्रगुप्त-कालीन भारत

(३)

राजकीय आय-व्यय

मौर्य चन्द्रगुप्त जैसे प्राचीन सम्राट् के समय के राजकीय आय-व्यय का चित्र इस समय खींच सकना बहुत कठिन है। परन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्र के गम्भीर अध्ययन से इस विषय में हमें बहुत से निर्देश मिलते हैं। उसी के आधार पर यहाँ चन्द्रगुप्त-कालीन आय-व्यय का निरूपण किया जाता है।

१—राजकीय आय

कौटिल्य ने राजकीय आय के स्रोतों को सात भागों में विभक्त किया है। ये सात आय के स्रोत इस प्रकार हैं—दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज तथा वणिक्पथ। दुर्ग आदि शब्दों का यहाँ वह अभिप्राय नहीं है, जो साधारण साहित्य में लिया जाता है। ये पारिभाषिक शब्द हैं। इन सात आय के स्रोतों के अन्य अनेक भेद हैं।

१ दुर्ग—मौर्य-काल में नगर प्रायः दुर्ग के रूप में होते थे। उनके चारों ओर खाई होती थी। अच्छी तरह क़िलाबंदी भी की जाती थी। इसका परिज्ञान हमें अर्थशास्त्र के अध्ययन से होता है। दुर्ग एक सामूहिक परिभाषा है, जिसमें आय के वे सब स्रोत आ जाते हैं, जो मुख्य रूप से नगरों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। अतः दुर्ग का अर्थ क़िलाबन्दी किया हुआ नगर किया जाता है; और यह ठीक भी है। इन दुर्गरूप नगरों से

जो राजकोष को आय होती थी, उसे दुर्ग कहते थे। दुर्ग के अन्तर्गत निम्न-लिखित विभाग थे। (१) शुल्क, चुंगी। विदेशी माल के स्वदेश आने पर तथा स्वदेशी माल के परदेश जाने पर शुल्क लिया जाता था। (२) पौतव—तोल और माप का प्रबन्ध राज्य की ओर से होता था। इससे राज्य को जो आय होती थी, उसे पौतव कहते थे। (३) दण्ड-जुरमाना। (४) नागरिक जेलखानों-द्वारा आय। (५) लवणाध्यक्ष—मुद्रा-पद्धति-द्वारा होनेवाली आय। (६) मुद्राध्यक्ष—जहाज़ आदि पर जाने और नगर-प्रवेश आदि पर लिया जाने वाला कर (Passport)। (७) सुरा—शराब के ठेके द्वारा होनेवाली आय। (८) सूना—बूचड़खानों से होनेवाली आय। (९) सूत्र—राज्य की ओर से ग़रीबों और अशक्तों से जो कार्य कराया जाता था, उससे होनेवाली आय। (१०) तैल—तैल के व्यवसाय पर राज्य का अधिकार था, उससे होनेवाली आय। (११) घृत—इसी तरह घृत की आय। (१२) नमक—नमक की उत्पत्ति से तथा विदेशी नमक के आने पर कर लगाने से होनेवाली आय। (१३) सौवर्णिक—सुनारों से आय। (१४) पण्य-संस्था—राजकीय पण्य की बिक्री से होनेवाली आय। (१५) वेश्या। (१६) द्यूत-जुआ। (१७) वास्तुक-स्थिर और अस्थिर सम्पत्ति की बिक्री के समय राज्य को जो कुछ अंश प्राप्त होता था, वह आय। (१८) कारीगरों तथा शिल्पियों के गणों से होनेवाली आय। (१९) देवताध्यक्ष—धर्ममंदिरों से होनेवाली आय। (२०) द्वार—नगर के द्वार पर चुंगी के रूप में जो कर लिया जाता था, उससे होनेवाली आय। (२१) वाहिरकादेय—वाहिरक नाम के धनी पुरुषों से लिया जानेवाला विशेष कर।

२ राष्ट्र—साधारण जनपद या देहात से राजकोष को जो आय होती थी, उसकी पारिभाषिक संज्ञा राष्ट्र थी। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित आय के स्रोत थे। (१) सीता—राज्य की ज़मीनों से होनेवाली आय। (२) भाग—जिन ज़मीनों पर राज्य की मिलकियत न थी, उनसे लिया जानेवाला कर। (३) वलि—धार्मिक प्रयोजनों के लिए लिया जानेवाला विशेष कर। (४) कर। (५) वणिक्—देहात के व्यापार पर लिया जानेवाला कर। (६) नदी पालस्तर—पुल आदि का कर। (७) नाव—राजकीय नौकाओं की आमदनी और उससे सम्बन्ध रखनेवाला कर। (८) पट्टन[1]—क़सबों का कर। (९) विवीत—चरागाह के कर। (१०) वर्तनी—सड़कों के कर। (११) हथकड़ियों[2] से होनेवाली आय।

३ खनि—खानें राज्य के अधीन होती थीं। सोना, चाँदी, हीरा, मणि, मुक्ता, मूँगा, शंख, लोहा, नमक, पत्थर तथा अन्य अनेक प्रकार की धातुओं की खानें मौर्यकाल में यहाँ थीं। राजकोष को इनसे बहुत आय होती थी।

४ सेतु—पुष्पों और फलों के उद्यान, शाक के खेत और मूलों (मूली, शलगम आदि) के खेत आदि से जो आय होती थी, उसे सेतु कहते थे।

५ वन—जंगलों पर राज्य का अधिकार था। जंगलों से राज्य को अनेक प्रकार की आय होती थी।

१—पट्टन से किस आय का अभिप्राय है, यह साफ़ नहीं होता।

२—जिस शब्द का अर्थ हथकड़ी किया गया है, वह 'रज्जुश्चोररज्जुः' है। इसका असली अभिप्राय क्या है, यह स्पष्ट नहीं होता। कौटिल्य ने एक स्थान पर रस्सी बनाने का वर्णन किया है। शायद रस्सी बनाने से भी राज्य को आय होती थी।

पर यहाँ 'चोररज्जु' का अभिप्राय हथकड़ी ही प्रतीत होता है।

६ व्रज—गऊ, घोड़े, गधे, भैंस, बकरी, भेड़ आदि पशुओं से होनेवाली आय को व्रज कहते थे। राज्य की अपनी पशुशालायें भी हुआ करती थीं।

७ वणिक् पथ—वणिक् पथ दो प्रकार के होते थे—स्थल-पथ और जल-पथ। इनसे होनेवाली आय को वणिक्-पथ कहते थे।

मौर्य चन्द्रगुप्त के काल में राजा की आय के ये सात स्रोत या स्रोत-समूह थे। कौटिल्य ने इनका विस्तार से वर्णन किया है। परन्तु वह वर्णन किसी क्रम-विशेष-द्वारा नहीं किया गया। केवल प्रसंग-वश निर्देश भर कर दिया गया है। इन्हीं निर्देशों के आधार पर राजकीय आय के स्रोतों के विषय में परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। हम इन स्रोतों के अनुशीलन के लिए कौटिल्य के विभाग का उपयोग न करेंगे। राजस्वशास्त्र (Finance) के विशेषज्ञों को इसमें विशेष आनंद न मिलेगा। विषय के स्पष्टी-करण के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान परिपाटी का अनुसरण किया जाय। तदनुसार हम राजकीय आय के स्रोतों को निम्नलिखित भागों में विभक्त कर उन पर विचार करेंगे—

(१) भूमिकर। (२) आयात और निर्यात-कर। (३) विक्री पर कर से आय। (४) प्रत्यक्ष कर। (५) राज्य-द्वारा अधिकृत व्यवसायों की आय। (६) राज्य-द्वारा अधिकृत व्यापारों और व्यापार साधनों की आय। (७) जुरमानों से आय। (८) विविध। (९) आपत्काल में संपत्ति पर विविध प्रकार के कर।

२—भूमि-कर

मौर्य चन्द्रगुप्त के काल में भूमि राज्य की मिलकियत थी या नहीं, इस विषय में मतभेद है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस प्रकार के निर्देश मिलते हैं, जिनसे पता लगता है कि भूमि पर राज्य का ही स्वत्व था। कौटिल्य लिखता है—'ऋत्विक् आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रियों को भूमि दी जाय। ये भूमियाँ

अभिरूप फल को देनेवाली हों। इनको राजदण्ड और राज्य कर से मुक्त रक्खा जाय। अध्यक्ष संख्यायक, गोप, स्थानीक, अनीकस्थ, चिकित्सक, अश्वदमक, जंघारिक आदि राजकर्मचारियों को भूमि दी जाय; परन्तु उनको यह अधिकार न हो कि वे उसको बेच सकें या गिरवी रख सकें। राजस्व (कर) देनेवालों को तैयार भूमियाँ दी जायँ; पर उनकी संतति का उन पर अधिकार न समझा जाय। खेती करनेवालों को ऐसी भूमि न दी जाय, जो तैयार न हो। जो खेती न करें, उनसे खेत छीन कर औरों को दे दिये जायँ[1]।" इस उद्धरण से यह प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण भूमि पर राज्य की मिलकियत थी। राज्य की ओर से कृषकों को खेत मिलते थे; वे खेत वंश-परम्परा के साथ न चलते थे; और जो व्यक्ति खेती न करते थे, उनसे भूमि छीन ली जाती थी। परन्तु इस उद्धरण का वास्तविक अभिप्राय जानने के लिए हमें अन्य बातों पर भी ध्यान देना चाहिए। अर्थशास्त्र में अनेक स्थानों पर ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनसे यह प्रतीत होता है कि भूमि जनता की वैयक्तिक संपत्ति भी होती थी।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि भूमि से जो आय सरकार को होती थी; वह दो प्रकार की थी—सीता और भाग[2]। राज्य की

१—ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो ब्रह्मदेयान्यदण्डकराण्यभिरूपदायकानि प्रयच्छेत्। अध्यक्षसङ्ख्यायकादिभ्यो गोपस्थानिकानीकस्थचिकित्सकाश्वदमकजङ्घारिकेभ्यश्च विक्रयाधानवर्जम्।

करदेभ्यश्च कृतक्षेत्राण्यैकपुरुषिकाणि प्रयच्छेत्। अकृतानि कर्तृभ्यो नादेयात्। अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत्; ग्रामभृतकवैदेहका वा कृषेयुः। अकृषन्तोऽपहीनं दद्युः। धान्यपशुहिरण्यैश्चैनाननुगृह्णीयात्तान्यनुसुखेन दद्युः।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र अधि० २, अध्या० १.

२—सीताभागो बलिः रो वणिक्......कौ० २ अधि० अध्या० ६.

जिन भूमियों पर मिलकियत होती थी; उनकी आय को सीता कहते थे। जिन भूमियों पर कृषकों की मिलकियत होती थी, उनसे सरकार एक निश्चित भाग लिया करती थी। राज्य की भूमियों पर खेती करवाने के लिए एक अलग राजकर्मचारी होता था। उसे 'सीताध्यक्ष' कहते थे। सीता और भाग, इन दो विभागों से यह स्पष्ट है कि सब भूमि पर राज्य की मिलकियत न थी। भूमि के मालिक किसानों को 'स्ववीर्योपजीवी'[1] कहते थे। 'वास्तुविजय' के प्रकरण में भी ऐसे निर्देश आते हैं, जिनसे इसी स्थापना की पुष्टि होती है। कौटिल्य लिखता है—"जब भूमि को बेचने का प्रश्न उपस्थित हो, तो पहले संबंधियों से ख़रीदने के लिए कहा जाय। उनमें से किसी के तैयार न होने पर पड़ोसियों से कहा जाय। उनके भी तैयार न होने पर धनिक से, यानी विक्रेता के महाजन से कहा जाय[2]।" इसका यह स्पष्ट अभिप्राय है कि व्यक्तियों के पास अपनी भूमि होती थी, और उसको ये बेच भी सकते थे। आगे कौटिल्य लिखता है—"स्थिर या अचल संपत्ति में खेत, बाग़, तालाब, आदि सम्मिलित हैं। इनको बेचने के पहले इनकी ठीक ठीक सीमा, पड़ोस के ग्रामवृद्धों के सम्मुख प्रकट की जाय। इसके पश्चात् प्रतिक्रोष्टा[3] तीन बार उद्घोषित करे—"इस क़ीमत में इसको कौन ख़रीदेगा।" जो बोली बोले, उसके हाथ बेच दी जाय। ख़रीदार राज्य को शुल्क भी दे। यदि ख़रीदारों की लाग-डाँट से क़ीमत बढ़ जाय तो यह बढ़ी हुई

१—स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थपञ्चभागिकः यथेष्टमनवसितं भागं दद्युरन्यत्र कृच्छ्रेभ्यः स्वसेतुभ्यः।

कौटिल्य २ अधि० अध्याय २४.

२—ज्ञातिसामन्तधनिकाः क्रमेण भूमिपरिगृहान् क्रेतुमभ्याभवेयुः ततोऽन्ये बाह्यास्सामन्तचत्वारिंशत्कुल्या गृहप्रतिमुखे वेश्मश्रावयेयुः

कौटिल्य ३. अ० ६.

३—प्रतिक्रोष्टा एक राजकर्मचारी होता था जो नीलाम करता था अ० ३. ६ अ०

क़ीमत भी राज्यकोष में जाय[1]।" इसका अभिप्राय स्पष्ट है। भूमि पर केवल राज्य की ही मिलकियत न थी। परन्तु ऐसी भूमियाँ भी थीं, जो लोगों की वैयक्तिक संपत्ति थीं। उन्हें बेचा भी जाता था। राज्य को इस क्रय-विक्रय में केवल चुंगी और लाग-डाँट द्वारा बढ़ी हुई क़ीमत ही मिलती थी।

अन्य स्थान पर कौटिल्य लिखता है—"कर देनेवाले लोग भूमि को बेच और गिरवी रख सकते हैं, परन्तु कर देनेवालों के पास। इसी तरह कर से मुक्त ज़मीनों को उन्हीं के हाथ बेचा जा सकता है, जिनके पास कर से मुक्त ज़मीनें हों।" इससे भी यही सिद्ध होता है कि भूमि पर जनता की भी मिलकियत होती थी।

जो उद्धरण हमने पेश किये हैं, उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी भूमियों पर राज्य का स्वामित्व न था। भूमि लोगों की वैयक्तिक सम्पत्ति भी होती थी। इस विषय में, अर्थशास्त्र में, जितने निर्देश आते हैं, उन सबको ध्यान में रखकर हम आगे लिखे परिणाम पर पहुँच सकते हैं—

१—भूमि दो प्रकार की होती थी—राज्य की भूमि, और ऐसी भूमि, जिस पर लोगों का वैयक्तिक स्वामित्व था। राजभूमि पर राज्य की ओर से खेती कराई जाती थी। उससे जो आय होती थी उसे सीता कहते थे। राज-भूमि से श्रोत्रिय, पुरोहित, ऋत्विक्, आचार्य आदि को भूमि दी जाती थी। उस पर किसी तरह का कर न लिया जाता था। वे उस भूमि को बेच भी सकते थे। पर केवल उन्हीं लोगों के हाथ, जिनके पास पहले से ही ऐसी भूमि विद्यमान हो, अर्थात् अपनी श्रेणी के लोगों के ही

---

१. सामन्तग्रामवृद्धेषु क्षेत्रमारामं सेतुबन्धं तटाकमाधारं वा मर्यादासु यथा सेतुभोगं 'अनेनार्घेण कः क्रेता' इति त्रिराघुषितवीतमव्याहतं क्रेता क्रेतुं लभेत् ॥ स्वर्गवायोर्वा मूल्यवर्धने मूल्यवृद्धिः सशुल्का कोशं गच्छेत्। विक्रयप्रतिक्रोष्टा शुल्कं दद्यात्।

हाथ। राज्य की ओर से, राजभूमि में से, अनेक राजकर्मचारियों को भी भूमि दी जाती थी। उनसे भी कर नहीं लिया जाता था। वे उसे बेच नहीं सकते थे। केवल वेतन-रूप में उन्हें भूमि दी जाती थी, जिससे वे उसकी आय ले सकें।

२—लोगों के पास अपनी वैयक्तिक भूमि भी होती थी। उसका कर लिया जाता था, जिसे 'भाग' कहते थे। इस भूमि को बेचा भी जा सकता था, परन्तु इस विक्रय के लिए अनेक नियम थे। करद करदों के हाथ ही बेच सकते थे, और ख़रीदने के लिए कुछ लोगों को विशेष रूप से सुविधा प्राप्त थी। भूमि की बिक्री पर राज्य कुछ चुंगी या शुल्क तथा स्पर्द्धा (लाग-डाँट) से बढ़ी हुई क़ीमत लेता था।

३—यदि कोई कृषक अपनी निज भूमि पर खेती न करे, तो उससे उसकी भूमि छीन ली जाती थी, और किसी अन्य खेती करनेवाले को दे दी जाती थी। इस स्थापना के लिए एक प्रमाण ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। उसके सिवा एक अन्य स्थान पर कौटिल्य लिखता है—'आपत्ति के विना ही यदि कोई पाँच वर्षों तक किसी मकान या तालाव (अर्थात् स्थिर संपत्ति) से काम न ले, तो उस पर उसका स्वत्व न रहे[1]।' इसी की पुष्टि के लिए कुछ अन्य निर्देश भी अर्थशास्त्र में मिलते हैं।

मौर्य चन्द्रगुप्त के काल में नियमित रूप से भूमि की माप होती थी। उसका समय समय पर नया बंदोवस्त भी किया जाता था। यह बंदोवस्त कितने समय के लिए होता था, इसका पता अर्थशास्त्र से नहीं लगता। परन्तु यह तो स्पष्ट

---

१. पञ्चवर्षोपरतकर्मणः सेतुबन्धस्य स्वाम्यं लुप्येतान्यत्रापद्भ्यः।

कौटिल्य—३ अधिकरण ६ अध्याय।

प्रतीत होता है कि नये बंदोबस्त के समय कर में परिवर्तन अनुग्रह आदि किये जाते थे।

भूमि का जो कर लिया जाता था, उसकी मात्रा बहुत अधिक होती थी। जो कृषक सर्वथा स्वतन्त्र होते थे, जो पानी का प्रबन्ध भी स्वयं करते थे, उनसे उनकी ज़मीन के माफ़िक़ कुल उपज का $\frac{1}{5}$ या $\frac{1}{4}$ भाग भूमिकर के रूप में लिया जाता था। जो सिंचाई के लिए जल राज्य से लेते थे, उनसे भूमिकर की दर और थी। जिन खेतों को, हाथ-द्वारा कूप आदि से पानी खींच कर सींचा जाता था, उनसे $\frac{1}{5}$ भाग; जिनको चरस, रहट आदि द्वारा पानी खींचकर सींचा जाता था; उनसे $\frac{1}{4}$ भाग; जिनमें सिंचाई के लिए पम्प, वातयन्त्र आदि लगे रहते थे उनसे $\frac{1}{3}$ भाग, और जिनमें नदी के पानी से सिंचाई होती थी, या कूप-तालाब बने होते थे, उनसे $\frac{1}{4}$ भाग भूमिकर लिया जाता था। इस प्रकार मौर्य चन्द्रगुप्त के राज्य के समय भूमिकर की भिन्न भिन्न मात्रायें, ज़मीनों के अनुसार, वसूल की जाती थीं[1]।

परन्तु दुर्भिक्ष आदि के समय भूमिकर माफ़ भी कर दिया जाता था[2]। कौटिल्य ने और भी अनेक ऐसी अवस्थाओं का उल्लेख किया है, जिनमें कर माफ़ कर दिया जाता था। एक स्थान पर लिखा है—'यदि कोई तालाब या पक्के मकान को नये सिरे से बनवाये, तो उसको पाँच वर्ष के लिए राज्य-कर से मुक्त कर दिया जाय। टूटे फूटे के सुधारने में चार वर्ष तक और बने हुए को बढ़ाने में तीन साल तक राज्य-कर न लिया जाय।

---

१. हस्तप्रावर्तिमसुदकभागं पञ्चमं दद्युः। स्कन्धप्रावर्त्तिमं चतुर्थम्। स्रोतो यन्त्रा प्रावर्तिमं च तृतीयम्। चतुर्थं नदीसरस्तटाक कूपोद्घाटम्।

कौटि० २ अधि० २४ अ०

२. स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थपञ्चभागिकाः यथेष्टमनवसितं भागं दद्युरन्यत्र कृच्छ्रेभ्यः स्वसेतुभ्यः।

कौटिल्य २ अधि० २४ अध्याय।

यदि किसी ने ऐसी ज़मीन गिरवी रक्खी या बेची हो, जो खेती के लिए तैयार न हो, तो उस खेत से दो साल तक राज्य-कर न लिया जाय।[1]" ये नियम ध्यान देने योग्य हैं, अंतिम नियम का भाव यही है कि जब किसी ज़मीन को खेती के लिए तैयार किया जाता था, तो उसे राज्य-कर से मुक्त रक्खा जाता था। कौटिल्य ने राजकीय आय के लिए यही सिद्धान्त रक्खा है कि कर इस तरह से लिया जाय, जिसमें प्रजा को कष्ट न हो, और उत्पादकों को भार न मालूम पड़े।

तट-कर[2] (आयात और निर्यात-कर)

मौर्य-चन्द्रगुप्त के काल में तट-कर भी राजकीय आय का आवश्यक अंग था। कौटिल्य कहता है—"शुल्क दो प्रकार के होते हैं—निष्काम्य (Export duty) और प्रवेश्य (Import duty)। हिन्दी के आधुनिक लेखक इन करों के लिए निर्यात-कर और आयात-कर शब्दों का प्रयोग करते हैं। इन संज्ञाओं के अधिक प्रचलित होने के कारण हम भी इन्हीं का प्रयोग करेंगे। मौर्य-चन्द्रगुप्त के समय में आयात माल पर साधारणतः $\frac{1}{5}$ या २० प्रतिशत कर लिया जाता था। पर इस सामान्य नियम के

१—तटाकसेतुबन्धानां नवप्रवर्तने पाञ्चवार्षिकपरिहारः। भग्नोत्सृष्टानां चातुर्वार्षिकः। समुपारूढानां त्रैवार्षिकः। स्थलस्य द्वैवार्षिकः स्वात्माधाने विक्रये च।

कौ० ३ अधि० ६ अध्याय

२—तट-कर शब्द आय के उस स्रोत के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो माल के बाहर जाने या विदेशी माल के अंदर आने पर कर-रूप में लिया जाता था। अँगरेज़ी में इसे Customs कहते हैं। हिन्दी में इसका अनुवाद तट-कर किया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि यह कर तट पर ही लिया जाता हो। निःसंदेह मौर्य-चन्द्रगुप्त के काल में बहुत-सी Custom duties की आमदनी तट से नहीं होती थी।

अपवाद भी थे। पुष्प, फल, शाक, मूल, कंद, पालक, बीज, सूखी मछली, और मांस पर $\frac{१}{६}$ या १६$\frac{२}{३}$ प्रतिशत कर लिया जाता था। शंख, हीरा, मणि, मोती, मूँगा तथा हार के लिए इन कामों के करनेवाले जानकार चुंगी नियत करते थे। सनिया, मलमल, रेशमी माल, कवच, हड़ताल, मैनसिल, सिंगरफ, लोहा, रंग बनाने की धातुएँ, चंदन, अगर, मिर्च, मद्य-सामग्री, परदा, शराब, दाँत, चमड़ा, रेशेदार पदार्थ, पतला कपड़ा, गलीचा ऊपर डालने का विशेष कपड़ा (प्रावरण), ऊन का बना वस्त्र, तथा कृमियों से बनाये वस्त्र, इन पर $\frac{१}{१०}$ और $\frac{१}{१५}$, अर्थात् १० प्रतिशत और ६-७ प्रतिशत कर लिया जाता था। साधारण वस्त्र, दो पैर के पशु, चौपाए, सूत, रुई, गंध, दवा, लकड़ी, बाँस, वक्कल, चमड़ा, मिट्टी के बर्तन, धान्य, तेल, घृत, खार, नमक, शराब, मिठाई, पक्वान्न, आदि पर $\frac{१}{२०}$ और $\frac{१}{२५}$ अर्थात् ५ प्रतिशत या ४ प्रतिशत कर लिया जाता था। इस प्रकार मौर्य चन्द्रगुप्त के काल में आयात माल पर काफ़ी कर लिया जाता था। इतना ही नहीं, इस आयात-कर के सिवा माल के नगर-द्वार में प्रविष्ट होने पर आयात-कर का $\frac{१}{५}$ भाग और चुंगी के नाम से लिया जाता था। इस द्वार-देय चुंगी को, भिन्न भिन्न देशों के अनुसार, कम भी किया जाता था। कौटिल्य ने जिन शब्दों में यह बात लिखी है, उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्य देशों के साथ इस द्वार-देय चुंगी को कम करवाने का प्रयत्न होता था। जो देश मौर्य-साम्राज्य के माल के साथ रियायत करते थे, उनसे मौर्य-साम्राज्य में भी इस द्वार-देय चुंगी में रियायत की जाती थी।[1] देश और जाति के अनु-

---

१—शुल्कव्यवहारः बाह्यमाभ्यन्तरं चातिथ्यम्। निष्क्राम्यं प्रवेश्यं च शुल्कम्। प्रवेश्यानां मूल्यं पञ्चभागः। पुष्पफलशाकमूलकन्द-पल्लिक्यबीजशुष्कमत्स्यमांसानां षड्भागं गृह्णीयात्।

शंखवज्रमणिमुक्ताप्रवालहाराणां तज्जातपुरुषैः कारयेत् कृतकर्मप्रमाणकालवेतनफलनिष्पत्तिभिः।

सार केवल द्वार-देय चुंगी पर ही रियायत नहीं की जाती थी, आयात कर पर भी की जाती थी। चाणक्य कहता है—"देश और जाति के चरित्र के अनुसार नये और पुराने माल पर कर स्थापित करे। और अन्य देशों के अपकार करने पर शुल्क को बढ़ा दे।[1]" इसका अभिप्राय यही है कि रियायती कर मौर्य चन्द्रगुप्त के समय में विद्यमान था, और शत्रु-देशों या अपकारक देशों पर आयात-कर बढ़ा भी दिया जाता था, और कम भी कर दिया जाता था।

जिन पदार्थों पर राज्य का एकाधिकार होता था, उनके विदेशों से स्वदेश आने पर आयात कर और द्वार-देय करों के सिवा अन्य कर भी लिया जाता था। उदाहरण के लिए नमक के व्यवसाय को ले लीजिए। उस पर राज्य का एकाधिकार था। जब विदेशी नमक स्वदेश में आता था, तब उस पर १६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत आयात कर लिया जाता था। इसके सिवा ३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत द्वार-देय चुंगी भी ली जाती थी। और इसके साथ ही उतना वैधरण (हरजाना) भी देना पड़ता था, जितना विदेशी नमक

चौमदुकूलक्रिमितानकङ्कटहरितालमनश्शिलाहिङ्गुलुकलोहवर्णधातूनां चन्दनागरुकटुककिण्वावराणां सुरादन्ताजिनचौमदुकूलनिकरास्तरणप्रावरणक्रिमिजातानामजैलकस्य च दशभागः पञ्चदशभागो वा। वस्त्रचतुष्पदद्विपदसूत्रकार्पासगन्धभैषज्यकाष्ठवेणुवल्कलचर्ममृद्भाण्डानां धान्यस्नेहक्षारलवणमद्यपक्वान्नादीनां च विंशतिभागः पञ्चविंशतिभागो वा। द्वारादेयं शुल्कपञ्चभागं आनुग्राहिकं वा यथा देशोपकारं स्थापयेत्।

कौटि० २ अधि० २२ अध्याय

१—अतो नवपुराणानां देशजातिचरित्रतः। पण्यानां स्थापयेच्छुल्कमत्ययं चापकारतः।

कौटिल्य० २ अधि० २२ अ०

के आने से राजकीय नमक के व्यवसाय को हानि पहुँची हो[1]। इसी तरह, शराब, तेल आदि राज्याधिकृत व्यवसायों के आयात पर भी राज्य हरजाना लेता था।

आयात-कर की जो मात्रा हमने देखी है, उससे सहज ही यह अनुमान होता है कि मौर्य-चन्द्रगुप्त के समय संरक्षण नीति का अनुसरण किया जाता था। पर बात ऐसी नहीं है। सम्राट् चन्द्रगुप्त ने आयात-कर की मात्रा इतनी अधिक इसलिए रक्खी थी कि राजकीय आय की वृद्धि हो। आयात-कर का उद्देश्य संरक्षण नहीं था, केवल कोष और आय-वृद्धि की दृष्टि से ही तट-कर लगाया जाता था। इतना ही नहीं, भिन्न भिन्न उपायों से विदेशी व्यापार को बढ़ाने का भी यत्न किया जाता था। कौटिल्य लिखता है—"विदेशी माल को अनुग्रह से स्वदेश में प्रवेश कराया जाय। इसके लिए नाविकों तथा विदेशी माल के व्यापारियों को, लाभ के अनुसार चुंगी माफ़ कर दी जाय। विदेशी माल लानेवालों पर मुक़द्दमे न चलाये जावें, सिवा उस हालत के, जब कम्पनी के हिस्सेदारों को लाभ होता हो।[2]" इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मौर्यचन्द्रगुप्त के समय में विदेशी माल के आयात के लिए प्रयत्न किया जाता था। और भी इस तरह के निर्देश आते हैं, जिनसे यही पता लगता है कि जान बूझकर विदेशी माल के आयात को उत्साहित किया जाता था। विदेशी

१—आगन्तुलवणं षड्भागं दद्यात्—दत्तभागविभागस्य विक्रयः पञ्चकं शतं व्याजीं रूपं रूपिकं च। क्रेता शुल्कं राजपण्याच्छेदानुरूपं च वैधरणं दद्यात्। अन्यत्र क्रेता षट् छतमत्ययं च।

कौटिल्य० २ अधिकरण १२ अध्याय।

२—परभूमिजं पण्यमनुग्रहेण आवाहयेत्। नाविकसार्थवाहेभ्यश्च परिहारमायतिक्षमं दद्यात्। अनभियोगश्चार्थेष्वागन्तूनामन्यत्र सभ्योपकारिभ्यः।

कौटि० २ अधि० १६ अध्याय।

माल के व्यापारियों को अनेक प्रकार के सुभीते दिये जाते थे, और यह प्रयत्न किया जाता था कि विदेशी व्यापारियों को नुक़सान न हो, जिससे वे व्यापार बन्द न कर दें। मौर्य-चन्द्रगुप्त के काल में मुक्त-द्वार वाणिज्य की ही नीति थी, संरक्षण की नहीं। पर राजकीय आय के लिए भारी आयात-कर लिये जाते थे। परन्तु आयात-कर की मात्रा के द्रव्यानुसार, कम अधिक होने से यह भी संभव है कि इन न्यूनाधिक करों का निश्चय किसी सिद्धान्त के आधार पर किया जाता हो। और वह सिद्धान्त यही हो सकता है कि स्वदेशी व्यवसाय कहीं नष्ट न हो जाय।

स्वदेशी माल को विदेशों में बिकवाने के लिए अनेक प्रकार से यत्न किया जाता था। पण्याध्यक्ष एक विशेष कर्मचारी होता था, जिसका अन्य कार्यों के साथ यह भी कार्य होता था कि स्वदेशी माल को विदेशों में बिकवाने का प्रयत्न करे। चाणक्य लिखता है—"परदेश में व्यापार के लिए, पण्य एवं प्रतिपण्य (निर्यात माल और उसके बदले में आनेवाला माल) के मूल्य में से चुङ्गी, सड़क-कर, गाड़ी का खर्च, छावनी का कर, नौका के भाड़े आदि का खर्च घटा कर शुद्ध लाभ (Net Profit) का अनुमान करे। यदि इस ढङ्ग पर लाभ न मालूम पड़े, तो यह देखे कि स्वदेशी चीज़ के बदले में कोई ऐसी विदेशी चीज़ ली जा सकती है कि नहीं जिससे लाभ हो[1]।" आगे चाणक्य लिखता है—"जल-मार्ग से विदेश में माल भेजने के पहले, गाड़ी-खर्च, भोजन-व्यय, विनिमय में आनेवाले विदेशी माल की क़ीमत[2] तथा प्रमाण, यात्रा-काल, भय-प्रतीकार के उपाय में हुआ व्यय, बंदरगाहों के रिवाज, नियम आदि का पता लगावे। भिन्न भिन्न देशों के नियमों को जानकर दूसरे देशों में जहाँ लाभ देखे

१—वारिपथे च यानभागकपथ्यदनपण्यप्रतिपण्यार्घप्रमाणयात्राकालभय-प्रतीकारपण्यपत्तनचारित्राण्युपलभेत्। कौ० २ अधि० १६ अध्याय।

२—यहाँ बीमे की तरह के किसी तरीक़े की ध्वनि निकलती है।

जाय। जहाँ हानि की संभावना हो, वहाँ से दूर रहे[1]।" इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि मौर्य-चन्द्रगुप्त के काल में स्वदेशी व्यापार को विदेशों में बढ़ाने के लिए राज्य की ओर से यत्न होता था। इस विषय में हमें अधिक आलोचना नहीं करनी है। निर्यात माल पर कोई कर लिया जाता था या नहीं, इसका निर्देश हमें अर्थशास्त्र में मिलता है। परन्तु उसकी मात्रा को चाणक्य ने कहीं नहीं बतलाया। संभवतः जो कर आन्तरिक व्यापार में लिये जाते थे वे ही निर्यात माल पर भी लिये जाते थे। इन करों का विवेचन हम अगले प्रकरण में करेंगे।

३ बिक्री पर कर से आय

मौर्य-काल में बिक्री पर चुङ्गी ली जाती थी। आचार्य कौटिल्य नियम करते हैं कि उत्पत्ति स्थान पर कोई भी पदार्थ बेचा नहीं जा सकता[2]। कोई भी बिक्री चुङ्गी से बच न सके, इसलिए यह नियम किया गया था। जो इसका उल्लङ्घन करते थे, उन पर जुरमाना किया जाता था। उन जुरमानों की मात्रा बहुत अधिक थी। खानों से खनिज पदार्थ खरीदने पर ६०० पण,[3] बगीचे से फूल-फल लेने पर ५४ पण, शाक के खेतों से

१—नदी पथे च विज्ञाय व्यवहारं चरित्रतः।
यतो लाभस्ततो गच्छेदलाभं परिवर्जयेत्॥

कौटिल्य २ अधिकरण १६ अध्याय।

२—जातिभूमिषु च पण्यानामविक्रयः। कौटिल्य २ अधि० २२ अ०

३—खनिभ्यो धातुपण्यादानेषु षट्छतमत्ययः। कौ० २ अधि० २२ अध्याय

पण की क्रय-शक्ति उस समय क्या थी, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। अनेक विद्वानों ने इसके लिए प्रयत्न किया है, पर ठीक निश्चय नहीं हो सका। प्रो० विनयकुमार सरकार ने The Political Institutions and Theories of the Hindus पुस्तक में पण को १४ आने के लगभग माना है।

शाक मूल तथा कंद लेने पर ५१$\frac{3}{4}$ पण, तथा खेतों से नाज मोल लेने पर ५३ पण जुरमाना किया जाता था[1]। उत्पत्ति-स्थान पर सीधा क्रय-विक्रय नहीं हो सकता था; क्योंकि इससे राजकीय आय को हानि होती थी। इसलिए सब माल पहले शुल्काध्यक्ष के पास, चुङ्गीघर में, लाया जाता था। वहाँ उस पर चुङ्गी ली जाती थी। फिर उस पर अभिज्ञान-मुद्रा लगाई जाती थी। तभी कोई माल बिक सकता था, अन्यथा नहीं।

चुङ्गीघर का चाणक्य ने बहुत मनोरञ्जक वर्णन किया है। चाणक्य लिखता है—"शुल्काध्यक्ष नगर के मुख्य द्वार के निकट उत्तर या दक्षिण में चुङ्गीघर बनवावे, और उस पर चुङ्गी का झंडा फहरावे, शुल्क लेनेवाले चार या पाँच आदमी विक्रेय माल लेकर आये हुए व्यापारियों से पूछें—'आप कौन हैं? आप कहाँ से आये हैं? कितना माल आपके पास है? आपकी अभिज्ञान-मुद्रा कहाँ है?', यदि माल पर मुहर न लगी हो, तो दुगुनी चुङ्गी ली जाय, और यदि झूठी मुहर लगी हो तो अठ-गुनी। जिसकी मुहर टूट गई हो, उस माल को चुङ्गीघर के गोदाम में पड़े रहने का दण्ड दिया जाय[2]।"

इस उद्धरण से यह प्रतीत होता है कि अभिज्ञान-मुद्रा का लगाया जाना तो प्रत्येक पण्य (माल) के लिए आवश्यक था ही,

---

१—पुष्पफलवाटेभ्यः पुष्पफलादाने चतुष्पञ्चाशत् पणो दण्डः। षण्डेभ्यः शाकमूलकन्दादाने पादोनं द्विपञ्चाशत् पणो दण्डः। क्षेत्रेभ्यस्सर्व-सस्यादाने त्रिपंचाशत् पणः।

कौ० २ अधि० २२ अध्याय

२—शुल्काध्यक्षः शुल्कशालाध्वजं च प्राङ्मुखं उदङ्मुखं वा महा-द्वाराभ्याशे निवेशयेत्। शुल्कादायिनश्चत्वारः पञ्च वा सार्थोपयातान् वणिजो लिखेयुः—"के कुतस्त्याः कियत्पण्याः क्वचाभिज्ञानमुद्रा वा कृता" इति। अमुद्राणामत्ययो देयद्विगुणः। कूटमुद्राणां शुल्काष्ट-गुणो दण्डः। भिन्नमुद्राणामत्ययो घटिकास्थाने स्थानम्।

कौटि० २ अधि० २१ अ०

और उसके लिए कर लिया ही जाता था, पर साथ ही विक्री के लिए अन्य स्थान पर माल ले जाने पर वहाँ दुबारा भी चुङ्गी ली जाती थी। मौर्य-काल में भी व्यापारी लोग यह प्रयत्न किया करते थे कि चुङ्गी से किसी प्रकार बच जायँ। पर चाणक्य ने इसका अच्छा बन्दोबस्त सोच रक्खा था। चाणक्य लिखता है—"चुंगी के डर से माल या उसकी क़ीमत कम बताने पर जितना माल अधिक निकले, और जो अधिक क़ीमत मिले, वह सब राजकोष में भेज दी जाय, अथवा उस पर अठगुनी चुङ्गी लगाई जाय। यही नियम उस समय लगाया जाय, जब व्यापारी ने चुङ्गी से बचने के लिए बन्द पेटी में ऊपर रद्दी माल रक्खा हो, और नीचे अच्छा, या बहुमूल्य पदार्थ को अल्पमूल्य-वाले पदार्थ से छिपा दिया हो।" आगे चाणक्य लिखता है—चुंगी बिना दिये ही जो लोग चुंगीघर की सीमा पार कर गये हों उन पर असली चुङ्गी का अठगुना जुरमाना किया जाय, और उनकी जाँच आते जाते हुए लोगों से की जाय। × × × चुङ्गी दिये माल के साथ बे चुङ्गी दिया माल ले जानेवाले तथा एक मुहर से दो काम निकालनेवाले व्यापारी को वह दण्ड दिया जाय, जो चोर को दिया जाता है[1]।" इत्यादि। निस्सन्देह कौटिल्य के इन प्रयत्नों से मौर्य-काल में कोई भी व्यापारी चुङ्गी से नहीं बच सकता होगा। कौटिल्य व्यापारियों पर यह प्रभाव डालना चाहता था कि राजा सर्वज्ञ है, उससे बच कर जाना

१—शुल्कभयात्पण्यप्रमाणं मूल्यं वा हीनं ब्रुवतस्तदतिरिक्तं राजा हरेत्। शुल्कमष्टगुणं वा दद्यात्।

तदेव निविष्टपण्यस्य भाण्डस्यहीनप्रतिवर्णकेनार्घापकर्षणे सार-भाण्डस्य फल्गुभाण्डेन प्रतिच्छादने च कुर्यात्।

ध्वजमूलमतिक्रान्तानां चाकृतशुल्कानां शुल्कादष्टगुणो दण्डः। पथिकोत्पथिकास्तद्विद्युः।

कृतशुल्केनाकृतशुल्कं निर्वाहयतो द्वितीयमेकमुद्रया भित्वा पुटम-पहरतो वैदेहकस्य तच्च तावच्च दण्डः।

कौ० २ अधि० २१ अध्याय।

असम्भव है। अतः ठीक ठीक सबको बता देना चाहिए[1]। चुङ्गी सभी चीज़ों पर नहीं ली जाती थी। जो माल विवाह से सम्बन्ध रखता था, दहेज में मिलता था, उपहार के लिए आता था, यज्ञ या प्रसव के निमित्त होता था, मंदिर, मुंडन, जनेऊ, व्रत, विवाह दीक्षा आदि कार्यों के लिए मँगाया जाता था, उस पर चुङ्गी नहीं लगाई जाती थी[2]। इसी तरह अन्य कुछ मालों पर भी चुङ्गी माफ़ थी।

राष्ट्र को नुक़सान पहुँचाने वाला माल, या कुछ भी फल जिससे न मिल सकता हो, ऐसा माल नष्ट कर दिया जाता था, वह विकने नहीं पाता था। और जो बहुत उपकारी[3] माल होता, या जो दुर्लभ बीज होता, उस पर किसी तरह की चुंगी नहीं लगाई जाती थी।

चुंगी की मात्रा क्या होती थी, इसका निश्चित रूप से पता नहीं लगता। चाणक्य ने एक स्थान पर यही लिखा है कि माल की सारता आदि देखकर अंदाज़ से चुंगी लगाई जाय। पर यह नहीं मालूम कि उसकी मात्रा क्या होती थी। प्रो० विनयकुमार सरकार ने लिखा है—"नाप कर बेचे जानेवाले पदार्थों का $\frac{1}{16}$ भाग या $6\frac{1}{4}$ प्रतिशत, तोलकर बेचे जानेवाले

१—कौटिल्य का यह वृत्तान्त पढ़ने योग्य है। कौटिल्य ने व्यापारियों के माल का ठीक ठीक पता लगाने के लिए खुफ़िया पुलिस से काम लेने की सलाह दी है।

२—वैवाहिकमन्वायनमौपयानिकं यज्ञकृत्यप्रसवनैमित्तिकं देवेज्या चौलोपनयनगोदानव्रतदक्षिणादिषु क्रियाविशेषेषु भाण्डमुच्छुल्कं गच्छेत्।

कौ० २ अधि० २१ अ०

३—राष्ट्रपीडाकरं भाण्डमुच्छिन्द्यादफलं च यत्।
महोपकारमुच्छुल्कं कुर्याद्बीजं तु दुर्लभम्॥

कौ० २ अधि० २१ अ०

पदार्थों का $\frac{1}{20}$ भाग या ५ प्रतिशत और गिन कर बेचे जाने-वाले पदार्थों का $\frac{1}{11}$ भाग या ९$\frac{1}{11}$ प्रतिशत चुंगी के रूप में लिया जाता था[1]। पर अर्थशास्त्र के किसी प्रमाण से यह पुष्ट नहीं होता।

अर्थशास्त्र के अनुशीलन से यह भी प्रतीत होता है कि किसी-किसी माल पर चुंगी में रियायत भी की जाती थी। पर विशेष रूप से इस विषय में अर्थशास्त्र अधिक परिज्ञान नहीं कराता।

शुल्काध्यक्ष चुंगी घर पर, ऊपर वर्णित चुंगी के सिवा और चुंगी भी, लेता था। कौटिल्य लिखता है—"बाज़ारी माल को ढोनेवाले एक खुरवाले पशुओं पर माल-ढुआई का $\frac{1}{2}$ पण प्रति पशु, छोटे पशुओं पर $\frac{1}{4}$ पण तथा बँहगीवालों पर एक माषक[2] चुंगी लगाई जाय।" इस ढुआई के कर के सिवाय एक कर और था, जिसे वर्तनी कहते थे। इस कर को अंतपाल वसूल करता था। सड़क के उपयोग का यह कर था। इसकी मात्रा १$\frac{1}{4}$ पण होती थी।

इन करों को लेने पर मौर्य चन्द्रगुप्त के काल की सरकार

१—प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार ने कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र के हिंदी-अनुवाद में पण्याध्यक्ष के प्रकरण में (अधि० २ अध्या० १६) आगे लिखे वाक्य का यही अर्थ किया है—"षोडशभागो मानव्याजी। विंशतिभागस्तुला मानम्। गण्यपण्यानामेकादशभागः।" पर जिस प्रकरण में यह वाक्य है, वहाँ इसका यह अर्थ किसी तरह संभव नहीं। प्रकरण के अनुसार इसका जो अर्थ है, उसका उपयोग हमने एक अन्य स्थान पर, इसी लेख में किया है। वहाँ इसका निर्देश कर दिया है।

२—माषक भी एक सिक्का होता था। कौटिल्य-कृत अर्थ-शास्त्र के अध्ययन से प्रतीत होता है कि माषक $\frac{1}{16}$ पण के बराबर होता था।

अर्थात् १६ माषक = १ पण।

अपनी पूरी जिम्मेदारी समझती थी। यदि किसी का माल नष्ट हो जाय, या चुराया जाय, तो उसे सरकार पूरा करती थी।

४ प्रत्यक्ष कर

मौर्य-चन्द्रगुप्त के काल में प्रत्यक्ष कर बहुत नहीं लगाये जाते थे। प्रायः प्रत्यक्ष करों का उपयोग आपत्ति के समय किया जाता था। जब राज्य को धन की बहुत आवश्यकता होती थी, तभी जनता से प्रत्यक्ष कर लिये जाते थे। इन आपत्-काल के करों का विवेचन हम अन्य स्थानों पर करेंगे। यहाँ केवल उन करों को ही देखना है जो साधारण अवस्था में लिये जाते थे।

पहला प्रत्यक्ष कर तोल और माप पर था। राज्य की ओर से तोल और माप के साधन प्रमाणित किये जाते थे, या प्रामाणिक तोल और माप प्रचलित किये जाते थे। इसके लिए ४ माषक कर लिया जाता था। प्रामाणिक बट्टों तथा माप के साधनों को काम में न लाने पर दंड के रूप में २७¼ पण लिया जाता था। पौतवाध्यक्ष (तोल और माप का राजकर्मचारी) व्यापारियों से प्रामाणिक तोल और माप का उपयोग करने के लिए १ कौड़ी (काकणी) प्रतिदिन कर रूप से लेता था।[1]

दूसरा प्रत्यक्ष कर जुआरियों पर था। यह कर लाइसेंस के रूप में था। जुआरी लोग निर्दिष्ट स्थान पर ही जुआ खेल सकते थे। जो निर्दिष्ट स्थान के सिवाय अन्य किसी स्थान पर जुआ खेलते थे, उन पर १२ पण जुरमाना होता था। द्यूताध्यक्ष की ओर से जुआ खेलने के लिए काकणी और अक्ष नियत होते थे। उन्हें अपने अक्ष और काकणी से बदल लेनेवालों पर १२ पण जुरमाना होता था। जुआ खेलने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए

१—चातुर्मासिकं प्रातिवेधनिकं कारयेत्। अप्रतिविद्धस्यात्ययः सपादः सप्तविंशतिपणः। प्रातिवेधनिकं काकणीकमहरहः पौतवाध्यक्षाय दद्युः।

कौटि० २ अधि० १९ अध्याय।

धन देना पड़ता था। काकणी तथा अत्त का किराया भी जुआरियों को देना पड़ता था। इतना ही नहीं, ५ प्रतिशत विजित द्रव्य भी कर के रूप में जुआरी को राज्य-कोष में देना होता था[1]।

तीसरा प्रत्यक्ष कर वेश्याओं से लिया जाता था। रूपाजीवा (रूप का उपयोग कर आजीविका करनेवाली) वेश्याएँ दैनिक आमदनी का दुगुना प्रतिमास राज कर के रूप में देती थीं। इसके सिवा राज्य की ओर से एक गणिकाध्यक्ष भी होता था, जो निश्चित वेतन पर वेश्याओं को रखता था। इन वेश्याओं का उपयोग राजकीय कार्यों के लिए किया जाता था। वेश्या-विषयक अनेक नियम राज्य की ओर से बने हुए थे। उनका उल्लङ्घन करने पर सरकार बड़े बड़े जुरमाने करती थी[2]।

इसी तरह के कर नाटक करनेवालों, रस्सी पर नाचनेवालों, तमाशा दिखानेवालों, गायकों, वादकों और नर्तकों पर भी लगाये जाते थे। इनके सब दंड-कर आदि वेश्याओं के दंड-कर आदि के ही समान थे; अर्थात् इनसे भी एक दिन की औसत आमदनी का दुगुना प्रतिमास कर के रूप में लिया जाता था। परन्तु यदि ये लोग विदेशी हों, तो उनसे तमाशा आदि

१—द्यूताध्यक्षो द्यूतमेकमुखं कारयेत् अन्यत्र दीव्यतो द्वादशपणो दण्डः गूढ़ाजीविज्ञापनार्थम्। कौ० ३ अ० २० अ०।

काकण्यक्षाणामन्योपधाने द्वादशपणो दण्डः।

जितद्रव्यादध्यक्षः पञ्चकं शतमाददीत्।

कौ० ३ अधि० २० अ०।

२—रूपाजीवा भोगद्वयगुणं मासं दद्युः

गणिकाध्यक्षः गणिकान्वयामगणिकान्वयां वा रूपयौवनशिल्पसम्पन्नां सहस्रेण गणिकां कारयेत्।

कौ० २ अधि० २७ अ०।

करने के लिए ५ पण और लिया जाता था[1]। इन्हें नियत स्थान पर रहना होता था। इस नियम तथा अन्य नियमों के न मानने पर १२ पण जुरमाने के रूप में लिये जाते थे।

कारीगरों से भी प्रत्यक्ष कर लिये जाते थे। धोबियों के कपड़े धोने के स्थान निश्चित होते थे। यदि वे अन्य स्थान पर वस्त्र धोते, तो ६ पण जुरमाना किया जाता था। यदि कपड़ा फट जाता तो भी ६ पण जुरमाना किया जाता था। धोबियों के अपने वस्त्रों पर मुद्गर का चिह्न लगाया जाता था। यदि वे ऐसा कपड़ा पहिने हुए हों, जिस पर उक्त चिह्न न हो, तो ३ पण जुरमाना किया जाता था। यदि धोबी धुलने के लिए आये हुए वस्त्रों को किराये पर दे, गिरवी रक्खे या वेचे, तो १२ पण दंड होता था[2]।

इसी तरह के कर, जुरमाना आदि सुनारों तथा अन्य व्यवसायियों पर भी लगाये जाते थे[3]। इन सब व्यवसायियों को एक प्रकार का लाइसेंस लेना होता था।

पशुओं पर कोई अलग कर नहीं था, पर पशुओं के वेचने

१—एतेन नटनर्तकगायकवादकवाग्जीवनकुशीलवप्लवकसौभिकचारणानां स्त्रीव्यवहारिणां स्त्रियो गूढाजीवाश्च व्याख्याताः। तेषां तूर्यमागन्तुकं पञ्चपणं प्रेक्षावेतनं दद्यात्।

कौ० २ अधि० २७ अ०।

२—रजकाः काष्ठफलकश्लक्ष्णशिलासु वस्त्राणि नेनिज्युः। अन्यत्र नेनिजन्तो वस्त्रोपघातं षट्पणं च दण्डं दद्युः।

मुद्गराङ्कादन्यद्वासः परिदधानास्त्रिपणं दण्डं दद्युः। परवस्त्रविक्रया-धानेषु च द्वादशपणो दण्डः। परिवर्तने मूल्यद्विगुणो वस्त्रदानं च।

कौटि० ४ अधि० १ अ०

३—मुकुलावदातं शिलापट्टशुद्धधौतसूत्रवर्णं प्रमृष्टश्वेततरं चैकरात्रोत्तरं दण्डं दद्युः। कौटि० ४ अधि० १ अध्याय।

पर प्रति पशु १ पण कर लिया जाता था[1]। किस व्यक्ति के पास कितने पशु हैं, इनकी सूची 'समाहर्ता' नामक राजकर्मचारी के पास रहती थी। समाहर्त्ता की यह सूची तैयार करने का काम 'गोप' नाम के स्थानीय कर्मचारी किया करते थे।

५—राज्य द्वारा अधिकृत व्यवसायों से आय

मौर्य-काल में अनेक व्यवसायों पर राज्य का एकाधिकार (Monopoly) था। उन व्यवसायों की आय से राजकोष को बहुत आमदनी थी। सबसे आवश्यक व्यवसाय, जिस पर राज्य का एकाधिकार था, खानें और खनिज द्रव्य थे। खानों पर राज्य का एकाधिकार था। उसके प्रबन्ध के लिए एक अलग राजकर्मचारी होता था। उसको 'आकराध्यक्ष' कहते थे। कौटिल्य कहता है कि—आकराध्यक्ष को ताम्र आदि धातुओं की विद्या, पारा निकालने, मणियों को पहचानने आदि की विद्या ज्ञात होनी चाहिए। कहाँ कौन धातु मिलती है, भिन्न भिन्न धातुओं की कच्ची धातु किस तरह की होती है, कच्ची धातु को किस तरह साफ़ किया जाता है—इन सब बातों का कौटिल्य ने विस्तार से वर्णन किया है[2]।

कौटिल्य लिखता है—"खानों से जब धातुएँ निकल आवें, तब उनको अपने अपने कारखाने में भेज दिया जाय। जो माल तैयार हो उसको एक स्थान पर बेचने का प्रबन्ध किया जाय। और इस नियम का उल्लङ्घन करनेवाले कर्त्ता (कारीगर या माल तैयार करनेवाले), क्रेता तथा विक्रेता को दण्ड दिया जाय[3]।"

१—कौटिल्य चतुर्थ अधिकरण प्रथम अध्याय।

२—कौटिलीय अर्थशास्त्र—आकारकर्मान्तप्रवर्तनम्।

२ अधि० १२ अध्याय

३—धातुसमुत्थितं तज्ज्ञातकर्मान्तेषु प्रयोजयेत्। कृतभाण्डव्यवहारमेकमुखमत्ययं चान्यत्र कर्तृक्रेतृविक्रेतृणां स्थापयेत्।

कौ० २ अधि० १२ अ०

इससे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में खानों का व्यवसाय अच्छी तरह प्रचलित था, और खानों की खुदाई राज्य की ओर से होती थी। कच्ची धातु को साफ़ आदि करने के लिए अलग अलग कारख़ाने होते थे। उनसे जो आय होती थी, राज्य की आय समझी जाती थी। आकराध्यक्ष के नीचे अन्य अनेक अध्यक्ष होते थे, जो अलग अलग धातुओं के व्यवसाय को संगठित करते थे। कौटिल्य ने लोहाध्यक्ष और लवणाध्यक्ष आदि के नाम दिये हैं।

मौर्य-चन्द्रगुप्त के काल में खानें दो भागों में विभक्त की हुई थीं, स्थल की और जल की। स्थलीय खानों के अध्यक्ष को आकराध्यक्ष कहते थे। इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। जलीय खानों के अध्यक्ष को खन्यध्यक्ष कहते थे। खन्यध्यक्ष शंख, हीरा, मणि, मोती, मूंगा आदि सामुद्रिक वस्तुओं को निकलवाता था। इनके लिए भी अलग कारख़ाने होते थे, और बेचने आदि का प्रबन्ध भी होता था[1]।

यद्यपि खानों पर राज्य का एकाधिकार था, पर यह आवश्यक नहीं कि राजकर्मचारी ही उनका प्रबन्ध करते हों। अर्थशास्त्र के अध्ययन से ऐसे निर्देश भी मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि खानें ठेके पर भी दी जाती थीं। इन ठेकों से भी राज्य को बहुत आय होती थी। इस प्रकार ठेके पर दी हुई खानों से राज्य एक निश्चित भाग लिया करता था। इस प्रकार खानों पर एकाधिकार होने से राज्य को बहुत आमदनी थी। कौटिल्य तो यहाँ तक कहता है—"आकरप्रभवः कोषः।"

द्वितीय आवश्यक व्यवसाय जिस पर राज्य का अधिकार था, नमक का व्यवसाय था। इस व्यवसाय के संचालन के लिए एक अलग पदाधिकारी था, जिसे लवणाध्यक्ष कहते थे। लवण का व्यवसाय भी ठेके पर दिया जाता था। पर लवण तैयार होते ही राज्य अपना भाग ले लेता था। लवणाध्यक्ष स्वयं

१—खन्यध्यक्षः शङ्खवज्रमणिमुक्ताप्रवालक्षारकर्मान्तान् कारयेत् पणनव्यवहारं च। कौ० २ अधि० १२ अ०।

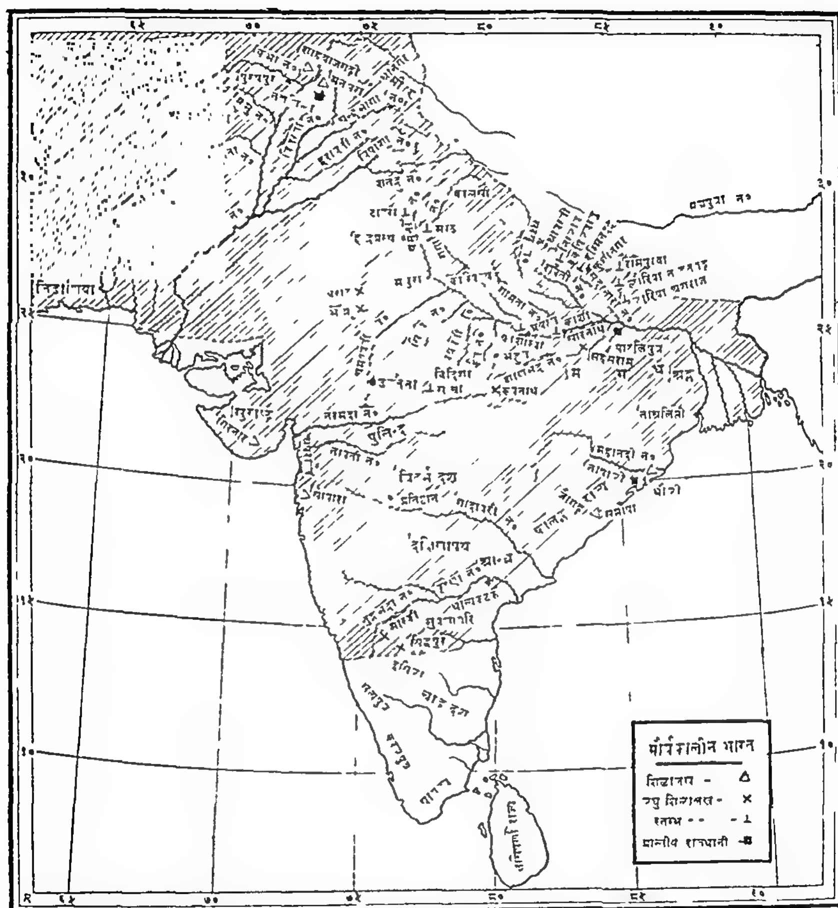
नमक के व्यवसाय का संचालन कर जो नमक तैयार करता था, उस पर भी लवण भाग लिया जाता था। यह नमक-कर क्रेताओं से लिया जाता था। यह तो हुई उस अवस्था की बात, जब नमक तैयार होते ही बिक जाय; पर यदि वह तैयार होते ही नहीं बिक जाता था, तो उसके धीरे धीरे बिकने पर मूल्य तो क्रेताओं से ही लिया जाता था, साथ ही ब्याज भी लिया जाता था। ब्याज उस रुपये का, जिसका नमक लवणाध्यक्ष के गोदाम में पड़ा रहा।

लवण के व्यवसाय को विदेशी नमक के मुक़ाबिले से बचाने के लिए यह नियम था, कि विदेशी नमक को स्वदेश में आने दिया जाय, पर उससे उतना हर्जाना ले लिया जाय, जितना उसको आने से स्वदेशी व्यवसाय को नुक़सान हुआ हो। यह हम पहले ही लिख चुके हैं कि विदेशी नमक पर १६⅔ प्रतिशत तट-कर और ३⅓ प्रतिशत द्वारदेय कर लिया जाता था। इनके सिवा अन्य भी अनेक कर विदेशी नमक के लिए देने पड़ते थे। जो इन राज्य-करों को दिये बिना ही बेचता था, उस पर ६०० पण या इससे अधिक जुरमाना होता था[1]।

इसी प्रकार अन्य अनेक व्यवसाय थे, जिन पर राज्य का अधिकार था। तेल का व्यवसाय इसी प्रकार का था। जंगलों पर भी राज्य का अधिकार था। इनके लिए एक राज्य कर्मचारी होता था जिसे कुप्याध्यक्ष कहते थे। इसका काम होता था, द्रव्यपालों और वनपालों से कुप्य का संग्रह करवाना। जो लोग जंगलों को काटते थे, उनसे राजस्व और जुरमाना लिया जाता था। बशर्ते कि वे किसी आपत्ति में पड़कर ऐसा करने के लिए बाध्य न हुए हों। शाक, विनिश, महुआ, तिल,

---

१—लवणाध्यक्षः पाकमुक्तं लवणभागं प्रक्रयं च यथाकालं संगृह्णीयात्—विक्रयाच्च मूल्यं रूपं व्याजीम्। आगन्तुलवणं षड्भागं दद्यात्—दत्तभागविभागस्य विक्रयः पञ्चकं शतव्याजीरूपं रूपिकं च। क्रेता शुल्कं राजपण्याच्छेदानुरूपं च वैधरणं दद्यात्। कौ० २ अधि० १२ अध्याय।



मौर्य्य-साम्राज्य का विस्तार।

लोध्र, सागवान, शीशम, खैर, खिन्नी, शिरीष, देवदारु, ताड़, राल, अश्वकर्ण और कत्था आदि कुप्य पदार्थ कहाते थे। कुप्यों की तरह अनेक प्रकार के बाँस, वल्ली, वल्कल, पत्र, पुष्प, ओषधि और विष आदि को भी कुप्याध्यक्ष एकत्र कराता था। अनेक प्रकार के प्राणियों का चमड़ा, हड्डी, पित्त, अँतड़ी, दाँत, सींग, खुर, पूँछ आदि भी एकत्र कराये जाते थे। इन सब वस्तुओं को जमा कराकर जंगल में ही इनके कारखाने बनवाये जाते थे। इनकी आमदनी से निस्सन्देह राजकीय कोष की बहुत वृद्धि होती होगी[1]।

राज्य की ओर से अनेक प्रकार के हथियारों का निर्माण होता था। आयुधागाराध्यक्ष तरह तरह के खड्ग, यंत्र, अस्त्र, कवच, आयुध तथा उपकरण तैयार कराता था। इसके लिए वेतन, कार्य करने का काल आदि निश्चित करके कारीगर रक्खे जाते थे। चाणक्य ने अस्त्र-शस्त्रों का विस्तार से वर्णन किया है। मौर्य-चन्द्रगुप्त के काल में भारत अस्त्र-शस्त्रों के लिए किसी दूसरे देश के आश्रित न था। सब हथियार यहीं तैयार होते थे[2]। यह आश्चर्य की बात है कि चन्द्रगुप्त के समय में शस्त्र और कवच उन वस्तुओं में थे, जिनका बाहर से आना निषिद्ध था।

शराब का व्यवसाय भी राज्य के अधीन था। शराब तैयार

१—कुप्याध्यक्षो द्रव्यवनपालैः कुप्यमानाययेत्। द्रव्यवनकर्मान्तांश्च प्रयोजयेत्। द्रव्यवनच्छिदां च देयमत्ययं च स्थापयेदन्यत्रापद्भ्यः।

कुप्यवर्गः—शाकतिनिशधन्वनार्जुनमधूकतिलकसालशिंशुपारिमेदराजादनशिरीषखदिरसरलतालसर्जाश्वकर्णसोमवल्ककशाम्रप्रियकधवादिस्सारदारुवर्गः।

कौ० २ अधि० १७ अ०

२—आयुधागाराध्यक्षः सांग्रामिकं दौर्गकर्मिकं परपुराभिघातिकं चक्रयन्त्रमायुधमावरणमुपकरणं च तज्जातकारुशिल्पिभिः कृतकर्मप्रमाणकालवेतनफलनिष्पत्तिभिः कारयेत्।

कौ० २ अधि० १८ अध्याय

करने के लिए एक अध्यक्ष होता था, जिसे सुराध्यक्ष कहते थे। सुराध्यक्ष शराब तैयार कराता था। शराब को कौन बनावे, कौन बेचे, कौन खरीदे,—यह निश्चित था। निश्चत व्यक्तियों को छोड़ कर जो कोई ग्राम से बाहर या अंदर शराब ले जाता था, उसके लिए ६०० पण जुरमाना नियत था। चाणक्य लिखता है—"श्रमी लोग कहीं काम में प्रमाद न करने लगें, आर्य कहीं मर्यादा का भंग न करें, तीक्ष्ण कहीं उत्साहहीन न हो जायँ, इसलिए लोगों के चारित्र तथा आचार देखकर छटाँक, आध पाव, पाव तथा आध सेर से अधिक शराब किसी को भी न दी जाय।" चाणक्य ने शराबखानों का मनोरञ्जक वर्णन किया है। और शराब की क़िस्मों तथा उनके निर्माण-प्रकार को भी अच्छी तरह दर्शाया है। शराब के इस व्यवसाय से भी राज्य को अच्छी आय होती थी। कौटिल्य निर्देश करता है कि सुराध्यक्ष दैनिक विक्रय का हिसाब रक्खे, और तोल-माप के भेद से प्राप्त आय, व्याजी और वैधरण को ले[1]।

६—राज्य-द्वारा अधिकृत व्यापारों और व्यापार-साधनों की आय

जिस प्रकार अनेक व्यवसायों पर राज्य का एकाधिकार था, उसी प्रकार व्यापार पर भी था। जिन चीज़ों की उत्पत्ति राज्य की

१—सुराध्यक्षस्सुराकिण्वव्यवहारान् दुर्गे जनपदे स्कन्धावारे वा तज्जातसुराकिण्वव्यवहारिभिः कारयेत।

सुरायाः प्रमादभयात्कर्मसु निर्दिष्टानाम्, मर्यादातिक्रमभयादार्याणाम्, उत्साहभयाच्च तीक्ष्णानां लक्षितमल्पं वा चतुर्भागमर्धकुडुम्बमर्धप्रस्थं वेदितज्ञातशौचा निर्हरेयुः।

अह्नश्च विक्रयं व्याजीं ज्ञात्वा मानहिरण्ययोः।
तथा वैधरणं कुर्यादुचितं चानुवर्तयेत्॥

कौटि० २ अधि० २५ अध्याय

ओर से होती थी, उनकी बिक्री के लिए भी राज्य की ओर से प्रबन्ध था। इसके लिए पण्याध्यक्ष नियुक्त था। राजकीय माल को बेचने का कार्य पण्याध्यक्ष करता था। क़ीमत निश्चित रक्खी जाती थी। चाणक्य लिखता है—"सब क़ीमतों में प्रजा के हित को ही मुख्य रखना चाहिए। प्रजा को जिससे नुक़सान पहुँचे ऐसा कोई लाभ न ले, चाहे वह कितना ही अधिक क्यों न हो[1]।"

पण्याध्यक्ष राजकीय माल को बिकवाने के लिए दुकानदार रखता था। वे निश्चित दाम पर राजकीय माल बेचते थे। यदि उनसे माल का नुक़सान हो जाय, तो उन्हें सरकार को नुक़सान भरना पड़ता था। इन दुकानदारों को कमीशन मिलता था। नाप कर बेचे जानेवाले पदार्थों का १/१६ भाग, तोल कर बेचे जानेवाले पदार्थों का १/२० भाग और गिन कर बेचे जानेवाले पदार्थों का १/११ भाग दुकानदारों को कमीशन में मिलता था[2]। कौटिल्य लिखता है—सरकारी या राजकीय माल के बेचने से जो आमदनी हो, उसको दूकानदार छिद्रवाली बंद संदूकची में डाल दें। दिन के आठवें भाग में "इतना माल बिका है, और इतना बचा है," यह बतलाकर संपूर्ण धन पण्याध्यक्ष को सौंप दें। साथ ही तराज़ू तथा गज़ भी पण्याध्यक्ष को दे दें। स्वदेश में इन्हीं नियमों के अनुसार क्रय-विक्रय हो[3]।"

१—उभयं च प्रजानामनुग्रहेण विक्रापयेत्। स्थूलमपि च लाभं प्रजानामौपघातिकं वारयेत्।   २ अधि० १६ अध्याय

२—"षोडशभागो मानव्याजी" आदि जो वाक्य हम पहले उद्धृत कर चुके हैं, उसका प्रकरणानुसार अर्थ हमारी सम्मति में यही है। वाक्य ये हैं—षोडशभागो मानव्याजी। विंशतिभागस्तुलामानम्। गण्य पण्यानामेकादशभागः।   २ अधि० १६ अध्याय

३ पण्याधिष्ठातारः पण्यमूल्यमेकमुखं काष्ठद्रोण्यामेकच्छिद्रापिधानायां निदध्युः। अह्नश्चाष्टमे भागे पण्याध्यक्षस्यार्पयेयुः "इदं विक्रीतमिदं शेषमिति" तुलामानभाण्डकं चार्पयेयुः।

इति स्वविषये व्याख्यातम्।   २ अधि० १६ अध्याय

इस प्रकार राजकीय माल बेचने से राज्य को अच्छी आमदनी होती थी। चन्द्रगुप्त के समय में व्यापार के अनेक प्रकार के साधन थे। साधनों से अभिप्राय लाने-ले जाने (Transportation) के साधन, गाड़ी, नौका, जहाज़ आदि से है। गाड़ी आदि स्थल के साधनों का प्रबन्ध राज्य की ओर से होता था या नहीं, इसका अर्थशास्त्र में कोई निर्देश नहीं मिलता। पर सामुद्रिक मार्ग और जल में लाने-ले जाने के साधनों पर कौटिल्य ने बहुत कुछ लिखा है। राज्य की ओर से नौकाओं और जहाज़ों का प्रबन्ध होता था। इसके लिए एक राजकर्मचारी नियुक्त था, जिसे नावध्यक्ष कहते थे। यह नावध्यक्ष समुद्र, संयान नदी, झील, तालाब आदि में चलनेवाली नावों का प्रबन्ध करता था। व्यापार के लिए नौकाओं और जहाज़ों का उपयोग करने पर व्यापारियों को कर देना पड़ता था। नौकाओं और जहाजों का प्रयोग अन्य कार्यों के लिए भी किया जाता था। शंख और मोती इकट्ठा करनेवालों को नौकाओं का भाड़ा देना होता था। मछली पकड़ने के लिए भी नौकायें प्रयुक्त होती थीं। उन्हें $\frac{1}{6}$ भाग कर देना पड़ता था[1]। यात्री लोगों से भी कर लिया जाता था। कौटिल्य ने अनेक प्रकार की नौकाओं का वर्णन किया है और उनके लिए नियम लिखे हैं। नदियों पर भी राज्य की ओर से नौकाएँ चलती थीं। राजाज्ञा के विना कोई भी नदी के पार नहीं जा सकता था। वह आज्ञा स्थानीय राजकर्मचारी से लेनी होती थी। यह नियम इसलिए बनाया गया था कि कोई राजद्रोही भागने न पावे। पर मछली पकड़नेवालों, लकड़हारों, घसियारों, मालियों, कुँजड़ों, ग्वालों, गुप्तचरों, सैनिकों, सेना को सामग्री पहुँचानेवाले लोगों तथा नदीतीर पर बसे हुए गाँवों के लोगों को राजाज्ञा लेने की आवश्यकता न थी। राजाज्ञा प्राप्त करने के लिए धन देना पड़ता था। पर ब्राह्मण,

१—मत्स्यबन्धका नौकहाटकं षड्भागं दद्युः। कौ० २ अधि० २८ अध्याय।

संन्यासी, बच्चे, बुड्ढे, बीमार, शासनहर तथा गर्भिणी स्त्रियों को राजाज्ञा मुफ़ में ही दे दी जाती थी।

नदी पार करने का भाड़ा इस प्रकार था—भारसहित मनुष्य से १ माषक, भारसहित छोटे जानवर के लिए १ माषक, सिर पर भार रक्खे हुए मनुष्य से २ माषक, गऊ और घोड़े के लिए २ माषक, ऊँट और भैंसे के लिए ४ माषक, छोटी गाड़ी के लिए ५ माषक, बैलगाड़ी के लिए ६ माषक, शकट के लिए ७ माषक, व्यापारी माल से भरी हुई गाड़ी के लिए एक पाद[1]।

बड़ी नदियों में इससे दुगुना किराया लिया जाता था। नदी के समीप बसे हुए ग्रामों के रहनेवालों से एक विशेष कर लिया जाता था, जिसे क्लृप्त कहते थे। इस क्लृप्त कर के द्वारा मल्लाहों का ख़र्च निकलता था। पर इन ग्रामवासियों से नदी पार जाने का भाड़ा नहीं लिया जाता था[2]।

७—जुरमानों से आय

मौर्य-काल में अनेक अपराधों के लिए जुरमानों का दंड दिया जाता था। बड़े से बड़े और छोटे से छोटे अपराध के लिए न्यूनाधिक जुरमाने नियत थे। इस अध्याय में हम यदि कुछ भी जुरमानों का उल्लेख करने लगें, तो सूची बहुत लम्बी हो जायगी। कुछ जुरमानों का उल्लेख प्रसंगवश पहले हो भी चुका है। यहाँ इतना ही लिख देना काफ़ी है कि मौर्य-चन्द्रगुप्त के

१—पाद किस सिक्के का नाम है, यह हम नहीं कह सकते। संभव है, वर्तमान चवन्नी की तरह यह मौर्य्यकालीन पण का चौथाई भाग हो।

क्षुद्रपशुर्मनुष्यश्च सभारो माषकं दद्यात्। शिरोभारः कायभारो गवाश्वं च द्वौ। उष्ट्रमहिषं चतुरः। पञ्च लघुयानम्। षड् गोलिङ्गम्। सप्तशकटम्। पण्यभारः पादम्।

कौ० २ अधि० २८ अध्याय

२—द्विगुणो महानदीपुतरः। क्लृप्तमानूपग्रामा भक्तवेतनं दद्युः।

कौ० २ अधि० २८ अध्याय

काल में जुरमानों की मात्रा यद्यपि अधिक थी, तथापि जुरमानों से राजकीय कोष को अधिक आय न होती थी। मेगस्थनीज़ चन्द्रगुप्त के शिविर में चिरकाल तक रहा। वह लिखता है कि उसने चोरी आदि कुकर्म नहीं के बराबर देखे। मेगस्थनीज़ के भारतयात्रा-वर्णन से यही प्रतीत होता है कि मौर्य-काल में अपराध बहुत कम होते थे। और इसी लिए राजकोष में जुरमानों के द्वारा बहुत आय नहीं होती थी[1]।

८ विविध

राजकीय आय के जिन स्रोतों का वर्णन ऊपर किया गया है, उनके अतिरिक्त भी, मौर्य-चन्द्रगुप्त के काल में, राजकीय आय के अनेक स्रोत थे। यहाँ संक्षेप में उनका वर्णन किया जाता है।

मुद्रा-पद्धति का संचालन राज्य की ओर से होता था। इसके लिए एक राजकर्मचारी नियुक्त होता था, जिसे लक्षणाध्यक्ष कहते थे। कौटिल्य लिखता है—"लक्षणाध्यक्ष रूप्य बनवावे। रूप्य में चौथाई ताँबा हो, लोहे, जस्ते, राँगे और काले सुरमे से कोई एक माशा और शेष चाँदी हो। इसी तरह पण, अर्द्धपण, पाद, अष्ट भाग, माषक, अर्द्ध माषक, काकिणी तथा अर्द्धकाकिणी बनवावे"[2]। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि मौर्य-चन्द्रगुप्त के समय में एक अलग मुद्रा-विभाग था, जिसमें अनेक प्रकार के सिक्के बनते थे। असली और खोटे सिक्कों की परीक्षा के लिए भी प्रबन्ध था। इस काम को रूपदर्शक नाम का राजकर्मचारी करता था। रूपदर्शक इस बात की परीक्षा करता था कि कौन सा सिक्का कोशप्रवेश्य (Legal Tender) है,

---

१—जुरमानों के लिए अर्थ-शास्त्र के तृतीय और चतुर्थ अधिकरणों का अध्ययन कीजिए।

२—लक्षणाध्यक्षः चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनानामन्यतमं माषबीजयुक्तं कारयेत्।

पणमर्धपणं पादमष्टभागमिति; पादाजीवं ताम्ररूपं माषकमर्धमाषकं काकणीमर्धकाकणीमिति। कौ० २ अधि० १२ अध्याय

और कौन सा व्यावहारिक (Token money)। जो कोई चाहता था, वही सिक्के ढलवा सकता था। टकसाल सबके लिए खुली थी। पर इसमें राज्य १३$\frac{1}{8}$ के क़रीब प्रीमियम लेता था। जो सरकारी टकसाल में नियमानुसार सिक्के न बनवाकर स्वयं बनाता था, उस पर २५ पण जुरमाना किया जाता था। निस्सन्देह मुद्रा-पद्धति से भी सम्राट् चन्द्रगुप्त को यथेष्ट आय होती थी[1]।

ग़रीब और अशक्त मनुष्यों को भोजन आदि देने के लिए राज्य की ओर से प्रबन्ध था। पर वह मुफ़्त नहीं दिया जाता था। सरकार अशक्त व्यक्तियों से काम लेती थी। इसके लिए एक अलग विभाग था जिसके मुखिया को सूत्राध्यक्ष कहते थे। प्रतीत होता है कि किसी तरह के निर्धन गृह (Poor Houses) मौर्य-चन्द्रगुप्त के काल में भी विद्यमान थे। कौटिल्य लिखता है—"विधवा, विकलांग, अनाथ लड़की, प्रव्रजिता, राज्यदण्डित, वेश्याओं की वृद्ध माता, बुड्ढी राजदासी, मन्दिर के काम से छूटी देवदासी, आदि से ऊन, वल्कल, रुई, जूट, सन आदि का सूत कतवावे। सूत की चिकनाहट, मुटाई तथा एकसमान होना देखकर उनको मज़दूरी दी जाय।[2]" प्रतीत होता है कि मौर्य-काल में ग़रीब और अशक्त व्यक्तियों से भी काम कराया जाता

१. रूपदर्शकः। पणयात्रां व्यावहारिकीं कोशप्रवेश्यां च स्थापयेत्।

कौ० २ अधि० १२ अध्याय

२. सूत्राध्यक्षः सूत्रवर्मवस्त्ररज्जूव्यवहारं तज्जातपुरुषैः कारयेत।

ऊर्णावल्कलकार्पासतूलशणक्षौमाणि च। विधवान्यङ्गाकन्याप्रव्रजितादण्डप्रतिकारिणीभीरूपाजीवामातृकाभिर्वृद्धराजदासीभिर्व्युपरतोपस्थानदेवदासीभिश्च कर्तयेत्। श्लक्ष्णस्थूलमध्यतां च सूत्रस्य विदित्वा वेतनं कल्पयेत्।

कौ० २ अधि० २३ अध्याय

था और उनको परिश्रम अनुरूप वेतन दिया जाता था इससे राज्य को कुछ आय होती थी या नहीं, यह निश्चित कर सकना कठिन है। पर राज्य ने यह काम अपने हाथ में ले रक्खा था, यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है।

बूचड़खानों का कार्य भी राज्य की ओर से होता था। सूनाध्यक्ष-नामक पदाधिकारी इस विभाग का अध्यक्ष होता था। राज्य को इससे भी अच्छी आय होती थी[1]।

राजकीय आय के जिस स्रोत की ओर अन्त में निर्देश करना है, वह जायदाद की ज़ब्ती है। पहले लिखा जा चुका है—"आपत्ति के बिना ही यदि कोई पाँच साल तक किसी मकान या तालाब से काम न लेता था, तो उस पर उसका स्वामित्व नष्ट हो जाता था, वह राज्य की संपत्ति हो जाती थी।" कुछ अपराधों के दण्ड में भी कौटिल्य ने जायदाद की ज़ब्ती लिखी है। यदि किसी से कोई वस्तु खो जाती थी, उस पर सरकार भरपूर हरजाना ले लेती थी। कौटिल्य लिखता है—"दो पैरोंवाले जानवर पर स्वत्वप्राप्त का बदला ५ पण, एक खुरवाले जानवर पर ४ पण, गऊ-भैंस पर २ पण और और क्षुद्र पशुओं पर १ पण लिया जाय। रत्न, बहुमूल्य द्रव्य तथा कुप्य पदार्थों पर पाँच प्रतिशत ग्रहण किया जाय[1]। निस्संकोच होकर कहा जा सकता है कि इन स्रोतों से भी राज्य को काफ़ी आमदनी होती होगी।

---

१. कौटिल्य २ अधि० २६ अध्याय।

१. स्वकरणेनपञ्चपणिकं द्विपदरूपस्य निष्क्रयं दद्यात्। चतुष्पणिकमेकखुरस्य; द्विपणिकं गोमहिषस्य; पादिकं क्षुद्रपशूनाम्; रत्नसारफल्गुकुप्यानां पञ्चकं शतं दद्यात्।

कौटि० ३ अधि० १६ अध्याय

९—आपत्काल में संपत्ति पर विविध प्रकार के कर

साधारण अवस्थाओं में जिन स्रोतों से राजकीय आय होती थी, उनका वर्णन हम ऊपर कर चुके। आपत्काल में जब राज्य को विशेष रूप से धन की आवश्यकता होती थी, तब नानाविध उपायों से धनसंचय किया जाता था। इसका भी संक्षेप में वर्णन करना यहाँ आवश्यक और उपयोगी होगा। आपत्काल में निम्न-लिखित स्रोतों से आय बढ़ाई जाती थी[1]—

१—उस जनपद से, जो बहुत बड़ा हो, या जिसमें प्रचुर वृष्टि होती हो, या जिसमें, छोटे होने पर भी, बहुत धान्य होता हो, धान्य का तृतीय या चतुर्थ भाग विशेष राजकीय कर के रूप में लिया जाता था।

२—राजकीय भूमि की आय बढ़ाने के लिए अनेक उद्योग किये जाते थे।

३—सोना, चाँदी, हीरा, मणि, मोती, मूँगा, घोड़ा, हाथी—इनका व्यापार करनेवालों से ५० वाँ भाग विशेष कर में लिया जाता था। सूती कपड़ा, ताँबा, पीतल, काँसा, इतर गंध, दवा तथा शराब के व्यापारियों से ४० वाँ भाग विशेष कर में लिया जाता था। इसी तरह धान्य, द्रव पदार्थ एवं लोहे के व्यापारियों तथा गाड़ी का व्यवहार करनेवालों से ३० वाँ भाग, शीशे का व्यापार करनेवालों और बड़े कारीगरों से २० वाँ भाग, छोटे कारीगरों और तरखानों से १० वाँ भाग, तथा लकड़ी, बाँस, पत्थर और मट्टी के बर्तन, पक्वान्न, तरकारी आदि के व्यापारियों से ५ वाँ भाग कर-

---

१. जनपदं महान्तमल्पप्रमाणं वा देवमातृकं प्रभूतधान्यं धान्यस्यांशं तृतीयं चतुर्थं वा याचेत्। कौ० ५ अधि० २ अध्याय

रूप में लिया जाता था। ये संपत्ति के ऊपर कर थे। युद्धों तथा अन्य आपत्तियों के समय मौर्य-सम्राट् संपत्ति पर ये कर लेते थे। आज-कल के राजा भी आपत्काल में ऐसे कर लगाते हैं[1]।

४—तमाशेवालों और वेश्याओं पर ५० प्रति शत विशेष कर लगाया जाता था[2]।

५—पशुपालकों पर भी इसी तरह के कर लगाये जाते थे। मुर्गों तथा सुअरों के पालनेवाले ५० प्रतिशत, भेड़, बकरी आदि छोटे पशुओं के पालनेवाले १६⅔ प्रतिशत और गऊ, भैंस, खच्चर, गधे तथा ऊँट के पालनेवाले १० प्रतिशत कर राज्यकोष को देते थे[3]।

६—राज्यमन्दिर तथा धार्मिक संस्थायें विशेष उपहार तथा दान के रूप में आय बढ़ाती थीं। कौटिल्य ने मन्दिरों से अनेक प्रकार से आय बढ़ाने की सलाह दी है। वह तो खुफिया पुलिस तक का प्रयोग करके और लोगों को बहका कर आय बढ़ाने की सम्मति देता है[4]।

७—लोगों से देश की स्वतन्त्रता, स्वदेश-प्रेम आदि के नाम पर अपील करके भी दान लिया जाता था। दान देनेवालों

---

१. सुवर्णरजतवज्रमणिमुक्ताप्रवालाश्वहस्तिपण्याः पञ्चाशत्कराः।
सूत्रवस्त्रताम्रवृत्तकंसगन्धभैषज्यसीधुपण्याश्चत्वारिंशत्कराः।
धान्यरसलोहपण्याः शकटव्यवहारिणश्च त्रिंशत्कराः।
काचव्यवहारिणो महाकारवश्च विंशतिकराः।
क्षुद्रकारवो वर्धकिपोसकाश्च दशकराः।
काष्ठवेणुपाषाणमृद्भाण्डपक्वान्नहरितपण्याः पञ्चकराः।

२. कुशीलवा रूपाजीवाश्च वेतनार्धं दद्युः।
कौ० ५ अधि० २ अध्याय

३. कुक्कुटसूकरमर्धं दद्यात्। क्षुद्रपशवष्षड्भागम्। गोमहिषाश्वतरखरोष्ट्राश्च दशभागम्। कौ० ५ अधि० २ अध्याय।

४. देवताध्यक्षो दुर्गराष्ट्रदेवतानां यथास्वमेकस्थं कोशं कुर्यात्। तथैव चाहरेत्। कौ० ५ अधि० २ अध्याय।

की देश-भक्ति की प्रशंसा की जाती थी। उनके नामों की घोषणा कराई जाती थी। उनको नाना प्रकार के पद (ओहदे) दिये जाते थे। उनका मान बढ़ाया जाता था। धनाढ्यों से अधिक सहायता की आशा की जाती थी। न देने पर उनकी निन्दा भी की जाती थी। इन उपायों से आपत्काल में राज्य अपने कोष की वृद्धि किया करता था। परन्तु चाणक्य सख़्ती करने के खिलाफ़ था। अन्त में वह लिखता है—

पक्वं पक्वमिवारामात् फलं राज्यादवाप्नुयात्।
आमच्छेदभयादामं वर्जयेत् कोपकारकम्॥

[२]

राष्ट्रीय व्यय

मौर्यकालीन राष्ट्रीय व्यय के सम्बन्ध में बहुत निर्देश अर्थशास्त्र में नहीं मिलते। यद्यपि 'आय' के सम्बन्ध में हमें बड़े विस्तार के साथ मालूम है, पर 'व्यय' का वर्णन कौटिल्य ने बहुत कम किया है। तथापि जो इधर-उधर बिखरे हुए कुछ निर्देश हमें मिलते हैं, उन्हें हम यहाँ एकत्रित करते हैं।

कौटिल्य ने राष्ट्रीय व्यय को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया है[1]।

(१) देवपूजा—विद्वानों की पूजा—उनकी आजीविका आदि के लिए वृत्ति में किया गया व्यय।
(२) पितृपूजा—बड़े बुज़ुर्गों, पुराने सेवकों आदि पर किया गया व्यय।
(३) दान।
(४) स्वस्तिवाचन—धार्मिक कृत्यों में मंत्र-पाठ पर किया गया व्यय।
(५) अन्तःपुर।

---

१. कौ० अर्थ० २।६।

(६) महानस—रसोईघर।

(७) दूतप्रावर्तिन—विदेशों के साथ सम्बन्ध, विदेशी विभाग तथा राजदूतों पर हुआ व्यय।

(८) कोष्ठागार।

(९) आयुधागार।

(१०) पण्यगृह।

(११) कुप्यगृह।

(१२) कर्मान्त—कारख़ाने।

(१३ विष्टि—बेगार।

(१४) पत्ति—पदाति सेना।

(१५) अश्वपरिग्रह—घुड़सवार सेना के व्यय।

(१६ द्विपपरिग्रह—हस्तिसेना के व्यय।

(१७ गोमण्डल—सेना के लिए गौ बैल आदि में हुए व्यय।

(१८ पशुवाट—पशुओं का अजायबघर।

(१९) पक्षिवाट—पक्षियों का अजायबघर।

(२०) व्यालवाट—साँपों का अजायबघर।

(२१ काष्ठवाट—लकड़ी का भण्डार।

(२२) तृणवाट—तृण का भण्डार।

हम मौर्यकालीन राष्ट्रीय व्यय का वर्णन करते हुए इस विभाग का उपयोग न करेंगे। अपितु अपनी तरफ़ से सुगमता के अनुसार व्यय के मुख्य मुख्य विभागों का वर्णन करेंगे।

१ राजकर्मचारियों के वेतन

स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय व्यय का बहुत बड़ा भाग राजकर्मचारियों के वेतन में ख़र्च होता था। यहाँ हमारा अभिप्राय दीवानी और फ़ौजदारी दोनों प्रकार के राजकर्मचारियों से है। हम मौर्य्यकालीन वेतनों की तालिका यहाँ उद्धृत करते हैं[1]।

---

1. कौ० अर्थ० ५।३

ऋत्विक्	—	४८	हज़ार	पण	प्रतिवर्ष
आचार्य	—	४८	,,	,,	,,
मंत्रि और पुरोहित	—	४८	,,	,,	,,
सेनापति	—	४८	,,	,,	,,
युवराज	—	४८	,,	,,	,,
राजमाता	—	४८	,,	,,	,,
राजमहिषी	—	४८	,,	,,	,,
दौवारिक	—	२४	,,	,,	,,
आन्तर्वंशिक	—	२४	,,	,,	,,
प्रशास्ता	—	२४	,,	,,	,,
समाहर्त्ता	—	२४	,,	,,	,,
सन्निधाता	—	२४	,,	,,	,,
कुमार	—	१२	,,	,,	,,
कुमारमाता	—	१२	,,	,,	,,
नायक	—	१२	,,	,,	,,
पौर	—	१२	,,	,,	,,
व्यावहारिक	—	१२	,,	,,	,,
कार्मान्तिक	—	१२	,,	,,	,,
मन्त्रिपरिषद् के सदस्य		१२	,,	,,	,,
राष्ट्रपाल	—	१२	,,	,,	,,
अन्तपाल	—	१२	,,	,,	,,
श्रेणीमुख्य	—	८	,,	,,	,,
हस्तिमुख्य	—	८	,,	,,	,,
अश्वमुख्य	—	८	,,	,,	,,
रथमुख्य	—	८	,,	,,	,,
प्रदेष्टा	—	८	,,	,,	,,
पत्त्यध्यक्ष	—	४	,,	,,	,,
अश्वाध्यक्ष	—	४	,,	,,	,,
रथाध्यक्ष	—	४	,,	,,	,,
हस्त्यध्यक्ष	—	४	,,	,,	,,

द्रव्यपाल	—	४	हज़ार	पण	प्रतिवर्ष
हस्तिपाल	—	४	,,	,,	,,
वनपाल	—	४	,,	,,	,,
रथिक	—	४	,,	,,	,,
अनीकचिकित्सक		२	,,	,,	,,
अश्वदमक	—	२	,,	,,	,,
वर्धकि	—	२	,,	,,	,,
योनिपोषक	—	२	,,	,,	,,
कार्त्तान्तिक	—	१	,,	,,	,,
नैमित्तिक	—	१	,,	,,	,,
मौहूर्त्तिक	—	१	,,	,,	,,
पौराणिक	—	१	,,	,,	,,
सूत	—	१	,,	,,	,,
मागध	—	१	,,	,,	,,
पुरोहित के अधीन			...	...	
कर्मचारी	—	१	,,	,,	,,
अन्य सब अध्यक्ष		१	,,	,,	,,
शिक्षित पदाति		५००		,,	,,
संख्यायक (Accountant)		५००		,,	,,
लेखक	—	५००		,,	,,
कुशीलव	—	२५०		,,	,,
तूर्यकर	—	५००		,,	,,
कारु	—	१२०		,,	,,
शिल्पी	—	१२०		,,	,,
चौपाये और दोपाये पशुओं के परिचारक		६०		,,	,,
पारिकर्मिक	—	६०		,,	,,
उपस्थायिक	—	६०		,,	,,
पालक	—	६०		,,	,,
विष्टिबन्धक	—	६०		,,	,,

कार्यमुक्त	–	५०० से १,००० तक पण		प्रतिवर्ष
आरोहक	–	५०० से १,००० तक	,,	,,
माणवक	–	५०० से १,००० तक	,,	,,
शैलखनक	–	५०० से १,००० तक	,,	,,
कापटिक गुप्तचर		१,०००	,,	,,
उदास्थित गुप्तचर		१,०००	,,	,,
गृहपतिक गुप्तचर		१,०००	,,	,,
वैदेहक गुप्तचर		१,०००	,,	,,
तापस,गुप्तचर		१,०००	,,	,,
ग्रामभृतक	–	५००	,,	,,
सत्री	–	५००	,,	,,
तीक्ष्ण गुप्तचर	–	५००	,,	,,
रसद-गुप्तचर	–	५००	,,	,,
भिक्षुकी गुप्तचर		५००	,,	,,
गुप्तचरों का सन्देश ले जानेवाले		३००	,,	,,

इनके सिवाय अन्य कर्मचारियों के भी कुछ वेतन कौटिलीय अर्थशास्त्र में उल्लिखित हैं। यदि किसी राजसेवक की मृत्यु सेवा करते हुए हो जाती थी, तो उसके पुत्र और स्त्री को कुछ वेतन मिलता रहता था[1]। साथ ही उसके बालक, वृद्ध तथा व्याधिपीड़ित सम्बन्धियों के साथ अनेक प्रकार के अनुग्रह प्रदर्शित किये जाते थे[2]। जब राज्य के सेवकों के यहाँ कोई मरता था, या कोई व्याधिपीड़ित होता था, या कोई पुत्र उत्पन्न होता था, तो राज्य आर्थिक सहायता किया करता था[3]।

यदि राजा के पास कोष की कमी हो, तो अन्य रूपों में भी वेतन मिल सकता था। इस अवस्था में राज्य को अधिकार था

---

१ 'कर्मसु मृतानां पुत्रदारा भक्तवेतनं लभेरन्' कौ० अर्थ० ५। ३

२ 'बालवृद्धव्याधिताश्चैषामनुग्राह्याः' ,, ,, ५। ३

३ 'प्रेतव्याधिसूतिकाकृत्येषु चैषामर्थमानकर्म कुर्यात्'। ५। ३

कि कर्मचारियों को मुद्रायें कम देकर शेष वेतन कुप्य, पशु, क्षेत्र आदि के रूप में दे सकें[१]।

राजकर्मचारियों को वेतन के सिवाय भत्ता भी मिलता था। इसके लिए दर यह थी कि ६० पण वेतनवाले व्यक्ति को एक आढ़क भत्ता मिले। इससे अधिक वेतनवाले को इसी हिसाब से भत्ता बढ़ता जावे[२]।

२ सैनिक व्यय

आचार्य चाणक्य ने राष्ट्रीय व्यय के जो विभाग किये हैं, वे कुल संख्या में २२ हैं। उनमें से ६ का सम्बन्ध सेना के साथ है। इससे स्पष्ट है कि सेना पर बहुत काफ़ी खर्च किया जाता था। यदि सम्राट् चन्द्रगुप्त की सेनाओं की संख्या ठीक ठीक मालूम होती, तो तत्कालीन सैनिक-व्यय का सरलता के साथ पता चल सकता। श्रीयुत वी० ए० स्मिथ के अनुसार चन्द्रगुप्त की सेना में—

६,००,०००	पदाति
३०,०००	अश्वारोही
९,०००	गज
८,०००	रथ

थे[३]। इनके वेतनों में कितना खर्च होता था, इसका हिसाब लगाया जा सकता है। शिक्षित पदाति का वेतन ५०० पण प्रतिवर्ष था। इसी तरह रथिक या रथारोही का २,००० पण प्रतिवर्ष और आरोहक (अश्वारोही) का ५०० पण से १ ००० पण तक (या ७५० पण) प्रतिवर्ष था। गजारोही का वेतन लिखा नहीं गया, पर उसका भी अश्वारोही के समान ७५० पण प्रतिवर्ष

१ 'अल्पकोशः कुप्यपशुक्षेत्राणि दद्यात्, अल्पं च हिरण्यम्' ५। ३

२ 'षष्टिवेतनस्याढकं कृत्वा हिरण्यानुरूपं भक्तं कुर्यात्' ५। ३

३ V. A. Smith—Early History of India, p. 131-2.

समझा जा सकता है। श्री० स्मिथ के अनुसार प्रत्येक रथ पर दो और प्रत्येक हाथी पर तीन धनुर्धर बैठते थे। इस प्रकार—

पदाति	—	६,००,००० × ५००	= ३०,००,००,०००	पण	वार्षिक
अश्वारोही	—	३०,००० × १,०००	= ३,००,००,०००	,,	,,
गजारोही	—	६,००० × ७५० × ३	= २,०२,५०,०००	,,	,,
रथारोही	—	८,००० × ७५० × २	= १,२०,००,०००	,,	,,
घोड़ों के परिचारक		४६,००० × ६०	= २७,६०,०००	,,	,,
अश्वाध्यक्ष	—		= ४,०००	,,	,,
रथाध्यक्ष	—		= ४,०००	,,	,,
पत्त्यध्यक्ष	—		= ४,०००	,,	,,
हस्त्यध्यक्ष	—		= ४,०००	,,	,,
अश्वमुख्य	—		= ८,०००	,,	,,
रथमुख्य	—		= ८,०००	,,	,,
हस्तिमुख्य	—		= ८,०००	,,	,,
श्रेणीमुख्य	—		= ८,०००	,,	,,
			३६,५०,५८,०००	पण	वार्षिक

इस प्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त के काल में केवल सैनिक वेतनों पर ही ३६ करोड़ ५० लाख पण वार्षिक से अधिक खर्च होता था। ध्यान रहे कि इसमें हाथियों के महावत, रथों के सारथी तथा अन्य बहुत से व्यक्तियों के वेतन नहीं जोड़े गये हैं। साथ ही सेना के अफ़सरों में से केवल सबसे बड़े अफ़सरों का ही वेतन गिना गया है। अनेक विध स्थिति वाले बहुत से अफ़सरों का नहीं। इन सब वेतनों, भत्तों आदि को मिलाकर सेना का वेतनों में ही ४० करोड़ के लगभग व्यय होता होगा।

वेतनों के सिवाय हाथी, घोड़े, बैल आदि पालने का खर्च, रसद भरने, हथियार बनवाने तथा अन्य सब उपकरणों को तैयार कराने का खर्च अलग है। इन सबको मिलाकर अगर

देखा जाय, तो चन्द्रगुप्त के समय में सैनिक व्यय की मात्रा बहुत बढ़ जायगी।

३—शिक्षा

मौर्य्यकाल में शिक्षा-पद्धति क्या थी, यह कह सकना बहुत कठिन है। हमें मालूम है कि इस काल में तक्षशिला जैसे स्थानों पर विश्वविद्यालय विद्यमान थे[1] जिनमें बहुत से विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त किया करते थे। साथ ही वनों में वानप्रस्थी आचार्य लोग बहुत से शिष्यों को साथ में रख कर विद्या पढ़ाया करते थे। राज्य इनको सहायता देता था। प्रायः यह रीति थी कि आचार्यों को अपने शिक्षणालय के अनुरूप भूमि दे दी जाती थी। इसकी सम्पूर्ण आमदनी शिक्षणालय के लिए ही खर्च होती थी। राज्य इनसे कर भी कुछ न लेता था[2]। इस तरह, आचार्य लोग बिना किसी चिन्ता के विद्याध्यापन में लगे रहते थे। उनका तथा उनके शिष्यों का खर्च इस भूमि की आमदनी से अच्छी तरह चल जाता था।

पर ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से शिक्षणालय सीधे तौर पर राज्य के भी अधीन थे। इनके शिक्षकों को राज्य की ओर से वेतन मिलता था[3]। चाणक्य ने इस वेतन को 'पूजावेतन' (Honorarium) लिखा है। यद्यपि अर्थ-शास्त्र में इस तरह के शिक्षणालयों का कहीं वर्णन नहीं है, पर यह सुगमता से अनुमान किया जा सकता है कि इस प्रकार के शिक्षणालय विद्यमान थे और इनके शिक्षकों को राज्य वेतन देता था। सम्भवतः कुल राष्ट्रीय व्यय का यह शिक्षा-व्यय काफ़ी महत्त्व-पूर्ण भाग था, इसी

---

१. Bimal Charan Law—Historical Gleanings, Ch. I.

२. 'ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो ब्रह्मदेयान्यदण्डकराण्यभिरूपदायकानि प्रयच्छेत्।'

कौ० अर्थ० २।१

३. 'आचार्या विद्यावन्तश्च पूजावेतनानि यथार्हं लभेरन्' कौ० अर्थ० ५।३

लिए कौटिल्य ने 'देवपूजा' के नाम से इसका सबसे पहले उल्लेख किया है।

४–दान

चन्द्रगुप्त-कालीन राष्ट्रीय व्यय का 'दान' भी बहुत महत्त्वपूर्ण भाग था। पर दान के अभिप्राय को अच्छी तरह समझना चाहिए। बाल, वृद्ध, व्याधिपीड़ित, आपत्तिग्रस्त आदि व्यक्तियों का पालन-पोषण राज्य की तरफ़ से होता था[1]। इसमें खर्च हुए 'व्यय' को ही 'दान' समझा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यकाल में इन असहाय व्यक्तियों के पालन के लिए व्यवस्थित रूप से प्रबन्ध होता था। भारत में भी दीन-क़ानून (Poor Laws) की भाँति ही बहुत से नियम विद्यमान थे। इन असहायों से ऐसे कार्य कराये जाते थे, जिन्हें कि ये आसानी के साथ कर सकें। इनसे प्रायः सूत कातने का काम लिया जाता था। ये स्वयं सूत कात कर ले आते थे, और कार्य के अनुसार इन्हें मज़दूरी मिल जाती थी[2]। परन्तु इन पर बहुत सा खर्च राजा को अपनी तरफ़ से करना पड़ता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र में स्थान स्थान पर अनाथ, वृद्ध, बालक, व्याधिपीड़ित और विपत्तिग्रस्त लोगों के राज्य की तरफ़ से पाले जाने का ज़िक्र आया है।

५–सहायता (Bounties)

सरकार की तरफ़ से अनेक कार्यों में अनेक विध लोगों की सहायता की जाती थी। मैगस्थनीज़ ने कारीगरों को सरकारी सहायता मिलने का उल्लेख किया है। वह लिखता है—"यह (शिल्पकारों का) वर्ग न केवल कर देने से ही मुक्त है अपितु राजकोषाध्यक्ष से आर्थिक सहायता भी पाता है[3]।

---

१. 'बालवृद्धव्याधितव्यसन्यनाथांश्च राजा बिभृयात्' कौ० अर्थ० २।१

२. कौ० अर्थ० २।२३

३. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ० ६।

इसी तरह अनेक अवस्थाओं में कृषकों को भी धान्य, पशु, हिरण्य आदि के रूप में आर्थिक सहायता मिलती थी[1]। उनको समय समय पर न केवल कर से मुक्त ही कर दिया जाता था, अपितु राज्य की तरफ़ से सहायता भी दी जाती थी।

सार्वजनिक हित का कार्य करनेवाले व्यक्तियों, संस्थाओं व अन्य संगठनों को उस कार्य के निमित्त राज्य की ओर से आर्थिक सहायता मिलती थी। पुल, डाम आदि राज्य की तरफ़ से बनाये जाते थे, पर अन्य व्यक्तियों के बनाने पर राज्य उन्हें भूमि, मार्ग, वृक्ष तथा अन्य उपकरणों की सहायता करता था[2]। कौटिल्य ने व्यवस्था की है—

"जो लोग देश का हित करनेवाली इमारतें, मार्ग आदि बनवायें तथा ग्राम की शोभा बढ़ाने वा रक्षा करने के लिए प्रयत्न करें, राजा सदा उन पर कृपादृष्टि बनाये रखे[3]।"

६—सार्वजनिक आमोद के साधन

इस विभाग में राज्य की तरफ़ से बनवाये जानेवाले पुण्य-स्थान, आराम, चिड़ियाघर आदि का ग्रहण होता है[4]। हम इनका अधिक विस्तार से अन्यत्र वर्णन करेंगे। राज्य की ओर से पशु, पक्षी, साँप आदि के भी बहुत से 'वाट' बनाये जाते थे[5]। जनता का इनसे बहुत प्रमोद होता था।

---

१. 'धान्यपशुहिरण्यैश्चैनाननुगृह्णीयात्' कौ० अर्थ० २।१

२. 'अन्येषां वा बध्नतां भूमिमार्गवृक्षोपकरणानुग्रहं कुर्यात्' कौ० अर्थ० २।१

३. राजा देशहितान् सेतून् कुर्वतां पथि सङ्क्रमात्'।
ग्रामशोभाश्च रक्षाश्च तेषां प्रियहितं चरेत् ॥'
कौ० अर्थ० ३।१०

४. कौ० अर्थ० २।१, २।२

५. कौ० अर्थ० २।६

७—सार्वजनिक हित के कार्य

इस विषय पर हम विस्तार से एक पृथक् अध्याय में लिखेंगे। राज्य की ओर से इस काल में अस्पतालों का प्रवन्ध था। बहुत से चिकित्सक जनता का इलाज करने के लिए नियत किये जाते थे। स्वास्थ्य का विशेषरूप से प्रवन्ध होता था। साथ ही सिँचाई आदि का भी प्रबन्ध राज्य की तरफ़ से किया जाता था। दुर्भिक्ष, आग, बीमारी आदि आपत्तियों से जनता की रक्षा की जाती थी। इन सबमें 'राष्ट्रीय व्यय' का बहुत सा हिस्सा लगता था। राज्य की ओर से उन स्थानों पर कूप, जलाशय आदि बनाये जाते थे, जहाँ जल की कमी हो। ऐसे शुष्क स्थानों पर भी पुष्प, फल आदि के बग़ीचे लगाये जाने का प्रवन्ध किया जाता था[1]।

८—कोष्ठागार, कर्मान्त आदि

राष्ट्रीय आय का वर्णन करते हुए हम खान, कोष्ठागार, कारख़ाने आदि का वर्णन कर चुके हैं। इसी तरह राज्य के बहुत से आवश्यक विभागों का ज़िक्र पहले किया जा चुका है। इन सबसे जहाँ राज्य को आय थी, वहाँ ख़र्च भी बहुत करना पड़ता था।

९—राजा का वैयक्तिक व्यय

मौर्य्य-काल में राजा का वैयक्तिक ख़र्च भी कम न था। अन्तःपुर बहुत शानदार और विशाल बनाये जाते थे। सैकड़ों दौवारिक और हज़ारों आन्तर्वंशिक सैनिक हमेशा राजमहल में विद्यमान रहते थे। राजा बहुत शान के साथ रहता था। उसके निजू ठाटबाट में भी बहुत अधिक व्यय होता था। केवल महानस का ही ख़र्च इतना अधिक था कि कौटिल्य ने व्यय के विभागों में इसका पृथक् वर्णन किया है।

---

[1] 'अनुदके कूपसेतुबन्धोत्सान् स्थापयेत्, पुष्पफलवाटांश्च।'
कौ० अर्थ० २।२४

दसवाँ अध्याय

चन्द्रगुप्त-कालीन भारत

(५)

सार्वजनिक हित के कार्य

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में न केवल सड़कों और आवागमन के साधनों का राज्य की तरफ़ से समुचित प्रबन्ध होता था, अपितु अन्य अनेक सार्वजनिक हित के कार्य राज्य-द्वारा अधिकृत होते थे। इनका संक्षिप्त रूप से वर्णन करना चन्द्रगुप्त-कालीन भारत की अवस्था जानने के लिए अनिवार्य है।

१—सिँचाई का प्रबन्ध

भारत को कृषिप्रधान देश कहा जाता है। यद्यपि प्राचीन काल में शिल्प-व्यवसाय आदि की बहुत अधिक उन्नति थी, परन्तु कृषि पर विशेषरूप से ध्यान दिया जाता था। भूमि को 'देवमातृका' न रखकर 'अदेवमातृका' बनाने का प्रयत्न किया जाता था। कृषि केवल वर्षा पर ही आश्रित न थी, परन्तु सिचाई का समुचित प्रबन्ध होने के कारण कृषकों को वर्षा की विशेष अपेक्षा न थी। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में सिचाई पर बहुत ध्यान दिया जाता था। इसी लिए मैगस्थनीज़ लिखता है:—

"कृषियोग्य भूमि का बड़ा भाग जल-द्वारा सींचा जाता है। उसके लिए सिँचाई का समुचित प्रबन्ध है।" यूनानी-लेखक फिर लिखता है—"कुछ नदियों का निरीक्षण करते हैं। वे मिस्र देश की तरह भूमियों को नापते भी हैं। उन मार्गों पर विशेष-

रूप से दृष्टि रखते हैं, जिनसे जल बड़ी धारा से पृथक् हो छोटी नालियों में विभक्त होता है।"

मैगस्थनीज़ के इन निर्देशों की पुष्टि कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से होती है। अर्थशास्त्र के अनुशीलन से स्पष्टरूप से प्रतीत होता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय सिँचाई का समुचित प्रबन्ध था। इसके द्वारा सरकार को आय भी अच्छी होती थी। कौटिल्य लिखता है[1]—

"जिन खेतों को हाथ से पानी भर कर सींचा जाता है, उनसे 1/5 उदकभाग या सिंचन-कर लिया जावे। जिन खेतों को कन्धे से पानी भर कर या वहँगी के द्वारा सींचा जाता है, उनसे 1/4 भाग, जिन्हें स्रोत-यन्त्र-द्वारा सींचा जाता है, उनसे 1/3 भाग; और जिन्हें नदी, सर, तटाक, कूप के जल से सींचा जाता है, उनसे 1/4 भाग सिञ्चन-कर के रूप में लिया जावे।

इस उद्धरण का अनुशीलन करने से हम स्वाभाविक रूप से इस परिणाम पर पहुँचते हैं, कि मौर्य-चन्द्रगुप्त के समय सिँचाई के निम्नलिखित साधन विद्यमान थे।

(१) हस्तप्रावर्त्तिमम्—हाथ से पानी देना—पानी को किसी गढ़े में एकत्रित करके फिर हाथ-द्वारा पानी दिया जाता था। 'हस्तप्रावर्त्तिमम्' का ठीक अभिप्राय समझ में नहीं आता। ऊपर जो अर्थ हमने लिखा है, अब तक इसका यही अभिप्राय समझा जाता है। परन्तु 'स्रोतयन्त्रप्रावर्त्तिमम्' 'वातप्रावर्त्तिमम्' आदि शब्दों के साथ मिलाकर यदि अर्थ पर विचार किया जाय, तो 'हस्तप्रावर्त्तिमम्' का अर्थ होगा 'जहाँ हाथ से पानी

---

1. हस्तप्रावर्त्तिममुदकभागं पञ्चमं दद्युः। स्कन्धप्रावर्त्तिमं चतुर्थम्। स्रोतयन्त्रप्रावर्त्तिमं च तृतीयम्। चतुर्थं नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम्। कौटिल्यअर्थशास्त्र, अधि० २, अध्याय २४।

निकाल कर सिंचाई की जाय।' डोल, रस्सी आदि से पानी निकालना हाथ से पानी खींचना ही है। अतः 'हस्तप्रावर्त्तिमम्' का अभिप्राय यही उचित प्रतीत होता है कि जहाँ डोल, रस्सी आदि से—विना पशु, यन्त्र आदि की सहायता के पानी निकाल कर सिँचाई की जाय।

(२) स्कन्धप्रावर्त्तिमम्—कन्धे द्वारा सिँचाई करना—प्रो० प्राणनाथ और श्रीयुत नरेन्द्रनाथ लाहा आदि विद्वानों ने इसका अर्थ किया है—'कन्धे पर ढोकर या वहँगी-द्वारा पानी देना।' पर यह अर्थ भी हमें समुचित नहीं प्रतीत होता। 'स्कन्ध प्रावर्त्तिमम्' का अर्थ होना चाहिए—'जहाँ कन्धों की सहायता से पानी निकाल कर सिँचाई की जाय।' रहट, चरस आदि द्वारा बैलों के कन्धों की सहायता से पानी निकालने और उससे सिँचाई करने की रीति अब भी भारत में सर्वत्र प्रचलित है। यहाँ उसी की ओर निर्देश किया गया है। वँहगी आदि से सिँचाई—यह अर्थ करना अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

(३) स्रोत-यन्त्र-प्रावर्त्तिमम्—'स्रोत-यन्त्र-द्वारा सिँचाई करना'—इसका अर्थ करने में भी प्रो० प्राणनाथ ने ग़लती की है। वे अर्थ करते हैं—'जिनमें सोते या अरघट्ट का पानी लगता है।' परन्तु यन्त्र का अर्थ अरघट्ट ही क्यों किया जाय? अन्य यन्त्र क्यों नहीं? हम ज़बरदस्ती नहीं कर रहे हैं, यन्त्रों शब्द से वर्त्तमान काल के संपूर्ण उन्नत कला यन्त्रों को खींच लेना हमारा अभिप्राय नहीं है। कौटिल्य और स्थान पर स्वयं अपने अर्थ को स्पष्ट करते हैं। वे लिखते हैं:—

'वातप्रावर्त्तिमम् नदीनिबन्धायतनतटाककेदारारामषण्डवापानां सस्यवर्णभागोत्तरिकमन्येभ्यो वा यथोपकारं दद्युः[1]।'

'जिन खेतों बग़ीचों वा शाक-भाजी के क्षेत्रों में वात या हवा

1. कौ० अर्थ० अधिकरण २, अध्याय ६।

द्वारा सींचा हुवा पानी लगता हो, जहाँ नदी को डाम द्वारा रोक कर पानी ले जाया गया हो, उनसे इतना कर लिया जावे, जिससे उत्पादकों को भार न मालूम पड़े।'

इससे स्पष्ट है, कि वायु-द्वारा पानी खींचने के यन्त्र भी सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में विद्यमान थे। 'स्रोतयन्त्र' शब्द से उनका भी ग्रहण करना चाहिए, केवल बैल से चलनेवाले अरघट्टों का नहीं।

(४) नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम्—नदी, सर, तटाक और कूप-द्वारा सिँचाई करना।

क. नदी-द्वारा सिँचाई—सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय का इतिहास लिखते हुए पहले लिखा जा चुका है कि गिरिनार पर्वत में गिरिनार नाम की नदी को रोक कर मौर्य चन्द्रगुप्त ने सुदर्शन झील बनवाई थी। इसका उद्देश्य था, कि झील से नहरें निकाल कर काठियावाड़ और गुजरात के खेतों में जल पहुँचाया जाय। यह विशाल झील चन्द्रगुप्त के समय में बननी प्रारम्भ होती है, और अशोक के शासन में बनकर तैयार होती है। सुदर्शन झील का यह उदाहरण चन्द्रगुप्त-कालीन सिँचाई के साधनों पर अच्छा प्रकाश डालता है। इससे प्रकट होता है, कि उस समय भी नदियों के जल को रोक कर सिंचाई के काम में लाया जाता था। कौटिल्य लिखता है—

'नदीनिबन्धायतनतटाक......इत्यादि।' अर्थात् 'जहाँ नदी को रोक कर पानी ले जाया गया हो।'

अन्यत्र 'वास्तु' का लक्षण करते हुए चाणक्य कहते हैं—'गृह, खेत, बाग़, सेतुबन्ध, तालाब और सर को वास्तु कहते हैं।' यहाँ सेतुबन्ध का अर्थ डाम ही प्रतीत होता है।

सेतुबन्ध का मुख्य अर्थ डाम ही है, इसके लिए अग्रलिखित प्रमाण पर्याप्त है—

'जो कोई आदमी सेतु के निश्चित मार्ग के सिवाय अन्य मार्ग-द्वारा पानी निकालने का यत्न करे, उस पर ६ पण जुर्माना किया जाय'[1]।

इस तरह के डामों और जलमार्गों की विद्यमानता मैगस्थनीज़ के पहले उद्धृत उद्धरण द्वारा भी प्रमाणित होती है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में सिँचाई के निमित्त प्रणालिकाओं का भी वर्णन मिलता है। इन्हें 'कुल्या' शब्द से कहा गया है[2]। कुल्या का अर्थ कृत्रिम रूप से निर्माण की हुई जलधारा ही है।

ख. सरों-द्वारा सिँचाई—सर का अभिप्राय प्राकृतिक तालाब प्रतीत होता है इनके द्वारा भी उस समय सिँचाई का कार्य किया जाता था।

ग. तटाक-द्वारा सिंचाई—तटाक का अर्थ कृत्रिम रूप से सिंचाई के लिए बनाया हुआ 'तालाब' प्रतीत होता है। क्योंकि इसके मरम्मत आदि करवाने का वर्णन कौटिलीय अर्थ-शास्त्र में मिलता है। आचार्य लिखते हैं—

'यदि कोई तटाक या पक्के मकान को नये सिरे से बनवाये, तो उसको पाँच साल के लिए राज-कर से मुक्त कर दिया जावे। टूटे-फूटे को सुधारने में ४ साल तक और बने हुए को उन्नत करने में ३ साल तक राज्य-कर न लिया जावे'।

यह भी प्रतीत होता है, कि ये तटाक वैयक्तिक सम्पत्ति हुआ करते थे, क्योंकि आचार्य्य लिखते हैं—'आपत्ति के बिना ही यदि कोई पाँच साल तक किसी मकान या तटाक से काम न ले तो उस पर उसका स्वत्व न रहे।'

इसी तरह तटाक द्वारा सिंचित खेतों पर कर के विषय में

---

१. सेतुभ्यो मुञ्चतस्तोयमपारे षट् पणो दमः।
पारे वा तोयमन्येषां प्रमादेनोपसन्धतः॥
कौ० अर्थ० अधि० ३, अध्याय ६

२. कौ० अर्थ० अधिकरण २, अध्याय २४

चाणक्य कहते हैं—'इनसे उतना ही कर लिया जावे, जिससे कृषकों को भार न मालूम पड़े।'

घ. कूप-द्वारा सिँचाई—इसका अभिप्राय स्पष्ट है।

सिँचाई के उपरिलिखित साधनों की अच्छी प्रकार से रक्षा की जाती थी। उनकी मरम्मत और सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। जो लोग ध्यान नहीं देते थे, उनको ज़ुर्माना भी हो सकता था। इसी लिए कौटिल्य लिखते हैं—'राज्य की ज़मीनों पर जो लोग खेती करते हों, या जिन्हें राज्य की तरफ़ से कर-विमुक्त ज़मीनें मिली हुई हों, यदि वे तटाक आदि सिँचाई के साधनों की मरम्मत का ठीक तरह ख़्याल न करें, तो उनकी असावधानी से जो नुक़सान होवे, उससे दुगुना ज़ुर्माना उन पर किया जावे'।

इस प्रकार सिँचाई का सर्वोत्तम प्रबन्ध होने पर भी वर्षा की उपेक्षा नहीं की जाती थी। किस मौसम में, किन अवस्थाओं में और किन प्रदेशों में कितनी वर्षा होती है, इसका ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त कर उसका क्रियात्मक दृष्टि से उपयोग भी किया जाता था। वर्षा को मापने के लिए विशेष प्रकार के कुण्ड (Rain-gauge) होते थे। इन कुण्डों का मुख एक अरत्नि या दो फ़ीट के लगभग होता था, और इन्हें कोष्ठागार के सम्मुख वर्षा को मापने के लिए रक्खा जाता था[1]।

निस्सन्देह इसी तरह के कुण्डों से वर्षा को माप कर चाणक्य ने निम्नलिखित परिणाम निकाले हैं—

'जांगलिक देशों में १६ द्रोण, दलदलवाले देशों में २४ द्रोण, अश्मक देश में १३½ द्रोण, अवन्ति देश में २३ द्रोण, अपरान्त में अपरिमित, उत्तर हिमालय की तराई तथा उन देशों में जहाँ

---

१. कोष्ठागारे वर्षमानमरत्निमुखं कुण्डं स्थापयेत्।
कौ० अर्थ० अधि० २ अ० ५

छोटी छोटी कुल्याओं-द्वारा भूमि सींची जाती है, समय समय पर वर्षा होती रहती है[१]।

निस्संदेह यह निश्चित राशि का ज्ञान प्रतिवर्ष ध्यानपूर्वक माप-द्वारा ही प्राप्त किया गया है।

साल के किस भाग में कितनी वर्षा होनी चाहिए, कितनी वर्षा का होना खेती की दृष्टि से लाभकर है, इसका भी विवेचन किया जाता था। इसी लिए कौटिल्य लिखते हैं—

'वर्षा-ऋतु में कुल चार मास होते हैं। वर्षा-ऋतु में कुल जितनी वर्षा हो, उसका $\frac{1}{3}$ प्रथम और अन्तिम मास में (आषाढ़ और आश्विन) तथा $\frac{2}{3}$ बीच के दो मासों (श्रावण और भाद्रपद) में होनी चाहिए। वर्षा का यह क्रम सुखकर और आदर्श है[२]।'

यही नहीं, किस समय वर्षा होती है, कब नहीं, वर्षा ऋतु के क्या चिह्न हैं, इन बातों का ज्ञान भी प्राप्त किया जाता था। कौटिल्य के समय में ज्योतिषशास्त्र उन्नति के उच्च शिखर को प्राप्त था, उसका उपयोग वर्षा के अनुमान के लिए भी किया जाता था। चाणक्य लिखते हैं—

---

१. 'षोडशद्रोणं जांगलानां वर्षप्रमाणमध्यर्धमानूपानां देशवापाना-मर्धत्रयोदशाश्मकानां त्रयोविंशतिरवन्तीनाममितमपरान्तानां हैमन्यानां च कुल्यावापानां च कालतः।'

कौ. अर्थ० अधि० २ अ० २४

मि० शामशास्त्री इस उद्धरण में आये हुए कुछ देशों के विषय में इस प्रकार टिप्पणियां लिखते हैं—

अश्मक = महाराष्ट्र देश।

अपरान्त = कोङ्कण देश।

'हैमन्यानां......आदि सन्दर्भ के विषय में लेखकों में मतभेद है।

२. 'वर्षात्रिभागः पूर्वपश्चिममासयोः, द्वौ त्रिभागौ मध्यमयोः, सुषमा-रूपम्।'

कौ० अर्थ० २ अधि० अ० २४

'बृहस्पति के स्थानगमन, गर्भाधानादि से, शुक्र के उदय, अस्त तथा गमन से और सूर्य के स्वरूप में विकार होने से वृष्टि का अनुमान किया जा सकता है। सूर्य से बीज पड़ता है। बृहस्पति से सस्य में डण्ठल आता है। शुक्र से वृष्टि होती है[1]।'

केवल ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर ही नहीं, परन्तु बादलों के स्वरूप से भी वर्षा के स्वरूप का अनुमान किया जाता था। अर्थशास्त्र में लिखा है कि 'तीन बादल इस प्रकार के होते हैं, जो ७ दिन तक लगातार बरसते हैं, ८० बादल इस प्रकार के होते हैं जो धूप के साथ प्रकट होते हैं[2]।' आगे कौटिल्य ने इनका खेती की दृष्टि से उपयोग किया है। बादलों का इतना सूक्ष्म श्रेणी-करण चन्द्रगुप्त-कालीन वैज्ञानिक उन्नति को भी सूचित करता है।

अभिप्राय यह है, कि सिँचाई आदि का अनेकविध प्रबन्ध होने पर भी वर्षा का यथायोग्य उपयोग लेने का प्रयत्न किया जाता था। प्राकृतिक अवस्थाओं का सम्यक्तया अनुशीलन कर उससे वर्षा के होने न होने का पहले से ही ज्ञान प्राप्त कर लिया जाता था। इस भविष्य ज्ञान का लौकिक-दृष्टि से कितना महत्त्व है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं।

२–चिकित्सालय और स्वास्थ्य-रक्षा

प्राचीन भारत में चिकित्सा-शास्त्र ने जो उन्नति की थी, उसका विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। बौद्ध-काल में आयुर्वेद-विद्या अत्यन्त उन्नत थी। तक्षशिला, काशी

---

१. तस्योपलब्धिः बृहस्पतेः स्थानगमनगर्भाधानेभ्यः शुक्रोदयास्तमयचारेभ्यः सूर्यस्य प्रकृतिवैकृताच्च । सूर्यात् बीजसिद्धिः । बृहस्पतेस्सस्यानां स्तम्बकरिता । शुक्राद्वृष्टिरिति ।

कौ० अर्थ० अधि० २ अ० २४

२. त्रयस्सप्ताहिका मेघा अशीतिः कणशीकराः ।
षष्टिरातपमेघानां एषा वृष्टिस्समाहिता ॥

कौ० अर्थ० अधि० २ अ० २४

आदि विश्वविद्यालयों में आयुर्वेद का अध्ययन होता था। श्रीयुत हार्नले लिखते हैं—'बौद्ध जातकों के अध्ययन से पता लगता है कि बौद्ध-काल में विद्या के दो बड़े केन्द्र थे, जहाँ कि जगद्विख्यात अध्यापकों-द्वारा संपूर्ण विज्ञान—जिनमें आयुर्वेद भी सम्मिलित था—पढ़ाये जाते थे। पूर्व में काशी का प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय था, और पश्चिम में और भी अधिक विख्यात तक्ष-शिला का विश्वविद्यालय था। तक्षशिला-विश्वविद्यालय में महात्मा बुद्ध के समय में या उससे कुछ पूर्व चिकित्सा का मुख्य प्रोफ़ेसर आत्रेय था[1]।" रोकहिल ने महात्मा बुद्ध की जो जीवनी लिखी है, उसके अध्ययन से प्रतीत होता है कि बुद्ध के समकालीन प्रसिद्ध वैद्य जीवक ने तक्षशिला में ही चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया था। जातक ग्रन्थों में जीवक तथा अन्य चिकित्सकों के आश्चर्य-जनक कार्यों का विवरण है। अभिप्राय यह है, कि सम्राट् चन्द्रगुप्त से पूर्व ही भारत में चिकित्सा-शास्त्र उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँच चुका था।

ग्रीक लेखकों के लेखों से भी इसी बात की पुष्टि होती है। 'मैगस्थनीज़ के लेखों-द्वारा हमें पता लगता है कि श्रमणों में हाईलोबिओई (जंगलों में रहनेवाले) श्रमणों को बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त है। उनसे दूसरे नम्बर पर चिकित्सकों की प्रतिष्ठा है। ये श्रमण चिकित्सा भी करते हैं, और संन्यासी भी हैं।......स्ट्रेबो लिखता है कि ये चिकित्सक दवाइयों की अपेक्षा भोजन से रोगों का इलाज करना पसन्द करते हैं[2]।

'हमें मालूम है उत्तरीय भारत में दो ग्रीक चिकत्सक क्टेसियस (४०० ई० पू०) और मैगस्थनीज़ (३०० ई० पू०) आये थे। क्टेसियस अपनी 'इरिडका' में cochineal पौदे, उसके कीड़े, और रङ्ग, तथा बन्दर, हाथी व तोते का वर्णन करता है। वह

१. देखो Hornle—Studies in the Medicine of Ancient India.

२. देखो Surgical Instruments in Ancient India.

लिखता है कि भारतीयों को शिरदर्द, दन्तशूल, अक्षिशोथ, मुखपाक, और व्रण नहीं होते थे। नियार्कस के कथनानुसार सिकन्दर (३२६ ई० पू०) भारतवर्ष में अपने साथ हिन्दू वैद्यों को रखता था और इन वैद्यों से सर्पदंश और अन्य भयानक रोगों के विषय में सलाह लेता था। मैगस्थनीज़ बंगाल में पैदा होनेवाले आबनूस तथा इसके साथ सिंह, बन्दर व हाथियों का वर्णन करता है। स्ट्रेबो कहता है कि डायमैकस को चन्द्रगुप्त के पुत्र के दरबार में भेजा गया था। उसने जो पुस्तक लिखी दुर्भाग्य से इस समय वह उपलब्ध नहीं होती। टाल्मी के आधार पर मिस्र और भारत के पारस्परिक संबन्ध का ज़िक्र करना भी आवश्यक है, क्योंकि हम जानते हैं, कि टाल्मी फिलेडेल्फस ने पाटलिपुत्र के दरबार में डायोनीसियस की अध्यक्षता में कई दूत भेजे थे। अशोक के शिलालेखों से यह सिद्ध है कि सम्राट् अशोक ने मिस्र और ग्रीक के राजाओं के राज्य में धर्मप्रचारार्थ बौद्ध-भिक्षुकों को भेजा और इस प्रकार भारतीय ज्ञान का प्रभाव पाश्चात्य संसार पर पड़ा। ग्रीक लोग बौद्ध-श्रमणों का बहुत मान करते थे।......डीट्स सिद्ध करता है कि यूनानी चिकित्सकों को भारतीयों के वैद्यक ग्रन्थों से अच्छा परिचय था और वे अपने को उस भारतीय औषधविज्ञान से जो उन्हें प्राप्त था, धन्य तथा सफल समझते थे[1]।'

इस उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त के समय में चिकित्सा-शास्त्र बहुत उन्नति को प्राप्त था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के आधार पर हमें इस विषय में पर्याप्त ज्ञान उपलब्ध होता है। चन्द्रगुप्त के समय में राज्य की ओर से अनेक चिकित्सालय होते थे। उनके साथ भैषज्यागार (Store-Rooms) भी होते थे। चाणक्य लिखते हैं—'नगर के उत्तर-पश्चिम भाग में औषध-शाला बनवाई जावे[2]।' 'इसमें सब प्रकार की दवाइयों

१. देखो Surgical Instruments in Ancient India.

२. "उत्तर-पश्चिमं भागं पण्यभैषज्यगृहम्"

कौ० अर्थ० अधि० २ अध्याय ३

तथा उपकरणों को इतनी बड़ी मात्रा में रक्खा जावे कि कई वर्षों तक समाप्त न हो सकें। पुरानी वस्तुओं को बदल कर उनके स्थान पर नई रक्खी जावें[१]।' एक अन्य प्रकरण में चाणक्य लिखते हैं—'भिषक् भैषज्यागार से अच्छे स्वादवाली और सर्वथा शुद्ध ओषधि को लावे, फिर पाचक और पोषक को चखाकर तथा स्वयं भी चख कर राजा के लिए दे[२]।'

अर्थशास्त्र में अनेकविध चिकित्सकों का वर्णन आता है। इनका संक्षेप में उल्लेख करना बहुत आवश्यक है—

(१) भिषक्[३]—साधारण चिकित्सक।

(२) जाङ्गलीविदः[४]—विषचिकित्सक।

(३ गर्भ-व्याधि-संस्थाः[५]—गर्भ की बीमारियों को ठीक करनेवाले।

(४) सूतिकाचिकित्सकाः[६]—गर्भचिकित्सक।

इन विविध चिकित्सकों के सिवाय पशुचिकित्सकों का भी वर्णन आता है। कौटिल्य लिखते हैं—अश्वों के चिकित्सक इस बात का ख्याल रक्खें कि कहीं घोड़ों के शरीर कमज़ोर तो नहीं हो रहे। वे उनके शरीरों की वृद्धि के लिए नाना-विध

---

१. सर्वस्नेहधान्यक्षारलवणभैषज्यशुष्कशाकयवसवल्लूरतृणकाष्ठलोहचर्माङ्गारस्नायुविषविषाणवेणुवल्कलसारदारुप्रहरणावरणाश्मनिचयाननेकवर्षोपभोगसहान् कारयेत्।

नवेनानवं शोधयेत्। कौ० अर्थ० २।४

२. भिषक् भैषज्यागारात् आस्वादविशुद्धमौषधं गृहीत्वा पाचकपोषकाभ्यामात्मना च प्रतिस्वाद्य राज्ञे प्रयच्छेत्।

कौ० अर्थ० १।२१

३. कौ० अर्थ० १।२१

४. कौ० अर्थ० १। २१

५. कौ० अर्थ० १। २०

६. कौ० अर्थ० २। ३६

उपाय भी करते थे[1]। न केवल घोड़ों के लिए परन्तु गाय, बैल, हाथी आदि विविध पशुओं के चिकित्सकों का वर्णन कौटिल्य ने किया है[2]।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में रोगियों की सेवा-शुश्रूषा के लिए स्त्रियाँ (Nurses) भी होती थीं। ये रोगियों के लिए भोजन-पान आदि की व्यवस्था करती थीं और उनकी हर तरह से सेवा आदि करती थीं। जब सेना युद्ध के लिए चलती थी, तो साथ में चिकित्सक और परिचारिकायें भी रहती थीं। चिकित्सा का सब सामान—शस्त्र, यन्त्र, अगद, स्नेह, वस्त्र आदि साथ रहता था[3]।

ओषधियों तथा चिकित्सा के उपयोग में आनेवाली वनस्पतियों की उत्पत्ति के लिए भी राज्य की ओर से प्रबन्ध था। कौटिल्य लिखते हैं—कि 'राजकीय भूमि में ओषधियों की उत्पत्ति के लिए कुछ भाग पृथक् कर लिया जावे[4]। केवल ज़मीन पर ही नहीं परन्तु गमलों (स्थाल्यां) में भी ओषधियाँ उत्पन्न की जाती थीं।

स्वतन्त्र चिकित्सकों पर भी राज्य का पूरा निरीक्षण रहता था। चाणक्य लिखते हैं—'सरकार को सूचना दिये बिना ही

---

१ 'अश्वानां चिकित्सकाः शरीरह्रासवृद्धिप्रतीकारमृतुविभक्तम्, चाहारम्।
कौ० २। ३७

२ देखो—कौ० अर्थ० अधि० २ य, 'गोऽध्यक्षः' 'अश्वाध्यक्षः' 'हस्त्यध्यक्षः'

३ 'चिकित्सकाः शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्रहस्ताः स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्यपुरुषाणामुद्धर्षणीया पृष्ठतस्तिष्ठेयुः।'
कौ० अर्थ० अधि० १० अ० २

४ 'गन्धभैषज्यो शीरह्रीबेरपिण्डालुकादीनां यथास्वं भूमिषु च स्थाल्यां च अनूप्याश्चौषधीश्च स्थापयेत्।
कौ० अर्थ० ४। १

यदि चिकित्सक लोग ऐसे बीमार का इलाज करने लगेंगे, जिसकी मृत्यु की सम्भावना हो, तो उन्हें पूर्वसाहस दण्ड दिया जाय। यदि किसी विपत्ति के कारण इलाज अच्छी तरह न किया जा सके, तो चिकित्सक को मध्यम दण्ड दिया जाय। यदि इलाज के प्रति उपेक्षा की जा रही हो, रोगी की उचित परवाह न की जाती हो और उसके कारण रोग बढ़ जाय तो चिकित्सक पर 'दण्डपारुष्य' (Assault) का अपराध लगाया जाय[1]। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आचार्य चाणक्य के इन नियमों के कारण चिकित्सक लोग अपनी उत्तरदायिता को समझते थे और रोगियों का इलाज बहुत ही सावधानी के साथ करते थे।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय इस बात के लिए विशेष प्रयत्न किया जाता था कि रोग होने ही न पावे। स्वास्थ्य-रक्षा के लिए अनेक विध उपायों को प्रयोग में लाया जाता था। इस बात का ख़याल रक्खा जाता था कि व्यापारी लोग कहीं निकम्मी तथा हानिकारक वस्तु तो नहीं बेच रहे हैं। ख़राब वस्तु का बाज़ार में बेच सकना निषिद्ध था। अर्थ-शास्त्र में लिखा है— 'मिलावटी माल को अच्छा, ख़राब को ठीक और बदले में लिये पदार्थ को अपना कहकर बेचनेवालों पर ५४ पण ज़ुर्माना किया जाय[2]।' आगे चल कर चाणक्य फिर लिखते हैं—

'धान्य, स्नेह, क्षार, लवण, गन्ध और दवाई के पदार्थों को जो लोग नक़ली तौर पर बेचें अर्थात् जिन पदार्थों की शुद्धता राजकर्मचारियों द्वारा प्रमाणित हो चुकी है, उनके स्थान पर

---

१. 'भिषजः प्राणाबाधिकमनाख्यायोपक्रममाणस्य विपत्तौ पूर्वः साहसदण्डः। कर्मापराधेन विपत्तौ मध्यमः। कर्मवधवैगुण्यकरणे दण्डपारुष्यं स्यात्।

कौ० अर्थ० ४। १

२. राधायुक्तमुपधियुक्तं समुत्परिवर्त्तिमं वा विक्रयाधानं कुर्वतो हीनमूल्यं चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः।

कौ० अर्थ० ४। २

इसी तरह के अन्य पदार्थ रखकर बेचनेवालों को १२ पण जुर्माना किया जाय[1]।

मैगस्थनीज़ भी इस बात का समर्थन करता है। पाटलिपुत्र के म्युनिसिपल शासन का वर्णन करता हुआ वह लिखता है—'पाँचवीं उपसमिति कारखानों और उनमें बनी हुई चीज़ों की देख-भाल करती थी। पुरानी और नई वस्तुओं को अलग अलग रखने की आज्ञा राज्य की ओर से थी। राजाज्ञा के बिना पुरानी वस्तुओं का बेचना नियम के विरुद्ध और दण्डनीय समझा जाता था।

विक्रेय वस्तुओं पर इतने कठोर निरीक्षण का यह परिणाम होता था कि स्वास्थ्य को नुक़सान पहुँचानेवाली वस्तुएँ बाज़ार में नहीं बिक सकती थीं और इससे स्वास्थ्य-रक्षा में बहुत मदद पहुँचती थी। नगरों के अन्दर स्वास्थ्यरक्षा पर बहुत ज़ोर दिया जाता था। सफ़ाई रखने के लिए विशेष प्रयत्न किया गया था। इसी लिए चाणक्य लिखते हैं—'गली में कूड़ा फेंकने पर $\frac{1}{8}$ पण और सड़क पर कीचड़ फेंकने पर या कहीं कीचड़ व पानी रोक रखने पर $\frac{1}{4}$ पण जुर्माना किया जाय। यदि यही अपराध राज-मार्ग पर किये जावें तो इससे दुगुना जुर्माना किया जावे। पुण्य-स्थान, जल रखने के स्थान, मन्दिर, राजमार्ग तथा राजप्रासाद के पास पाखाना करने पर एक पण से ऊपर, तथा पेशाब करने पर इससे आधा दण्ड मिलना चाहिए। परन्तु यदि ये कृत्य, दवाई, बीमारी व भय के कारण हो गये हों, तो कुछ भी दण्ड न दिया जाय। मरे हुए बिलाव, कुत्ते, नेवले तथा साँप को नगर के बीच में ही फेंक देने पर तीन पण जुर्माना किया जाय। मरे हुए गधे, ऊँट, खच्चर, घोड़े तथा अन्य पशु को शहर के बीच में फेंक देने पर छः पण और मरे हुए मनुष्य की लाश को नगर में फेंक देने पर ५० पण जुर्माना किया जाय। इतना ही

१. धान्यस्नेहक्षारलवणगन्धभैषज्यद्रव्याणां समवर्णोपधाने द्वादशपणो दण्डः।

कौ० अर्थ० ४।२

नहीं, मृतशरीर को यदि निश्चित मार्ग के सिवाय किसी अन्य मार्ग से ले जाया जावे, तो पूर्वसाहस दण्ड दिया जावे। यदि मुर्दे को श्मशान के सिवाय किसी अन्य स्थान पर रख दिया जावे या जला दिया जावे तो १२ पण जुर्माना किया जावे[1]।

निस्सन्देह, सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय उपरिलिखित स्वास्थ्य के नियमों पर पूरा ध्यान दिया जाता था और इनका उल्लङ्घन करनेवालों को निश्चित दण्ड मिलता था। यही नहीं, स्वास्थ्यरक्षकों का यह कर्तव्य था कि लोगों को अपथ्य करने से रोकें, यदि लोग उनकी अवज्ञा करते थे तो वे सरकारी कर्मचारियों को उनकी सूचना दे देते थे। यह सूचना देना केवल स्वास्थ्यरक्षक चिकित्सकों का ही कर्तव्य न था, पर गृहस्वामी भी इसके लिए उत्तरदायी था[2]।

कौटिल्य ने व्याधि या बीमारी को भी राष्ट्रीय आपत्तियों में गिना है। निस्सन्देह प्लेग, हैज़ा, आदि फैलनेवाली बीमारियाँ राष्ट्रीय विपत्तियाँ ही हैं। इनके प्रतीकार के लिए अर्थशास्त्र में निम्नलिखित उपाय बताये हैं[3]।

(१) चिकित्सक औषधियों-द्वारा इन बीमारियों का प्रतीकार करें।

१—देखो—कौटिल्य अर्थशास्त्र, २।३६ 'नागरिकप्रणिधिः'।

२—'चिकित्सकः प्रच्छन्नव्रणप्रतीकारकारयितारमपथ्यकारिणं च गृहस्वामी च निवेद्य (गोपस्था निवेद्य) गोपस्थानिभ्यो मुच्येत अन्यथा तुल्यदोषः स्यात्।'

कौटिल्य अर्थशास्त्र २।३६.

३—'व्याधिभयमौपनिषदिकैः प्रतीकारैः प्रतिकुर्युः। औषधैश्चिकित्सकाः। शान्तिप्रायश्चित्तैर्वा सिद्धतापसाः।
तेन मरको व्याख्यातः।
तीर्थाभिषेचनं महाकच्छवर्धनं गवां श्मशानावदोहनं कबन्धदहनं देवरात्रिं च कारयेत्॥'

कौटिल्य अर्थशास्त्र ४।३

(२) सिद्ध तथा तापस लोग ऐसे प्रायश्चित्त व पुरश्चरण करें जिनसे व्याधि शान्त हो सके।

(३) फैलनेवाली बीमारियों के लिए उपर्युक्त उपाय तो काम में लाये ही जावें, साथ में—

(क) तीर्थों में अभिषेक किया जावे।

(ख) महाकच्छवर्धन किया जावे।

(ग) श्मशान में गौवों का दोहन किया जावे।

(घ) धड़ को जलाया जावे।

(ङ) रात्रि में देवताओं की उपासना की जावे।

अन्तिम उपायों का क्या अभिप्राय है, यह समझना बहुत कठिन है। चाणक्य के समय में अनेक जादू-टोने तथा अभिचार की क्रियायें प्रचलित थीं, उन्हीं का यहाँ पर विधान किया गया है।

चिकित्सा के प्रकरण को समाप्त करने के पूर्व यह निर्दिष्ट करना आवश्यक है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय 'आशुमृतक-परीक्षा'[1] (Post-mortem Examination) का प्रयोग किया जाता था। इसके लिए लाश को तैल विशेष से चुपड़ा जाता था। इससे लाश सड़ती न थी। जब इस प्रकार का कोई मुक़द्दमा न्यायालय के सम्मुख लाया जाता था, तो लाश को चिकित्सकों के सुपुर्द किया जाता था। वे उसकी परीक्षा करते थे और मृत्यु के कारण ढूँढ़ने में पुलिस की सहायता करते थे। कौटिल्य ने इस विषय का बहुत विस्तार से वर्णन किया है, परन्तु यहाँ विशेष प्रकरण न होने से उसका उल्लेख नहीं किया जाता।

ऊपर जो प्रमाण एकत्रित किये गये हैं, उनसे चन्द्रगुप्त-कालीन भारत में चिकित्सालयों, स्वास्थ्यरक्षा के नियमों तथा उनके लिए राज्य की ओर से किये गये यत्न का अच्छी तरह परिज्ञान हो सकता है।

---

१. देखो— कौटिल्य-अर्थशास्त्र, ४ थे अधि० ६ ठा अध्याय।
"तैलाभ्यक्तमाशुमृतकं परीक्षेत" इत्यादि।

३–सार्वजनिक संकटों का निवारण

सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन में दुर्भिक्ष, अग्नि, बाढ़ आदि सार्वजनिक संकटों के निवारण के लिए अनेक प्रकार से उपाय किया जाता था। हम इन पर एक एक करके क्रमशः विचार करेंगे। पहले दुर्भिक्ष को लीजिए।

दुर्भिक्ष की निवृत्ति के लिए सरकार की ओर से नहरों तथा अन्य सिँचाई के साधनों का निर्माण किया जाता था। भूमि को 'देवमातृका' न रख कर 'अदेवमातृका' बनाने का यत्न किया जाता था। पर यह होते हुए भी यदि कभी दुर्भिक्ष पड़ जाते थे, तो उनके निवारणों के लिए समुचित प्रबन्ध किया जाता था। दुर्भिक्ष निवारण के लिए मुख्य उपाय तो यह था कि राज्य की ओर से कोष्ठागार (Store House) में अन्न की प्रभूत मात्रा सदा सञ्चित रहती थी[1]। दुर्भिक्ष के समय इस अन्न का उपयोग किया जाता था। इसे राज्य की ओर से मुफ़्त बाँटा जाता था[2]।

कौटिल्य ने दुर्भिक्ष के निवारण के लिए निम्न-लिखित साधनों का प्रयोग करने के लिए लिखा है—

१. दुर्गत कर्म—दुर्गति के निवारण के लिए प्रारम्भ किये गये कर्म। दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए राज्य की ओर से अनेक तरह के कार्यों को प्रारम्भ करा दिया जाता था। इन कार्यों को सम्पादित कर ग़रीब लोग मज़दूरी के बदले धन पाते थे और इससे भोज्य पदार्थ ख़रीद कर अपनी उदर-पूर्त्ति कर सकते थे।

२. भक्तानुग्रह—भोजन को अनुग्रह से या कम क़ीमत से

---

१. देखो—कौटिल्य-अर्थशास्त्र, "कोष्ठागाराध्यक्षः" २। १४।

२. "दुर्भिक्षे राजा बीजभक्तोपग्रहं कृत्वाऽनुग्रहं कुर्यात्"।
कौटिल्य-अर्थशास्त्र ४।३

बेचना। दुर्भिक्षपीड़ितों की सहायता के लिए राज्य की ओर से कोष्ठागार से अनाज आदि भोज्य पदार्थ कम क़ीमत पर बेचे जाते थे।

३. भक्तसंविभाग—भोज्य पदार्थों का सर्वथा मुफ़्त बाँटना। आवश्यकता पड़ने पर भोज्य-पदार्थ बिलकुल मुफ़्त भी बाँट दिये जाते थे।

४. देश-निक्षेप—श्रीयुक्त नरेन्द्रनाथ ला ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—by the abandonment of his country to some other king—अर्थात् अपना देश किसी और राजा पर छोड़ देना। परन्तु हमारी सम्मति में यह अर्थ ठीक नहीं। संस्कृत-साहित्य में निक्षेप का अर्थ केवल फेंकना या छोड़ देना ही नहीं होता। पर इसका एक पारिभाषिक शब्द के रूप मे भी प्रयोग होता है। जैसे पञ्चतन्त्र में—

निक्षेपे पतिते हर्म्ये श्रेष्ठी स्तौति स्वदेवताम्।

इस श्लोक में निक्षेप का अर्थ स्पष्टरूप से 'अमानत' है। यदि इसके प्रकाश में हम 'देश-निक्षेप' का अर्थ करें, तो अर्थ होगा देश की अमानत (सिक्योरिटी) पर उधार लेना। आपत्ति के समय राष्ट्र अपनी साख पर उधार लिया करते हैं। यहाँ इसी का ज़िक्र है। इससे प्रतीत होता है कि मौर्य-चन्द्रगुप्त के समय राष्ट्रीय ऋण भी लिये जाते थे। इनका प्रयोग दुर्भिक्ष-निवारण के लिए भी होता था।

५. मित्रों की सहायता—मित्र-राज्यों की सहायता की याचना की जाती थी। ये राज्य आपत्ति के समय अपने मित्र-राज्य की सहायता करना अपना कर्तव्य समझते थे।

६. कर्शन—धनी लोगों से ज़बर्दस्ती धन लेना। दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए फण्ड खोला जाता था और उसमें सब लोग चन्दा देते थे। धनी लोगों से ज़बर्दस्ती चन्दा भी लिया जाता था।

७. वमन—राज्य कोष का प्रयोग। राज्य-कोष की ओर से भी दुर्भिक्ष फण्ड की मदद की जाती थी[1]।

आचार्य चाणक्य ने ये उपाय इस प्रकार के बताये हैं, जो स्थिर राज्यों के लिए हैं। परन्तु राजनैतिक विकास की उस अवस्था के लिए भी—जब जातियाँ किसी निश्चित प्रदेश पर अन्तिम रूप से नहीं बस गईं और जब वे फिरन्दर अवस्था को पूरी तरह पार नहीं कर चुकीं—दुर्भिक्ष निवारण के कुछ उपाय चाणक्य ने कहे हैं। ये इस प्रकार हैं[2]।

१. अपनी भूमि को छोड़कर संपूर्ण जनपद के साथ ऐसे प्रदेश में चला जावे, जहाँ धन-धान्य बहुत हो—सस्य-वनस्पति की प्रभूत मात्रा हो।

२. समुद्र, तालाब व झीलों का आश्रय ले लें, और ऐसे प्रदेशों का आश्रय लेकर धान्य, शाक, मूल, फल आदि शीघ्र ही उत्पन्न करने का प्रयत्न करे।

३. मृग, पशु, व्याल, मत्स्य आदि द्वारा जीवन-यात्रा करे।

सुस्थापित राज्यों के लिए जिन साधनों का कौटिल्य ने उपदेश किया है, निस्संदेह मौर्य-चन्द्रगुप्त के समय में उन्हीं का प्रयोग होता था। पहले तो सिंचाई आदि का उत्तम प्रबन्ध होने के कारण दुर्भिक्ष पड़ते ही न थे, यदि पड़ते थे तो उपरिलिखित उपायों से उनका प्रतीकार करने का अच्छी तरह प्रयत्न किया जाता था।

---

१. दुर्गसेतु कर्म वा भक्तानुग्रहेण भक्तसंविभागं वा देशनिक्षेपं वा। मित्राणि वा व्यपाश्रयेत कर्शनं वमनं वा कुर्यात्।

कौ० अर्थ० ४।३

२. निष्पन्नसस्यमन्यविषयं वा सजनपदो यायात्, समुद्रसरस्तटाकानि वा संश्रयेत। धान्यशाकमूलफलवापान् सेतुषु कुर्वीत। मृगपशुपक्षिव्यालमत्स्यारम्भान् वा।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र ४।३

अग्नि की आपत्ति से बचने के लिए राज्य की तरफ़ से किन उपायों का प्रयोग किया जाता, इसका ज्ञान भी हमें अर्थशास्त्र के अध्ययन से हो सकता है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में बहुत से नगर लकड़ी के भी बनवाये जाते थे। मैगस्थनीज़ लिखता है—'वे नगर जो कि समुद्र या नदी के तट पर स्थित हैं ईंटें व पत्थरों की बजाय लकड़ी के बनाये जाते हैं। क्योंकि वे सदा के लिए न बनाये जाकर सामयिक तौर पर ही बनाये जाते हैं। यहाँ वर्षायें इतनी ज़ोर से होती हैं और नदियाँ इतनी वेग से बढ़ जाती हैं कि पानी किनारों के ऊपर चढ़ जाता है। परन्तु जो नगर ऊँचे पर तथा सुरक्षित प्रदेश पर बने हैं, वे ईंटों तथा मिट्टी के हैं।'

मैगस्थनीज़ के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बहुत से बड़े बड़े नगर (ध्यान रहे कि मौर्य साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र भी नदीतीर पर ही स्थित थी) लकड़ी के बने होते थे इससे उनमें आग लगने का सदा डर रहता था। इसी लिए चाणक्य ने अग्नि-भय से बचने के लिए बहुत सावधानी के साथ विविध उपाय बताये हैं।

ग्रीष्म-ऋतु में ग्रामवासियों को आज्ञा थी कि वे भोजनादि अपने घरों के बाहर बनावें। यदि उनके पास 'दसमूली-संग्रह' मौजूद हो, तब वे अपना भोजन मकानों के अन्दर भी बना सकते हैं[1] परन्तु मकान के अंन्दर भोजनादि पकाने के लिए अग्नि जलाने के विषय में यह नियम भी था कि ग्रीष्म-ऋतु में दोपहर के समय आग न जलाई जाय[2]।

---

१. ग्रीष्मे बहिरधिश्रयणं ग्रामाः कुर्युः। दशमूलीसंग्रहेणाधिष्ठाता वा॥
कौ० अर्थशास्त्र ४।३

२. अग्निप्रतीकारं च ग्रीष्मे मध्यमयोरह्नश्चतुर्भागयोः अष्टभागोऽग्निदण्डः। बहिरधिश्रयणं वा कुर्युः॥
कौटिलीय अर्थशास्त्र २।३६।

प्रत्येक गृहस्थ जो ग्रीष्म-ऋतु में अपने घर में रोटी पकाना चाहता था, उसे निम्न-लिखित 'दशमूली-संग्रह' अपने पास अवश्य रखना पड़ता था[१]।

१. पञ्च घट्यः—५ जलपात्र।
२. कुम्भ—कुम्भ नामक एक जल का बड़ा बर्तन।
३. द्रोणी—लकड़ी का बना हुआ पानी से भरा एक बड़ा बर्तन।
४. निश्रेणी—सीढ़ी।
५. परशु—कुल्हाड़ी।
६. शूर्प—छाज।
७. अंकुश—जलती लकड़ियों को गिराने के लिए अंकुश।
८. कच—रस्से और रस्सियाँ।
९. ग्रहणी—मकान से वस्तुएँ बाहर निकालने के लिए टोकरा।
१०. दृति—चमड़े का थैला।

यह दिखलाने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी वस्तुएँ आग बुझाने के लिए बहुत उपयोगी हैं। निस्सन्देह इनके सदा तैयार रहने के कारण अग्नि को शान्त करने में बहुत अधिक सरलता रहती थी। ऐसे उपाय भी किये जाते थे, जिनसे अग्नि लगने की सम्भावना ही न रहे। ये उपाय निम्न-लिखित थे।

१. ऐसे व्यवसायी जिन्हें अग्नि का बहुत काम पड़ता है, शहर में पृथक् एक स्थान पर बसाये जाते थे[२]।
२. फूस और चटाई के मकानों को उखड़वा दिया जाता था[३]।

---

१. पादः पञ्चघटीनां कुम्भद्रोणीनिश्रेणीपरशुशूर्पाङ्कुशकचग्रहणीदृतीनां च अकरणे।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र २।३६।

२. अग्निजीविन एकस्थाने वासयेयुः।

३. तृणकटच्छन्नान्यपनयेत्।

३. गर्मी के मौसम में दिन में दोपहर के समय आग जलाने की मनाई थी[1]।

आग से बचाव के लिए मार्गों, चौराहों तथा अन्य आवश्यक स्थानों पर जल से भरे हुए हज़ारों बर्तन रक्खे रहते थे[2]। आग लगते ही उसे बुझाने का यत्न किया जाता था। सब लोगों के लिए आवश्यक था कि वे आग बुझाने में सहायता करें। जो लोग इस कर्तव्य पालन में प्रमाद करते थे, उन्हें जुर्माना किया जाता था[3]। आग लगानेवालों का अनुसन्धान किया जाता था और पकड़े जाने पर उन्हें भारी दण्ड मिलता था। यदि किसी से भूल में या प्रमाद से आग लग जावे, तो उस पर ५४ पण जुर्माना किया जाता था[4]। जान बूझ कर आग लगानेवाले के लिए मृत्युदण्ड के सिवाय अन्य कोई सज़ा न थी[5]।

अग्नि से रक्षा के लिए आभिचारिक क्रियायें भी की जाती थीं। इस प्रकार के रासायनिक अवलेप भी बनाये जाते थे, जिनके प्रयोग से मकान में आग नहीं लग सकती। कौटिल्य लिखते हैं—'दाहिने से बाईं ओर मानुष अग्नि यदि अन्तःपुर के चारों ओर घुमाई जाय तो उसमें आग लगने का डर नहीं रहता। यदि बिजली की राख को ओले के पानी तथा मिट्टी से सान कर दीवारों को लीपा जाय तो वहाँ कोई दूसरी आग नहीं लग सकती[6]।

---

१. मध्यमयोरह्नश्चतुर्भागयोरष्टभागोऽग्निदण्डः।

२. असंपातिनो रात्रौ रथ्यासु कटव्रजास्सहस्रं तिष्ठेयुः।

३. प्रदीप्तमनभिधावतो गृहस्वामिनो द्वादशपणो दण्डः।

४. प्रमादाद् दीप्तेषु चतुःपञ्चाशत्पणो दण्डः।

५. प्रादीपिकोऽग्निना वध्यः।

६. मानुषेणाग्निना त्रिरपसव्यं परिगतमन्तःपुरमग्निरन्यो न दहति। न चात्रान्योऽग्निर्ज्वलति वैद्युतेन भस्मना मृत्संयुक्तेन करकवारिणावलिप्तं च।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र १।१०।

बाढ़ से बचने के लिए मौर्य-चन्द्रगुप्त के समय में यह व्यवस्था थी कि लोग वर्षा-ऋतु में नदी तट से दूर निवास करते थे। जो ग्राम नदियों के तीर पर बसे होते थे, उन्हें सूचना दे दी जाती थी कि वर्षा-ऋतु आगई है, इस अरक्षित स्थान को छोड़ कर तीर से दूर ऊँचे प्रदेश पर बस जावें।

आकस्मिक बाढ़ से बचाव के लिए नौकाएँ तथा अन्य साधन तैयार रक्खे जाते थे। जिन लोगों के पास नौकाएँ, तमेड़े, तूँबे, डोंगियाँ आदि होती थीं, उनका फ़र्ज़ था कि बाढ़-पीड़ितों के बचाव के लिए पूरा यत्न करें। यदि वे इस कार्य में शिथिलता दिखाते थे, तो उन पर १२ पण जुर्माना किया जाता था[१]।

बाढ़ को न आने देने के लिए तथा बाढ़ आजाने पर उसकी समाप्ति के लिए अनेक विध धार्मिक क्रियायें भी की जाती थीं। आचार्य चाणक्य लिखते हैं—'पर्वों में नदी की पूजा की जाय। मायावेद तथा योगविद्या को जाननेवाले वृष्टि के विरुद्ध प्रयोग

"मानुष-अग्नि" का अभिप्राय किसी आभिचारिक या तान्त्रिक क्रिया से है, इसे सिद्ध करते हुए प्रो० प्राणनाथ लिखते हैं—

> 'हमारी समझ में 'गलम्भने अद्भुतोपादानम्' नामक प्रकरण में 'शस्त्रहतस्य शूलप्रोतस्य पुरुषस्य वामपार्श्वपशुकास्थिषु कल्माषवेणुना निर्मथितोऽग्निर्यत्र त्रिरपसव्यं गच्छति, न चात्रान्योऽग्निर्ज्वलति।' मरे हुए आदमी की हड्डी तथा कल्माष नामक बाँस रगड़ने से जो आग पैदा होती है, उस आग को यहाँ मानुष-अग्नि शब्द से सूचित किया है।'

१. वर्षारात्रमनूपग्रामा पूरवेलामुत्सृज्य वसेयुः। काष्ठवेणुनावश्चापगृह्णीयुः। उह्यमानमलाबुदृतिप्लवगण्डिकावेणिकाभिस्तारयेयुः। अनभिसरतां द्वादशपणो दण्डः अन्यत्र प्लवहीनेभ्यः।

कौ० अर्थ० ४।२

करें। वर्षा के रुक जाने पर शचीनाथ, गङ्गा, पर्वत तथा महा-कच्छ की पूजा की जावे[1]।

इसी प्रकार कौटिलीय अर्थशास्त्र में चूहा, टिड्डी-दल, आदि के आक्रमणों से जनता की रक्षा के लिए उपाय लिखे हैं, परन्तु विस्तार के भय से यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया जाता।

मौर्यकाल में 'सार्वजनिक हित के कार्यों' के विषय में और बहुत कुछ लिखा जा सकता है। ऐसे अनेक विषयों पर अन्य अध्यायों में विचार किया भी गया है। यहाँ उन्हीं बातों पर प्रकाश डाला गया है, जो अन्यत्र उल्लिखित नहीं हैं।

---

१. पर्वसु च नदीपूजाः कारयेत्।
मायायोगविदो वेदविदो वर्षमभिरचेयुः। वर्षावग्रहे शचीनाथगङ्गा-पर्वतमाहाकच्छपूजाः कारयेत्।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र ४।२

ग्यारहवाँ अध्याय

चन्द्रगुप्त-कालीन भारत

आवागमन के साधन

सम्राट् चन्द्रगुप्त का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। इसलिए आवागमन के लिए उत्तम साधनों और मार्गों की बहुत आवश्यकता थी। मार्गों का प्रबन्ध सरकार ने एक पृथक् विभाग के सुपुर्द किया था। आवागमन के साधनों और मार्गों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) जलमार्ग और (२) स्थलमार्ग। हम प्रत्येक पर आगे पृथक् पृथक् विचार करेंगे।

१—जलमार्ग

मौर्य-चन्द्रगुप्त के शासन में नौकाओं और जहाज़ों का बहुत अधिक चलन था। नौकानयन-शास्त्र की बहुत उन्नति हो चुकी थी। कौटिलीय अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार के जलमार्गों का वर्णन आता है। चाणक्य की सम्मति है कि जलमार्ग की अपेक्षा स्थलमार्ग अधिक अच्छे होते थे। अर्थशास्त्र में लिखा है—'पुराने आचार्यों की सम्मति है कि जलमार्ग और स्थलमार्ग में जलमार्ग अधिक अच्छे होते हैं, क्योंकि जलमार्ग द्वारा परिश्रम कम पड़ता है, और ख़र्च भी कम होता है। साथ ही उसके द्वारा किये हुए व्यापार में मुनाफ़ा भी ख़ूब होता है।' पर चाणक्य का मत है—"नहीं, स्थलमार्ग अधिक अच्छे हैं। क्योंकि जलमार्ग में अनेक ख़तरे हैं। जलमार्ग सदा प्रयुक्त नहीं हो सकते, फिर उनमें

कई तरह के भयों की आशंका रहती है[1] ।" आचार्य चाणक्य का मत चाहे कुछ भी हो, पर इतना निश्चित है, कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय जलमार्ग तथा नौकानयन-विद्या में बहुत उन्नति हो चुकी थी।

जलमार्ग का एक पृथक् महकमा होता था। इसके उच्चतम अधिकारी को 'नावाध्यक्ष'[2] कहते थे। उसके अधीन नौकानयन-सम्बन्धी सब कार्य्य उत्तम रीति से संचालित होते थे। नावाध्यक्ष के नीचे अन्य अनेक कर्मचारी रहते थे ।

कौटिल्य ने अनेक प्रकार के जलमार्गों का वर्णन किया है—

१—कुल्या—साम्राज्य के अन्तर्गत नदियों, नहरों तथा अन्य प्रकार के कृत्रिम जलमार्गों को कुल्या शब्द से कहा जाता था। जल-द्वारा व्यापार बहुत सस्ता पड़ता है, इसलिए व्यापारी लोग प्रायः इनका प्रयोग किया करते थे।

२—कूलपथ—समुद्र-तट पर जो व्यापार-मार्ग होता था, उसे कूलपथ कहते थे। इसके द्वारा समुद्र-तट-वर्ती नगरों व बन्दरगाहों में परस्पर व्यापार हुआ करता था। आचार्य कौटिल्य की सम्मति है कि कुल्यापथ और कूलपथ में कूलपथ अधिक अच्छे हैं। क्योंकि उनसे व्यापार बहुत हो सकता है, और वे कुल्यापथ की तरह अस्थिर भी नहीं होते। नदियाँ सूख जाती हैं, या व्यापार के अयोग्य हो जाती हैं, पर समुद्र तट नहीं।

३—संयानपथ—महासमुद्रों के जलमार्गों को संयानपथ कहा जाता था। संयानपथों-द्वारा भारत के व्यापारी विदेशों के

---

१. 'वारिस्थलपथयोर्वारिपथः श्रेयान् अल्पव्ययव्यायामः प्रभूतपण्योदयश्च' इत्याचार्य्यः । नेति कौटिल्यः—संरुद्धगतिरसात्कालिकः प्रकृष्ट-भययोर्विनिष्पत्तिकारश्च वारिपथः। विपरीतः स्थलपथः।

अर्थशास्त्र, अधिकरण, ७

२. देखो कौटिलीय अर्थशास्त्र अधिकरण २, प्रकरण ४६ ।

साथ व्यापार किया करते थे। निश्चित संयानपथों का होना नौकानयन की पराकाष्ठा को सूचित करता है।

यद्यपि जलमार्गों में अनेक भय थे, पर नौकानयन-विद्या की उन्नति से ये भय बहुत कम हो गये थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार की नौकाओं और जहाज़ों का वर्णन आता है।

१. संयात्य नावः—बड़े बड़े जहाज़—ये महासागरों में व्यापार आदि के लिए आया जाया करते थे। जिस समय ये जहाज़ किसी बन्दरगाह (क्षेम) पर पहुँचते थे तो इनसे शुल्क लिया जाता था[1]।

२. प्रवहणः—यह भी समुद्र में आने-जानेवाले जहाज़ हुआ करते थे। एक स्थान पर प्रवहण शब्द की टीका इस प्रकार की गई है। "सामुद्रिक व्यापारी प्रवहणों-द्वारा समुद्र पार करते हैं[2]।' निस्सन्देह ये भी एक तरह से सामुद्रिक जहाज़ ही हुआ करते थे। इनके लिए "नावाध्यक्ष" के अधीन एक पृथक् कर्म्मचारी भी हुआ करता था। जो कि इनका निरीक्षण आदि करता था[3]।

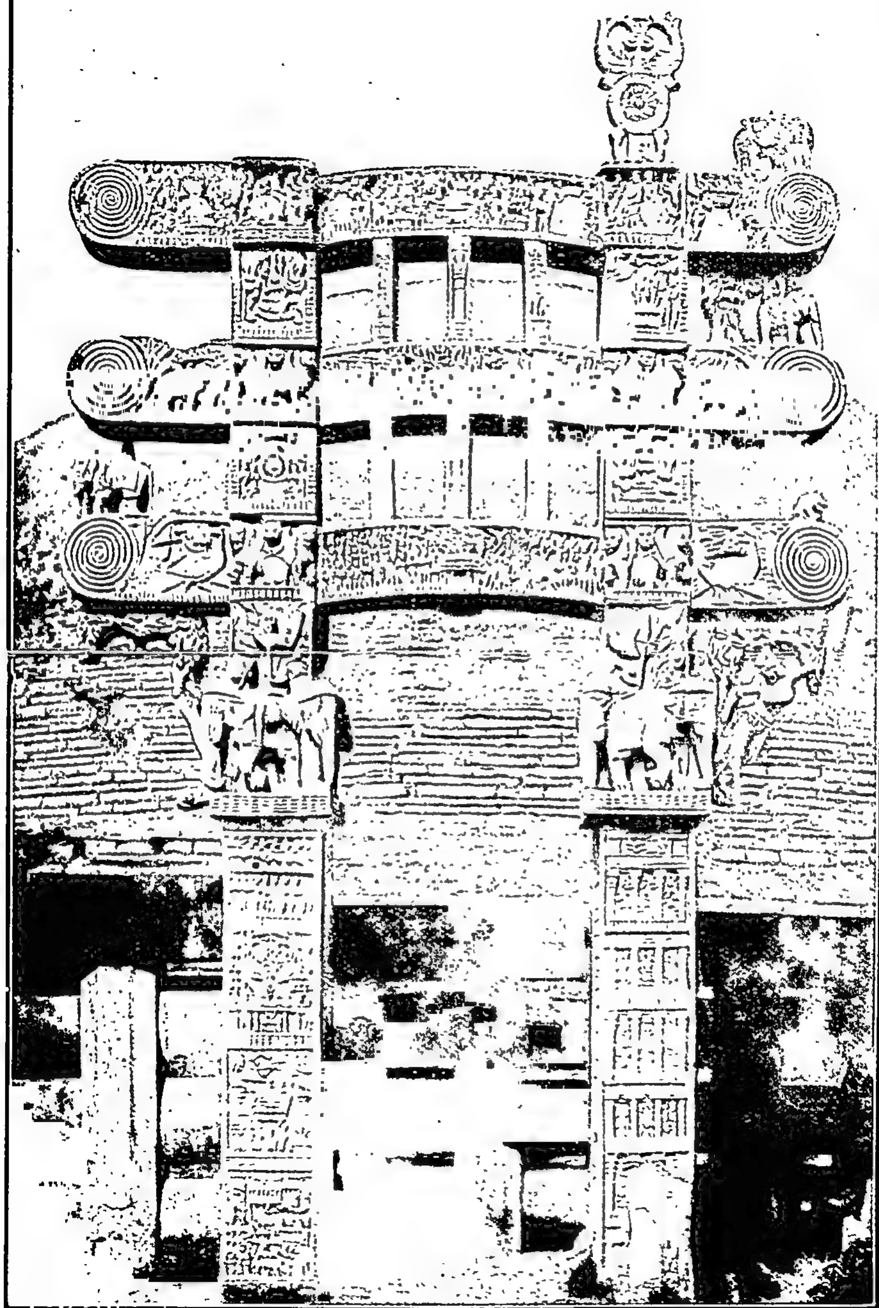
३. शंखमुक्ताग्राहिणः नावः—समुद्र से शंख, मोती आदि एकत्रित करनेवाले जहाज़—चन्द्रगुप्त के समय मोती, शंख आदि "सामुद्रिक खान" से निकलने वाले पदार्थों का बहुत व्यापार होता था। अन्य खानों की तरह ये भी राजकीय संपत्ति होती थीं। इन जहाज़ों-द्वारा शंख, मुक्ता आदि एकत्रित करवाना भी राज्य के अधीन था, परन्तु

---

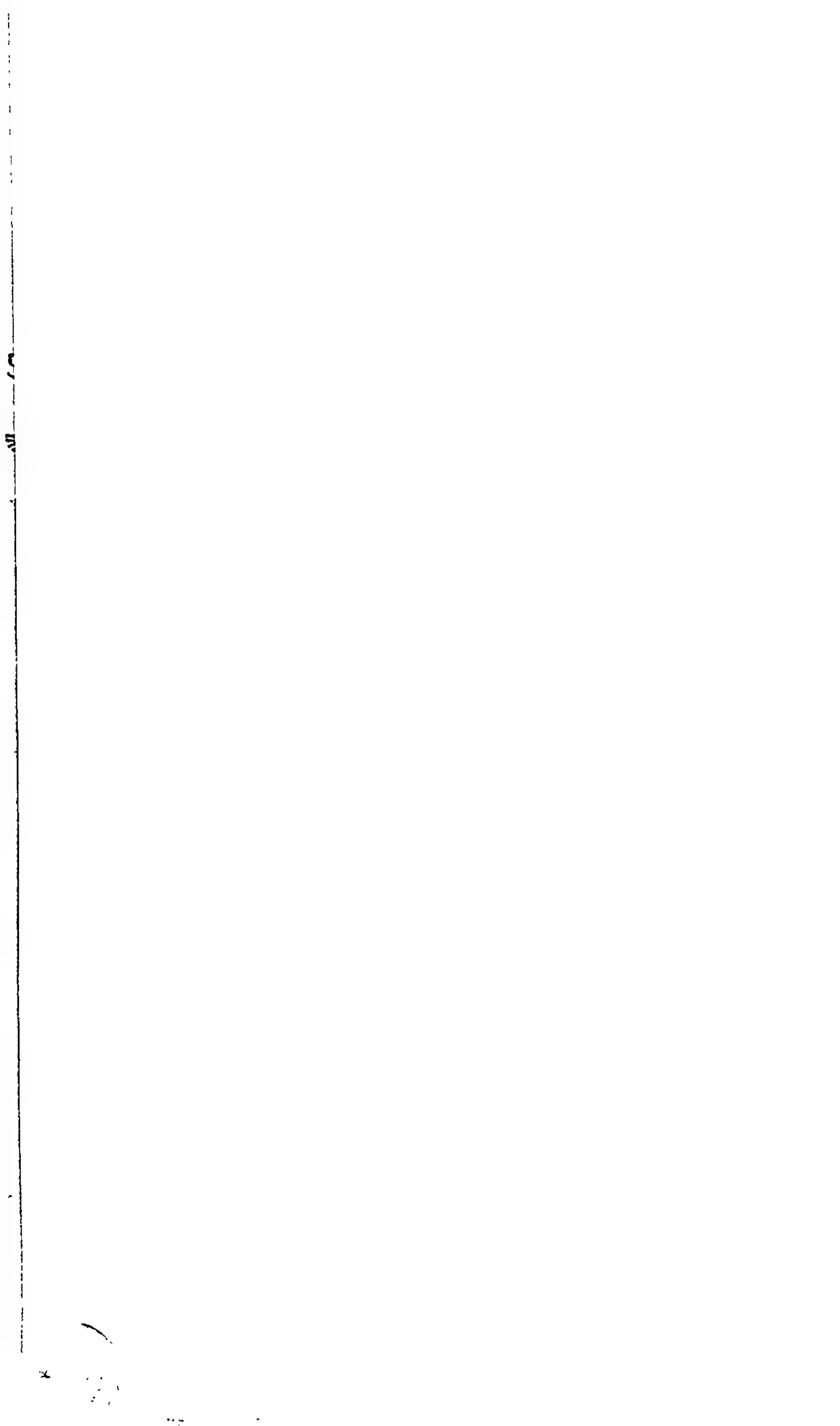
१. संयातीर्नावः क्षेत्रानुगतः शुल्कं याचेत।

२. 'सामुद्रिकाः व्यापारिणः महासमुद्रं प्रवहणैस्तरन्ति,
उत्तराध्ययनसूत्रटीका।

३. प्रवहणनिमित्तमेकोऽमात्यः सर्वानमात्यान् प्रवहयेत्।



सांची-स्तूप का पूर्वीय प्रवेशद्वार। पृ० ३०४



प्रायः एक निश्चित कर देने से ये जहाज़ अन्य व्यक्तियों के भी सुपुर्द कर दिये जाते थे[1]।

४. महानावः—बड़ी नदियों में जानेवाले छोटे जहाज़। कौटिल्य लिखता है—जो नदियाँ बहुत बड़ी हों, हेमन्त और ग्रीष्म दोनों ऋतुओं में जहाज़ों के योग्य हों, उनमें "महानावः" का प्रयोग किया जावे[2]।

५. आप्तनाविकाधिष्ठिता नौः—निपुण नाविकों से अधिष्ठित राजकीय नौकायें—इन सुरक्षित नौकाओं में राजा सैर किया करते थे। राजा के आराम और सुभीते के लिए ख़ास प्रकार की नौकायें बनाई जाती थीं[3]।

६. क्षुद्रका नावः—छोटी नौकायें। ये नौकायें छोटी नदियों में चलती थीं। विशेषतः जब वर्षा ऋतु में छोटी नदियाँ बहुत बढ़ जाती थीं, तब इनका प्रयोग किया जाता था[4]।

७. स्वतरणानि—महान् व क्षुद्र सब प्रकार की नदियों पर पार उतारने के लिए प्रायः राज्य की ओर से नौकाओं का प्रबन्ध होता था। परन्तु राजकीय नौका के सिवा अन्य नौकायें भी होती थीं। बहुत से मनुष्य अपनी ओर से नौकायें रखते थे। राज्य इनमें कोई हस्ताक्षेप नहीं करता था।

८. हिंस्रिकाः—सामुद्रिक डाकुओं के जहाज़। सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन में भी सामुद्रिक डाकुओं की कमी नहीं थी। परन्तु कौटिल्य ने उनके लिए एक ही व्यवस्था निश्चित की थी। वह थी—'हिंस्रिका निर्घातयेत्' सामुद्रिक डाकुओं के जहाज़ों व नौकाओं को मार भगावे।

---

१. शंखमुक्ताग्राहिणो नौहाटकान् दद्युः।

२. महानावो हेमन्तग्रीष्मतार्यासु महानदीषु प्रयोजयेत्।

३. नावं चाप्तनाविकाधिष्ठितमन्यनौप्रतिबद्धां आरोहेत्।

४. क्षुद्रकाः क्षुद्रिकासु वर्षास्राविणीषु।

इन जहाज़ों और नौकाओं के अनेकविध कर्मचारियों के नाम भी कौटिलीय अर्थशास्त्र में लिखे हैं। जहाज़ के कप्तान को शासक कहा जाता था। शासक के सिवाय 'नियामक' 'दात्ररश्मिग्राहकाः' उत्सेचकाः' आदि अनेकविध कर्मचारियों का उल्लेख कौटिल्य ने किया है[1]।

जल को पार करने के लिए बड़े जहाज़ों और विविध नौकाओं के सिवा अन्य अनेक साधनों का प्रयोग किया जाता था। संक्षेप में इनका वर्णन इस प्रकार है[2]।

१—काष्ठसंघात—लकड़ों और सलीपरों को बाँधकर बनाया हुआ बेड़ा।

२—वेणुसंघात—बाँसों को परस्पर बाँधकर बनाया हुआ बेड़ा।

३—अलाबु—तुम्बों का बेड़ा।

४—चर्मकरण्ड—एक ऐसा टोकरा, जिस पर खाल मढ़ी हुई हो।

५—दृति—खाल का बड़ा थैला, जिसमें हवा भरी हुई हो।

६—प्लव—छोटी डोंगी।

७—गण्डिका—एक पशुविशेष की, हवा से भरी हुई खाल।

८—वेणिका—कानों का बेड़ा।

युद्ध के समय इन साधनों का भी प्रयोग किया जाता था। अन्य आदमी भी कभी कभी इनका प्रयोग किया करते थे। आज भी भारत में देहाती लोग इसी तरह के साधनों व उपकरणों को काम में लाते हैं। युद्ध के समय ये उपकरण भी अनेक प्रकार से बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं।

---

१. देखो—कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण २ अध्याय २८।

२. हस्तिस्तम्भसंक्रमसेतुबन्धनौकाष्ठवेणुसंघातैः, अलाबुचर्मकरण्डदृतिप्लव गण्डिकावेणिकाभिश्चोदकानि तारयेत्।

कौटिल्य—अधिकरण १०, स्कन्धावारप्रयाणम्।

मौर्य चन्द्रगुप्त के समय नौकानयन विभाग का बहुत महत्त्व था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से हमें इस विभाग की अनेक व्यवस्थाओं और नियमों का पता लगता है। उनका यहाँ संक्षेप से उल्लेख करना बहुत लाभकर है। उनके द्वारा हमें चन्द्रगुप्त-कालीन नौकानयन की उन्नति के विषय में ज्ञान प्राप्त करने में बहुत सहायता मिलेगी।

समुद्रतट पर, नदियों के किनारे पर तथा बड़ी झीलों के समीप वसे हुए ग्रामों व नगरों से एक निश्चित कर लिया जाता था[1]। मछियारों को मछली पकड़ने और इसके लिए नौकायें किराये पर लेने के कारण $\frac{1}{6}$ भाग राज्य को देना पड़ता था[2]। व्यापारियों को वन्दरगाह पर पहुँचने के समय निश्चित कर देना आवश्यक था[3]। राज्य की ओर से सवारी के जहाज़ भी होते थे, इन पर यात्रा करने के लिए निश्चित किराया देना होता था[4]। शंख, मोती आदि एकत्रित करने के लिए भी राज्य की ओर से जहाज़ किराये पर दिये जाते थे[5]।

इन करों के सिवा नदियाँ पार करते समय अनेक प्रकार के कर लिये जाते थे। उन करों की सूची को पढ़कर यह अच्छे प्रकार मालूम हो जाता है, कि मौर्य-चन्द्रगुप्त के समय व्यापार की कितनी उन्नति थी। भार से लदे हुए मामूली चौपाये को पार करने पर एक माष, सिर पर भार लाद करके ले जानेवाले पर दो माष, गाय और घोड़े को नौका द्वारा पार उतारने पर दो माष, और ऊँट व भैंसे को पार उतारने पर चार माष किराया

१—तद्वेलाकूलग्रामाः क्लृप्तं दद्युः।
कौ० अर्थशास्त्र। अधि० २ अध्याय २८।

२. मत्स्यबन्धका नौकाहाटकं षड्भागं दद्युः।

३. पत्तनानुवृत्तं शुल्कभागं वणिजो दद्युः।

४. यात्रावेतनं राजनौभिस्सम्पतन्तः।

५. शंखमुक्ताग्राहिणो नौहाटकान् दद्युः।
कौ० अर्थ० अधि० २ अ० २८।

लिया जाता था। छोटी गाड़ी के लिए पाँच माष, मध्यम परिमाण की गाड़ी पर छः माष और गाड़ी के लिए सात माष किराया लिया जाता था। बड़ी नदियों पर इनसे दुगुना किराया देने की व्यवस्था थी[1]।

जहाज़ और नौकाओं की सुरक्षा के लिए राज्य की ओर से बहुत ध्यान दिया जाता था। जलमार्ग में अनेक प्रकार के ख़तरे होते हैं, उनसे बचाने के लिए राज्य अनेक तरह के उपाय करता था। आषाढ़ से लेकर कार्तिक मास तक वे ही नौकायें उपयुक्त होती थीं जिनके लिए राज्य की ओर से प्रमाणपत्र मिल जाता था[2]। यह समय वर्षाऋतु का होता है, नदियाँ बढ़ी होती हैं, इसलिए ख़तरे के समय में मज़बूत और सुरक्षित नौकाओं का ही प्रयोग लाभकारक है। इस बात का अनुभव कर राज्य की ओर से नियम बना हुआ था कि वर्षा-ऋतु में, नौका चलाने के लिए प्रमाणपत्र लिया जावे। कौटिल्य लिखता है—'इस काल में उन्हीं नौकाओं का प्रयोग किया जावे, जिनमें शासक, नियामक आदि सब कर्मचारी सुचारु रूप से व्यवस्थित हों[3]।'

इस प्रकार नौकाओं की सुरक्षा का सब प्रबन्ध करने पर भी स्वाभाविक रूप से कुछ नौकायें आपत्ति में पड़ जाती थीं। उनके साथ बहुत दया का व्यवहार किया जाता था, उन्हें हर तरह की सहायता दी जाती थी। जब आपत्ति में फँसा हुआ कोई जहाज बन्दरगाह तक पहुँचता था, तो उसकी रक्षा के लिए हर प्रकार

---

१. क्षुद्रपशुर्मनुष्यश्च सभारो मापकं दद्यात्।
शिरोभारः कायभारो गवाश्वं च द्वौ॥
उष्ट्रमहिषं चतुरः। पञ्च लघुयानम्। षड् गोलिङ्गम्। सप्त शकटम्।
पण्यभारः पादम्। तेनभाण्डभारो व्याख्यातः। द्विगुणो महानदीषु तरः।

२. सप्ताहवृत्तामाषाढीं कार्तिकीं चान्तरा तरः।
कार्मिकप्रत्ययं दद्यान्नित्यं चाह्निकमावहेत्॥

३. शासकनियामकदात्ररश्मिग्राहकोत्सेचकाधिष्ठिताश्च महानावो हेमन्त-ग्रीष्मतार्य्यासु महानदीषु प्रयोजयेत्।

की सुविधा कर दी जाती थी। कौटिल्य लिखता है—'तूफ़ान के कारण आहत हुआ कोई जहाज़ बन्दरगाह पर पहुँचे, तो उस पर बन्दरगाह का अध्यक्ष पिता की तरह अनुग्रह करे[1]।' यदि जहाज़ का असबाब पानी के कारण ख़राब हो गया हो, तो उसको शुल्क से मुक्त कर दिया जाता था, या केवल आधा शुल्क लिया जाता था[2]। क्योंकि जहाज़ों पर राज्य का अधिकार रहता था, और उनका संचालन भी राज्य की तरफ़ से होता था, इसलिए यदि कर्मचारियों की कमी व असावधानता के कारण, अथवा जहाज़ की मरम्मत न होने के कारण किसी के माल को नुक़सान पहुँचता था, तो राज्य उसके लिए ज़िम्मेवार समझा जाता था। राज्य की ओर से उसकी क्षतिपूर्ति कर दी जाती थी।

अब तक कौटिलीय अर्थशास्त्र के आधार पर हमने दिखाया है, कि मौर्य-चन्द्रगुप्त के शासन में नौकानयन की कितनी उन्नति हो चुकी थी। ग्रीक-लेखकों के आधार पर भी हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। ग्रीक-वृत्तान्तों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त के समय नौकानयन भारत के प्रमुख व्यवसायों में से एक था। बहुत बड़ी संख्या में भारतीय इस कार्य में लगे हुए थे। जब सिकन्दर ने पश्चिमीय भारत पर आक्रमण किया, तब उसने भारतीय नौकाओं के द्वारा ही सिन्ध और झेलम नदी को पार किया। भारत से लौटने के समय उसने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर दिया था। स्वयं स्थल-सेना का सेनापति बनकर स्थल-मार्ग से मैसीडोन की तरफ़ लौटा था, और नियार्कस नामक सेनापति के अधीन अपनी सेना के बड़े भाग को जल-द्वारा लालसागर पहुँचने का आदेश किया था। नियार्कस ने अपनी यात्रा में भारतीय जहाज़ों का ही प्रयोग

---

१. मूढ़वाताहतां तां पितेवानुगृह्णीयात्।

२. उदकप्राप्तं पण्यमशुल्कमर्धशुल्कं वा कुर्यात्। तथा निर्दिष्टाश्चैताः पण्य-पत्तनयात्राकालेषु प्रेषयेत्।

किया[1]। एरियन लिखता है, कि इस महान् जहाज़ी बेड़े में कुल ८०० जहाज़ थे। कर्टियस और डेयोडोरस की सम्मति है कि इस जहाज़ी बेड़े में कुल १,००० जहाज़ थे। परन्तु टाल्मी का कथन है, कि कुल जहाज़ों की संख्या २,००० के लगभग थी। ध्यान रहे कि टाल्मी के वृत्तान्तों को बहुत प्रामाणिक समझा जाता है।

मैगस्थनीज़ लिखता है—हथियार बनानेवालों और जहाज़ बननेवालों को राज्य की ओर से वेतन मिलता है। ये लोग केवल राज्य के लए ही काम करते हैं। स्ट्रेबो का कथन है कि राज्य की तरफ़ से यात्रा और व्यापार के लिए जहाज़ और नौकायें भाड़े पर दे दी जाती हैं[2]।

(२) स्थल-मार्ग।

सम्राट् चन्द्रगुप्त का विस्तृत साम्राज्य जो बङ्गाल की खाड़ी से अरबसमुद्र तक फैला हुआ था, अनेक सड़कों-द्वारा विभक्त किया गया था। इतने विशाल साम्राज्य पर समुचित सड़कों के बिना शासन कर सकना सर्वथा असम्भव था। सारे भारत में बड़ी बड़ी सड़कों का जाल-सा बिछा हुआ था। पाटलिपुत्र को केन्द्र बनाकर उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम—सब दिशाओं में सड़कें गई हुई थीं।

मार्गों का प्रबन्ध सरकार ने एक पृथक् विभाग के सुपुर्द कर रखा था। सड़कों पर प्रति आध कोस के बाद दूरीसूचक प्रस्तर लगे रहते थे। जहाँ एक से अधिक मार्ग विभक्त होते थे, वहाँ प्रत्येक मार्ग की दिशा का प्रदर्शन करने के

---

१. देखो—V. A. Smith—"Early History of India."

२. इस विषय पर विस्तार के लिए देखो—डा० राधाकुमुद मुकर्जी एम० ए० पी० एच० डी० की प्रसिद्ध पुस्तक—"A History of Indian Shipping and Maritime Activity from the Earliest Times."

लिए 'साइनबोर्ड' लगे रहते थे। उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त की राजधानी को पाटलिपुत्र से मिलाने वाली एक ५०० कोस लम्बी सड़क थी। उस समय का कोस आजकल के २०२२½ गज़ का होता था[1]।

व्यापार के चार मुख्य मार्ग पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर चारों दिशाओं की तरफ़ जाते थे। आचार्य्य चाणक्य ने इन मार्गों की व्यापारिक दृष्टि से तुलना की है। कौटिल्य लिखता है—"पुराने आचार्यों के अनुसार स्थल-पथ में हैमवत-पथ (उत्तर दिशा में हिमालय की ओर जानेवाला मार्ग) दक्षिण पथ (दक्षिण को जानेवाला मार्ग) से अच्छा है; क्योंकि उसके द्वारा ही हाथी, घोड़े, गंधद्रव्य, हाथीदाँत, चमड़ा, चाँदी सोने आदि बहुमूल्य पदार्थों का व्यापार होता है।" परन्तु कौटिल्य की यह सम्मति नहीं है। वह दक्षिण-पथ को ही उत्तम समझता है। क्योंकि कम्बल, चमड़ा, घोड़ा, तथा व्यापारीय द्रव्यों को छोड़कर शंख, वज्र, मणि, मोती, सोना आदि दक्षिण-पथ से ही आते हैं। दक्षिण-पथ में भी वह व्यापारीय मार्ग अधिक अच्छा है, जो खानों में से गुज़रता है। जिस पर आना जाना बहुत होता रहता है, और जिस पर परिश्रम कम पड़ता है[2]। इत्यादि।

निस्सन्देह इस विवाद में कौटिल्य की ही सम्मति ठीक है। व्यापारीय दृष्टि से आज-कल भी समुद्र की ओर जानेवाले मार्गों का बहुत अधिक महत्त्व है। इन मार्गों की केवल आर्थिक दृष्टि से ही महत्ता न थी, राजनैतिक दृष्टि से भी इनका बहुत महत्त्व

---

१. देखो—V. A. Smith—"Early History of India" पृ० १४४

२. 'स्थलपथेऽपि—"हैमवतो दक्षिणपथाच्छ्रेयान्. हस्त्यश्वगंधदन्ताजिन-रूप्यसुवर्णपण्यास्सारवत्तराः" इत्याचार्य्याः। नेति कौटिल्यः "कम्बलाजिनाश्वपण्यवर्जाः शङ्खवज्रमणिमुक्तास्सुवर्णपण्याश्च प्रभूततरा दक्षिणापथे।" दक्षिणापथेऽपि बहुखनिस्सारपण्यः प्रसिद्धगतिरल्पव्यायामो वा वणिक्पथः श्रेयान्।'

कौ० अर्थ० अधिकरण ७ अध्याय १२।

था। कौटिल्य कहता है[1]—'शत्रु पर आक्रमण करने का आधार वणिक्पथ (व्यापारीय मार्ग) ही है। वणिक्पथ के द्वारा ही गुप्तचरों का आना जाना, शस्त्र, कवच, घोड़ा, गाड़ी आदि का क्रय-विक्रय किया जाता है।' इस प्रकार इनका राजनैतिक महत्त्व भी कम नहीं था।

स्थल-मार्गों के इस राजनैतिक महत्त्व के कारण ही आचार्य्य कौटिल्य इनकी तरफ़ असाधारण रूप से आकृष्ट था, और संभवतः इसी लिए उसने इन्हें जलमार्गों से अधिक महत्त्व-पूर्ण कहा है। इनके सैनिक महत्त्व को सम्मुख रख कर ही वह कहता है ये मार्ग सेनाओं के बाहर जाने और वापिस आने के साधन हैं[2]।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में अनेक स्थलमार्गों का वर्णन आता है। इनका अवलोकन करने से मौर्य-चन्द्रगुप्त-कालीन आवागमन के मार्गों व साधनों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। अतएव इनका संक्षिप्त उल्लेख यहाँ कर दिया जाता है—

(१) राजमार्ग—यह ३२ फ़ीट व ४ दण्ड चौड़ा होता था। नगर में इस प्रकार के अनेक मार्ग होते थे। कौटिल्य कहता है—तीन राजमार्ग पूर्व दिशा से पश्चिम की तरफ़ जावें और तीन उत्तर से दक्षिण की ओर। इस प्रकार दुर्ग (ऐसा नगर जिसके चारों ओर दीवार हो) में १२ मुख्य द्वार हो जावेंगे[3]। राजा लोग प्रायः इन चौड़े राजमार्गों पर सैर करने व अन्य राजकीय कार्यों के लिए आया

---

१. वणिक्पथः परातिसन्धानस्य योनिः, वणिक्पथेन हि दण्डगूढपुरुषातिनयनं शस्त्रावरणयानवाहक्रयश्च क्रियते।

अधिकरण ७ अध्याय १४।

२. प्रवेशो निर्णयनं च। कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधि० ७, अध्याय १४।

३. त्रयः प्राचीना राजमार्गाः त्रय उदीचीना इति वास्तुविभागः। स द्वादशद्वारो युक्तोदकभूमिच्छन्नपथः।

अधिकरण २ अध्याय ४

जाया करते थे। उस समय राज मार्ग के दोनों ओर हथियारबन्द पुलिस पंक्ति में खड़ी रहती थी। जनता का आना जाना उस समय के लिए रोक दिया जाता था[1]।

(२) रथ्या[2]—यह सड़क भी ४ दण्ड या ३२ फ़ीट चौड़ी होती थी। इस पर रथ आदि गाड़ियाँ आया जाया करती थीं।

(३) रथपथ—यह मार्ग ५ अरत्नि या १२ फ़ीट चौड़ा होता था। इस पर छोटी गाड़ियाँ आया-जाया करती थीं।

(४) पशुपथ—यह मार्ग ४ अरत्नि या ८ फ़ीट चौड़ा होता था। इस पर मामूली रूप से सब प्रकार के चौपाये आया जाया करते थे।

(५) महापशुपथ—यह मार्ग १० फ़ीट चौड़ा होता था।

(६) क्षुद्रपशुपथ—यह मार्ग ४ फ़ीट चौड़ा होता था।

(७) पादपथ।

(८) मनुष्यपथ।

(९) खरोष्ट्रपथ।

(१०) चक्रपथ।

(११) अंसपथ।

ऊपर जिन मार्गों का वर्णन किया गया है, वे एक नगर के आन्तरिक मार्ग हैं। उनके अध्ययन से हम कल्पना कर सकते हैं, कि मौर्य चन्द्रगुप्त के समय नगरों की कितनी उन्नत अवस्था थी। प्रत्येक यान व पशु के लिए विविध मार्ग थे। परन्तु इन नगर के आन्तरिक मार्गों के सिवा जनपदसम्बन्धी विविध मार्गों का वर्णन भी आचार्य चाणक्य ने किया है—

---

१. निर्याणेऽभियाने च राजमार्गमुभयतः कृतारक्षं दण्डिभिरपास्त-शस्त्रहस्तप्रव्रजित-व्यङ्गं गच्छेत्। न पुरुष सम्बाधमवगाहेत। कौ० अर्थ० अधि० १ अ० २१

२. इन विविध मार्गों के लिए देखो कौटिलीय अर्थशास्त्र अधिकरण २ य, "दुर्गनिवेशः" प्रकरणम्।

(१) राष्ट्र-पथ—यह ३२ फ़ीट चौड़ा होता था। राजधानी से विविध प्रान्तों व प्रदेशों की तरफ़ जो बड़े बड़े रास्ते जाते थे, उन्हें राष्ट्र पथ कहते थे।

(२) विवीतपथ—भिन्न भिन्न चरागाहों की तरफ़ जो रास्ते जाते थे, उन्हें विवीतपथ कहते थे। चौड़ाई में ये भी ३२ फ़ीट होते थे।

(३) द्रोणमुखपथ—चार सौ ग्रामों के बीच एक दुर्ग या दीवारों से परिवेष्टित नगर बनाया जाता था। राज्य के अन्दर इस प्रकार के बहुत से दुर्ग होते थे। ये दुर्ग द्रोणमुख कहाते थे। इनको परस्पर मिलानेवाले मार्ग द्रोणमुखपथ कहाते थे। इनकी भी चौड़ाई ३२ फ़ीट ही होती थी।

(४) स्थानीयपथ—जिस प्रकार चार सौ ग्रामों के बीच एक द्रोणमुख दुर्ग होता था, उसी प्रकार आठ सौ ग्रामों के बीच एक 'स्थानीय दुर्ग' होता था। यहाँ जानेवाली सड़क को स्थानीय पथ कहते थे। चौड़ाई में यह भी ३२ फ़ीट ही होती थी।

(५) सयोनीयपथ—खेतों को जानेवाले मार्गों को सयोनीय-पथ कहा जाता था[1]। ये ६४ फ़ीट चौड़े होते थे।

---

१. 'सयोनीयपथ' का वस्तुतः क्या अभिप्राय है, यह ठीक तरह स्पष्ट नहीं होता। श्रीयुत शामशास्त्री ने अपने अँग्रेज़ी अनुवाद में इसका कुछ अर्थ नहीं किया। प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार भी इसको बिना अर्थ किये ही छोड़ देते हैं। श्रीनरेन्द्रनाथ ला "Studies in Ancient Hindu Polity" में लिखते हैं—The सयोनीयपथ led to fields under cultivation (योनी = seed or grain) परन्तु खेतों में ६४ फ़ीट चौड़ा मार्ग हो सकना संभव नहीं है। यद्यपि हमने ला महोदय का अर्थ ही यहाँ पर उल्लिखित किया है, तथापि हमें इसकी सत्यता में सन्देह है। हमें 'सयोनीयपथ' का अर्थ प्रतीत होता है, ऐसे विविध मार्ग जो एक स्थान से फटकर विविध रूप हो फिर एक ही स्थान पर मिल जावें। योनि शब्द का अर्थ "आधार व मूल" भी होता है।

(६) व्यूहपथ—छावनी के रास्ते का नाम व्यूहपथ था। ये भी ६४ फ़ीट चौड़े होते थे।

(७) श्मशानपथ।

(८) ग्रामपथ—एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जानेवाले रास्ते को ग्रामपथ कहा जाता था।

(९) वनपथ।

(१०) हस्ति-क्षेत्रपथ।

(११) सेतुपथ—सेतु का यहाँ अभिप्राय बड़े डाम आदि से प्रतीत होता है, साधारण पुलों से नहीं।

जनपद के इन मार्गों के सिवाय कौटिलीय अर्थशास्त्र में कुछ अन्य मार्गों के भी नाम मिलते हैं। ये मार्ग क़िलों के साथ विशेष रूप से सम्बन्ध रखते हैं, क़िलों के अन्दर ही इनका होना चाणक्य ने वर्णित किया है। इन मार्गों के नाम निम्न-लिखित हैं—

(१) रथचर्यासञ्चार—रथों के योग्य विशेष प्रकार की सड़कें, जो कि चपटे और मज़बूत पत्थरों से बनाई जाती थीं। कौटिल्य कहता है—"इनमें लकड़ी न लगाई जाये, क्योंकि लकड़ी में अग्नि छिपकर वास करती है[1]।

(२) प्रतोली—दो अट्टालक या बुर्ज़ों के बीच के मार्ग को प्रतोली कहते थे।

(३) देवपथ—यह मार्ग मन्दिर की तरफ़ जाता था।

(४) चार्य्या—यह आठ फ़ीट चौड़ी एक सड़क होती थी।

ऊपर चन्द्रगुप्तकालीन जिन विविध मार्गों का वर्णन किया गया है, उनके अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय में स्थल द्वारा आवागमन बहुत रहता था। न केवल व्यापारिक परन्तु राजनैतिक दृष्टि से भी इन मार्गों का बहुत महत्त्व था।

---

१. नत्वेव काष्ठमयम्, अग्निरवहितो हि तस्मिन् वसति।
कौटिल्य० अधि० २ अध्याय ३।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में अनेकविध यानों का भी वर्णन आता है, उनका निर्देश कर इस प्रकरण को हम समाप्त करते हैं—

(१) पारियानिक रथ—साधारण इस्तेमाल करने के रथ ।
(२) सांग्रामिक रथ—युद्धोपयोगी रथ ।
(३) परपुराभियानिक—शत्रुओं के दुर्गों पर आक्रमण के लिए उपयोगी रथ ।
(४) वैनयिक रथ—जिनका प्रयोग सैनिक-शिक्षा के समय किया जाता है ।
(५) देवरथ ।
(६) पुष्परथ ।
(७) लघुयान ।
(८) गोलिङ्ग यान ।
(९) शकट ।
(१०) शिविका ।
(११) पीठिका ।

इनके सिवा हस्ति, अश्व, उष्ट्र आदि का यान रूप से प्रयोग तो होता ही था ।

बारहवाँ अध्याय

चन्द्रगुप्तकालीन भारत

[६]

आर्थिक अवस्था

चन्द्रगुप्तकालीन भारत की आर्थिक अवस्था का अनेक अंशों में पहले वर्णन किया जा चुका है। इस अध्याय में हम कुछ अवशिष्ट बातों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

१ कृषि

मौर्य्यकाल में भी भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि ही था। मैगस्थनीज़ लिखता है कि "दूसरी जाति में किसान लोग हैं, जो दूसरों से संख्या में कहीं अधिक जान पड़ते हैं, पर युद्ध करने तथा और दूसरी राजकीय सेवाओं से मुक्त होने के कारण वे अपना सारा समय खेती में लगाते हैं[1]।" ऐरियन के अनुसार "भारत के बहुत से लोग किसान हैं, जो कि अनाज पर अपना गुज़ारा चलाते हैं[2]।" यद्यपि उस समय में कृषि भारत का मुख्य व्यवसाय था, तथापि कृषकों की अवस्था बहुत सन्तोषजनक थी। वे लोग बहुत समृद्ध और सुखी थे। भारत में वर्षा की प्रचुरता के कारण दो फ़सलें हो सकती थीं और किसान नाना-विध अन्नों तथा अन्य वस्तुओं को उत्पन्न करते थे। मैगस्थनीज़ के निम्नलिखित उद्धरण कृषि और किसानों की अवस्था पर अच्छा प्रकाश डालते हैं—

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन पृ० ८।

२. S. K. Das—"Economic History of Ancient India," p. 139.

"भूमि का अधिक भाग सिँचाव में है। अतएव उसमें एक वर्ष के भीतर ही दो फ़सलें पैदा होती हैं[1]।"

"यहाँ के लोग निर्वाह की सब सामग्री बहुतायत से पाकर प्रायः मामूली डील-डौल से अधिक होते हैं और अपनी गर्वीली चेष्टा के लिए प्रसिद्ध होते हैं[2]।"

"भूमि पशुओं के निर्वाह योग्य तथा अन्य खाद्य पदार्थ भी प्रदान करती है। अतः यह माना जाता है कि भारतवर्ष में अकाल कभी नहीं पड़ा है। और खाने की वस्तुओं की साधारणतः महँगी कभी नहीं पड़ी है। चूँकि यहाँ वर्ष में दो बार वर्षा होती है—एक जाड़े में जब कि गेहूँ की बोआई होती है और दूसरी गरमी के टिकाव के समय जो तिल और ज्वार के बोने की उपयुक्त ऋतु है। अतएव भारतवर्ष के निवासी प्रायः सर्वदा वर्ष में दो फ़सल काटते हैं; और यदि इनमें से एक फ़सल कुछ बिगड़ भी जाती है, तो लोगों को दूसरी का पूरा विश्वास रहता है। इसके अतिरिक्त एक साथ होनेवाले फल और मूल जो दलदलों में उगते हैं और भिन्न भिन्न मिठाई के होते हैं, मनुष्य को प्रचुर निर्वाह सामग्री प्रदान करते हैं। बात यह है कि देश के प्रायः समस्त मैदानों में ऐसी सीड़ रहती है जो समभाव से उपजाऊ होती है, चाहे वह नदियों-द्वारा प्राप्त हुई हो, चाहे गरमी की वर्षा के जल-द्वारा—जो कि प्रत्येक वर्ष एक नियत समय पर आश्चर्यजनक क्रम के साथ बरसा करता है। कड़ी गरमी मूलों को और विशेषतः कसेरू को पकाती है[3]।"

ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय कृषक लोग बहुत समृद्ध थे। तब उन्हें आधा पेट भोजन पाकर संतोष नहीं करना पड़ता था। प्रतिवर्ष दुर्भिक्ष की सम्भावना न बनी रहती थी। तभी तो मैगस्थनीज़ ने यह लिखा है कि 'भारतवर्ष

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन पृ० २

२. " " पृ० २

३. " " पृ० ३

में अकाल कभी नहीं पड़ा है और खाने की वस्तुओं की महँगी भी कभी नहीं पड़ी है।'

परन्तु दुर्भिक्ष की सम्भावना का केवल वर्षा की नियमितता तथा सिँचाई के सुप्रबन्ध के कारण ही अभाव न था, अपितु उसमें अन्य भी कारण थे। मैगस्थनीज़ लिखता है—

"परन्तु, इतने पर भी भारतवासियों में बहुत सी ऐसी रीतियाँ हैं, जो उनके बीच अकाल पड़ने की सम्भावना को रोकने में सहायता देती हैं। दूसरी जातियों में युद्ध के समय भूमि को नष्ट करने और इस प्रकार उसको परती ऊसर कर डालने की चाल है, पर इसके विरुद्ध भारतवासियों में—जो कृषि-समाज को पवित्र और अवध्य मानते हैं, भूमि जोतनेवाले यद्यपि उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा है तो भी किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों पक्ष के लड़नेवाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो खेती में लगे हुए हैं उन्हें सर्वतोभाव से निर्विघ्न पड़ा रहने देते हैं। इसके सिवाय न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं और न उसके पेड़ काटते हैं[1]।"

कृषक-समाज पवित्र और अवध्य है, इस भाव को मैगस्थनीज़ ने अनेक बार दोहराया है। एक अन्य स्थान पर वह लिखता है—"शत्रु. निज भूमि पर काम करते हुए किसी किसान के पास आकर उसकी हानि नहीं करता, क्योंकि इस वर्ग के लोग सर्वसाधारण से हितकारी माने जाने के कारण सब हानियों से बचाये जाते हैं[2]।"

चन्द्रगुप्त के समय में किन किन वस्तुओं की प्रधानतया कृषि की जाती थी, इस विषय पर भी मैगस्थनीज़ के विवरण और कौटिलीय अर्थशास्त्र से कुछ प्रकाश पड़ता है। मैगस्थनीज़ लिखता है—

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन पृ० २

२. " " पृ. ८

"अनाज के अतिरिक्त सारे भारतवर्ष में, जो नदी नालों की बहुतायत के कारण भले प्रकार सींचा रहता है, जुआर इत्यादि भी बहुत पैदा होता है। और अनेक प्रकार की दाल, चावल और वास्फोरम कहलानेवाला एक पदार्थ तथा और बहुत से खाद्योपयोगी पौधे उत्पन्न होते हैं, जिनमें से बहुतेरे तो एक साथ होते हैं[1] ।"

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में निम्नलिखित उपजों के नाम पाये जाते हैं[2] ।

वर्षाऋतु के प्रारम्भ में बोये जानेवाली वस्तुएँ—शाली, व्रीही, कोद्रव (कोदों का धान) तिल, प्रियङ्गु (कंगनी या काऊन चेना), दारक (?) वरक (मोठ)।

वर्षा के मध्य में बोये जानेवाले—मूँग, उड़द और शैव्य (?)

वर्षाऋतु के अन्त में बोये जानेवाले—कुशुम्भ (कुसुंवा), मंसूर, कुलुत्थ (कुल्थी), जौ, गेहूँ, चना, अलसी और सरसों।

इनके सिवाय अन्यत्र ईख[3], कपास[4], तथा नानाविध शाक-भाजियों और ओषधियों के नाम तथा उनकी कृषि के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र में उल्लेख आता है। शाकभाजियों में मुख्यतया मटर, आल, ककड़ी, सहजन[5], तरबूज़ और खरबूज़े[6] का नाम आया है। ईख के सम्बन्ध में कौटिल्य ने लिखा है कि इनकी खेती में बहुत सी बाधायें पड़ती हैं और बड़ा खर्च पड़ता है[7]। अंगूरों तथा उनसे किशमिश बनाने का भी निर्देश कौटिल्य में

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन पृ० २, ३

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र अधि० २, अध्याय २४

३. 'इक्षुः प्रत्यवरः' कौ० अर्थ० २। २४ तथा 'इक्षुरसगुल...' २। १६

४. 'कार्पाससारं निर्मोकं' कौ० अर्थ० २। २४

५. कौ० अर्थ० २। १५

६. कौ० अर्थ० २। २४

७. 'इक्षवोहि बह्वाबाधा व्ययग्राहिणश्च' कौ० अर्थ० २। २४

विद्यमान है[1]। अनेक कन्द-मूलों का भी वर्णन किया गया है[2]। आम, अनार, आँवला, निम्बू, बेर, झरबेरी, फालसा, अंगूर, जामुन, कटहल, आदि का भी वर्णन किया गया है[3]। अनेक मसालों तथा इसी तरह की अन्य वस्तुओं का भी अर्थशास्त्र में उल्लेख है। इनसे तत्कालीन कृषि की उपजों का सुगमता से अन्दाज़ लगाया जा सकता है। ख्याल रखना चाहिए कि कौटिल्य ने बहुत स्थानों पर 'आदि' लिखकर काम चला लिया है, सब उपजों का उल्लेख करने का कष्ट नहीं किया।

वर्तमान समय की तरह चन्द्रगुप्त के समय में भी कृषि के लिए हल और बैल का प्रयोग किया जाता था। अन्य भी अनेक प्रकार के 'उपकरण' कृषकों के पास रहते थे[4]। भूमि को ख़ूब अच्छी तरह हल चला कर तैयार किया जाता था[5]। उसमें नानाविध खादों को डालकर उसकी शक्ति को बढ़ाया भी जाता था। खाद के लिए गोबर, हड्डी और राख का प्रयोग होता था[6]। बीज को बोने से पूर्व उसे अनेक अवस्थाओं में रखा जाता था। इससे, सम्भवतः, उसकी शक्ति बढ़ जाती थी। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का वर्णन बहुत मनोरञ्जक और उपयोगी है—"बोने से पहले धान के बीज को सात रात तक ओस तथा धूप में रखना चाहिए। दाल आदि कोशीधान को तीन रात तक पाले तथा घाम में रखना चाहिए। गन्ना आदि के (जिनकी शाखा को बीज

---

१. कौ० अर्थ० २ । १५ और २ । २५

२. कौ० अर्थ० २ । १५

३. कौ० अर्थ० २ । १५

४. 'कर्षणयन्त्रोपकरणबलीवर्दैश्चैषामसङ्गं कारयेत्'। कौ० अर्थ० २ । २४

५. 'बहुहलपरिकृष्टायां स्वभूमौ...' कौ० अर्थ० २ । २४

६. 'शाखिनां गर्तदाहो गोऽस्थिशकृद्भिः काले दौहृदं च।' कौ० अर्थ० २ । २४

के रूप में बोया जाता हो) बीज को—जहाँ से काटा गया हो, उस स्थान पर घी, मधु, सूकर की चर्बी और गोबर को मिलाकर लगाना चाहिए। कन्दों के छेदों पर मधु और घी को मिलाकर लगा देना चाहिए। बिनौलों को गोबर में मल लेना चाहिए[1]।" जब अंकुर निकल आयें, तब भी फ़सल की वृद्धि के लिए अनेक विध खादों का प्रयोग करना चाहिए। कौटिल्य लिखता है—"जब अंकुर निकल आवें, तो उन पर कड़वी मछलियों के खूब कुटे हुए चूर्ण को डालना चाहिए तथा स्नुहि (हथूर) के दूध से सींचना चाहिए[2]।" इतना ही नहीं, खेती की उन्नति के लिए मन्त्रप्रयोग भी होते थे। कौटिल्य के अनुसार—"बीज बोने से पहले, कुछ बीजों को पानी में भिगोकर तथा बीच में सुवर्ण रख कर, उन्हें सबसे पूर्व यह मन्त्र पढ़ते हुए बोना चाहिए—

प्रजापतये काश्यपाय देवाय च नमः सदा।
सीता मे ऋध्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च[3] ॥"

२. व्यवसाय

कृषि के सिवाय अन्य भी बहुत से व्यवसाय चन्द्रगुप्त-कालीन भारत में प्रचलित थे। मैगस्थनीज़ ने नानाविध व्यवसायों और कारीगरों का वर्णन किया है। वह लिखता है—

---

१. 'तुषारपायनमुष्णकशोषणं चासप्तरात्रादिति धान्यबीजानां' त्रिरात्रं वा कोशीधान्यानां, मधुघृतसूकरवसाभिश्शकृद्युक्ताभिः काण्डबीजानां' छेदलोपो मधुघृतेन कन्दानाम्, अस्थिबीजानां शकृदा लेपः' कौ० अर्थ० २। २४

२. 'प्ररूडांश्चाशुष्ककटुमत्स्यांश्च स्नुहिक्षीरेण वापयेत्।' कौ० अर्थ० २। २४

३. कौ० अर्थ० २। २४
'प्रजापति' काश्यप और देवताओं को नमस्कार है। देवी सीता बीजों और धन की सदा मुझ में वृद्धि करे'।

"वे कलाकौशल में भी बड़े निपुण पाये जाते हैं, जैसा कि ऐसे मनुष्यों से आशा की जा सकती है, जो स्वच्छ वायु में साँस लेते हैं और अत्यन्त उत्तम जल पान करते हैं[1]।"

"अधिक सुसभ्य भारतीय समाजों में भिन्न भिन्न प्रकार के बहुत से व्यवसायों में जीवन बिताया जाता है। कई भूमि जोतते हैं, कई सिपाही हैं, कई व्यापारी हैं। अत्यन्त उच्च और धनाढ्य लोग राज-काज के प्रबन्ध में सम्मिलित होते हैं, न्याय विचारते हैं और राजाओं के साथ सभा में बैठते हैं[2]"

इन विविध व्यवसायियों का विस्तृत वर्णन कौटिलीय अर्थ-शास्त्र में उपलब्ध होता है। कहीं कहीं मैगस्थनीज़ ने भी उनका उल्लेख कर दिया है। हम दोनों के आधार पर यहाँ संक्षेप से वर्णन करेंगे।

(१) सबसे मुख्य व्यवसायी तन्तुवाय या जुलाहे थे। ये तन्तुवाय अनेक-विध वस्त्र तैयार करते थे। कपास के सिवाय रेशम, सन, ऊन तथा अन्य भी अनेक रेशों के कपड़े बनते थे। सूत कातने के लिए किस उपकरण का प्रयोग होता था, इसका ज़िक्र कौटिल्य ने नहीं किया। परन्तु प्रतीत होता है कि यह वर्तमान भारतीय ग्रामों में प्रचलित चरखे के समान ही एक अत्यन्त सुगम उपकरण था। तभी तो विधवा, विकलाङ्ग, कन्या, प्रव्रजिता, राज्यदंडित, वेश्याओं की वृद्ध-माता, वृद्ध-राजदासी, मन्दिर के काम से छुटी हुई देवदासी तथा इसी तरह की असमर्थ स्त्रियों से सूत कातने का कार्य लिया जाता था[3]। यह अभिप्राय नहीं कि अन्य स्त्री-पुरुष सूत नहीं कातते थे, परन्तु इनसे इस कार्य का करवाना उपकरण की सरलता को सूचित करता है।

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ० २।

२. ,, ,, ,, पृ० ६६

३. विधवान्यङ्गाकन्याप्रव्रजितादण्डाप्रतिकारिणी भीरूपाजीवामातृका-भिर्वृद्धराजदासीभिर्व्युपरतोपस्थानदेवदासीभिश्च कर्तयेत्।' कौ० अर्थ० २।२३

सूत बढ़िया है, घटिया है या मध्यम है, इस बात को जाँच कर उनकी क़ीमत दी जाती थी[1]। सूत तैयार हो जाने पर बुनने के लिए कारीगरों (जुलाहों) को दिया जाता था। इस सम्बन्ध में अनेक नियमों का वर्णन अर्थशास्त्र में किया गया है। नानाविध वस्त्रों को तैयार करने के लिए कौटिल्य के समय कारख़ाने भी विद्यमान थे[2]। इनमें अनेक जुलाहे सम्मिलितरूप से बुनने का कार्य करते थे। इन कारख़ानों को राज्य की तरफ़ से प्रोत्साहना दी जाती थी[3]। जुलाहे वस्त्र बुनते समय यदि सूत को चुरा लेते थे, तो उन्हें कड़ा दण्ड मिलता था। यह दण्ड विविध वस्त्रों के लिए भिन्न भिन्न था[4]।

वस्त्र बनाने के लिए किन किन वस्तुओं का प्रयोग होता था, इसके लिए कौटिल्य के कुछ वाक्यों को उद्धृत करना बहुत उपयोगी है—"सनिया तथा रेशमी कपड़ों में सूत कम होने पर १½ गुना, तथा रेशेदार कपड़े, कंबल तथा दुशालों में दुगुना ज़ुर्माना करना चाहिए[5]।" "जो लोग सनिया, रेशमी, अंडी ऊनी, सूती आदि पदार्थों के कारख़ाने खोलें[6]..." "...आदि से ऊन, रेशे, रुई, तूल, सन और रेशम के सूत को कतवाये[7]। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कौटिल्य के समय रुई, ऊन, रेशे, तूल, सन, रेशम और अंडी का प्रयोग वस्त्र बनाने

---

१. 'श्लक्ष्णस्थूलमध्यतां च सूत्रस्य विदित्वा वेतनं कल्पयेत्' कौ० अर्थ० २ । २३ ।

२. "क्षौमदुकूल......कर्मान्तांश्च प्रयुञ्जानो......" २ । २३ ।

३. "...गन्धमाल्यदानैरन्यैश्चौपग्राहिकैराराधयेत्" २ । २३ ।

४. कौ० अर्थ० ४ । १

५. "क्षौमकौशेयानामध्यर्धगुणं; पत्रोर्णाकम्बलदुकूलानां द्विगुणं" ४ । १ ।

६. "क्षौमदुकूलक्रिमितानराङ्कवकार्पाससूत्रवानकर्मान्तांश्च" २ । २३ ।

७. 'ऊर्णावल्ककार्पासतूलशणक्षौमाणि च' २ । २३ ।

के लिए किया जाता था। इनसे कैसे कैसे वस्त्र बनाये जाते थे, इसे जानने के लिए भी हमारे पास कुछ निर्देश मौजूद हैं। कम्बलों का अर्थशास्त्र में इस प्रकार वर्णन किया गया है—

"भेड़ की ऊन से बने हुए कम्बल श्वेत, शुद्ध लाल तथा कमल की तरह लाल—इन तीन रंगों के होते हैं। इन्हें चार तरह से बनाया जा सकता है—१. खचित (बटे हुए सूत के बिना) २. वानचित्र (भिन्न भिन्न रंग के ऊन के सूत से बुना) ३. खण्ड-संघात्य (पट्टियाँ जोड़ कर बुना) ४. तन्तुविच्छिन्न (ऊन के सूत से ताना-बाना एक करके बुना गया)। ऊनी कम्बल दस प्रकार के होते हैं—१ कौपचक—मोटा कम्बल, २. कुलमितिका—सिर पर धारण करने के प्रयोग में आनेवाला कम्बल, ३. सौमितिक—बैल के ऊपर डालने योग्य कम्बल, ४. तुरगास्तरण—घोड़े पर डालने योग्य, ५. वर्णक—रंगीन कम्बल, ६. तलिच्छक—बिस्तर पर बिछाने के काम आनेवाला, ७. वारवाण—एक प्रकार का कोट, ८ परिस्तोम—एक बड़ा कम्बल, ९. समन्तभद्रक—हाथी पर डालने के योग्य, १० आविक—भेड़ का कम्बल। इनमें से महीन चिकना कोमल तथा नरम कंबल उत्तम होता है[1]।

इनके सिवाय अन्य भी नानाविध कम्बलों का वर्णन कौटिलीय अर्थशास्त्र में पाया जाता है—"वह कम्बल जो आठ टुकड़ों से मिलकर बना होता है और रंग में काला होता है, वह भिङ्गिसी कहलाता है। यह वर्षा से बचाव करने में प्रयुक्त होता है। इसी तरह का 'अपसारक' भी होता है। ये दोनों नैपाल में बनते हैं[2]।

ऐसा प्रतीत होता है कि भेड़ की ऊन के सिवाय अन्य पशुओं के बालों का भी वस्त्रों के लिए प्रयोग होता था। इन वस्त्रों के भी नाम कौटिल्य ने दिये हैं। उसके अनुसार इनके सम्पु-

१. कौ० अर्थ० २। ११।

२. कौ० अर्थ० २। ११।

टिका, चतुरश्रिका, लम्बरा, कटवानक, प्रावरक और सत्तलिका ये ६ भेद थे[1]। इन वस्त्रों का स्वरूप वर्तमान समय में समझ सकना बहुत कठिन है।

किस देश में कौनसा कपड़ा विशेषरूप से बनता था, इसका भी कौटिल्य ने उल्लेख किया है। इस मनोरञ्जक वर्णन को हम कौटिल्य के ही शब्दों में उद्धृत करते हैं—

"जो कपड़ा वङ्गदेश में तैयार होता है, वह श्वेत और चिकना होता है। पुण्ड्र देश का वस्त्र काला और मणि की तरह चिकना होता है। सुवर्णकुड्य देश का कपड़ा सूर्य की तरह रङ्गवाला और मणि की तरह चिकना होता है। इसे गीला करके बुना जाता है। इसे एक समान सीधा रख कर और उलटा टेढ़ा रख कर—दोनों तरह से बुनते हैं।.........काशी तथा पुण्ड्र देश के बने हुए सनिया कपड़े भी इसी तरह के होते हैं। मगध, पुण्ड्र और सुवर्णकुड्य देशों में विविध वृक्षों के पत्तों या छालों के रेशों से कपड़े बनाये जाते हैं[2]।"

मगध आदि देशों में किन किन वृक्षों के वस्त्र बनाये जाते थे, इसका भी वर्णन कौटिल्य ने किया है। वस्त्र-निर्माण में प्रयुक्त होनेवाले इन वृक्षों के नाम निम्नलिखित हैं—नागवृक्ष, लिकुच, बकुल और वट। कौटिल्य के अनुसार नागवृक्ष के पीले, लिकुच के गेहुँए, बकुल के श्वेत और वट के मक्खन के समान शुभ्र रेशे होते हैं[3]। कौन सा वस्त्र किस देश का उत्तम है, इस विषय में

---

१. 'सम्पुटिका, चतुरश्रिका, लम्बरा, कटवानकं, प्रावरकः, सत्तलिकेति मृगरोम' २। ११।

२. 'वाङ्गकं श्वेतं स्निग्धं दुकूलं, पौण्ड्रकं श्यामं मणिस्निग्धं, सौवर्णकुड्यकं सूर्य्यवर्णं मणिस्निग्धोदकवानं चतुरश्रवानं व्यामिश्रवानं च।'

२। ११।

३. 'नागवृक्षो लिकुचो बकुलो वटश्च योनयः। पीतिका नागवृक्षिका, गोधूमवर्णा लैकुची, श्वेता वाकली, शेषा नवनीतवर्णा। २।११।

भी आचार्य चाणक्य का निर्णय सुन लीजिए—सबसे बढ़िया रेशों के कपड़े सुवर्णकुड्य देश में बनते हैं। चीन का रेशम सबसे उत्तम है। रुई के कपड़े मधुरा, अपरान्तक, कलिङ्ग, काशी, वङ्ग, वत्स और माहिष्मती देशों में सर्वोत्तम बनाये जाते हैं[1]।

कौटिल्य के इस वर्णन से अच्छी तरह प्रकट हो जाता है कि मौर्यकाल में वस्त्र-व्यवसाय बहुत उन्नत था। अनेक तरह के वस्त्र तैयार होते थे। विशेष विशेष कपड़ों के लिए भिन्न भिन्न स्थान प्रसिद्ध हो चुके थे। इस वर्णन की पुष्टि मैगस्थनीज़ के लेखों से भी होती है। हम उसके कुछ वाक्य यहाँ उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं—

"अपने चाल की साधारण सादगी के प्रतिकूल वे भारतीय बारीकी और सजावट के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है। वे वस्त्र मूल्यवान् रत्नों से विभूषित रहते हैं, और वे लोग अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने हुए फूलदार कपड़े पहनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे पीछे छाता लगाये चलते हैं, क्योंकि वे अपने सौन्दर्य का बड़ा ध्यान रखते हैं और अपने स्वरूप को सँवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते[2]।"

"जैसे वे मलमल पहनते हैं, पगड़ी देते हैं, सुगन्धित द्रव्यों का व्यवहार करते हैं, और चमकीले रंगों में रँगे हुए पहिरावों का धारण करते हैं[3]।"

"तब वे उत्तम मलमल धारण करते हैं[4]......"

---

१. 'तासां सौवर्णकुड्यका श्रेष्ठा। तथा कौशेयं चीनपट्टाश्च चीनभूमिजा व्याख्याताः। माधुरमापरान्तकं कालिङ्गकं काशिकं वाङ्गकं वात्सकं माहिषकं च कार्पासिकं श्रेष्ठमिति।' २।११।

२. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन पृ० २३।

३. ,, ,, पृ० ५६।

४. ,, ,, पृ० ६१।

भारतीय वस्त्रों और वेशभूषा को देखकर मैगस्थनीज़ भी प्रभावित हुआ था। निस्सन्देह, सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में यह वस्त्र-व्यवसाय बहुत अधिक उन्नति कर चुका था। तन्तुवायों से मिलते-जुलते ही कुछ अन्य व्यवसायी भी उस समय में विद्यमान थे, विशेष न होते हुए भी, इस अवसर पर उनका निर्देश कर देना चाहिए—

(१) रस्सी बनानेवाले—कौटिल्य ने जुलाहों के साथ ही इन व्यवसायियों का भी वर्णन किया है। रस्सी मुख्यतया चार पदार्थों की बनाई जाती थी—सूत, रेशे, बेंत और बाँस। सूत और रेशों की रस्सी को रज्जू तथा बेंत और बाँस की रस्सी को वरत्रा कहते थे[1]।

(२) कवच बनानेवाले—इनका वर्णन भी तन्तुवायों के ही साथ किया गया है। कवच बनाने के लिए भी पृथक् कारख़ाने होते थे[2]।

(३) धोबी—ये लोग लकड़ी के फट्टे या चिकने पत्थर पर ही कपड़े फटक सकते थे। अन्यत्र किसी जगह पर फटकने से कपड़ा फटने का डर रहता था, अतः ६ पण जुरमाना किया जाता था। धोबी बहुत शीघ्र वस्त्र धोकर वापिस कर दिया करते थे। साधारण कपड़े एक रात में ही धोकर दे दिये जाते थे। हलके रङ्गवाले कपड़े ५ रात तक और नीले रँगवाये जानेवाले कपड़े ६ रात तक रखे जा सकते थे। देर लगाने पर धोबी को जुरमाना किया जा सकता था। उस समय धोबी की धुलाई भी बहुत अधिक नहीं थी। बढ़िया कपड़ों पर १ पण, मध्यम कपड़ों पर $\frac{1}{2}$ पण और निकृष्ट कपड़ों पर $\frac{1}{4}$ पण धुलाई दी

---

१. 'सूत्रवल्कमयी रज्जूः वरत्रा वेत्रवैणवीः।' कौ० अर्थ० २। २३।

२. 'कङ्कटकसर्नान्तांश्च तज्जनिकारुशिल्पिभिः कारयेत्।' २। २३।

जाती थी। मोटे कपड़ों की धुलाई एक माषक से २ माषक तक थी[1]।

(४) रंगरेज—अर्थशास्त्र में अनेक स्थानों पर रंगे हुए कपड़ों का वर्णन आता है। रजक लोग कपड़े धोने के सिवाय रँगने का काम भी करते थे। रँगाने पर धुलाने की अपेक्षा दुगनी मज़दूरी देनी पड़ती थी[2]।

(५) दर्ज़ी—कपड़ों की पोशाकें बनाने का वर्णन भी कौटिल्य ने किया है। यह काम दर्ज़ी लोग किया करते थे[3]।

(६) खानों में कार्य करनेवाले व्यवसायी—चन्द्रगुप्त-कालीन भारत में खानों में काम करनेवाले व्यवसायियों की बहुत मुख्यता थी। मैगस्थनीज़ ने अनेक स्थानों पर भारत की विविध खानों का वर्णन किया है। वह लिखता है—

"भूमि तो अपने ऊपर हर प्रकार के फल—जो कृषि-द्वारा जाने गये हैं—उपजाती ही है, पर उसके गर्भ में भी सब प्रकार की धातुओं की अनगिनत खानें हैं। क्योंकि उनमें सोना और चाँदी बहुत होता है। ताँबा और लोहा भी कम नहीं होता। जस्ता और दूसरी धातुएँ भी होती हैं। इनका व्यवहार आभूषण की वस्तु तथा लड़ाई के

---

१. 'रजकाः काष्ठफलकश्लक्ष्णशिलासु' वस्त्राणि नेनिज्युः। अन्यत्र नेनिजन्तो वस्त्रोपघातं पट्पणं च दण्डं दद्युः।......मुकुलवादातं शिलापट्टशुद्धधौतसूत्रवर्णं प्रमृष्टश्वेततरं चैकरात्रोत्तरं दण्डं दद्युः। पञ्चरात्रिकं तनुरागम्, षड्रात्रिकं नीलम्।......परार्घ्यानां पणोत्तेतनम्, मध्यमानामर्धपणः, प्रत्यवराणां पादः, स्थूलकानां माषद्विमाषकम्।' ४। १।

२. 'द्विगुणं रक्तकानाम्।' ४। १।

३. 'वस्त्रास्तरणप्रावरणविकल्पानुत्थापयेत्।' २। २३।

हथियार और साज इत्यादि बनाने के निमित्त होता है[1]।"

अन्यत्र भी मैगस्थनीज़ ने खान खोदनेवालों का ज़िक्र किया है[2]।

आचार्य चाणक्य ने खानों के व्यवसाय का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इसको पढ़कर स्पष्ट प्रतीत होता है कि मौर्य-कालीन भारत में खनिज पदार्थों का व्यवसाय बहुत उन्नति कर चुका था। इस व्यवसाय के सञ्चालन के लिए सरकार का एक पृथक् विभाग था, जिसके अध्यक्ष को 'आकराध्यक्ष' कहते थे। इस उच्च पदाधिकारी के लिए ताम्र आदि धातुओं की विद्या में पूर्णतया निपुण होना, पारा निकालने की विद्या को जानना तथा मणि-माणिक्य आदि की पहचान रखना आवश्यक था। अन्यथा, उसे इन विषयों के विशेषज्ञों को कार्य-सञ्चालन के लिए साथ रखना अनिवार्य था। इस सरकारी विभाग के कर्मचारी पहले विविध धातुओं की खानों का पता लगाते थे। किस स्थान पर किस चीज़ की खान है, इसका पता कच्ची धातु द्वारा लगाया जाता था। कच्ची धातु की परीक्षा उसके भार, रङ्ग, तेज, गन्ध, और स्वाद-द्वारा होती थी। यह भी देखा जाता था कि खान का पहले उपयोग तो नहीं हो चुका। पहले प्रयुक्त हुई खानों का पता कोयला, राख, धातु पिघालने के बर्तनों के टूटे टुकड़े, गोबर आदि चिह्नों के प्राप्त होने से लग सकता था[3]। किस जगह पर किस धातु की खान है, इसकी पहचान के लिए

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन पृ० २।

२. ,, ,, पृ० ४६।

३. 'आकराध्यक्षः शुल्बधातुशास्त्ररसपाकमणिरागज्ञस्तज्ज्ञसखो वा तज्ज्ञातकर्मकरोपकरणसम्पन्नः किट्टमूषाङ्गारभस्मलिङ्गं वाऽऽकरं भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा भूमिप्रस्तररसधातुमत्यर्थवर्णगौरवमुग्रगन्ध-रसं परीक्षेत।' २। १२

कौटिल्य ने अनेक मनोरञ्जक बातें लिखी हैं। पहाड़ों के गड्ढों, गुफाओं, तराइयों तथा छिपे हुए छेदों में से नानाविध द्रव बहते रहते हैं। यदि इस द्रव का रंग जामुन, आम, तालफल, पकी हुई हरिद्रा, हड़ताल, शहद, सिंगरफ, कमल, तोता या मोर के पङ्ख के समान हो; इसमें काई के समान चिकनाहट हो, यह पारदर्शक और भारी हो, तो समझना चाहिए कि यह सोने की कच्ची धातु से मिलकर निकल रहा है। यदि द्रव को पानी में डालते ही वह तेल की तरह सम्पूर्ण सतह को व्याप्त कर ले, सब गर्द और मैल को इकट्ठा कर ले, तो उसे सौ फ़ी सदी ताम्र और चाँदी से मिश्रित समझना चाहिए। जो द्रव देखने में तो इसी तरह का हो, परन्तु उसमें गन्ध और स्वाद बहुत तेज हो, उसे शिलाजीत से मिला समझना चाहिए। कौटिल्य ने विविध धातुओं की कच्ची धातुओं का स्वरूप विस्तार से लिखा है[१]। उसे यहाँ उद्धृत करने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु उसे पढ़ने से यह अच्छी तरह विश्वास हो जाता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में बहुत सी धातुओं का, उनकी कच्ची धातों का, उनके मिश्रणों का और इन सबकी पहचान का अच्छी तरह परिज्ञान था। इस सम्बन्ध में सब ज्ञातव्य बातें उन्हें मालूम थीं।

कच्ची धातुओं को शुद्ध धातु के रूप में परिवर्त्तित करने के लिए अनेक उपाय किये जाते थे। कौटिल्य के अनुसार "कच्ची धातु को तीक्ष्ण मूत्र और क्षार में डाल कर भावना देनी चाहिए, फिर राजवृक्ष, वट, पीलु, गोपित्त के साथ मिला कर तपाना चाहिए। साथ ही भैंस, गधा और हाथी का पेशाब तथा लीद

---

१. 'पर्वतानामभिज्ञातोद्देशानां बिलगुहोपत्यकाऽऽलयनिगूढखातेष्वन्तः-प्रस्यन्दिनो जम्बूचूततालफलपक्वहरिद्राभेदहरितालक्षौद्रहिङ्गुलुक-पुण्डरीकशुकमयूरपत्रवर्णास्सवर्णोदकौषधीपर्यन्ताश्चिक्कणा विशदा भारिकाश्च रसाः काञ्चनिकाः' २। इत्यादि १२

को डालना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि शुद्ध धातु कच्ची धातु से पृथक् हो जावेगी[१]।"

धातुओं को नरम करने, उन्हें लचकदार बनाने आदि की भी विधियाँ लिखी गई हैं[२]। मुख्यतया चाणक्य ने सोना, चाँदी, ताँबा, सीसा, लोहा, टिन, वैकृन्तक (?) और मणि—इन धातुओं का वर्णन किया है। खान से निकाल चुकने पर धातुओं को पृथक् पृथक् कारखानों में भेज दिया जाता था[३]। धातुओं की चोरी न हो सके, इसके लिए बहुत कड़ा निरीक्षण रखा जाता था। हीरा, रत्न आदि की चोरी करने पर मृत्युदण्ड मिलता था। अन्य वस्तुओं के चुराने पर आठगुना मूल्य वसूल करने का नियम था। इन अपराधों में जेल भी भेजा जा सकता था। कारखानों में किस प्रकार धातुओं की वस्तुएँ तैयार की जाती थीं, इसका वर्णन चाणक्य ने नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि कारखानों का महकमा एक पृथक् कर्मचारी के अधीन था। इसे 'लोहाध्यक्ष' कहते थे। यह ताम्र, सीसा, टिन, विकृन्तक (?) पीतल, वृत्त (?), कंस (कांसी), हड़ताल, और लोध्र—इनके कारखानों का सञ्चालन करता था[४]। धातुओं का प्रयोग प्रधानतया बर्तनों और हथियारों के लिए होता था। सोना, चाँदी और ताम्र के सिक्के बनाये जाते थे। इनका वर्णन हम पृथक् रूप से करेंगे।

कारखानों में जो माल तैयार होता था, उसे बेचने का

---

१. तेषामशुद्धा मूढगर्भा वा तीक्ष्णमूत्रक्षारभाविता......विशुद्धाः स्रवन्ति' २। १२।

२. यवमाषतिलपलाशपीलुक्षारैर्गोक्षीराजक्षीरैर्वा कदलीवज्रकन्दप्रतीवापो मार्दवकरः। इत्यादि २। १२

३. 'धातुसमुत्थितं तज्जातकर्मान्तेषु प्रयोजयेत्' २। १२।

४. लोहाध्यक्षः ताम्रसीसत्रपुवैकृन्तकारकूटवृत्तकंसताललोध्रकर्मान्तान् कारयेत्।' २। १२।

एक स्थान पर प्रबन्ध किया जाता था। इस नियम का उल्लङ्घन करने पर कारख़ाने के कारीगरों, विक्रेताओं और ख़रीदारों को यथायोग्य दण्ड मिलता था[1]।

खानों पर राज्य का स्वत्व था। राज्य की तरफ़ से ही उनका सञ्चालन होता था। पर इन्हें अन्य लोगों को भी किराये पर दिया जाता था। कुल उत्पत्ति का हिस्सा बाँटने की भी प्रथा थी। खानों को बेच भी दिया जाता था[2]।

(८) नमक का व्यवसाय—इस पर भी राज्य का स्वत्व और एकाधिकार होता था। इस विभाग के अध्यक्ष को 'लवणाध्यक्ष' कहते थे। नमक बनाने के लिए राज्य से विशेष लाइसेंस लेना पड़ता था। सरकारी आज्ञा के बिना नमक का क्रय-विक्रय नहीं हो सकता था। समुद्रजल का ही प्रायः नमक बनाने के लिए प्रयोग होता था[3]।

(९) समुद्र से बहुमूल्य रत्नों की प्राप्ति के लिए एक पृथक् विभाग होता था। इसके अध्यक्ष को 'खन्यध्यक्ष' कहते थे[4]। समुद्र से शङ्ख, हीरा, मणि, मुक्ता आदि पदार्थों को निकलवाने तथा उनको शुद्ध करने व उनकी विविध वस्तुएँ बनाने के लिए कारख़ाने खोलना भी 'खन्यध्यक्ष' का कार्य था। चन्द्रगुप्तकालीन भारत में यह व्यवसाय बहुत उन्नत था। जो जो बहुमूल्य रत्न उस समय उपलब्ध होते थे, अर्थ-

---

१. 'कृतभाण्डव्यवहारमेकमुखमत्ययं चान्यत्र कर्तृक्रेतृविकर्तॄणां स्थापयेत्।' २। १२।

२. 'भाण्डोपकारिणं च व्ययक्रियाभारिकमाकरं भागेन प्रक्रयेण वा दद्यात्।' २। १२।

३. कौ० अर्थ० २। १२।

४. कौ० अर्थ० २। १२।

शास्त्र में उनका विस्तृत वर्णन किया गया है। हम यहाँ पर कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का ही उल्लेख कर सकेंगे[1]।

मौर्यकाल में प्राप्त होनेवाले मोतियों के निम्नलिखित भेद थे—

१. ताम्रपर्णिक—ताम्रपर्णी या लङ्का देश में प्राप्त होनेवाले मोती।

२. पाण्ड्यकवाटक—पाण्ड्यदेश में स्थित मलयकोटि पर्वत में प्राप्य।

३. पाशिक्य—पाश नामक नदी में प्राप्य।

४. कौलेय—सिंहलद्वीप में मयूर नामक ग्राम के समीप 'कुल' नाम की नदी बहती थी, वहाँ पर प्राप्य।

५. चौर्णेय—केरल देश में मुरचि नामी गाँव के पास बहनेवाली 'चूर्ण' नदी में प्राप्य।

६. माहेन्द्र—महेन्द्र पर्वत में प्राप्य।

७. कार्दमिक—पारसीक या पर्शिया देश में 'कर्दम' नामी नदी में प्राप्य।

८. स्रौतसीय—बर्बर नामी समुद्र में गिरनेवाली 'स्रोतसी' नदी में प्राप्य।

९. ह्रादीय—बर्बर समुद्र के एक पार्श्व में 'ह्रद' नामी गहरे सागर में प्राप्य।

१०. हैमवत—हिमालय पर्वत के आसपास प्राप्य।

बहुत से मोती प्रशस्त होते हैं और बहुत से अप्रशस्त। प्रशस्त मोती मोटा, गोल, चमकीला, श्वेत, भारी, चिकना, कोमल तथा निस्तल होते हैं। मोतियों के हार कई प्रकार के बनाये जाते थे। केवल गले में डालने के लिए ही नहीं, अपितु सिर, हाथ, पैर, कटि आदि अंगों के लिए भी मोतियों के अनेकविध आभूषण बनते थे।

---

१. कौ० अर्थ० २। ११।

नानाविध मोतियों के सिवाय अनेक-विध मणियों को प्राप्त करना भी 'खन्यध्यक्ष' का कार्य था। मुख्य रूप से मणियाँ ३ प्रकार की होती थीं—

१. कौट—कूट नामी पर्वत में प्राप्य।

२. मालेयक—मालेय पर्वत में प्राप्य।

३. पारसमुद्रक—समुद्र के पार या भीतर प्राप्य।

स्थान के भेद के सिवाय रूप के भेद से भी मणियाँ बहुत प्रकार की होती हैं—

१. सौगन्धिक—जिसका रङ्ग पद्मराग और पारिजात पुष्प की तरह निर्दोष और बालसूर्य की तरह चमकीला हो।

२, वैदूर्य—जिसका रङ्ग नील कमल या शिरीष कुसुम की तरह का हो, जो जल के समान निर्मल हो, जिसमें नवीन बाँस वा तोते के पंख की तरह का आभास हो।

३. पुष्पराग

४. गोमूत्रक

५. गोमेदक

६. इन्द्रनील

७. नन्दक

८. स्रवन्मध्य

९. शीतवृष्टि

१०. सूर्यकान्त

मणियों के गुण-दोषों की भी अर्थशास्त्र में विवेचना की गई है। इन उत्कृष्ट मणियों के सिवाय बहुत सी अन्य भी मणियाँ उस समय पाई जाती थीं। इनके भी नाम निर्दिष्ट कर देना अप्रासङ्गिक नहीं है—

१. विमलक, २. सस्यक, ३. अञ्जनमूलक, ४. पित्तक, ५. सुलभक, ६. लोहितक, ७. अमृतांशुक, ८. ज्योतीरसक, ९. मैलेयक, १० अहिच्छत्रक, ११. कूर्प, १२. प्रतिकूर्प, १३. सुगन्धिकूर्प, १४.

चौरपक, १५. शुक्तिचूर्णक, १६ शिलाप्रवालक, १७. पुलक, १८ शुक्रपुलक।

रत्नों और मणियों के सिवाय बहुत प्रकार के हीरे भी चन्द्रगुप्त-कालीन भारत में उपलब्ध होते थे। चाणक्य के अनुसार खानें नदियाँ और अन्य विविध स्थान हीरों के उद्गम-स्थान हैं। देश-भेद से हीरों के निम्नलिखित भेद समझे जाते थे[1]।

१. सभाराष्ट्रक—विदर्भ देश के अन्तर्गत 'सभाराष्ट्र' देश में प्राप्य।

२. मध्यमराष्ट्रक—कोशल देश के अन्तर्गत 'मध्यमराष्ट्र' या मध्यदेश में प्राप्य।

३. काश्मीरराष्ट्रक—काश्मीर देश में प्राप्य।

४. श्रीकटनक—वेदोत्कट पर्वत में प्राप्य।

५. मणिमन्तक—मणिमन्त पर्वत के आसपास प्राप्य।

६. इन्द्रवानक—कलिङ्ग देश में प्राप्य।

हीरों की पहचान और उनके उत्तम, मध्यम, निकृष्ट आदि भेदों पर भी अर्थशास्त्र में विचार किया गया है। पर उसे यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। कौटिल्य के इन वर्णनों से मालूम पड़ता है कि मौर्य्यकालीन भारत में मुक्ता, मणि आदि का व्यवसाय बहुत उन्नत था।

(१०) सुनार—सोना, चाँदी आदि धातुओं को शुद्ध कर उनसे आभूषण बनाने का कार्य्य सुनार लोग करते थे[2]। कौटिलीय अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार के हारों और आभूषणों का वर्णन मिलता है। इनका निर्माण सुनार या सुवर्णकार लोग ही करते थे। सुनारों को अपने कार्य में सहायता करने के लिए ध्मायक (भट्ठी में हवा देनेवाले), पांशुधावक (गर्द साफ़

१. कौ० अर्थ० २।११।

२. कौ० अर्थ० ४।१।

करनेवाले) आदि अनेक लोग होते थे[1]। अर्थशास्त्र में इनका उल्लेख भी किया गया है।

(११) वैद्य—चन्द्रगुप्तकालीन भारत के चिकित्सालयों तथा स्वास्थ्य-रक्षा के अन्य उपायों का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। उस समय भिषक् (साधारण चिकित्सक), जाङ्गलीविद् (विष-चिकित्सक), गर्भव्याधिसंस्थाः (गर्भ की बीमारियों को ठीक करनेवाले), सूतिका-चिकित्सक (गर्भ-चिकित्सक)—ये चार वैद्यों के मुख्य भेद थे। इनके सिवाय पशु-चिकित्सक भी उस समय विद्यमान थे। यद्यपि स्वास्थ्यरक्षा और चिकित्सालयों का प्रबन्ध राज्य की तरफ़ से था, पर स्वतन्त्र वैद्यों की भी कमी न थी। इसी लिए इन स्वतन्त्र वैद्यों पर पूरा नियन्त्रण रखने के लिए निम्न-लिखित नियम बनाये गये थे[2]:—

(i) सरकार को सूचना दिये विना ही यदि चिकित्सक लोग ऐसे रोगी का इलाज करने लगें, जिसकी मृत्यु की सम्भावना हो, तो उन्हें 'पूर्वसाहसदण्ड' दिया जाय।

(ii) यदि किसी विपत्ति के कारण इलाज अच्छी तरह न किया जा सके, तो चिकित्सक को 'मध्यम दण्ड' दिया जाय।

(iii) यदि इलाज के प्रति उपेक्षा की जा रही हो, रोगी की उचित पर्वाह न की जाती हो, और उसके कारण रोग बढ़ जाय, तो चिकित्सक पर 'दण्डपारुष्य' का अपराध लगाया जाय।

(१२) शराब का व्यवसाय—यद्यपि मैगस्थनीज़ लिखता है कि "वे यज्ञों के सिवाय मदिरा कभी नहीं पीते। उनका शरबत जौ के स्थान पर चावल-संगठित एक रस है, और उनका भोजन अधिकतर भात है[3]।" तथापि कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से मालूम पड़ता है कि मौर्यकालीन भारत में

---

१. कौ० अर्थ० २ । १२

२. कौ० अर्थ० ४ । १

३. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन पृ० ३३

मदिरा का व्यवसाय भी बहुत समुन्नत था। इसके लिए एक पृथक् अध्यक्ष होता था, जिसे 'सुराध्यक्ष' कहते थे। यह शराब बनाने में निपुण व्यक्तियों से शराब बनवाता और इस व्यवसाय का सञ्चालन करता था। अनेक प्रकार की शराब तैयार की जाती थी[1]:—

(i) मेदक—एक द्रोण पानी, $\frac{1}{2}$ आढ़क चावल तथा ३ प्रस्थ किण्व (ferment) के योग से 'मेदक' नाम की शराब तैयार होती थी।

(ii) प्रसन्न—इसे बनाने के लिए १२ आढ़क पिसा चावल, ५ प्रस्थ किण्व, ६६ आढ़क पानी और पुत्रक, दालचीनी तथा अन्य मसालों की कुछ मात्रा को मिलाना चाहिए।

(iii) आसव—इसके लिए १०० पल कपित्थ (कैथ), ५०० पल राब और १ प्रस्थ मधु डालना चाहिए।

(iv) अरिष्ट—इसकी निर्माण-विधि चिकित्सकों से पूछनी चाहिए।

(v) मैरेय—इसमें मेढ़ासिंगी तथा दालचीनी का क्वाथ, मिरच, पीपल, त्रिफला तथा मसालों से युक्त गुड़ पड़ता है।

(vi) मधु—मुनक्के तथा आबगोश के रस का नाम ही मधु (अंगूरी शराब) है।

यद्यपि शराब के प्रयोग में अनेक प्रतिबन्ध थे, तथापि अनेक अवसरों पर इसका सामान्यतया प्रयोग होता था।

(१३) बूचड़खाने—चन्द्रगुप्तकालीन भारत में बूचड़ों का व्यवसाय भी बहुत मुख्य था। इसका प्रबन्ध करने के लिए 'सूनाध्यक्ष' नामक पृथक् राज्यकर्मचारी होता था। बूचड़खानों

---

1. कौ० अर्थ० २। २५

में अनेक पशुओं का घात किया जाता था और उनका ताज़ा मांस बेचा जाता था[1]।

(१४) चमड़े का व्यवसाय—बूचड़खानों में क़त्ल किये गये तथा जङ्गल, खेत आदि में मरे हुए पशुओं की खालों का बहुत अधिक उपयोग होता था। कौटिल्य ने अनेक प्रकार की खालों का वर्णन किया है। खालों के ३ मुख्य भेद हैं[2]:—

(i) कान्तनावक—यह मोर के गर्दन के रंग का चमड़ा होता है।

(ii) प्रैयक—यह नीले, श्वेत और पीले विन्दुओं से युक्त होता है। कान्तवानक और प्रैयक—ये दोनों चमड़े ८ अंगुल चौड़े होते हैं।

(iii) उत्तरपर्वतक—उत्तरीय पर्वतों के जङ्गलों में होनेवाला—यह एक विशेष प्रकार का चमड़ा होता था।

अन्य भी अनेकविध चमड़ों का वर्णन कौटिलीय अर्थशास्त्र में किया गया है[3]:—

(i) विसी—यह द्वादशग्राम प्रदेश में पाया जाता है। विसी स्पष्ट रङ्ग का तथा बालयुक्त चमड़ा होता है। 'द्वादशग्राम' हिमालय प्रदेशों में एक देश है, जहाँ कि म्लेच्छ लोग रहते थे।

(ii) महाविसी—यह चमड़ा भी द्वादशग्राम में पाया जाता है। यह रंग में श्वेत तथा बहुत सख़्त होता है। ये दोनों—विसी और महाविसी—१२ अंगुल चौड़े होते हैं।

(iii) श्यामिका—यह रंग में लालभूरा तथा अनेक बिन्दुओं से युक्त होता है।

(iv) कालिका—यह कबूतर के रंग का तथा भूरा होता है।

---

१. कौ० अर्थ० २। २६

२. कौ० अर्थ० २। ११

३. कौ० अर्थ० २। ११

(v) कदली—यह एक हाथ चौड़ा तथा बहुत सख़्त होता है।

(vi) चन्द्रोत्तरा—यह भी एक हाथ चौड़ा तथा चित्रविचित्र होता है।

(vii) शाकुला—यह कौड़ियों की तरह चितकबरा, हरिण के चमड़े की तरह विन्दुयुक्त तथा लकीरदार होता है।

ये पिछले पाँच चमड़े हिमालय प्रदेशों के 'आरोह' नामक स्थान पर होते हैं।

(viii) सामूर—यह काले रंग का ३६ अंगुल लम्बा चमड़ा होता है।

(ix) सामूली—यह गेहूँ के रंग का होता है।

(x) चीनसी—यह लालकाला या सफेदी लिये काले रंग का होता है।

ये ३ चमड़े हिमालय की सीमा पर स्थित 'वाह्लव' देश में पाये जाते हैं।

(xi) सातिना—यह काले रङ्ग का चमड़ा होता है।

(xii) नलतूला—यह नल के रङ्ग का होता है।

(xiii) वृत्तपुच्छा—यह भूरे रंग का होता है।

ये तीनों चमड़े जल-जन्तुओं के होते हैं।

ऊपर जिन चमड़ों का वर्णन किया गया है, वे बहुत बढ़िया हैं। इसी लिए आचार्य चाणक्य ने उन्हें बहुमूल्य-रत्नों के साथ स्थान दिया है। पर इनके सिवाय स्वाभाविकरूप से गौ, भैंस, बकरी आदि पशुओं के चमड़ों का अनेक प्रकार से प्रयोग किया जाता था। चमड़े की अनेकविध वस्तुएँ बनाई जाती थीं। मैगस्थनीज़ ने चमड़े के श्वेत-जूतों का वर्णन किया है[१]। नियार्कस के अनुसार भारतीय लोग श्वेत चमड़े के जूतों को पहनते हैं। ये जूते बहुत बढ़िया बने होते हैं। इनकी एड़ियाँ ऊँची

१. S. K. Das—Economic History, p. 155.

बनाई जाती हैं। इसे पहननेवाला कुछ अधिक ऊँचा प्रतीत होने लगता है[1]।

(१५) बर्तन बनानेवाले—कौटिल्य ने ४ प्रकार के बर्तनों का ज़िक्र किया है। धातु के बर्तनों का पहले उल्लेख हो चुका है। एक अन्य स्थान पर मिट्टी, वेंत और छाल के बर्तनों की ओर निर्देश है[2]। मिट्टी के बर्तनों के सम्बन्ध में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं। पर वेंत और छाल के बर्तनों की सत्ता अच्छी व्यावसायिक उन्नति को सूचित करती है।

(१६) जङ्गलों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले व्यवसाय—चन्द्रगुप्त-कालीन भारत में जङ्गलों का बड़ा महत्त्व था। आर्थिक-दृष्टि से इनका उपयोग किया जाता था। जङ्गलों की रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति उन्हें किसी भी तरह का नुक़सान पहुँचाता था, तो उसे हर-जाना देना पड़ता था। साथ ही अतिरिक्त जुरमाना भी किया जाता था[3]। जङ्गल की किन किन पैदावारों को विशेष उपयोगी समझा जाता था, इसे जानने के लिए कौटिल्य की निम्नलिखित सूची पर्याप्त है[4]—

(i) कड़ी व ठोस लकड़ी (सार-दारु) के वृक्ष—शाक, तिनिश, धन्वन, अर्जुन, मधूक, तिलक, शाल, शिंशुप, अरिमेद, राजादन, शिरीष, खदिर, सरल, ताल· सर्ज, अश्वकर्ण, सोमवल्क, कशाम्र, प्रियक, धव आदि।

---

१. S. K. Das—Economic History, p. 155.

२. 'विदलमृत्तिकामयं भाण्डम्' कौ० अर्थ० २। १७

३. द्रव्यवनच्छिदां च देयमत्ययं च स्थापयेदन्यत्र आपद्भ्यः। कौ० अर्थ० २। १६

४. कौ० अर्थ० २. १६

(ii) बाँसों के भेद—उटज, चिमिय, चव, वेएड, सातिन, कंटक, भाल्लूक आदि।

(iii) बेलों के भेद—बेंत, शोकवल्ली, वाशी, श्यामलता, नागलता आदि।

(iv) रेशेदार पौदों के भेद—मालती, दूर्वा, अर्क, शण, गवेधुक, अतसी आदि।

(v) रस्सी बनाने के लिए उपयोगी—मुञ्ज, वल्वज आदि।

(vi) जिनके काग़ज़ बनते हैं—ताली, ताल, भूर्जपत्र आदि।

(vii) फूल—किंशुक, कुसुम्भ, कुङ्कुम आदि।

(viii) औषध—कन्द, मूल, फल आदि।

(ix) विष—कालकूट, वत्सनाभ, हालाहल, मेषशृङ्ग, मुस्ता, कुष्ठ, महाविष, वेल्लितक, गौरार्द्र, बालक, मार्कट, हैमवत, कालिङ्गक, दारदक, कोलसारक, उष्ट्रक आदि।

साँप तथा अन्य विषयुक्त कीड़ों के विष का भी प्रयोग होता था। अन्य भी अनेक जाङ्गलिक वस्तुओं का आचार्य चाणक्य ने परिगणन किया है। पर उन्हें यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है। इस सूची से अच्छी तरह मालूम पड़ जाता है कि मौर्यकाल में किस प्रकार बहुत-सी जङ्गल की वस्तुओं का प्रयोग किया जाता था। जङ्गल के महकमे के अधिकारी को 'कुप्याध्यक्ष' कहते थे। यह न केवल जङ्गल की पैदावार को रक्षित तथा संगृहीत करता था, अपितु उनसे नानाविध पदार्थों को तैयार भी करता था। विविध वस्तुओं के लिए विविध कारखाने बनाये जाते थे। इनमें कारीगर लोग नाना प्रकार की 'तैयार वस्तुओं' का निर्माण करते थे। कौटिल्य लिखता है—

"जीवन तथा क़िलों की रक्षा के लिए जो जो पदार्थ उपयोगी हों, उन्हें 'कुप्याध्यक्ष' (राजधानी के) बाहर और अन्दर पृथक्

पृथक् पदार्थों के लिए पृथक् पृथक् कारखाने खोल कर उत्पन्न कराये[1] ।"

"जङ्गल की पैदावार का उपयोग करने के लिए कुप्याध्यक्ष कारखाने खुलवाये[2] ।"

"राजा जङ्गल की पैदावार के कारखानों की रक्षा करे[3] ।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि जीवन के सामान्य उपभोग तथा आत्मरक्षा के लिए जाङ्गलिक पदार्थों से नाना-विध-पदार्थ तैयार किये जाते थे । निस्सन्देह, इस व्यवसाय को उस समय बहुत मुख्य स्थान प्राप्त था । हज़ारों, लाखों आदमी जङ्गलों की रक्षा, वृक्ष काटने, ओषधि, विष, वेल आदि सञ्चित करने, उन्हें कारखानों तक पहुँचाने तथा उनका 'तैयार माल' बनाने में लगे हुए थे ।

(१७) लकड़हारे ।

(१८) बढ़ई ।

(१९) लोहार—मैगस्थनीज़ इन तीनों व्यवसायियों का ज़िक्र करता है । वह लिखता है—'ये......भूमि से सम्बन्ध रखनेवाले व्यवसायों की देख-भाल करते हैं, जैसे लकड़-हारे, बढ़ई, लोहार[4] ।' कौटिल्य ने इन तीनों का अनेक स्थानों पर जाङ्गलिक तथा खनिज पदार्थों के कारखानों का ज़िक्र करते हुए उल्लेख किया है । इन कारखानों में स्वाभाविकरूप से ये ही लोग कार्य करते थे[5] ।

---

१. 'बहिरन्तश्च कर्मान्ता विभक्तास्सर्वभाण्डिकाः ।
आजीवपुररक्षार्थाः कार्याः कुप्योपजीविना ।' २ । १६

२. 'द्रव्यवनकर्मान्तांश्च प्रयोजयेत्' २ । १६

३. द्रव्यवनकर्मान्तान्......रक्षयेत्' २ । २

४. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन पृ० ४६

५. कौ० अर्थ० २ । १६ और २ । १२

(२०) हथियार बनानेवाले—मौर्य-साम्राज्य सैनिक-शक्ति की दृष्टि से अद्वितीय था। इसी लिए बहुत प्रकार के अस्त्रों का भी उस समय प्रयोग किया जाता था। हथियार बनवाने के लिए राज्य का एक पृथक् विभाग था। जिसके अध्यक्ष को 'आयुधागाराध्यक्ष' कहते थे। यह संग्रामों में प्रयोग के लिए दुर्गों की रक्षा तथा शत्रु के नगरों के विनाश के लिए नानाविध चक्र, यन्त्र, आयुध, आवरण और अन्य उपकरणों को तैयार करवाता था। इसके लिए वह कारीगरों को समय तथा वेतन निश्चित करके काम दे देता था[1]। स्वाभाविकतया मगध-साम्राज्य की विशाल सेना के लिए हथियार तैयार करने में बहुत से कारीगर हमेशा लगे रहते थे।

मौर्य्यकाल में किन किन हथियारों का उपयोग होता था, इसका 'आर्थिक अवस्था' के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं है। पर इसका हमने अन्य किसी अध्याय में वर्णन नहीं किया है, अतः यहाँ पर संक्षेप से निर्देश करना अनुपयुक्त नहीं होगा[2]।

क. स्थित यन्त्रों या एक स्थान पर स्थिर करके प्रयुक्त किये जानेवाले हथियारों के ये भेद हैं—

(i) सर्वतोभद्र—पहियों से युक्त एक गाड़ी, जिसे बड़ी तेज़ी के साथ प्रयुक्त किया जा सके। जब इसे घुमाया जाता है, तो सब दिशाओं में पत्थरों की वर्षा होती है। कुछ लोग इसे 'भूमरिकयन्त्र' भी कहते हैं।

(ii) जामदग्न्य – तीर छोड़ने की एक बड़ी मशीन (महाशर यन्त्र)

---

१. 'आयुधागाराध्यक्षः साङ्ग्रामिकं दौर्गकर्मिकं परपुराभिघातिकं चक्रयन्त्रमायुधमावरणमुपकरणं च तज्जातकारुशिल्पिभिः कृतकर्मप्रमाणकालवेतनफलनिष्पत्तिभिः कारयेत्।'

कौ० अर्थ० २। १८

२. कौ० अर्थ० २। १८

(iii) बहुमुख—किले की चोटी पर बनाया हुआ एक ऊँचा अट्टालक। जो चारों ओर मज़बूत चमड़े से अच्छी तरह ढका हुआ होता है और इस पर खड़े होकर धनुर्धर लोग तीर छोड़ते हैं।

(iv) विश्वासघाती—दुर्ग के द्वार पर परिखा के ऊपर टेढ़ी लगाई हुई एक वल्ली। इसे शत्रु के समीप पहुँचने पर गिराया जा सकता था और यह गिर कर शत्रुओं का विनाश करने में समर्थ होती थी।

(v) सङ्घाटी—अट्टालक तथा क़िले के अन्य हिस्सों पर आग लगाने के लिए एक लम्बी वल्ली।

(vi) यानक—पहिये पर लगाई हुई एक वल्ली या छड़ी, जिसे शत्रु पर फेंका जाता है।

(vii) पर्जन्यक—आग बुझाने के लिए यंत्र। कुछ लोगों की सम्मति में पर्जन्यक ५० हाथ लम्बा एक यन्त्र-विशेष होता था। जिसे कि दुर्ग के बाहर रखते थे और शत्रु के समीप पहुँचने पर इसे उन पर छोड़ा जाता था।

(viii) अर्धबाहु—इस तरह की दो लाटें, जिन्हें कि आवश्यकता पड़ने पर शत्रु पर गिराया जा सके।

(ix) ऊर्ध्वबाहु—ऊँचे स्थान पर रखी हुई एक ऊँची लाट, जिसे शत्रु पर गिराया जा सके।

ख. चलयन्त्रों या चलाये जा सकनेवाले हथियारों के भेद निम्नलिखित हैं—

(i) पञ्चालिक—एक बड़ा लकड़ी का तख़्ता, जिसके ऊपर नुकीली कीलें बहुत बड़ी मात्रा में लगाई गई हों। इसे दुर्ग के बाहर जल के बीच में रखा जाता था, और इससे शत्रु का आगे बढ़ना रोका जा सकता था।

(ii) देवदण्ड—नुकीली कीलों वाला एक लम्बा बाँस, इसे क़िले की दीवार पर रखते थे।

(iii) सूकरिका—चमड़े का एक बड़ा थैला, जिसमें ऊन या रुई भरी जाती है। इसे शत्रुओं द्वारा फेंके जानेवाले पत्थरों से क़िले की दीवारों, बुर्जों तथा सड़कों को बचाने के लिए प्रयुक्त किया जाता था।

(iv) मुसल—खैर की बनी हुई नुकीली छड़ी।

(v) यष्टि—खैर की नुकीली लकड़ी।

(vi) हस्तिवारक—दो या तीन नोकों वाली एक लम्बी छड़ी, जिससे हाथियों को हटाया जाता था।

(vii) तालवृन्त—पङ्खे के समान चौड़ा एक चक्र।

(viii) मुद्गर।

(ix) गदा।

(x) स्पृक्तला—एक ऐसी छड़ी, जिसके तले में नुकीली कीलें हों।

(xi) कुदाल।

(xii) आस्फातिम—बहुत ऊँचा बजनेवाला नगाड़ा।

(xiii) औद्घाटिम—बुर्ज गिराने का एक यन्त्र विशेष।

(xiv) शतघ्नि—एक ऊँची लाट, जिसमें बहुत बड़ी संख्या में नुकीली कीलें निकली हुई हों। इसे क़िले की दीवार पर रखा जाता था और किसी भी समय शत्रु पर गिराया जा सकता था।

(xv) त्रिशूल।

(xvi) चक्र।

ग—नुकीले मुखवाले हथियारों के भेद निम्नलिखित हैं—

(i) शक्ति—चार हाथ लम्बा, धातु से बना हुआ एक हथियार।

(ii) प्रास—दो हत्थोंवाला, २४ इञ्च लम्बा एक हथियार।

(iii) कुन्त—७, ६ या ५ हाथ लम्बी एक लकड़ी की छड़ी।

(iv) हाटक—तीन या चार नोकोंवाली एक लम्बी छड़ी।

(v) भिण्डिवाल—भारी हत्थेवाली एक छड़ी।

(vi) शूल—एक नुकीली छड़ी।

(vii) तोमर—४, ४½ या ५ हाथ लम्बी तीर के समान तेज़ नोकवाली एक छड़ी।

(viii) वराहकर्ण—सूअर के कान के समान नोकवाली एक छड़ी।

(ix) कणय—यह २०, २२ या २४ इञ्च लम्बी धातु की बनी हुई छड़ी होती है, इसके दोनों सिरों पर तीन कोने निकले होते हैं। इसे बीच में से पकड़ा जाता है।

(x) कर्पण—हाथ से फेंके जानेवाला तीर। जब कोई निपुण आदमी इसे फेंकता है, तो यह १०० धनुष दूरी तक जा सकता है।

(xi) त्रासिक—प्रास की तरह का धातुनिर्मित हथियार-विशेष।

घ. धनुषों के भी अनेक भेद हैं—

(i) ताल की लकड़ी का बना धनुष—इसे कार्मुक कहते हैं।

(ii) चाप (एक ख़ास तरह का बाँस) का बना धनुष—इसे कोदण्ड कहते हैं।

(iii) दारु (एक विशेष लकड़ी) का बना धनुष 'द्रूण' कहलाता है।

(iv) हड्डी या सींग के बने धनुष को 'धनु' कहते हैं। धनुष की ज्या बनाने के लिए मूर्वा, अर्क, सन, गवेधु और वेणु के रेशों से बनी रस्सी और ताँत का प्रयोग किया जाता था।

ङ. बाण के भी अनेक भेद होते थेः—

वेणु, शर, शलाका, दण्डासन और नाराच बाण के भेद होते थे। बाणों के मुख लोहा, हड्डी, तथा लकड़ी के बनते थे। इन्हें इस तरह बनाया जाता था कि इनसे काटने, फाड़ने और चीरने का भी काम हो सके।

च. तलवार भी अनेक प्रकार के होते थे—

(i) निस्त्रिंश—मुड़े हुए हत्थे की तलवार ।

(ii) मण्डलाग्र—इसके ऊपर एक गोल चक्र होता था ।

(iii) असियष्टि—यह बहुत लम्बी तथा तेज़ तलवार होती थी ।

तलवार की मूँठ गैंडे के सींग, भैंस के सींग, हाथी-दाँत, लकड़ी और बाँस की जड़ से बनाई जाती थी ।

छ. अन्य भी अनेक प्रकार के हथियार होते थे—

(i) परशु—२४ इञ्च लम्बा अर्धचन्द्र आकार का एक हथियार ।

(ii) कुठार ।

(iii) पट्टस—यह परशु की तरह का ही होता था, पर इसके दोनों सिरों पर त्रिशूल बने होते थे ।

(iv) खनित्र—फावड़ा ।

(v) कुद्दाल—कुदाल ।

(vi) चक्र ।

(vii) काण्डच्छेदन—कुल्हाड़ा ।

(viii) यन्त्रपाषाण—यन्त्र-द्वारा फेंके जानेवाले पत्थर ।

(ix) गोष्पणपाषाण—गोष्पणयन्त्र-द्वारा फेंके जाने वाले पत्थर ।

(x) मुष्टिपाषाण—मुट्ठी से फेंके जानेवाले पत्थर ।

(xi) रोचनी द्वषद्—चक्की के पत्थर ।

ज. युद्ध में आत्म-रक्षा के लिए नानाविध कवच भी तैयार किये जाते थे—

(i) लोहजालिका—लोहे की जाली से बना हुआ इस तरह का कवच, जो सारे शरीर को अच्छी तरह ढाँप लेता हो ।

(ii) पट्ट—लोहे का ऐसा कवच जो बाहुओं के सिवाय सम्पूर्ण शरीर को ढाँपता हो ।

(iii) कवच—जो सिर, धड़ और बाहुओं को ढकता हो।
(iv) सूत्रक—जो जङ्घा, तथा कमर को ढकता हो।
(v) शिरस्त्राण—जो सिर की ही रक्षा करता हो।
(vi) कण्ठत्राण—जो कण्ठ की रक्षा करता हो।
(vii) कूपास—जो धड़ को ढाँपता हो।
(viii) कञ्चुक—जो घुटनों तक पहुँचता हो।
(ix) वारबाण—जो कवच एड़ी तक पहुँचता हो।
(x) नागोदरिक—दस्ताने।

ये विविध कवच या वर्म केवल लोहे के ही नहीं बनते थे, अपितु कर्कट, शिशुमारक, गेंडा, धेनुक, हाथी और गौ के चमड़े, खुर तथा सींग से भी बनते थे।

झ. ढालें भी अनेक प्रकार की बनती थीं। उनके भेद निम्नलिखित हैं—

(i) वेरि—कोष्ठबल्ली नाम की लता से शरीर की रक्षा करने के लिए 'वेरि' बनाते थे।
(ii) चर्म—चमड़े की बनी हुई ढाल।
(iii) हस्तिकर्ण—शरीर को छिपाने के लिए बनाया हुवा फट्टा।
(iv) तालमूल—लकड़ी की बनी हुई ढाल।
(v) धमनिका —
(vi) कवाट—लकड़ी का फट्टा।
(vii) किटिक—चमड़े या बाँस की बनी हुई एक विशेष ढाल।
(viii) अप्रतिहत —हाथियों को पीछे धकेलने में समर्थ ढाल।
(iv) वलाहकान्त—यह अप्रतिहत के समान ही होती थी, पर इसके एक सिरे पर धातु लगी होती थी।

इतने प्रकार के हथियार बनाने में बहुत से शिल्पी हमेशा लगे रहते थे। आयुधागाराध्यक्ष सदा इस बात का हिसाब रखता था कि हथियारों की माँग कितनी है, उनकी उपलब्धि कराने के लिए कितने और क्या साधन हैं, कितने खर्च हो रहे

हैं और प्राकृतिक नियम से कितने क्षीण हो रहे हैं[1]। हथियारों की सुरक्षा के लिए विशेष ध्यान दिया जाता था। उन्हें धूप लगाने, साफ़ करने आदि पर बहुत ज़ोर दिया जाता था[2]।

(२१) नौका, जहाज़ आदि बनानेवाले—हम विस्तार के साथ मौर्यकाल में नौकानयन की उन्नति के सम्बन्ध में विचार कर चुके हैं। अतः यहाँ फिर इस सम्बन्ध में कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही पर्याप्त है कि उस समय बहुत से लोग जहाज़ बनाने के कार्य में लगे हुए थे। मैगस्थनीज़ के अनुसार जहाज़ बनाने क ाकार्य राज्य की तरफ़ से ही होता था।

(२२) गवैय्ये—

(२३) नाचनेवाले।

(२४) तमाशा दिखाकर भीख माँगनेवाले—मौर्यकाल में बहुत से लोग गाना, बजाना, नाचना, तमाशा दिखाना आदि से ही अपनी आजीविका करते थे। कौटिल्य ने इनके सम्बन्ध में बहुत से नियमों का उल्लेख किया है। इन्हें वर्षा-ऋतु में एक निश्चित स्थान पर रहना पड़ता था। ये किसी को अत्यन्त अधिक भोग-विलास में लीन न कर सकते थे। यदि किसी के काम को नुक़सान पहुँचता था, तो इन्हें अपना काम बन्द करना पड़ता था[3]।

---

१. 'इच्छामारम्भनिष्पत्तिं प्रयोगं व्याजमुद्दयम्।
क्षयव्ययौ च जानीयात् कुप्यानामायुधेश्वरः॥'
कौ० अर्थ० २। १८

२. 'स्थानपरिवर्तनमातपप्रदानं च बहुशः कुर्यात्।'
कौ० अर्थ० २। १८

३ 'कुशीलवा वर्षारात्रमेकस्था वसेयुः। कामदानमतिमात्रमेकस्यातिपातं च वर्जयेयुः। तस्यातिक्रमे द्वादशगुणो दण्डः। कामं

(२५) वेश्यायें—चन्द्रगुप्त-कालीन भारत में बहुत-सी स्त्रियाँ वेश्या बन कर भी जीवन निर्वाह करती थीं[1]। इनके सम्बन्ध में 'सामाजिक अवस्था' पर विचार करते हुए हम अधिक विस्तार के साथ लिख सकेंगे।

(२६) शौण्डिक[2]—शराब वेचनेवाले।

(२७) पाक्वमांसिक[3]—मांस पकाकर वेचनेवाले।

(२८) औदनिक[4]—चावल पका कर वेचनेवाले या भोजन की दुकान करनेवाले।

(२९) गोरक्षक[5]—ग्वाले।

(३०) कर्मकर[6]—मज़दूर।

(३१) पक्वान्नपण्याः[7]—हलवाई

(३२) गन्धपण्याः[8]—ख़ुशबू की वस्तुएँ बनाने और वेचनेवाले।

(३३) माल्यपण्याः[9]—मालायें बनाने और वेचनेवाले।

(३४) तालापचाराः[10]—बाजा बजानेवाले।

देशजातिगोत्रचरणमैथुनावभासेन नर्मयेयुः। कुशीलवैश्चारणादिभिक्षुकाश्च व्याख्याताः।

कौ० अर्थ० ४ । १

1. कौ० अर्थ० २ । २७
2. ,, २ । ३६
3. ,, २ । ३६
4. ,, २ । ३६
5. ,, २ । ३५
6. ,, २ । ३५ और ३ । १३
7. ,, २ । ४
8. ,, २ । ४
9. ,, २ । ४
10. ,, २ । १

(३५) राज (मकान बनानेवाले)—कौटिल्य ने पत्थर आदि के मकानों, दुर्गों तथा दीवारों का वर्णन किया है। इन्हें बनानेवाले शिल्पियों का भी उल्लेख है[1]।

(३६) वागुरिक, शबर, पुलिन्द[2] आदि ये लोग शिकार-द्वारा अपनी आजीवका किया करते थे।

(३७) लोहकारु[3]—लुहार—ये लोहे का सामान बनाया तथा सुधारा करते थे।

(३८) मणिकारु[4]—मणि का सामान, आभूषण आदि बनानेवाले।

(३९) देवताकारु[5]—मूर्तिकार—मौर्यकाल में भी विविध देवताओं की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। अतः उन्हें बनानेवालों का भी स्वभावतया एक पृथक् व्यवसाय प्रचलित था।

मौर्यकाल में प्रचलित मुख्य मुख्य व्यवसायों तथा व्यवसायियों का हमने उल्लेख कर दिया है। इनके सिवाय राज्य प्रबन्ध, सेना, जल-सेना आदि में भी बहुत से लोग नियुक्त थे। बहुत से ऋत्विक्, उपाध्याय, आचार्य आदि के कार्य भी करते थे। इन पर हम पृथक् विचार करेंगे। ऊपर किये गये वर्णन से चन्द्रगुप्त-कालीन व्यवसायों का मोटा खाका सम्मुख आ जाता है।

३. व्यापार

कृषि और व्यवसाय की तरह व्यापार भी चन्द्रगुप्त-कालीन भारत में बहुत उन्नत था। ग्राम के छोटे छोटे सौदागरों से लेकर

---

१. कौ० अर्थ० २। ३
२. ,, २। १
३. ,, २। ४
४. ,, २। ४
५. ,, २। ४

बड़ी बड़ी कम्पनियाँ तक उस काल में विद्यमान थीं। गाँवों में छोटे छोटे सौदागर दूकानों के सिवाय खेती तथा अन्य काम भी आजीविका के लिए किया करते थे[1]। देहात में माल की बिक्री के लिए मंडियाँ भी लगती थीं[2]। इनका प्रबन्ध राज्य की तरफ़ से होता था। ऐसी मंडियाँ जल और स्थलमार्गों के आवश्यक स्थानों पर ही लगाई जाती थीं। इनसे शहरों का माल गाँवों में अच्छी तरह पहुँच सकता था। शहरों और गाँवों में सम्बन्ध बनाये रखने के लिए इनका बहुत महत्त्व था।

शहरों में व्यापारियों के सम्बन्ध में अनेकविध नियमों का उल्लेख आचार्य चाणक्य ने किया है। इस बात का बहुत ख़याल रखा जाता था कि माल में मिलावट न हो। ख़राब माल को अच्छा बनाकर न बेचा जाय। तोलने आदि में किसी तरह की बेईमानी न हो। इस विषय में निम्नलिखित नियमों का उल्लेख करना आवश्यक है—

"जो घटिया माल को बढ़िया बता कर बेचता हो, जिस स्थान का वह माल हो उससे भिन्न किसी स्थान का बता कर बेचता हो, मिलावटी माल को अच्छा बताता हो, जिस माल का सौदा किया गया हो देते समय उसे बदल कर दूसरा माल रख देता हो तो उस व्यापारी पर न केवल ५४ पण जुर्माना किया जाय, अपितु उससे क्षतिपूर्ति भी कराई जाय[3]।

"संस्थाध्यक्ष नामक राजकर्मचारी जनता को धोखे से बचाने के लिए तराजू-बट्टों तथा माल का निरीक्षण किया करे[4]।

यदि कोई दूकानदार तराज़ू और बट्टों को ठीक न रखकर

---

१. 'ग्रामभृतकवैदेहका वा कृषेयुः।' कौ० अर्थ० २। १

२. 'वारिस्थलपथपण्यपत्तनानि च निवेशयेत्।' कौ० अर्थ० २। १

३. "सारभाण्डमित्यसारभाण्डं, तज्जामितत्यतज्जातं, राधायुक्तमुपधियुक्तं समुत्परिवर्त्तिमं वा विक्रयाधानं नयतो हीनमूल्यं चतुष्पञ्चाषत्पणो दण्डः।" कौ० अर्थ० ४। २

४. 'तुलामानभाण्डानि चावेक्षेत' कौ० अर्थ० ४। २

जनता को ठगता था, तो उस पर जुर्माना किया जाता था। पर थोड़े से फरक पर ध्यान नहीं दिया जाता था। परिमाणी और द्रोण[1] भर चीज़ के तोलने पर यदि आधा पल का भेद हो, तो उसे उपेक्षणीय समझा जाता था। पर इससे अधिक कमी होने पर दूकानदार को १२ पण दण्ड मिलता था। जितनी कमी हो उसके अनुसार दण्ड अधिक कर दिया जाता था। इसी तरह

---

१. मौर्य्यकाल में कौन कौन से बट्टे तोल के लिए प्रचलित थे, इसका यहाँ संक्षेप से उल्लेख कर देना आवश्यक है—

२ अर्धमाष = १ माष
२ माष = १ द्विमाष
२ द्विमाष = १ 'चत्वारः माषकाः'
२ 'चत्वारः माषकाः' = १ 'अष्टौ माषकाः'
२ 'अष्टौ माषकाः' = १ सुवर्ण,
२ सुवर्ण = १ 'द्वौ सुवर्णौ'
२ 'द्वौ सुवर्णौ' = १ 'चत्वारः सुवर्णाः'
२ 'चत्वारः सुवर्णाः' = १ 'अष्टौ सुवर्णाः'
इसी प्रकार आगे '१०० सुवर्ण' तक का बट्टा होता था।

इसी तरह—१६ माष या २ 'अष्टौ माषकाः' = १ सुवर्ण या १ कर्ष
४ कर्ष = १ पल
इसी प्रकार आगे पल के '१०० पल' तक के बट्टे
१०० पल = १ आयमानी
२०० पल या २ आयमानी = १ द्रोण

इसी तरह—१२½ कर्ष (२०० माष) = १ कुडुम्ब
४ कुडुम्ब = १ प्रस्थ
४ प्रस्थ = १ आढ़क
४ आढ़क = १ द्रोण
१६ द्रोण = १ वारी

तराज़ू भी यदि ठीक न होती थी, तो सज़ा होती थी। पर यदि तराज़ू से केवल १ कर्ष का फ़रक पड़ता था, तो उसे माफ़ कर दिया जाता था। पर इससे अधिक कमी होने पर दण्ड मिलता था। २ कर्ष से अधिक कमी होने पर दण्ड की मात्रा ६ पण थी। इसी अनुपात से आगे जुरमाना बढ़ता जाता था[1]।

मैगस्थनीज़ ने भी इसी व्यवस्था का वर्णन किया है। वह लिखता है—

"चौथा वर्ग व्यापार और व्यवसाय का निरीक्षण करता है। इसके लोग नाप और तोल की निगरानी रखते हैं।...... पाँचवाँ वर्ग तैयार माल की देख-भाल करता है।......नई वस्तुएँ पुरानी वस्तुओं से अलग बेची जाती हैं। दोनों को एक साथ मिला देने पर जुरमाना किया जाता है[2]।

निस्सन्देह, इन व्यवस्थाओं के कारण धोखा होने की बहुत कम सम्भावना थी। मौर्य्यकालीन भारत के बाज़ारों में ग्राहकों को कम तोलने, मिलावट करने आदि के नुक़सानों का ख़तरा बहुत कम था। राज्य ने इसके लिए पृथक् विभाग बनाकर उनकी इन चिन्ताओं को दूर किया था।

शहरों में भिन्न भिन्न वस्तुओं के अलग अलग बाज़ार होते थे। कौटिल्य ने जिस आदर्श नगर का चित्र उपस्थित किया है,

---

१० द्रोण = १ वट्ट

२० द्रोण या २ वट्ट = १ कुम्भ

इनके सिवाय अन्य भी अनेक बट्टे मौर्य्य-काल में प्रचलित थे। इसके विस्तार के लिए कौटिलीय अर्थशास्त्र २। १९ (तुलामान पौतवम्) देखिए।

१. 'परिमाणीद्रोणयोरर्धपलहीनातिरिक्तमदोषः; पलहीनातिरिक्ते द्वादशपणो दण्डः। तेन पलोत्तरा दण्डवृद्धिर्व्याख्याता।' 'तुलायाः कर्षहीनातिरिक्तमदोषः; द्विकर्षहीनातिरिक्ते षट्पणो दण्डः। तेन कर्षोत्तरा दण्डवृद्धिर्व्याख्याता।' कौ० अर्थ० ४। २

२. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ० ९०

उसमें मांस, चावल, रोटी, मिठाई आदि भोजन के पदार्थों की दूकानों के लिए पृथक् व्यवस्था की हैं और खुशबूदार तेल, माला, फूल आदि की दूकानों के लिए पृथक्। इसी तरह अन्य दुकानदारों के लिए भी अलग अलग स्थान निर्दिष्ट किये गये हैं[1]। शहरों में जहाँ बड़ी बड़ी दूकानें होती थीं, वहाँ फेरीवालों की भी कमी न थी। फेरीवाले माल को ले जाते थे और घूम घूम कर बेचते थे[2]।

व्यापारी लोग उस समय भी मुनाफ़ा उठाने के लिए अनेक अनुचित तरीक़ों का प्रयोग किया करते थे। कभी कभी वे माल को रोक कर दाम बढ़ा देते थे या परस्पर मिल कर अधिक क़ीमत पर माल को बेचने का निश्चय कर लेते थे। आचार्य चाणक्य ने इस तरह की बातों को अनुचित समझा है और ऐसा करनेवालों को १,००० पण जुरमाना करने की व्यवस्था की है[3]।

दुकानदार लोग कितना मुनाफ़ा लें, इस पर भी राज्य की तरफ़ से नियन्त्रण होता था। सर्वसाधारण वस्तुओं पर लागत से ५ फ़ी सदी अधिक मुनाफ़ा लिया जा सकता था। विदेशी माल पर दस फ़ी सदी मुनाफ़ा लेने की अनुमति थी। इससे ½ फ़ी सदी अधिक मुनाफ़ा लेने पर १०० पण से २०० पण तक के क्रय-विक्रय पर ५ पण जुरमाना किया जा सकता था। मुनाफ़ा अधिक लेने पर जुरमाने की मात्रा भी बढ़ जाती थी[4]।

---

१. कौ० अर्थ० २ । ४

२. कौ० अर्थ० २ । १६

३. 'वैदेहकानां वा सम्भूय पण्यमवरुन्धतामनर्घेण विक्रीणतां क्रीणतां वा सहस्रं दण्डः' कौ० अर्थ० ४।२

४. ' अनुज्ञातक्रयादुपरि चैषां स्वदेशीयानां पण्यानां पञ्चकं शतमाजीवं स्थापयेत्। परदेशीयानां दशकम् । ततः परमर्घं वर्धयतां क्रये विक्रये वा भावयतां पणशते पञ्चपणात् द्विशतो दण्डः ।
कौ० अर्थ० ४ । २

व्यापारी लोग अपनी दूकानों पर एक काठ की संदूकची रखा करते थे, जिसमें केवल एक छेद होता था। प्राप्त क़ीमत को वे इसमें डाल दिया करते थे[1]।

जब बाज़ार में माल बहुत बढ़ जाता था और इस कारण क़ीमत गिरनी शुरू होती थी, तो उसे एक स्थान पर एकत्रित करके या मुक़ाबला रोककर कृत्रिम रीति से क़ीमत का क्षय रोक दिया जाता था[2]। कौटिल्य को यह अभीष्ट न था कि लाभ न लिया जावे। उसका सिद्धान्त तो यह था कि चाहे लाभ कितना होता हो, पर यदि वह प्रजा के लिए हानिकारक है, तो उसे रोक दिया जाय[3]।

व्यापारियों की दूकानों पर माल को तोलने या मापने के लिए अनेक व्यक्ति होते थे। अर्थशास्त्र में इन्हें क्रमशः 'धरक' और 'मापक' लिखा गया है। यदि तोलते या मापते हुए ये लोग चालाकी करते थे, तो इन्हें भी कठोर दण्ड मिलता था[4]।

चन्द्रगुप्त-कालीन भारत में आन्तरिक व्यापार बहुत अधिक था। भारत देश का आन्तरिक व्यापार स्थल और जल—दोनों तरह के मार्गों से किया जाता था। इन मार्गों का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। भिन्न भिन्न स्थानों की भिन्न भिन्न चीज़ें प्रसिद्ध थीं। स्वाभाविक रूप से व्यापारी लोग इन प्रसिद्ध चीज़ों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेजाकर बेचते थे। हिमालय पर्वत-माला

---

१. 'पण्याधिष्ठातारः पण्यमूल्यमेकमुखं काष्ठद्रोण्यामेकच्छिद्रापिधानायां निदध्युः।'

कौ० अर्थ० २। १६

२. 'यच्च पण्यं प्रचुरं स्यात्तदेकीकृत्यार्घमारोपयेत्।' २। १६

३. 'स्थूलमपि च लाभं प्रजानामौपघातिकं वारयेत्।' २। १६

४. 'तुलामानान्तरमर्घवर्णान्तरं वा धरकस्य मापकस्य वा मूल्याष्टभागं हस्तदोषेणाचरतो द्विशतो दण्डः।'

कौ० अर्थ० ४। २

के अन्तर्गत 'द्वादशग्राम' 'आरोह' 'वाह्लव' आदि स्थानों के अनेकविध चमड़े बहुत प्रसिद्ध थे। इसी तरह कोशल, काश्मीर, विदर्भ, कलिङ्ग आदि के हीरे; ताम्रपर्णी, पाण्ड्य, सिंहलद्वीप, केरल आदि देशों के मोती; मालेय कूट आदि पर्वतों की मणियाँ उस समय सम्पूर्ण भारत में प्रसिद्ध थीं। नैपाल के कम्बल, वंगदेश के श्वेत और महीन वस्त्र (मलमल), काशी तथा पुण्ड्रदेश के सनिया कपड़े और मगध तथा सुवर्ण-कुड्य के रेशेदार वृक्षों के वस्त्र उस समय भारत में सर्वत्र विदित थे। हम इन सबका पहले ज़िक्र कर चुके हैं। इससे मालूम पड़ता है कि मौर्यकाल के व्यापारी व्यापार के लिए काफिले बनाकर सर्वत्र भारत में फिरा करते थे। भारत के सब प्रदेशों को परस्पर जोड़ने के लिए जो मार्ग बने हुए थे, उनका व्यापार के लिए वहुत उपयोग था। इसी लिए चाणक्य ने कौन सा मार्ग अधिक महत्त्वपूर्ण है, इस पर विचार करते हुए व्यापारिक दृष्टि को सम्मुख रखा है। वह लिखता है—

"पुराने आचार्यों के अनुसार स्थल-मार्गों में हैमवतपथ (उत्तर दिशा में हिमालय की ओर जानेवाला मार्ग) दक्षिणापथ (दक्षिण की ओर जानेवाले मार्ग) से अच्छा है, क्योंकि उसके द्वारा ही हाथी, घोड़े, गंध, द्रव्य, हाथीदाँत, चमड़ा, चांदी, सोना आदि वहुमूल्य पदार्थों का व्यापार होता है। परन्तु कौटिल्य की यह सम्मति नहीं है। वह दक्षिणापथ को ही उत्तम समझता है। क्योंकि कम्बल, चमड़ा, घोड़ा तथा व्यापारिक द्रव्यों को छोड़कर शंख, वज्र, मणि, मुक्ता, सोना आदि दक्षिणापथ से ही आता है। दक्षिणापथ में भी वह व्यापारीय मार्ग अच्छा है, जो खानों में से गुज़रता है, जिस पर आना जाना बहुत रहता है और जिस पर ख़र्च कम पड़ता है[1]।"

इस उद्धरण से न केवल मौर्यकाल में स्थलमार्गों की व्यापारिक दृष्टि से महत्ता तथा उनकी आपेक्षिक उपयोगिता ही

१. कौ० अर्थ० ७ । १२

सूचित होती है, अपितु देश के आन्तरिक व्यापार की प्रभूतता भी प्रकट होती है। काफिलों (सार्थ) में चलते हुए व्यापारी जब अपना माल लेकर किसी शहर में पहुँचते थे, तो उन पर चुंगी लगाई जाती थी। इसका वर्णन विस्तार के साथ अर्थ-शास्त्र में बड़ी मनोरञ्जक रीति से किया गया है। शहर के बाहर चुंगीघर (शुल्कशाला) बना होता था, उस पर चुंगी का झण्डा फहराता रहता था। जब काफिले के व्यापारी (सार्थोपयाताः) यहाँ पर पहुँचते थे, तो शुल्काध्यक्ष के चार या पाँच आदमी उसके पास जाकर पूछते थे—'तुम कौन हो? कहाँ के हो? तुम्हारे पास कितना और क्या माल है? पहली मुहर तुम्हारे माल पर कहाँ लगी थी[1]? व्यापारी लोगों का चुंगी के अफ़सरों की तेज़ निगाह से बच कर जा सकना बहुत कठिन था। ज़रा सा भी धोखा करने पर उन्हें कड़ा दण्ड मिलता था। उन पर बहुत अधिक जुरमाना किया जाता था[2]।

इन काफिलों की रक्षा का उत्तरदायित्व सरकार पर था। पर इसके लिए काफिलों में चलनेवाले व्यापारियों से कर लिया जाता था। प्रत्येक व्यापारी से १¼ पण मार्ग-कर (वर्तनी) लिया जाता था। इसके सिवाय ढोये हुए माल पर भी कर लगता था। इसकी मात्रा एक खुरवाले पशु के लिए १ पण, अन्य पशुओं के लिए ½ पण, छोटे पशुओं के लिए ¼ पण और सिर पर उठाये भार के लिए १ माष होती थी। परन्तु इस कर के बदले में सरकार का यह कर्तव्य था, कि व्यापारी का यदि कुछ भी नुक़सान हो, तो वह उसे पूरा करे[3]। इस तरह काफिलों की लूट आदि का कुछ

---

१. "के कुतस्त्याः कियत्पण्याः क्वचाभिज्ञानमुद्रा वा कृता"
कौ० अर्थ० २। २१

२. कौ० अर्थ० २। २१

३. 'अन्तःपालः सपादपणिकां, वर्तनीं गृह्णीयात्। पशूनामर्धपणिकां, क्षुद्रपशूनां पादिकां, अंसभारस्य माषिकाम्। नष्टापहृतं च प्रतिविदध्यात्।' कौ० अर्थ० २। २१

भी डर न था। वे निश्चिन्त होकर अपना व्यापार कर सकते थे। काफिले केवल स्वदेशी ही न होते थे। कौटिल्य ने विदेशी काफिलों का भी ज़िक्र किया है[१]।

मौर्यकाल में भारत का विदेशों के साथ भी व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। यह विदेशी व्यापार स्थल तथा जल—दोनों मार्गों से होता था। भारत की पश्चिमोत्तर, उत्तर, तथा उत्तर-पूर्वीय सीमायें अनेक सभ्य राष्ट्रों को छूती थीं। उनके साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। उन्हीं से स्थल-मार्ग-द्वारा विदेशी काफिले (सार्थ) भारत में व्यापार के लिए आते थे। भारत से भी इन सीमा-वर्त्ती राष्ट्रों में व्यापार के लिए सौदागर लोग जाया करते थे। इसी लिए कौटिल्य ने परदेशी व्यापार का वर्णन करते हुए स्थलपथ तथा वारिपथ—दोनों का वर्णन किया है[२]।

अर्थ-शास्त्र में महासमुद्र में जानेवाली नौकाओं का वृत्तान्त लिखा गया है[३]। महासमुद्रों में जानेवाले जहाज़ों को 'संयात्यः नावः' और 'प्रवहण' कहते थे। इनका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। सुदूरवर्ती देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध की सूचना कौटिलीय अर्थशास्त्र से भी मिलती है। उसमें चीन तथा फ़ारस (पर्शिया) की व्यापारिक वस्तुएँ उल्लिखित हैं। मौर्यकालीन भारत में चीन से रेशमी वस्त्र प्रभूत मात्रा में आते थे। कौटिल्य लिखता है—'रेशम और चीनपट्ट, जो चीन देश में उत्पन्न होते हैं, श्रेष्ठ समझे जाते हैं[४]।' इसी तरह मुक्ताओं की विविध क़िस्में बताते हुए चाणक्य ने 'कार्दमिक' भी एक भेद बताया है[५]। टीकाकार के अनुसार फ़ारस (पर्शिया) देश में एक कर्दम

---

१. 'वैदेश्यं सार्थ........'   कौ० अर्थ २। २१

२. कौ० अर्थ० २। १६

३. कौ० अर्थ० २। २८

४. कौ० अर्थ २। ११

५. कौ० अर्थ २। ११

नदी थी, वहाँ उत्पन्न हुए मोतियों को 'कार्देमिक' कहते थे। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि चन्द्रगुप्त के समय में भारत का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध था।

उस समय सीलोन का उत्तरीय भाग सभ्यता की दृष्टि से बहुत उन्नत था। इसका पूर्व में चीन तथा पश्चिम में इटली तक व्यापार विस्तृत था। एलेक्ज़ेंडर के समय में जब सेनापति नियार्कस फ़ारस की खाड़ी में घुस रहा था, तो उसे बताया गया कि इस स्थान के सबसे मुख्य बन्दरगाह का नाम 'मस्कत' (Muscat) है। यह भारतीय व्यापारिक वस्तुओं का सबसे बड़ा केन्द्र है और यहाँ से भारतीय पदार्थ असीरिया भेजे जाते हैं। भारत में 'मुजिरिस' नाम का एक बन्दरगाह था, इसमें रोमन व्यापारी निवास करते थे। व्यापार की रक्षा के निमित्त ही यहाँ पर १,२०० सैनिक निवास करते थे[1]।

मौर्यकाल में भारत का पश्चिमीय विदेशी व्यापार मुख्यतया मिस्र (ईजिप्ट) के साथ था। इस प्रदेश पर शासन करने के लिए सिकन्दर ने अपने एक सेनापति टॉल्मी (लेगस के पुत्र) को नियत किया था। टॉल्मी ने एलैक्ज़ेंड्रिया को अपनी राजधानी बनाया। इस नगरी की स्थापना सिकन्दर ने इस प्रदेश के व्यापारिक महत्त्व को ही सम्मुख रख कर की थी। टॉल्मी के सुशासन के कारण शीघ्र ही एलैक्ज़ेंड्रिया एक आबाद और समृद्ध नगर बन गया। एलैक्ज़ेंड्रिया को स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य भारतीय व्यापार का ही उपयोग करना था। टॉल्मी ने शीघ्र ही इसे नौका-नयन का प्रधान केन्द्र बना दिया। एलैक्ज़ेंड्रिया से कुछ दूरी पर फेरॉस नामी द्वीप में उसने एक महान् प्रकाश-स्तम्भ का निर्माण कराया। यह संसार के सात आश्चर्यों में से एक समझा जाता

---

१. S. K. Das—Economic History of Ancient India, pp. 160-161.

है। लेगस के पुत्र टॉल्मी के बाद उसका लड़का टॉल्मी फिलेडैल्फस ईजिप्ट का राजा बना। इस समय टायर के साथ भारत का व्यापार फिर तेज़ी के साथ चल रहा था। इस लाभकारी व्यापार को टॉल्मी फिलेडैल्फस एलैक्ज़ेंड्रिया में केन्द्रित करना चाहता था। इसी उद्देश्य को सम्मुख रख कर उसने आर्सिनोए (Arsionœ) से लालसागर तक एक नहर बनाने का संकल्प किया। इस नहर को १५० फ़ीट के लगभग चौड़ा तथा ४५ फ़ीट के लगभग गहरा बनाया जा रहा था। जहाँ वर्तमान समय में स्वेज़ की नहर बनाई गई है, उसी के समीप यह नहर बनाई जा रही थी। इसका उद्देश्य यही था कि भारतीय माल को एलैक्ज़ेंड्रिया पहुँचने के लिए स्थल पर न उतारना पड़े। वह जलमार्ग से ही सीधा मिस्र की नवीन राजधानी में पहुँच सके। परन्तु या तो यह नहर पूर्ण ही नहीं हुई, और या किन्हीं अन्य कारणों से इसका उपयोग नहीं हो सका। परन्तु इससे टॉल्मी निराश नहीं हुआ। उसने भारत के साथ व्यापार को सुरक्षित करने के लिए लालसागर के पश्चिमीय तट पर 'बेरेनाइस' (Berenice) नाम का एक नवीन नगर बसाया। शीघ्र ही यह शहर भारतीय व्यापार का मुख्य केन्द्र बन गया। भारत से जो माल पश्चिम जाता था, वह लालसागर द्वारा पहले 'बेरेनाइस' जाता था, वहाँ से उसे स्थलमार्ग द्वारा 'कॉप्टस' नामी नगर में—जो कि नील नदी से ३ मील की दूरी पर था और जिससे नील नदी तक एक नहर बनाई गई थी—पहुँचा दिया जाता था। कॉप्टस से यह भारतीय माल जलमार्ग-द्वारा एलैक्ज़ेंड्रिया पहुँच जाता था[1]।

इसी तरह मिस्र से भारत आनेवाले व्यापारी 'बेरेनाइस' से चल कर लालसागर होते हुए अरब-सागर में पहुँच जाते थे। वहाँ वे अरब के किनारे किनारे होते हुए रसालगाट के अन्तरीप

---

१. William Roberston—An Historical Disquisition of Ancient India, pp. 30-31.

से गुज़र कर पर्शिया के तट के साथ समुद्र-मार्ग द्वारा चलकर सिन्ध के मुहाने पर स्थित पाटल या पाट्टल नामी बन्दरगाह में जा पहुँचते थे। इसके बाद दक्षिणीय भारत के अन्य बन्दरगाहों से वे व्यापार करते थे। इस भारतीय व्यापार के कारण ईजिप्ट के लोग अतिशीघ्र अत्यन्त वैभवशाली होगये[1]।

लालसागर के इस मार्ग के सिवाय कम से कम ३ अन्य ऐसे मार्ग थे, जिनसे भारत का माल विदेशी राष्ट्रों में पहुँचता था। ये तीनों स्थल-मार्ग थे। पहला ज़मीन का रास्ता मध्य-एशिया में आक्सस नदी के साथ साथ होता हुआ कैस्पियनसागर पहुँचता था और वहाँ से कालासागर में जा मिलता था। दूसरा मार्ग पर्शिया के बीच में से गुज़र कर एशिया माइनर जा पहुँचता था। वहाँ से उसका भूमध्य-सागर के साथ सम्बन्ध था। तीसरा पथ पर्शियन खाड़ी से होता हुआ यूफ्रेटस नदी तक चला जाता था, वहाँ से डमास्कस होता हुआ यह लेवन्ट के बन्दरगाह से जा मिलता था[2]। निस्सन्देह, मौर्यकाल में ये सब मार्ग विदेशी व्यापार के लिए खुले हुए थे और इनके कारण भारत का विदेशी व्यापार बहुत उन्नत था। आचार्य चाणक्य की नीति भी विदेशी व्यापार के अनुकूल थी, इसी लिए उसके साथ अनेकविध सुविधायें की जाती थीं[3]।

४. कृषकों, व्यवसायियों और व्यापारियों के संगठन

मौर्यकाल में कृषक, व्यवसायी और व्यापारी लोग अनेकविध संगठनों द्वारा संगठित थे। व्यवसायियों के संगठनों को

---

१. William Roberston—An Historical Disquisition of Ancient India, pp. 31-32.

२. S. K. Das—Economic History of Ancient India, p. 162.

३. 'परभूमिजं पण्यमनुग्रहेणावाहयेत्।' कौ० अर्थ० २। १६

'श्रेणि' (Guild) कहा जाता था। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से इन श्रेणियों के स्वरूप, नियम, व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में हमें बहुत कुछ परिज्ञान होता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र-द्वारा विस्तृतरूप से 'श्रेणियों' के स्वरूप का पता तो नहीं चलता, परन्तु उनकी सत्ता अवश्य सूचित हो जाती है। 'अक्षपटलमध्यक्ष' (कार्यालयाध्यक्ष या (Superintendent of Accounts) अपने रजिस्टरों में जहाँ अन्य बहुत सी बातें दर्ज करता था, वहाँ अनेकविध संघातों (Corporations) के धर्म, व्यवहार, चरित्र और संस्थान को भी उल्लिखित करता था[1]। इससे स्पष्ट है कि इन संघातों के अपने नियम, अपनी व्यवस्था तथा अपने रीति-रिवाज होते थे, जिन्हें कि राज्य की तरफ़ से स्वीकृत किया जाता था। इसी तरह अन्यत्र कौटिल्य ने लिखा है कि राज्य की तरफ़ से ३ अमात्य नियत किये जायँ, जो कि 'श्रेणियों' की अमानत को अपने पास सुरक्षित रूप से रखें। आपत्ति के समय 'श्रेणियाँ इस 'अमानत' (निक्षेप) को वापिस ले सकती थीं। निक्षेप रखनेवाले ये अमात्य वे ही नियत किये जाते थे, जिन पर कि 'श्रेणियों' को पूरा विश्वास हो, जो व्यवसाय और शिल्प का सञ्चालन कर सकें तथा जो आपत्ति के निवारण में समर्थ हों[2]। इस काल में 'श्रेणियों' का कितना महत्त्व था, यह इससे जाना जा सकता है कि कौटिल्य ने नगरों में इनके पृथक् रूप से रहने की व्यवस्था की है। इनका स्थान नगरों में अलग सुरक्षित रहता था[3]। राज्य को 'श्रेणियों' से आमदनी भी बहुत थी, इसी लिए आय

---

१. 'देशग्रामजातिकुलसङ्घातानां धर्मव्यवहारचरित्रसंस्थानं........ निबन्धपुस्तकस्थं कारयेत्।' कौ० अर्थ० २। ७

२. 'अथ्यप्रतीकाराः कारुशासितारः सन्निक्षेप्तारः स्वचित्तकारवः श्रेणीप्रमाणा निक्षेपं गृह्णीयुः। विपत्तौ श्रेणीनिक्षेपं भजेत।' कौ० अर्थ० ४। १

३. कौ० अर्थ० २। ३

के साधनों की परिगणना करते हुए चाणक्य ने कारु तथा शिल्पियों के संगठनों की पृथक् रूप से गणना की है[1]।

इन सब निर्देशों से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि चन्द्रगुप्त-कालीन भारत में व्यवसायी लोग 'श्रेणियों' में संगठित थे। जातक-ग्रन्थ, स्मृति और धर्मग्रन्थ, उत्कीर्ण लेख तथा काव्य-साहित्य—इन सबके अध्ययन से 'श्रेणियों' का जो रूप हमारे सम्मुख उपस्थित होता है, निस्सन्देह वही मौर्यकाल में भी विद्यमान था। इस काल में भी व्यवसायी लोग 'श्रेणि' में अपने अपने व्यवसायों का सञ्चालन करते थे। स्वयं अपने मुक़द्दमों का निर्णय करते थे। अपने विषय में अपने आप क़ानून बनाते थे। उनकी 'सामूहिक व्यक्ति' के रूप में पृथक् सत्ता थी। शासन-व्यवस्था में उनकी भी आवाज़ थी[2]।

कर्मकर या-मज़दूर लोग भी अनेकविध संगठनों में संगठित थे। इनके संगठन के लिए कौटिल्य ने 'सङ्घ' शब्द का प्रयोग किया है। साधारण मज़दूरों की अपेक्षा इन्हें कुछ अधिकार प्राप्त थे। मज़दूरों के सङ्घ काम को ठेके पर ले लेते थे। यह निश्चित कर दिया जाता था कि कितना काम कितने काल में समाप्त करना है। उन्हें यह विशेष-अधिकार था कि यदि काम निश्चित समय में समाप्त न हो सके, तो सात दिन और दिये जावें। इस समय में उन्हें अवश्य ही अपने ठेके के अनुसार काम पूरा कर देना चाहिए। न करने पर उन्हें दण्ड मिलता था। वे किसी चीज़ को चुरा न सकते थे और न किसी काम को अधूरा छोड़ सकते थे। ऐसा करने से उन पर जुरमाना किया जाता था। संघ में काम

---

१. कौ० अर्थ० २। ६

२. श्रेणियों के सम्बन्ध में विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए—

R. C. Majumdar—Corporate Life in Ancient India, Ch. I.

B. K. Sarkar—Political Institutions and Theories of Ancient Hindus pp. 40—49.

करनेवाले मज़दूर (संघभृतः) अपनी कमाई को बराबर या जैसा पहले निश्चय कर लिया गया हो, वैसे बाँट लेते थे[1]।

संघ में जो मज़दूर ठीक तरह काम न करता था, उसे पहले साधारण दण्ड मिलता था। पर यदि बार बार वह अपने कार्य की उपेक्षा करे या अपने आचरण को ठीक न करे, तो उसे संघ से निकाल दिया जाता था। काम शुरू हो चुकने पर यदि कोई मज़दूर संघ से अलग होना चाहता था, तो उस पर जुरमाना किया जाता था।

मज़दूरों की तरह कृषकों के भी अपने संगठन थे। कौटिल्य ने 'शस्त्रोपजीवी' तथा 'राजशब्दोपजीवी' संघों के साथ साथ 'वार्त्तोपजीवी' संघों का भी वर्णन किया है[2]। वार्त्ता का अर्थ कौटिल्य स्वयं इस तरह करता है—'कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को वार्त्ता कहते हैं[3]। इस तरह, कृषि तथा पशुपालन-द्वारा जीवन व्यतीत करनेवाले कृषकों के भी मौर्य-काल में 'संघ' थे। शत्रुदेशों के संघों के सम्बन्ध में अपनी नीति का विस्तार करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि राजा इन संघों में कलह पैदा करके इन्हें अपनी भूमि पर कृषि के लिए 'पञ्चकुली' 'दशकुली' आदि रूप से बसाये[4]। सम्भवतः गाँवों में रहनेवाले किसान

---

१. 'तेन सङ्घभृता व्याख्याताः। तेषामाधिस्सप्तरात्रमासीत्। ततोऽन्यमुपस्थापयेत्। कर्म निष्पाकं च। न चानिवेद्य भर्त्तुस्सङ्घः किञ्चित्परिहरेत्; अपनयेद्वा। तस्यातिक्रमे चतुर्विंशतिपणो दण्डः।'
'सङ्घभृताः..........यथासम्भाषितं वेतनं समं वा विभजेरन्।'
कौ० अर्थ० ३। १४

२. कौ० अर्थ० ११। १

३. 'कृषिपशुपाल्ये वणिज्या च वार्ता।' कौ० अर्थ० १। ३

४. 'एक देशे समस्तान् वा निवेश्य भूमौ चैषां पञ्चकुलीं दशकुलीं वा कृष्यायां निवेशयेत्।' कौ० अर्थ० ११। १

'संघ' रूप में संगठित होते थे और एक गाँव में एक ही संघ होता था। एक गाँव में एक से अधिक संघ स्थापित करने से कौटिल्य ने निषेध किया है[1]।

व्यापारी लोग भी अनेक संगठनों में संगठित थे। इनको 'सम्भूय समुत्थान' कहा जाता था[2]। नारदस्मृति में 'सम्भूय समुत्थान' का लक्षण इस प्रकार किया है—'वणिक् प्रभृति जहाँ मिलकर काम करते हैं, उसे सम्भूय समुत्थान कहा जाता है। मुनाफ़े को सम्मुख रख कर जब सम्मिलित रूप से कार्य किया जाता है, तो उसका आधार अपनी तरफ़ से लगाया हुआ (Invested) धन होता है इसी हिस्से के अनुसार सब हिस्सेदारों को अपना अपना अंश (Dividend) मिलना चाहिए। क्षय, व्यय तथा वृद्धि का जो भाग भी प्रत्येक हिस्सेदार पर उसके हिस्से (Share) के अनुसार पड़ना चाहिए[3]। इससे स्पष्ट है कि 'सम्भूय समुत्थान' सम्मिलित पूँजी की कम्पनियों (Joint-stock Companies) को कहा जाता था। कौटिल्य से पूर्व जातकग्रन्थों के समय में भी व्यापारी लोग 'सम्भूय समुत्थान' द्वारा व्यापार करते थे[4]।

इन संगठित व्यापारियों के साथ सरकार की तरफ़ से अनेक प्रकार के सुभीते भी किये जाते थे। यदि किसी अचानक दुर्घटना

---

१. कौ० अर्थ० २ । १

२. कौ० अर्थ० ३ । १४

३. "वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म संभूय कुर्वते ।
तत् सम्भूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम् ॥
फलहेतोरुपायेन कर्म संभूय कुर्वताम् ।
आधारभूतः प्रक्षेपस्तेनोत्तिष्ठेयुरंशतः ॥
समोऽतिरिक्तो हीनो वा तत्रांशो यस्य यादृशः ।
क्षयव्ययौ तथा वृद्धिस्तत्र तस्य तथाविधाः ॥" नारदस्मृतिः

४. Majumdar—Corporate Life in Ancient India, pp. 72.

के कारण या स्वाभाविक प्राकृतिक विषय से कोई माल नष्ट हो जाता था, तो संगठित व्यापारी (सांव्यवहारिक) उसके लिए उत्तरदाता न होते थे[1]। इसी तरह, संगठित व्यापारियों के पारस्परिक मुक़द्दमों के लिए भी कुछ विशेष नियम थे[2]।

मौर्य्यकालीन भारत में याजक (यज्ञ, संस्कार आदि कराने वाले) लोगों के भी संगठन होते थे। बहुत से याजक लोग मिलकर अपने संघ बना लेते थे और दक्षिणा आदि से प्राप्त अपनी आमदनी को परस्पर बाँट लेते थे। इनके सम्बन्ध में आचार्य चाणक्य ने बहुत से नियमों का उल्लेख किया है[3]।

इस तरह स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त के समय में भारत में समूह या संगठन का तत्त्व प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान था। प्रायः सभी लोग सम्मिलित रूप से संघ बनाकर अपने कार्य किया करते थे।

५. दासप्रथा

मैगस्थनीज़ ने लिखा है कि "भारतवर्ष के विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है कि समस्त भारतवासी स्वतन्त्र हैं, उनमें से एक भी दास नहीं है। 'लैकिडिमोनियन्स' और भारतवासी यहाँ तक तो एक दूसरे से मिलते हैं। परन्तु, लैकिडिमोनियन्स लोग 'हेलॉट' लोगों को दास की तरह से रखते हैं। ये 'हेलॉट' नीचे दर्जे का परिश्रम करते हैं। परन्तु भारतीय लोग विदेशियों तक को दास नहीं बनाते, अपने देशवासियों की तो बात ही क्या है[4] ?"

स्ट्रैबो के अनुसार "वही मैगस्थनीज़ लिखता है कि भारतीयों में से कोई भी दास नहीं रखता[5]।

---

१. कौ० अर्थ० ३। १२

२. कौ० अर्थ ३। १

३. कौ० अर्थ० ३। १४

४. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण (English), p. 69.

५. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण (English), p. 71.

इस तरह यूनानी लेखकों के अनुसार भारत में दास-प्रथा का अभाव था। परन्तु कौटिलीय अर्थशास्त्र के आधार पर हम उनकी इस सम्मति को स्वीकृत करने के लिए तैयार नहीं हैं। सम्भवतः ग्रीक लोगों की दृष्टि में जो दास-प्रथा थी, वह भारत में न थी। यहाँ दासों के साथ उतना कड़ा तथा भयावह व्यवहार न किया जाता था, जैसा कि ग्रीक और रोम में। पर यहाँ इस प्रथा का अभाव नहीं था। ग्रीक लेखकों में ही "आनेसिक्रिटस के अनुसार यह बात (दास-प्रथा का अभाव) केवल उसी प्रदेश के सम्बन्ध में ठीक है, जिस पर कि मूसिकेनस[1] राज्य करता था[2]। मौर्यकालीन दास-प्रथा के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र के अध्ययन से जो उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं[3]—

(१) उस समय जन्म से ही बहुत से व्यक्ति दास होते थे। इन्हें खरीदा और बेचा जा सकता था।

(२) म्लेच्छ लोग अपने बच्चों व अन्य सम्बन्धियों को दास की भाँति बेच सकते थे। पर आर्यों में यह प्रथा न थी। उन्हें अपने सम्बन्धियों को बेचने पर कठोर दण्ड मिलता था।

(३) साधारणतया आर्य लोग दास नहीं बन सकते थे। पर निम्नलिखित अवस्थाओं में कोई आर्य दास बन सकता था—

क. अपने परिवार को आर्थिक संकट से बचाने के लिए यदि अपनी व्यक्ति को बेचना आवश्यक हो।

ख. जुर्मानों का दण्ड अदा करने के लिए।

ग. यदि राजदण्ड इस प्रकार का मिला हो।

घ. यदि युद्ध में जीतकर दास बनाया गया हो।

---

१. मूसिकेनस सिन्ध नदी के तटवर्ती सिन्धु-देश का राजा था। इसकी राजधानी सम्भवतः बक्खर के समीप थी।

२. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण (English), p. 71.

३. कौ० अर्थ० ३। १३ 'दासकल्पः'

(४) दासों से बुरा व्यवहार नहीं किया जाता था। उनसे मुर्दा उठवाना व मूत्र, विष्ठा और जूठ उठवाना निषिद्ध था। वे नङ्गे नहीं रखे जा सकते थे। उसे पीटा नहीं जा सकता था, उसे गाली देना भी मना था।

(५) दास लोग स्वामी के कार्य को नुक़सान न पहुँचाते हुए अपनी अलग कमाई कर सकते थे। अपने माता-पिता से प्राप्त सम्पत्ति पर भी दासों का अधिकार होता था।

(६) क़ीमत चुका कर दास लोग फिर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते थे।

(७) बिना कारण के दासों को क़ैद में नहीं डाला जा सकता था। ऐसा करने पर स्वामी को दण्ड मिलता था।

(८) दास-स्त्रियों और लड़कियों के साथ अनाचार नहीं किया जा सकता था। यदि स्वामी किसी से अनाचार करे, तो फिर वह दास नहीं रह सकती थी। वह स्वतन्त्र हो जाती थी। स्वामी का उस पर अधिकार नहीं रहता था।

(९) दास की सन्तान दास न होती थी। वह आर्य्य या स्वतन्त्र ही रहती थी।

(१०) क़ीमत चुकाने पर जन्मदास भी स्वतन्त्र हो सकते थे। स्वतन्त्र होने के लिए दास लोग अलग कमाई करने का प्रयत्न करते थे। सम्बन्धी लोग भी अपनी तरफ़ से क़ीमत चुका कर दास को स्वतन्त्र कर सकते थे।

६. शहर और गाँव

मौर्यकालीन भारत में शहरों की कितनी अधिकता थी इसकी सूचना मैगस्थनीज़ के लेखों से मिलती है। पोरस के राज्य में कुल मिला कर २,००० शहर थे[1]। आन्ध्रों के शहरों की संख्या

---

१. Rapson—The Cambridge History of India, p. 475.

३० थी[1]। इससे मालूम पड़ता है कि उस समय में शहरों की संख्या कम न थी। पोरस के राज्य में—जो वर्तमान पञ्जाब के प्रान्त से परिमाण में बहुत कम था—२००० शहरों की सत्ता उस समय में शहरों की अधिकता को प्रकट करती है। ग्रीक लेखकों ने भारत के बहुत से बड़े बड़े शहरों का उल्लेख किया है[2], पर उन्हें यहाँ देने की कोई आवश्यकता नहीं।

चन्द्रगुप्त के समय में शहर भी अनेक प्रकार के होते थे। मुख्य राजधानी के सिवाय, पुर, नगर, पट्टन आदि आबादी तथा समृद्धि के अनुसार विभाग थे। राजनैतिक दृष्टि से शहरों के सङ्ग्रहण, खार्वटिक, द्रोणमुख और स्थानीय—ये चार भेद थे[3]। संग्रहण १० ग्रामों के बीच में बड़ा गाँव या क़सबा होता था। खार्वटिक २०० गाँवों के बीच में, द्रोणमुख ४०० ग्रामों के बीच में और स्थानीय ८०० गाँवों के बीच में होता था। यद्यपि यह विभाग शासन की दृष्टि से किया जाता था, तथापि संग्रहण आदि में आबादी तथा समृद्धि का भी फ़र्क होता था।

मौर्यकाल के नगरों का स्वरूप समझने के लिए पाटलिपुत्र का मैगस्थनीज़-द्वारा किया हुआ वर्णन बहुत उपयोगी है। सैल्यूकस का यह दूत बहुत समय तक पाटलिपुत्र में रहा था। उसे उसने अपनी आँखों से देखा था। अतः उसका वर्णन बहुत प्रामाणिक है। वह लिखता है—

"गंगा नदी और अन्य एक नदी के संगम पर पालीबोथ्रा स्थित है। यह नगर लम्बाई में ८० स्टेडिया और चौड़ाई में १५ स्टेडिया है[4]। यह समानान्तर चतुर्भुज के आकार का है। चारों तरफ़ एक लकड़ी की दीवार बनी है, जिसके बीच में तीर छोड़ने

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण (English), p. 138.

२. मैगस्थनीज़ Fragm. LVI.

३. कौ० अर्थ० २ । १

४. लम्बाई में ९ मील, चौड़ाई में १½ मील।
(V. A. Smith—Early History of India, p. 127.)

के लिए बहुत से छेद बनाये हुए हैं। दीवार के सम्मुख चारों ओर एक खाई है, जो रक्षा के निमित्त तथा शहर का मैला वहाने के काम आती है। वे लोग जिनके बीच में यह नगर स्थित है, सारे भारतवर्ष में सबसे प्रख्यात हैं और 'प्रेसिआई' कहलाते हैं[1]"।

ऊपर का उद्धरण स्ट्रेबो के लेखों में से है। एरियन इस सम्बन्ध में कुछ अधिक विस्तार से लिखता है। एरियन के अनुसार—

"भारतवर्ष में सबसे बड़ा नगर वह है, जो 'प्रेसिआई' राज्य में पालिबोथ्रा कहलाता है। यह गंगा और एरन्नावोअस नदियों के संगम पर स्थित है। गंगा सब नदियों से बड़ी है, पर सम्भवतः एरन्नावोअस भारत में तीसरे नम्बर की नदी है। भारत में यद्यपि इसका नम्बर तीसरा है, पर अन्यत्र की बड़ी से बड़ी नदी से भी यह बड़ी है। जहाँ पर यह गंगा में मिलती है, वहाँ यह गंगा से छोटी है। मैगस्थनीज़ हमें सूचित करता है कि इस नगर की बस्ती लम्बाई में ८० स्टेडिया और चौड़ाई में १५ स्टेडिया तक फैली हुई है। इस नगर की खाई—जिसने कि इसे चारों तरफ़ से घेरा हुआ है—गहराई में ४५ फ़ीट और चौड़ाई में ६०० फ़ीट है। शहर के चारों ओर जो दीवार बनी हुई है, वह ५७० बुर्जों से सुशोभित है तथा उसमें ६४ फाटक बने हुए हैं[2]।"

एरियन की भारत के नगरों के सम्बन्ध में यह सूचना भी बहुत उपयोगी है—"परन्तु उनके नगरों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनकी संख्या इतनी अधिक है कि ठीक ठीक नहीं बताई जा सकती। जो नगर नदियों के तट या समुद्र के किनारे पर स्थित हैं, वे ईंटों के स्थान पर लकड़ी के बने हुए हैं, क्योंकि

---

१. मैगस्थनीज़ (English), pp. 66-67.

२. मैगस्थनीज़ (English), p. 68.

वे थोड़े ही काल तक चलने के लिए बनते हैं। यहाँ पर वर्षा बहुत ज़ोर से पड़ती है और नदियाँ अपने किनारों के ऊपर चढ़ कर मैदानों में बाढ़ ले आती हैं। पर ऐसे नगर जो खुली जगह पर तथा ऊँचे ऊँचे टीलों पर बसे हैं, ईंट और गारे से बने हुए हैं[1]।"

ग्रीक लेखकों के ये विवरण भारतीय नगरों के सम्बन्ध में बहुत प्रकाश डालते हैं। इनसे मालूम पड़ता है कि उस समय नगरों में ईंट तथा लकड़ी के मकान होते थे। शहरों को दुर्ग की रीति से बनाया जाता था। बहुत बड़े तथा वैभवशाली शहर विद्यमान थे।

आचार्य चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में आदर्श नगर का चित्र खींचा है। अपने समय के वास्तविक नगरों को सम्मुख रख कर ही यह कल्पित नगर बनाया गया है। इसका अनुशीलन मौर्यकालीन नगरों के ज्ञान के लिए बहुत उपयोगी है। कौटिल्य के आदर्श नगर के चारों ओर छः छः फ़ीट की दूरी पर तीन खाइयाँ बनी होनी चाहिएँ। तीनों खाइयों की चौड़ाई क्रम से ८४, ७२ और ६० फ़ीट हो। इसी तरह गहराई क्रमशः ४२, ३६ और ३० फ़ीट या ६३, ५४, और ४५ फ़ीट हो। इन खाइयों की दीवारें पत्थर या ईंट की बनी हों। इनमें पानी भरा हुआ हो, तथा मगर-मच्छ आदि रखे हुए हों। अन्दर की खाई से २४ फ़ीट दूर भीतर की तरफ़ ३६ फ़ीट ऊँची और ७२ फ़ीट चौड़ी दीवार बनी हुई हो। इस दीवार (वप्र या शहरपनाह) के ऊपर १२ हाथ से २४ हाथ तक चौड़ी तथा इससे दुगुनी ऊँची ईंटों की दूसरी दीवार (प्राकार) बनाई जावे। इस तरह शहर को चारों ओर से 'दुर्ग' या 'क़िले' की भाँति बनाया जाय। इसमें १२ मुख्य दरवाज़े हों, और अन्दर तीन राजपथ पूर्व से पश्चिम की ओर जानेवाले और तीन उत्तर से दक्षिण की ओर जानेवाले बनाये जावें। शहर के नवें हिस्से में,

---

१. मैगस्थनीज़ (English), p. 68.

मध्य भाग से उत्तर की ओर, चारों वर्णों के लोगों के मकानों के बीच में राजा के लिए महल बनाया जाय। उसके पूर्वोत्तर भाग में आचार्य और पुरोहित के लिए रहने के मकान, पूजा का स्थान, जल का भण्डार तथा मन्त्रियों के रहने के लिए मकानों का निर्माण हो। पूर्व-दक्षिण भाग में भोजनालय, हस्तिशाला और कोष्ठागार हों। पूर्व में सुगन्धित पदार्थ, माल्य, धान्य तथा रस के दूकानदार, मुख्य शिल्पी तथा क्षत्रिय लोग बसाये जावें। इसी तरह भिन्न भिन्न भागों में भिन्न भिन्न लोगों के लिए स्थान निश्चित हो। पूजा-मन्दिर, श्मशान आदि के लिए भी पृथक् स्थान हो[1]।

इस वर्णन से स्पष्टतया सूचित होता है कि चन्द्रगुप्त-कालीन भारत में शहर बड़े अच्छे ढंग से बने होते थे। उन सबके चारों ओर दीवार तथा खाई बनाई जाती थी, इसी लिए कौटिल्य ने नगर के लिए 'दुर्ग' (Fortified Town) शब्द का प्रयोग किया है। केवल युद्ध के प्रयोजन के लिए, शत्रुओं से देश की रक्षा के लिए अलग किले बनाये जाते थे। ये किले जलदुर्ग, वनदुर्ग, पर्वतदुर्ग आदि अनेक प्रकार के होते थे[2]। यहाँ हमें इनसे मतलब नहीं है। इनके सिवाय साधारण शहरों को भी 'दुर्ग' की तरह से बनाया जाता था। आवश्यकता से बाधित होकर चाहे मकानों को लकड़ी का बनाया जाय, पर प्रायः भवन-निर्माण के लिए ईंट और पत्थर का प्रयोग होता था। कौटिल्य लकड़ी के प्रयोग के बहुत विरुद्ध है। वह लिखता है कि लकड़ी में आग निवास करती है, अतः उसके मकान नहीं बनाने चाहिएँ[3]।

---

१. कौ० अर्थ० २। ३ और २। ४

२. कौ० अर्थ० २। ३

३. 'न त्वेव काष्ठमयमग्निरवहितो हि तस्मिन् वसति।'

कौ० अर्थ० २। ३

चन्द्रगुप्त-कालीन भारत के गाँवों के वि क्के देकर सोना या से कुछ उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं। प्रत्येक गाँव है सिक्के 'त्' एक कोस से दो कोस तक विस्तृत होती थी और इनका परिवारों से लेकर ५०० परिवार तक निवास करते थे. न , की जनता प्रायः खेती किया करती थी। गाँवों की सीमा निश्चय करने के लिए नदी, पहाड़, जङ्गल, पेड़, गुहा, सेतुबन्ध, सिंवल, पीपल, बड़ आदि का प्रयोग किया जाता था। गाँव की ज़मीन कृषकों में बाँटी हुई होती थी। यदि कोई किसान अपनी ज़मीन पर खेती नहीं करता था, तो उसका ज़मीन पर अधिकार नष्ट हो जाता था। कृषियोग्य भूमि के सिवाय गाँव के समीप गोचर भूमि छुटी होती थी। इस पर गाँव के पशु स्वच्छन्दता-पूर्वक चर सकते थे। कृषकों के सिवाय गाँव में गड़रिये, ग्वाले, कारीगर, सौदागर आदि अनेक पेशेवाले लोग भी रहते थे। राज्य की तरफ़ से तालाब, कूप, बगीचा, रास्ते आदि भी गाँव में बनवाये जाते थे या बनानेवालों की सहायता की जाती थी। बालक, वृद्ध, विपत्तिग्रस्त तथा अनाथों के पालन-पोषण के लिए राज्य की तरफ़ से प्रबन्ध किया जाता था[1]।

गाँवों में निवास करनेवाली जनता का मनोरञ्जन करने के लिए कभी कभी नट, नर्त्तक, गायक, वादक तथा तमाशा करने वाले लोग भी आजाया करते थे। पर भोले-भाले ग्रामीण लोगों के धन को ये लोग लूट न लें, तथा उनके काम का हर्ज न होने पावे, इसको दृष्टि में रख कर इन पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये जाते थे[2]।

७ मुद्रा-पद्धति (CURRENCY SYSTEM)

मौर्यकालीन भारत के कोई भी सिक्के इस समय उपलब्ध नहीं होते। तथापि कौटिलीय अर्थ-शास्त्र के अनुशीलन से

---

१. कौ० अर्थ० २ । १

२. कौ० अर्थ० २ । १

मध्य भाग से उत्त...त के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी बातों का बीच में राजा ...। जा सकता है। अर्थशास्त्र के अनुसार मुद्रा-संचालन के लिए एक पृथक् विभाग होता था, जिसके अध्यक्ष को 'लक्षणाध्यक्ष' कहा जाता था[1]। यह दो प्रकार के सिक्के प्रचलित करता था[2]—

(१) कोशप्रवेश्य (Legal Tender)—यह वास्तविक सिक्का होता था। राजकीय कर तथा बड़े क्रय-विक्रय के लिए इसी का प्रयोग किया जाता था। वस्तुओं की क़ीमत को मापने के लिए इसी की प्रामाणिकता थी।

(२) व्यावहारिक (Token Money)—इसका मूल्य कोशप्रवेश्य सिक्कों पर आश्रित था। यह साधारण व्यवहार में काम आता था।

मुद्रा बनाने के लिए अलग टकसाल होती थी। टकसाल का प्रबन्ध भी राज्य के अधीन था। इसके प्रबन्धकर्त्ता को 'सौवर्णिक' (Superintendent of Mint) कहते थे[3]। सौवर्णिक बहुत से कारीगरों की सहायता से अनेक-विध सिक्कों या मुद्राओं का निर्माण करता था। टकसाल सब नागरिकों के लिए खुली थी। वर्तमान परिभाषाओं में अगर कहा जाय, तो 'स्वतन्त्र मुद्रा-पद्धति' (Free Coinage) उस समय विद्यमान थी। जो कोई नागरिक पौर या जानपद जितने सोने या चाँदी का चाहे, सिक्के बनवा सकता था[4]। सौवर्णिक के लिए यह आवश्यक था कि जिस व्यक्ति ने जितना सोना या चाँदी सिक्के बनाने के लिए दिया हो, उतने ही भार और उतने ही शुद्ध

---

१. कौ० अर्थ० २। १२

२. कौ० अर्थ० २। १२

३. कौ० अर्थ० २। १४

४. 'सौवर्णिकः पौरजानपदानां रूप्यसुवर्णमावेशनीभिः कारयेत्' २। १४

सिक्के उसे बनाकर दे दे[1]। इसी तरह सिक्के देकर सोना या चाँदी भी प्राप्त किया जा सकता था। परन्तु ये सिक्के 'क्षीण और परिशीर्ण' (Worn out) नहीं होने चाहिएँ, इनका भार ठीक हो, काल द्वारा या अन्य किसी तरह से ये हलके न गये हों[2]।

सिक्के अनेक प्रकार के होते थे। चाँदी के सिक्कों में चार भाग ताँबा, एक भाग त्रपु, सीसा या अन्य कोई धातु और नौ भाग शुद्ध चाँदी होती थी। इस सिक्के को 'रूप्यरूप' कहा जाता था[3]। सम्भवतः, इन्हीं को 'पण' भी कहते थे। पण के सिवाय वर्तमान अठन्नी, चवन्नी व दुवन्नी की तरह अर्धपण, पादपण और 'अष्ट भाग पण' सिक्के भी बनाये जाते थे। पण के सिवाय ताँबे का भी सिक्का होता था, इसे 'ताम्ररूप' या 'माषक' कहते थे। इसके भी अर्ध माषक, काकणी (¼ माषक) और अर्धकाकणी (⅛ माषक) ये भाग थे[4]।

चाँदी और ताँबे के इन सिक्कों के सिवाय सोने का भी सिक्का बनता था। सम्भवतः, इसे 'सुवर्ण' कहते थे। प्रत्येक सिक्के पर बनवाई के तौर पर एक 'काकणी' के बराबर धातु 'सौवर्णिक' को देनी होती थी[5]। नक़ली सिक्कों को प्रचलित होने से रोका जाता था, कौटिल्य ने इसके लिए बहुत से नियम

---

१. 'यथावर्णप्रमाणं निक्षेपं गृह्णीयुस्तथा विधमेवार्पयेयुः। २। १४

२. 'कालान्तरादपि च तथाविधमेव प्रतिगृह्णीयुरन्यत्र क्षीणपरिशीर्णाभ्याम्।' २। १४

३. ' चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनानामन्यतमं माषबीजयुक्तं कारयेत्' २। १२

४. कौ० अर्थ० २। ११

५. कौ० अर्थ० २। १४

तथा निर्देश लिखे हैं[१]। राज्य के सिवाय अन्य कोई व्यक्ति सिक्के नहीं बना सकता था। इस तरह सिक्के बनानेवालों को बहुत कड़ा दण्ड मिलता था[२]।

सिक्कों के सिवाय अन्य भी कोई साधन क़ीमत चुकाने का था या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु कौटिल्य ने 'आदेश' का ज़िक्र किया है[३]। अनेक विद्वानों की सम्मति में आदेश वर्तमान हुण्डियों (Bills of Exchange) के समान ही क़ीमत चुकाने का एक साधन था। शब्दार्थ की दृष्टि से किसी दूसरे व्यक्ति को अन्य किसी को क़ीमत चुकाने के लिए आज्ञा करने का नाम 'आदेश' है[४]।

८ सूद पर उधार लेना

मौर्यकालीन भारत में सूद पर रुपया उधार लेने की प्रथा भी विद्यमान थी। उधार के विषय को बहुत महत्त्व-पूर्ण समझा जाता था। इसी लिए कौटिल्य ने लिखा है कि धनिक (Creditor) और धारणिक (Debtor) के सम्बन्ध पर राज्य का कल्याण आश्रित है[५]। सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में सूद की दर बहुत अधिक थी। साधारणतया उस रुपये के लिए—जिसके डूबने का डर नहीं होता था, जिसके लिए अच्छी ज़मानत (Security) होती थी, १¼ रु० प्रतिशतक प्रतिमास या १५ रु० प्रतिशतक प्रतिवर्ष सूद देना होता था[६]। यह दर कम से कम थी।

---

१. 'सौवर्णिकेनादृष्टमन्यत्र प्रयोगं कारयतो द्वादशपणो दण्डः' इत्यादि
कौ० अर्थ० २। १४

२. कौ० अर्थ० २। १४

३. कौ० अर्थ० ३। १२

४. S. K Das—Economic History, p. 174.

५. 'राजन्यः गर्त्तमवहे तु धनिकधारणिकयोश्चरित्रमपेक्षेत।'
कौ० अर्थ० ३। ११

६. 'सपादपणा धर्म्या मासवृद्धिः पणशतस्य' ३। ११

कौटिल्य ने इसे क़ानून के द्वारा अनुमत लिखा है। पर व्यवहार में सुरक्षितता की कमी के अनुसार सूद की दर इससे बहुत अधिक थी। साधारणतया ५ फ़ी सदी प्रतिमास या ६० फ़ी सदी प्रतिवर्ष की दर से रुपया उधार मिलता था[1]। जहाँ ख़तरा अधिक था, वहाँ सूद की दर और भी अधिक थी। व्यापार के लिए जंगल में जानेवाले व्यापारियों को १० फ़ी सदी प्रतिमास या १२० फ़ी सदी प्रतिवर्ष के हिसाब से सूद देना पड़ता था[2]। इसी तरह व्यापार के लिए समुद्र में जानेवाले लोग २० फ़ी सदी प्रतिमास या २४० फ़ी सदी प्रतिवर्ष की दर से सूद देते थे[3]। इन व्यापारियों को जहाँ ख़तरा अधिक था, वहाँ मुनाफ़ा भी कम न था, इसलिए ये इतना सूद दे सकते थे। इससे अधिक सूद की दर नहीं बढ़ सकती थी, बढ़ानेवालों को कड़ा दण्ड दिया जाता था। इस तरह के ऋणों के लिए गवाह बननेवालों को भी अपराधी समझा जाता था, अतः उन्हें भी कड़ा दण्ड मिलता था[4]।

ऋणी या धारणिक के मर जाने पर उसका लड़का ऋण के लिए उत्तरदाता होता था। यदि मृत धारणिक के कोई सन्तान न हो, तो जो भी उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो, वही उसका भी देनदार होता था। यदि ऋण कुछ अमानत रखकर लिया गया हो, तो वह उसे बेच कर रुपया चुका लिया जाता था।[5]

रुपया उधार देनेवाले (धनिक) के लिए यह आवश्यक था, कि जब उसे सूद दिया जाय, तो उसी समय ले ले। सूद इकट्ठा

---

१. 'पञ्चपणा व्यावहारिकी' ३। ११

२. 'दशपणा कान्तारकाणाम्' ३। ११

३. 'विंशतिपणा सामुद्राणाम्' ३। ११

४ 'ततः परं कर्तुः कारयितुश्च पूर्वस्साहसदण्डः। श्रोतॄणामेकैकं प्रत्यर्धदण्डः।' ३। ११

५. 'प्रेतस्य पुत्राः कुसीदं दद्युः। दायादा वा रिक्थहरास्सहग्राहिणः प्रतिभुवो वा।' ३। ११

न होने दे। यदि वह बिना पर्याप्त कारण हुए रुपया लेने से इनकार करे, तो वह दण्ड का भागी होता था। पर यदि इस तरह किसी कारण विशेष से वह सूद या मूलधन (Capital) प्राप्त न कर सके, तो ऋणी उस पर और सूद का देनदार न होता था। इस तरह की रक़म को किसी सुरक्षित स्थान पर रखवा दिया जाता था[१]।

यदि धनिक दस वर्ष तक अपने ऋण की कोई परवाह न करे, उसे वसूल करने का प्रयत्न न करे, तो उस पर उसका कोई हक़ न रहता था। पर इस नियम के कुछ अपवाद भी थे। नाबालिग़, अत्यन्त वृद्ध, रोगी, आपत्तिग्रस्त, देश से बहिष्कृत और देश-त्यागी धनिक दस साल गुज़र चुकने पर भी ऋण प्राप्त करने के हक़दार रहते थे। इसी तरह राजनैतिक गड़बड़ (राज्यविभ्रम) के समय में भी धनियों पर यह नियम नहीं लगता था[२]।

निम्नलिखित व्यक्ति सूद से मुक्त थे। इनके ऋणों पर सूद नहीं लिया जाता था[३]।

(१) जो 'दीर्घसत्र' या किसी बड़े अनुष्ठान में लगा हुआ हो।

(२) जो बहुत समय से रोगी हो।

(३) जो किसी शिक्षणालय में शिक्षा प्राप्त कर रहा हो।

(४) जो नाबालिग़ हो।

(५) जिसके पास अपने पालन-पोषण के लिए भी द्रव्य न हो।

---

१. 'प्रयच्छमानमृणमप्रतिगृह्णतो द्वादशपणो दण्डः। कारणापदेशेन निवृत्तवृद्धिकमन्यत्र तिष्ठेत्।' कौ० अर्थ० ३। ११

२. 'दशवर्षोपेक्षितमृणमप्रतिग्राह्यमन्यत्र बालवृद्धव्याधितव्यसनिप्रोषितदेशत्यागराज्यविभ्रमेभ्यः।' कौ० अर्थ० ३। ११

३. 'दीर्घसत्रव्याधिगुरुकुलोपरुद्धं बालमसारं वा नर्णमनुवर्धेत।' कौ० अर्थ० ३। ११

यदि किसी ऋणी ने दो भिन्न भिन्न धनिकों से ऋण लिया हो, तो वह लेने के क्रम से ऋण को चुकाता था। न्यायालय में क्रम के अनुसार ही निर्णय होता था[1]।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के ये सब नियम सूचित करते हैं कि उस समय सूद पर रुपया ऋण लेने व देने की प्रथा अच्छे प्रकार प्रचलित थी।

१. 'नानर्णसमवाये तु नैको द्वौ युगपदभिवादयेतां अन्यत्र प्रतिष्ठमानात्। तत्रापि गृहीतानुपूर्व्या राजश्रोत्राय द्रव्यं वा पूर्वं प्रतिपादयेत्।' २। ११

तेरहवाँ अध्याय

चन्द्रगुप्त-कालीन भारत

[७]

समाज, सभ्यता और विविध

ग्रीक लेखकों के विवरणों तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से चन्द्रगुप्त-कालीन भारत की समाज, सभ्यता तथा अन्य भी बहुत सी बातों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हम इन सब पर संक्षेप के साथ इस अध्याय में विचार करेंगे। अनेकविध विषयों के होने से सम्भवतः, कोई क्रम न रह सकेगा।

१. भारत की अनेक जातियाँ

मैगस्थनीज़ के अनुसार भारत की सम्पूर्ण वस्ती सात जातियों (castes) में वँटी हुई थी। इन जातियों के वर्णन को हम उसी के शब्दों में उद्धृत करते हैं[1]—

"भारतवर्ष की सारी आबादी सात जातियों में वँटी है। पहली जाति दार्शनिकों के समुदाय से बनी है, जो यद्यपि संख्या की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा कम है, तथापि प्रतिष्ठा में उन सबसे श्रेष्ठ है। दार्शनिक लोग सब सार्वजनिक कर्त्तव्यों से मुक्त हैं, इसलिए न तो अन्यों के दास हैं और न अन्यों के स्वामी हैं। गृहस्थ लोगों के द्वारा ये बलिप्रदान करने तथा मृतकों के श्राद्ध करने के लिए नियुक्त किये जाते हैं, क्योंकि लोगों का विश्वास है कि ये देवताओं को बहुत प्रिय हैं और पर-लोक-सम्बन्धी बातों में बहुत निपुण हैं। इन क्रियाओं के बदले में वे बहुमूल्य दान पाते हैं। भारत के लोगों को

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण (English), pp 42-43.

इनसे बहुत लाभ पहुँचता है। साल के प्रारम्भ में जब ये लोग एकत्र होते हैं, तो अनावृष्टि, शीत, आँधी, रोग आदि की पहले से ही सूचना दे देते हैं। इसी तरह की अन्य भी बहुत सी बातों, को ये पहले से ही बता देते हैं, जिनसे कि सर्वसाधारण को बहुत लाभ पहुँचता है। इस प्रकार राजा और प्रजा—दोनों भविष्य को पहले से ही जानकर उसका प्रबन्ध कर सकते हैं। जो वस्तु आवश्यकता के समय काम आवेगी, उसका पहिले से ही प्रबन्ध करने में वे कभी नहीं चूकते। जो दार्शनिक अपनी भविष्यवाणी में भूल करता है, उसको निन्दा के सिवाय अन्य कोई दण्ड नहीं मिलता। भविष्यवाणी अशुद्ध होने की अवस्था में दार्शनिक फिर जीवन भर मौन अवलम्बन कर लेता है।

"दूसरी जाति में किसान लोग हैं, जो दूसरों से संख्या में बहुत अधिक जान पड़ते हैं।......वे राजा को भूमि-कर देते हैं। किसान लोग स्वयं अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ दिहात में रहते हैं, और नगरों में जाने से बिलकुल बचते हैं।......

"तीसरी जाति के अन्तर्गत अहीर और गड़रिये तथा साधारणतः सब प्रकार के चरवाहे हैं, जो न नगरों में बसते हैं और न ग्रामों में, बल्कि डेरों में रहते हैं। शिकार तथा पशुओं के जाल आदि में फँसाकर वे देश को हानिकर पक्षियों और जङ्गली पशुओं से शून्य करते हैं। वे अपने इस कार्य में बड़े उत्साह के साथ लगे रहते हैं। इसी लिए वे भारत को उन विपत्तियों से जो कि यहाँ पर बड़ी मात्रा में विद्यमान हैं—यथा सब प्रकार के जङ्गली जन्तु और किसानों के बोये हुए बीजों को खा जानेवाले पक्षी—मुक्त करते हैं।

"चौथी जाति कारीगर लोगों की है। इनमें से कुछ कवच बनानेवाले हैं और कुछ उन विविध उपकरणों (औज़ारों) को बनाते हैं, जिनका कि किसान तथा अन्य व्यवसायी लोग उपयोग करते हैं।......

"पाँचवीं जाति सैनिकों की है। यह अच्छी तरह संगठित तथा युद्ध के लिए सुसज्जित रहती है। संख्या में इसका दूसरा

स्थान है। शान्ति के समय यह आलस्य और आमोद-प्रमोद में मस्त रहती है। सारी सेना, योद्धा लोग, युद्ध के घोड़े और हाथी—इन सबका राजकीय ख़र्च से पालन होता है।

"छठी जाति में निरीक्षक लोग हैं। इनका काम यह है कि जो कुछ भारतवर्ष में होता है, उसकी खोज तथा देख-भाल करते रहें और राजा को—जहाँ राजा न हो वहाँ अन्य किसी राजकीय शासक को—इसकी सूचना देते रहें।

"सातवीं जाति सभासदों तथा अन्य शासनकर्त्ताओं की है। ये लोग राज्यकार्य की देख-भाल करते हैं। संख्या की दृष्टि से यह जाति सबसे छोटी है, पर अपने ऊँचे चरित्र तथा बुद्धि के कारण सबसे प्रतिष्ठित है। इसी जाति से राजा के मंत्रीगण, राज्य के कोषाध्यक्ष और न्यायकर्त्ता—लिये जाते हैं। सेना के नायक मुख्य शासक लोग प्रायः इसी श्रेणी के होते हैं।"

कौटिलीय अर्थशास्त्र में सात जातियों का उल्लेख नहीं है। वहाँ पर परम्परागत चार वर्णों का ही वर्णन किया गया है। तथापि डा० थॉमस के अनुसार इन सात जातियों के द्योतक ग्रीकनामों के समान ही संस्कृत नाम अर्थशास्त्र में उपलब्ध होते हैं। ये संस्कृत नाम क्रमशः ब्राह्मण-श्रमण, कर्षक, गोपाल-श्वगणिक-वागुरिक-मार्गयुक, भट, मन्त्रिन्-महामात्र-अमात्य, प्रतिवेदक-अध्यक्ष-सत्रिक और कारु-शिल्पिन-वैदेहक हैं[1]। परन्तु कौटिल्य के अनुसार इनका पृथक् जाति होना सूचित नहीं होता। मैगस्थनीज़ ने इनका किस आधार पर उल्लेख किया है, यह जानना बहुत कठिन है। वह तो यह भी लिखता है कि "कोई व्यक्ति अपनी जाति के सिवाय भिन्न जाति में विवाह नहीं कर सकता, और अपने निज के व्यवसाय को छोड़ दूसरा कार्य नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए, कोई सिपाही

---

१. Rapson—Cambridge History of India, Vol. I p. 477, N. 3.

किसान नहीं हो सकता और कोई शिल्पी दार्शनिक नहीं बन सकता[1] ।"

इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि मौर्य्यकाल में वर्ण-भेद या जाति-भेद अच्छे प्रकार विकसित हो चुका था। वह अवस्था आ चुकी थी, जब कि जातियों में परस्पर सम्बन्ध व परिवर्त्तन नहीं हो सकता। परन्तु मैगस्थनीज़ के इस विवरण को हमें अन्य साक्षियों के साथ मिलाकर पढ़ना चाहिए। बौद्ध-साहित्य-द्वारा—जिसका निर्माण मौर्य्यकाल में या उससे कुछ समय पहले ही हुआ है—सूचित होता है कि उस समय जाति-भेद पूरी तरह विकसित नहीं हुआ था, वह अभी विकसित हो रहा था। भारतीय जनता में सबसे पहले ब्राह्मण और शूद्र पृथक् हुए। भिन्न-जाति—आर्य भिन्न—होने से शूद्र लोग पहले-पहल अलग हुए। द्विज, और शूद्र का भेद उत्पन्न हुआ। फिर द्विजों में भी ब्राह्मण और क्षत्रिय अलग होने शुरू हुए। पहले सभी आर्य लोग आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के लिए उद्यत रहते थे। पर युद्धों के निरन्तर जारी रहने तथा आर्यों के निश्चित देश में बस जाने पर धीरे धीरे एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न होगई, जो प्रायः युद्धों में ही संलग्न रहती थी। स्वाभाविकतया ये वीर योद्धा जहाँ युद्धों में सैन्य-सञ्चालन करते थे, वहाँ शान्ति के समय शासन का काम भी करते थे। इसलिए शनैः शनैः इनमें अपनी उत्कृष्टता का भाव उत्पन्न हुआ और सर्वसाधारण जनता से भिन्न एक अलग श्रेणी बनती गई। उधर धर्म के निरन्तर अधिक अधिक जटिल होने तथा उसमें अनेक विधियों और कर्मों के समावेश होने पर ऐसे लोगों की भी आवश्यकता हुई, जो इस जटिल तथा विधि-प्रधान धर्म के विशेषज्ञ हों। इस प्रकार ब्राह्मण भी सर्वसाधारण जनता से पृथक् होते गये। साधारण जनता को प्राचीन वैदिक काल में 'विशः' कहते थे। ये 'विशः' अनेक व्यव-

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण (English) p. 44.

२५

सायियों, शिल्पियों और व्यापारियों में विभक्त थे। इनकी पृथक् पृथक् श्रेणियाँ (Guilds) बनी हुई थीं। प्रत्येक 'श्रेणी' संगठित रूप से अपने अपने व्यवसाय व कारोबार का सञ्चालन करती थी। प्रारम्भ में, इनका आधार सामाजिक न होकर आर्थिक था। सामाजिक दृष्टि से इनमें वैवाहिक, खान-पान तथा अन्य सम्बन्ध हो सकते थे। एक 'श्रेणी' का व्यक्ति जहाँ दूसरी 'श्रेणी' के व्यक्ति के साथ सामाजिक सम्बन्ध रख सकता था, वहाँ वह एक 'श्रेणी' को छोड़कर दूसरी में भी प्रवेश कर सकता था। पर धीरे धीरे ये 'श्रेणियाँ' अधिक अधिक दृढ़ तथा अपवर्त्तनीय होती गईं। इनसे लचकीलापन नष्ट हो गया। ये केवल आर्थिक संगठन नहीं रहीं, अपितु सामाजिक श्रेणियों के रूप परिवर्त्तित होगईं। प्रो० मजूमदार के अनुसार वर्तमान सामाजिक श्रेणियों का मूल प्राचीन व्यावसायिक, जातिगत, राजनैतिक और धार्मिक संगठनों में ढूँढ़ना चाहिए[१]। निस्सन्देह जो संगठन पहले आर्थिक थे, वे पीछे से सामाजिक बन गये। इसी लिए प्राचीन वैदिककाल का एक 'विशः' पीछे से ग्वाले, गड़रिये, बढ़ई, धोबी, नाई, सौदागर आदि अनेकविध संगठनों में परिणत होगया। वर्तमान सामाजिक जाति-भेद का उदय इसी प्रकार से हुआ।

मौर्य्यकाल में यह विकास कहाँ तक हो चुका था, उसका निश्चय कर सकना बहुत कठिन है। यद्यपि मैगस्थनीज़ के विवरण के अनुसार मालूम पड़ता है कि यह विकास बहुत कुछ पूर्णता को प्राप्त कर चुका था, तथापि जातक ग्रन्थ सूचित करते हैं कि अभी एक जाति का दूसरी जाति में विवाह हो सकता था[२]। अभी तक बन्धन बहुत दृढ़ नहीं हुए थे। कौटिल्य ने ब्राह्मण-परम्परा के अनुसार चार वर्णों को आधार मानकर अपना ग्रन्थ

१ Majumdar—Corporate Life in Ancient India p. 372.
२ Majumdar—Corporate Life in Ancient India, ch. V.

लिखा है, अतः वह भी इस सम्बन्धमें हमारा बहुत सहायक नहीं हो सकता। प्राचीन आचार्यों की तरह चाणक्य भी 'स्वधर्म' के सिद्धान्त का ही पोषक है[1]। पर वास्तविक अवस्था का वह बहुत परिचय नहीं देता।

२. विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति

मौर्य्यकाल में बहु-विवाह की प्रथा विद्यमान थी। मैगस्थनीज़ लिखता है—'वे बहुत सी स्त्रियों से विवाह करते हैं'[2]। विवाहित स्त्रियों के सिवाय अनेक स्त्रियों को केवल आमोद-प्रमोद के लिए भी घर में रखा जाता था। मैगस्थनीज़ के अनुसार "कुछ को तो वे दत्तचित्त सहधर्मिणी बनाने के लिए विवाह करके लाते हैं और कुछ को केवल आनन्द के हेतु तथा घर को लड़कों से भर देने के लिए[3]।" कौटिलीय अर्थशास्त्र से भी इन बातों की पुष्टि होती है। चाणक्य लिखता है—"पुरुष कितनी ही स्त्रियों से विवाह कर सकता है, स्त्रियाँ लड़के उत्पन्न करने के लिए ही बनाई गई हैं[4]।"

साधारणतया विवाह आठ प्रकार के होते थे[5]—

(१) ब्राह्मविवाह—इसमें कन्या को आभूषण, अलङ्कार आदि से सजाकर दिया जाता था।

---

१. 'तस्मात् स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं सन्दधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति॥
स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च। तस्यातिक्रमे लोकस्सङ्करादुच्छिद्येत।
कौ० अर्थ० १।२

२. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ० ३४

३. " " पृ० ३४

४. 'बह्वीरपि विन्देत। पुत्रार्था हि स्त्रियः।' कौ० अर्थ० ३।२

५. कौ० अर्थ० ३।२

(२) प्राजापत्य—इसके लिए परस्पर मिलकर धर्म-चर्य्या का पालन करना ही पर्याप्त था।

(३) आर्ष—इसमें कन्यापक्ष से गौओं का एक जोड़ा पति पक्ष को दिया जाता था।

(४) दैव—इसके लिए यज्ञवेदी के सम्मुख ऋत्विज की स्वीकृति ही पर्याप्त थी।

(५) आसुर—दहेज देकर लड़की का विवाह करना आसुर कहलाता था।

(६) गान्धर्व—यह कन्या और वर के परस्पर प्रेम से होता था।

(७) राक्षस—इसमें कन्या को ज़बर्दस्ती छीन कर ले जाया जाता था।

(८) पैशाच—इसमें सोई हुई या अन्य प्रकार से मस्त कन्या को ज़बर्दस्ती ले जाया जाता था।

कौटिल्य के अनुसार पहले चार विवाह धर्मानुकूल हैं, पिछले चार नहीं। परन्तु ये सभी तरीक़े उस समय में प्रचलित थे। इसी लिए चाणक्य ने इन सबके सम्बन्ध में नियम उल्लिखित किये हैं। इनके सिवाय अन्य भाँति से भी विवाह हो सकते थे, वे सब विवाह नियम के अनुकूल थे, जिनसे सब पक्ष सन्तुष्ट हों। इस तरह के विवाहों को क़ानून से रोका नहीं जाता था[1]।

मौर्य्यकाल में दहेज की प्रथा का विद्यमान होना विशेषतया ध्यान देने योग्य है। यद्यपि दहेज (शुल्क) लेकर किये गये विवाह को 'आसुर' नाम दिया गया है, पर उस समय में यह अच्छी तरह प्रचलित था। इसी लिए कौटिल्य को दहेज के सम्बन्ध में बहुत से नियम बनाने की आवश्यकता हुई है। शुल्क (दहेज) पर वर के माता-पिता का अधिकार होता था। दोनों के अभाव में ही कन्या (वधू) दहेज की अधिकारिणी हो सकती

१. 'सर्वेषां प्रीत्यारोपणमप्रतिषिद्धम्' कौ० अर्थ० ३।२

थी[१]। पति के मरने पर स्त्री को दहेज का बचा हुआ भाग मिल जाता था[२]।

बहु-विवाह के सिवाय पुनर्विवाह की प्रथा भी मौर्य्यकाल में प्रचलित थी। पुरुष और स्त्री—दोनों को ही पुनर्विवाह का अधिकार था। पुरुषों के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में ये नियम ध्यान देने योग्य हैं—

"यदि किसी स्त्री के आठ साल तक बच्चा न हो, या जिसके कोई पुरुष-सन्तान (Male issue) न हो, या जो वन्ध्या हो, उसका पति पुनर्विवाह से पूर्व आठ वर्ष तक परीक्षा करे। यदि स्त्री के मृत बच्चा पैदा हो, तो दस साल तक प्रतीक्षा करे। यदि केवल लड़कियाँ उत्पन्न हों तो बारह वर्ष तक प्रतीक्षा की जाय। इसके बाद पुत्र की इच्छा होने पर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है[३]।" स्त्री के मर जाने पर तो पुनर्विवाह हो ही सकता था।

पुरुषों की तरह स्त्रियों का भी पुनर्विवाह हो सकता था। पति के मरने पर यदि स्त्री दूसरा विवाह करना चाहे, तो उसे अपने श्वशुर तथा पतिपक्ष के अन्य सम्बन्धियों द्वारा प्राप्त धन वापिस देना होता था। परन्तु यदि पुनर्विवाह श्वशुर की इच्छा के अनुसार हो, तो स्त्री इस धन को अपने पास रख सकती थी[४]। पति के मर जाने के सिवाय अन्य अवस्थाओं में भी स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार था। इस विषय में आचार्य चाणक्य के ये नियम अवलोकनीय हैं[५]:—

---

१. "तौ हि शुल्कहरौ दुहितुः। अन्यतराभावेऽन्यतरो वा।
अद्वितीयं शुल्कं स्त्री हरेत।'

कौ० अर्थ० ३। २

२. 'मृते भर्तरि धर्मकामा तदानीमेवास्थाप्याभरणं शुल्कशेषं च लभेत।'

कौ० अर्थ० ३। २

३. कौ० अर्थ० ३। २

४. 'श्वशुरप्रातिलोम्येन वा निविष्टा श्वशुरपतिदत्तं जीयेत'

कौ० अर्थ० ३। २

५. कौ० अर्थ० ३। ४

यदि किसी स्त्री के कोई सन्तान न हो और उसका पति विदेश गया हुआ हो, तो वह एक साल तक प्रतीक्षा करे, यदि उसके कोई सन्तान हो, तो अधिक समय तक प्रतीक्षा करे। यदि पति स्त्री के लिए भरण-पोषण का प्रबन्ध कर गया हो, तो दुगुने समय तक प्रतीक्षा की जाय। यदि पति ने अपनी स्त्री के पालन-पोषण के लिए कुछ प्रबन्ध न किया हो, तो अन्य सम्बन्धी लोग उसके लिए चार या आठ साल तक प्रबन्ध करें। इसके बाद स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार है। पुनर्विवाह के समय सम्बन्धी लोग अपने ख़र्च किये धन को प्राप्त कर सकते हैं।

इन नियमों के अनेक अपवाद भी थे। यदि पति विद्याध्ययन के लिए बाहर गया हुआ हो, तो सन्तान-रहित स्त्री के लिए दस वर्ष तथा सन्तानसहित स्त्री के लिए बारह वर्ष प्रतीक्षा करना आवश्यक था। इसी तरह के अन्य भी बहुत से नियमों का कौटिलीय अर्थशास्त्र में उल्लेख किया गया है[1]।

मौर्य्यकाल में नियोग की प्रथा भी प्रचलित थी। यदि कोई राजपुरुष विदेश गया हुआ हो, तो उसकी स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार न था। पर वह किसी और व्यक्ति से बच्चा उत्पन्न कर सकती थी। कौटिल्य लिखते हैं कि इस तरह अपने वंश की रक्षा के लिए बच्चा पैदा कर लेना बदनामी का कारण नहीं होना चाहिए[2]।

विचित्र बात यह है कि मौर्य्यकाल में तलाक की प्रथा भी विद्यमान थी। आज-कल हिन्दू-धर्म में तलाक की प्रथा नहीं है, पर अब से २½ हज़ार वर्ष पूर्व के भारतीय 'तलाक' किया करते थे। स्त्री और पुरुष—दोनों को ही तलाक का अधिकार था। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र के अग्रलिखित उद्धरण पर्याप्त हैं—

---

१. कौ० अर्थ० ३। ४

२. 'राजपुरुषमायुःक्षयादाकांक्षेत । सवर्णतश्च प्रजाता नापवादं लभेत।' कौ० अर्थ० ३। ४

"यदि कोई पति बुरे आचार का है, परदेश गया हुआ है, राज्य का द्वेषी है, या यदि कोई पति खून करनेवाला है, पतित है, या नपुंसक है तो स्त्री उसका त्याग कर सकती है[1]।"

" पति से घृणा करती हुई स्त्री, उस (पति) की इच्छा के बिना तलाक नहीं कर सकती। इसी तरह स्त्री से घृणा करता हुआ पति, उस (स्त्री) की इच्छा के बिना तलाक नहीं कर सकता। पर पारस्परिक घृणा से तलाक हो सकता है[2]।"

"यदि स्त्री से तंग आकर पुरुष उसका 'तलाक' करना चाहे, तो जो धन स्त्री की ओर से उसे मिला है, वह उसे लौटा दिया जाय। परन्तु यदि स्त्री पति से तंग आकर तलाक करना चाहे, तो उसका धन उसे न लौटाया जाय[3]।"

यह ध्यान रखना चाहिए कि पहले चार विवाहों में तलाक नहीं हो सकता था। तलाक केवल पिछले चार विवाहों में ही हो सकता था[4]।

मैगस्थनीज़ तथा कौटिल्य—दोनों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि मौर्य्यकाल में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची न थी। मैगस्थनीज़ स्त्रियों को बेचने व ख़रीदने की बात लिखता है। उसके अनुसार एक जूआ बैल देकर पुरुष स्त्रियों को ख़रीद लेते थे[5]। इसी तरह राजा लोग अपनी रखवाली के लिए माता-पिता

---

१. 'नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्विषी।
प्राणाभिहन्ता पतितस्त्याज्यः क्लीबोऽपि वा पतिः।' कौ० अर्थ० ३। २

२. 'अमोक्ष्या भर्तुरकामस्य द्विषती भार्या। भार्यायाश्च भर्त्ता।
परस्परं द्वेषान्मोक्षः।' कौ० अर्थ० ३। ३

३. 'स्त्रीविप्रकाराद्वा पुरुषश्चेन्मोक्षमिच्छेत् यथागृहीतमस्मै दद्यात् पुरुषविप्रकाराद्वा स्त्री चेन्मोक्षमिच्छेत् नास्यै यथागृहीतं दद्यात्।'
कौ० अर्थ० ३। ३

४. 'अमोक्षो धर्मविवाहानामिति' कौ० अर्थ० ३। ३

५. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ० ३१

से स्त्रियों का क्रय कर लेते थे[1]। स्त्रियों को वर्तमान अर्थों में स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। स्त्रियों को प्रायः घर ही में रहना होता था। वे बाहर खुले तौर पर आ जा नहीं सकती थीं। उन्हें प्रायः पति की आज्ञा में रहना होता था। इस स्थापना को स्पष्ट करने के लिए कौटिल्य के ये नियम उल्लेख योग्य हैं—

"ख़तरे को छोड़कर यदि किसी अन्य कारण से कोई स्त्री अपने पति के घर से बाहर जाय, तो उस पर छै पण जुरमाना किया जाय। यदि वह (पति की) आज्ञा के विरुद्ध घर से बाहर जाय, तो बारह पण जुरमाना किया जाय। यदि स्त्री पड़ोसी के घर से परे चली जाय, तो उस पर छै पण जुरमाना किया जाय[2]।"

इसी तरह के अन्य भी नियम अर्थशास्त्र में उल्लिखित हैं, जिनसे स्त्रियों की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में बहुत से प्रतिबन्ध मालूम पड़ते हैं। उस समय स्त्रियाँ परदे में भी रहती थीं। कौटिल्य ने स्त्रियों को 'न निकलनेवाली' कहा है[3]।

३. शराब और वेश्यायें

यद्यपि मैगस्थनीज़ ने लिखा है कि भारतीय लोग "यज्ञों को छोड़ और कभी मदिरा नहीं पीते[4]" तथापि कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से मालूम पड़ता है कि मौर्यकाल में शराब का अच्छा प्रचार था। शराब के निर्माण तथा बिक्री का प्रबन्ध राज्य की तरफ़ से होता था। शराब के बेचने तथा पीने के लिए बड़ी बड़ी दूकानें होती थीं, जिनमें अनेक कमरे होते थे। प्रत्येक मकान में सोने के लिए अलग अलग बिस्तरे बिछे होते

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ० २४

२. 'पतिकुलान्निष्पतितायाः स्त्रियाष्षट्पणो दण्डोऽन्यत्र विप्रकारात्। प्रतिषिद्धायां द्वादशपणः। प्रतिवेशगृहातिगमयाष्षट् पणः।'
कौ० अर्थ० ३।४

३. 'स्त्रीणामनिष्कासिनीनाम्' कौ० अर्थ० ३।१

४. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ० २२

थे। साथ ही बैठने के लिए अनेकविध 'आसन' (Seats), सुगन्धि, फूल, माला, जल, तथा अन्य आराम की वस्तुएँ सुसज्जित होती थीं[1]। इन सुन्दर तथा सुसज्जित कमरों में विदेशी तथा भारतीय लोग शराब पिया करते थे। शराबखाने के व्यापारी केवल शराब ही न देते थे, अपितु लोगों के भोग-विलास के लिए सुन्दर रूपवाली दासियाँ या वेश्यायें भी रखते थे। शराबी लोग मस्त होकर इनके साथ विलास भी किया करते थे[2]।

इन्हीं निश्चित शराबखानों में शराब पी जाती थी, बाहर ले जाकर पीने की अनुमति नहीं मिलती थी। केवल वे ही लोग अपने घरों में शराब ले जा सकते थे, जो अच्छी तरह प्रसिद्ध हों और जिनके आचार की पवित्रता सब जगह ज्ञात हो[3]।

आचार्य चाणक्य शराब की हानियों से खूब अच्छी तरह परिचित थे। वे जानते थे कि शराब से अनेक नुक़सान होते हैं। उनकी सम्मति में, शराब पीने से भय रहता है कि—

१. काम में लगे हुए श्रमी लोग आलसी न हो जावें।

२. आर्य लोगों की मर्यादा भङ्ग न हो जाय, और

३. तीक्ष्ण प्रकृति के लोग अव्यवस्था न कर दें[4]। अतः चाणक्य ने नियम किया था कि 'लोगों के चरित्र तथा आचार को देखकर १/४ कुटुम्ब, १/२ कुटुम्ब, १ कुटुम्ब, १/२ प्रस्थ तथा १

---

१. 'पानागाराण्यनेककक्ष्याणि विभक्तशयनासनवन्ति पानोद्देशानि गन्धमाल्य दकवन्त्यृतुसुखानि कारयेत् ।' कौ० अर्थ० २। २५

२. 'वणिजस्तु संवृतेषु कक्ष्याविभागेषु स्वदासीभिः पेशलरूपाभिः......' कौ० अर्थ० २। २५

३. 'वेदितज्ञातशौचा निर्हरेयुः' कौ० अर्थ० २। २५

४. 'सुरायाः प्रमादभयात् कर्मसु निर्दिष्टानां, मर्यादातिक्रमभयादार्याणां, उत्साहभयाच्च तीक्ष्णानाम्.........' कौ० अर्थ० २। २५

प्रस्थ से अधिक शराब किसी को भी न दी जाय[1]।' सम्भवतः, इसी नियम का परिणाम था कि शराब का बहुत अधिक प्रचार नहीं था और मैगस्थनीज़ लिख यह सका था कि भारतीय लोग मदिरा नहीं पीते।

मौर्यकाल में वेश्यायें भी होती थीं। इनके लिए गणिका, रूपाजीवा आदि अनेक संज्ञाओं का प्रयोग अर्थशास्त्र में हुआ है। सम्भवतः, राजा की सेवा में कार्य करनेवाली वेश्याओं को गणिका, तथा स्वतंत्र पेशा करनेवाली वेश्याओं को 'रूपाजीवा' (अपना रूप बेचकर आजीविका चलानेवाली) कहते थे। राजा लोग बहुत सी गणिकायें अपने पास रखते थे। इनका वेतन एक हज़ार पण से शुरू होता था। इनका कार्य राजा के छत्र, इतरदान, पङ्खा, पालकी, पीठिका, रथ आदि के साथ रहकर राजा की शोभा बढ़ाना होता था[2]। वेश्यावृत्ति भी बहुत सी स्त्रियों का पेशा था। वेश्या या गणिका की सन्तान (स्त्री) यही कार्य करती थी। वंशानुगत और सब प्रकार की सुन्दर लड़कियाँ यह पेशा कर सकती थीं। इसके लिए इन्हें छोटी उमर से ही गाने, बजाने आदि की शिक्षा दी जाती थी। वृद्ध या अन्य भाँति से अशक्त होने पर गणिकायें राजमहल में पाचिका आदि का कार्य कर लेती थीं।

स्वतंत्र पेशा करनेवाली वेश्यायें राज्य को विशेष कर देती थीं। उन्हें अपनी दैनिक आमदनी का दुगुना मासिक रूप से राज्य को देना पड़ता था[3]। राज्य की तरफ़ से एक पृथक अमात्य इसी काम के लिए नियत होता था कि वह वेश्याओं की आमदनी, हैसियत आदि क्या है, इस बात का पता लगावे और उसका हिसाब रखे[4]।

---

१. कौ॰ अर्थ॰ २। २५

२. कौ॰ अर्थ॰ २। २७

३. 'रूपाजीवा भोगद्वयगुणं मासं दद्युः' २। २७

४. 'गणिकाभोगमायतिं पुरुषं च निवेदयेत्' २। २७

वेश्याओं के सम्बन्ध में आचार्य चाणक्य ने बहुत से नियमों का उल्लेख किया है[1]। यद्यपि ये सब उपयोगी तथा ज्ञातव्य हैं, पर यहाँ इन्हें लिखने का अवकाश नहीं है।

४. जूआ

मौर्यकालीन भारत में जूआ भी खेला जाता था। राज्य को इससे अच्छी आमदनी थी। सम्भवतः, इसलिए तथा जूआ खेलने को नियमित करने के लिए राज्य की ओर से एक पृथक् विभाग होता था, जिसके अध्यक्ष को 'द्यूताध्यक्ष' कहते थे। ऐसे 'द्यूतघर' बनाये जाते थे, जिनमें जुआ खेलने के सब साधन विद्यमान हों। यह नियम था कि इन्हीं 'द्यूतघरों' में जूआ खेला जाय, अन्य स्थान पर नहीं। निश्चित स्थान से अन्यत्र जूआ खेलने पर बारह पण जुर्माना किया जाता था[2]।

'द्यूतघर' में पासों के एक जोड़े के लिए एक काकणी किराया लिया जाता था[3]। इसी तरह अन्य आवश्यक उपकरणों के लिए किराये की दर निश्चित थी। विजयी खिलाड़ी जो धन जीतता था, उसका पाँच फ़ी सदी राज्य को प्राप्त होता था[4]। खेलाड़ी लोग नियमों के अनुकूल तथा ईमानदारी से जूआ खेल रहे हैं या नहीं, इसका निरीक्षण भी 'द्यूताध्यक्ष' करता था। खिलाड़ियों में परस्पर झगड़े होने पर उनका निर्णय भी इसी अध्यक्ष को करना होता था।

---

१ कौ० अर्थ० २। २७

२. 'द्यूताध्यक्षो द्यूतमेकमुखं कारयेत् अन्यत्र दीव्यतो द्वादशपणो दण्डः।' कौ० अर्थ० ३। २०

३. 'तेषामध्यक्षाः शुद्धाः काकण्यक्षांश्च स्थापयेयुः।' कौ० अर्थ० ३। २०

४. 'जितद्रव्यादध्यक्षः पञ्चकं शतमाददीत।' कौ० अर्थ० ३। २०

५. तमाशे तथा आमोद-प्रमोद

कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से मालूम होता है कि मौर्यकाल में बहुत से ऐसे लोग भी थे, जिनका पेशा लोगों का आमोद-प्रमोद करना तथा तमाशे दिखलाना था। ये लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर तमाशे दिखाते हुए घूमते फिरते थे। इनके नाम निम्नलिखित हैं[१]—

नट—नाटक करनेवाले।

नर्तक—नाचनेवाले।

गायक—गानेवाले।

वादक—बाजा बजानेवाले, अर्थशास्त्र में वेणु, मृदङ्ग, वीणा आदि अनेक बाजों का उल्लेख है।

वाग्जीवन—तरह तरह की वाणियाँ बोलकर या अपनी वाणी-द्वारा आजीविका कमानेवाले।

कुशीलव—घूम घूम कर गानेवाले।

प्लवक—रस्सी पर नाचनेवाले।

सौभिक—मदारी।

चारण—गानेवाले।

ये लोग गाँवों या शहरों में तमाशा किया करते थे। तमाशा (प्रेक्षा) दिखाने के लिए इन्हें लाइसेन्स लेना पड़ता था और इसके लिए राज्य को पाँच पण देने होते थे[२]। अनेक बार तमाशे का प्रबन्ध ग्राम की तरफ़ से होता था, इस अवस्था में ग्राम के सब लोग उसमें अपनी तरफ़ से हिस्सा डालते थे। जो हिस्सा न डाले, उसे तमाशा देखने का अधिकार न होता था[३]।

---

४. कौ० अर्थ० २। २७

५. 'तेषां तूर्यमागन्तुकं पञ्चपणं प्रेक्षावेतनं दद्युः।' कौ० अर्थ० २। २७

६. 'प्रेक्षायामनंशदः स्वस्वजनो न प्रेक्षेत।' कौ० अर्थ० ३। १०

आचार्य चाणक्य की सम्मति में नट, नर्तक, गायक आदि लोग गाँव के कार्य में विघ्न डालनेवाले होते हैं, अतः इन्हें यहाँ पूर्ण स्वतन्त्रता न मिलनी चाहिए। तमाशे उतने ही होने चाहिएँ, जिससे कि ग्राम के कार्यों को नुक़सान न पहुँचे[1]।

लोगों के आमोद-प्रमोद के लिए उस काल में बहुत सी शालायें तथा 'आराम' भी बने हुए थे[2]। राज्य इनके निर्माण में सहायता करता था। सर्वसाधारण जनता कुछ समय के लिए इन सार्वजनिक स्थानों पर अपने श्रम की थकान मिटा सकती थी।

विचित्र बात यह है कि इस प्राचीन काल में 'चिड़िया-घर' भी विद्यमान थे। इनमें सब पशुओं व जन्तुओं को 'अतिथि' के समान पाला जाता था[3]।

बड़े लोगों के आमोद-प्रमोद का एक आवश्यक साधन शिकार खेलना था। राजा लोग बहुत शौक के साथ शिकार खेलते थे। मैगस्थनीज़ लिखता है—"तीसरा प्रयोजन जिसके निमित्त राजा अपना महल छोड़ता है, शिकार खेलने जाता है। इसके लिए वह बेकचेनेलियन रीति के अनुसार प्रस्थान करता है। स्त्रियों की भीड़ उसे घेरे रहती है और उस घेरे के बाहर बरछेवाले रखे जाते हैं। मार्ग का चिह्न रस्सों से डाला जाता है और इन रस्सों के भीतर से होकर जाना पुरुष और स्त्री के लिए समान रूप से मृत्यु है। ढोल और झाँझ लेकर आदमी इस दल के आगे आगे चलते हैं। राजा घेरों के भीतर शिकार खेलता और एक चबूतरे से तीर चलाता है। उसकी बगल में दो वा तीन हथियारबंद स्त्रियाँ खड़ी होती

१. 'नटनर्तनगायनवादकवाग्जीवनकुशीलवा वा न कर्मविघ्नं कुर्युः।' 'राजा व्ययक्रीडाश्च वारयेत्।' कौ० अर्थ० २। १

२. कौ० अर्थ० २। १

३. 'सर्वातिथिमृगं प्रत्यन्ते चान्यन्मृगवनं भूमिवशेन वा निवेशयेत्।' कौ० अर्थ० २। २

हैं। यदि वह खुले मैदान में शिकार करता है तो वह हाथी की पीठ पर से तीर चलाता है। स्त्रियों में से कुछ तो रथ के भीतर रहती हैं, कुछ घोड़ों पर और कुछ हाथियों पर। वे हर प्रकार के शस्त्रों से सजी रहती हैं। मानो वे किसी चढ़ाई पर जा रही हैं[1]।"

राजा के शिकार के लिए वन सुरक्षित रहते थे। इनमें सर्व-साधारण का प्रवेश न हो सकता था। राजा इनमें निश्चित होकर शिकार खेल सकता था। राजा के विहार के लिए ऐसे जङ्गल भी सुरक्षित थे, जिनके चारों ओर खाई खुदी होती थी और जिनमें प्रवेश के लिए केवल एक ही द्वार होता था। इन जङ्गलों में नानाविध फल-फूल आदि के वृक्ष लगाये जाते थे और अनेकविध पशुओं को रखा जाता था। बीच में जलाशय आदि भी बने होते थे। राजा इनमें स्वच्छन्दतापूर्वक विहार किया करता था[2]।

६. धार्मिक विश्वास

मौर्यकाल से दो सदी पूर्व भारत में एक अत्यन्त महान् धार्मिक सुधारणा (Reformation) का प्रारम्भ हुआ था। इसके मुख्य नेता भगवान् बुद्ध और जिन महावीर थे। इनके साथ ही अन्य भी बहुत से धार्मिक सुधारक उस समय प्रादुर्भूत हुए थे। इस कारण मौर्यकालीन भारत में कोई निश्चित धर्म न था, अपितु बहुत से धार्मिक आन्दोलन साथ साथ चल रहे थे। सम्राट् अशोक का इतिहास लिखते हुए हम इस 'सुधारणा' के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से लिख सकेंगे। परन्तु मैगस्थनीज़ के यात्रा-विवरण तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र से चन्द्रगुप्तकालीन धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में जो थोड़े बहुत निर्देश मिलते हैं, उन्हें यहाँ संगृहीत कर देना अनुपयुक्त नहीं है।

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ० सं० ३९

२. कौटिलीय अर्थशास्त्र २। २

चन्द्रगुप्त के समय में यज्ञों में पशुहिंसा, बलिदान तथा श्राद्ध भारतीय जनता के धार्मिक विश्वासों में विद्यमान थे। मैगस्थनीज़ लिखता है—

"यज्ञ व श्राद्ध में कोई मुकुट नहीं धारण करता। वे बलि के पशु को छुरी धँसा के नहीं मारते, परन्तु गला घोंट कर मारते हैं, जिससे देवता की भेंट खण्डित वस्तु न करके पूरी वस्तु की जाय[1]।"

"इसका प्रयोजन जिसके निमित्त राजा अपना महल छोड़ता है, बलिप्रदान करता है[2]।"

"पर गृहस्थ लोगों के द्वारा ये (दार्शनिक) बलिप्रदान करने तथा मृतकों का श्राद्ध करने के लिए नियत किये जाते हैं[3]।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि उस काल में मृतक श्राद्ध किया जाता था और यज्ञों में तथा देवता के लिए पशुओं का बलिदान होता था।

चन्द्रगुप्त के समय में दो मुख्य धर्म भारत में विद्यमान थे। ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म। इसी लिए परिव्राजकों वा संन्यासियों का वर्णन करते हुए मैगस्थनीज़ ने स्थान स्थान पर ब्राह्मणों और श्रमणों का वर्णन किया है[4]। एक स्थान पर तो स्पष्ट रूप से बुद्ध के अनुयायियों का उल्लेख है[5]। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक सम्प्रदायों का मैगस्थनीज़ के यात्रा-विवरण में उल्लेख है। वह लिखता है—

"उनमें एक पाँचवीं श्रेणी भी है, जिसमें कि वे लोग सम्मिलित हैं जो अपनी बुद्धि के लिए प्रसिद्ध हैं। ये जब जीवन से

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ० सं० ३४
२. ,, ,, ३५
३. ,, ,, ८
४. ,, ,, ६०, ६५
५. ,, ,, ६७

उकता जाते हैं तो जलती हुई चिता पर चढ़ कर स्वयं मृत्यु को आमन्त्रित करते हैं। एक अन्य सम्प्रदाय और भी अधिक कठोर है। इसके अनुयायी जङ्गलों में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं[1]।"

कौटिलीय अर्थशास्त्र से चन्द्रगुप्त-कालीन धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में कुछ अधिक निर्देश मिलते हैं। उससे मालूम पड़ता है कि उस समय में अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे।

इनके अलग अलग मन्दिर शहर के बीच में बने होते थे। कौटिल्य ने लिखा है—"नगर के मध्य में आपराजित, अप्रतिहत जयन्त, वैजयन्त—इनके कोष्ठ और शिव, वैश्रवण, अश्वि और श्रीमदिरा के गृह बनाये जावें। इन कोष्ठों और गृहों में यथा-स्थान देवताओं (वास्तुदेवता या स्थावर रूप में वर्त्तमान देवताओं) की स्थापना की जाय[2]।'

"भिन्न भिन्न दिशाओं में यथास्थान दिशा के देवताओं की स्थापना की जाय[3]।"

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त के समय में भिन्न भिन्न देवताओं की पूजा प्रचलित थी। उनके लिए भिन्न भिन्न मन्दिर नगर में पृथक् रूप से बने होते थे और जिनमें उनके देवता यथास्थान प्रतिष्ठित किये गये थे। देवताओं की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। इसी लिए 'देवता-कारु' या देवताओं की मूर्ति बनानेवाले लोग उस समय विद्यमान थे[4]। दिग्पालों की उपासना तथा मूर्तियों के सिवाय नगर के रक्षक देवताओं पर

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ० सं० १२१

२. आपराजिताप्रतिहतजयन्तवैजयन्तकोष्ठकान् शिववैश्रवणाश्विश्री-मदिरागृहं च पुरमध्ये कारयेत्। कोष्ठकालयेषु यथोद्देशं वास्तुदेवताः स्थापयेत् कौ० अर्थ० २। ४

३. 'यथादिशं च दिग्देवताः।' कौ० अर्थ० २। ४

४. कौ० अर्थ० २। ४

भी लोगों का विश्वास था। इसलिए उनकी भी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं[1]। नगर के द्वारों के नाम भी ब्रह्मा, इन्द्र, यम आदि देवताओं के नाम पर रखे जाते थे[2]।

उस काल में तीर्थ-यात्रा की प्रथा भी विद्यमान थी। किस किस धर्म के कौन कौन से तीर्थ थे, इसका पता तो अर्थशास्त्र से नहीं मिलता, परन्तु तीर्थों की सत्ता में कोई सन्देह नहीं है। तीर्थों में एकत्रित लोगों से कर भी लिया जाता था, इसे 'तीर्थ-कर' कहते थे[3]।

उस समय में बहुत से छोटे छोटे सम्प्रदाय भी प्रचलित थे। इनके विश्वास बड़े अद्भुत थे। कौटिल्य ने इन्हें 'पाषण्ड' शब्द से लिखा है। व्यवस्था की गई है कि शहर में ये लोग श्मशान के परे चाण्डालों के साथ में निवास करें[4]। ये 'पाषण्डी' लोग प्रायः साधु बनकर रहते थे। इनके पास न सोना होता था और न 'सुवर्णमुद्रा'[5]। शहरों से बाहर ये खुले तौर पर रह सकते थे, पर यह खयाल रखा जाता था कि एक 'पाषण्ड' से दूसरे 'पाषण्ड' को बाधा न पहुँचे[6]।

देवताओं और धर्म-मन्दिरों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। उनके प्रति किसी तरह का कुवाक्य बोलने पर कड़ा दण्ड मिलता था[7]।

---

१. कौ० अर्थ० २ । ४

२. 'ब्राह्मैन्द्रयाम्यसेनापत्यानि द्वाराणि' कौ० अर्थ० २ । ४

३. कौ० अर्थ० ३ । २०

४. 'पाषण्डचण्डालानां श्मशानान्ते वासः' कौ० अर्थ० २ । ४

५. कौ० अर्थ० ३ । १६

६. 'आश्रमिणः पाषण्डा वा महत्यवकाशे परस्परमबाधमाना वसेयुः ।'
कौ० अर्थ० ३ । १६

७ 'आक्रोशाद्देवचैत्यानां उत्तमं दण्डमर्हति' कौ० अर्थ० ३ । १८

लोग मन्त्र-तन्त्र पर विश्वास करते थे। मन्त्र पढ़ने से अभिलषित अर्थ की सिद्धि हो सकती है, इस बात का उन्हें विश्वास था। इसी लिए आचार्य चाणक्य ने अनेक-विध मन्त्रों तथा तन्त्र-युक्तियों का विस्तार के साथ वर्णन किया है[१]।

उस काल में बहुत से लोग धर्म के अनेक ढोंग रच कर जनता को ठगा भी करते थे। इसी लिए आचार्य कौटिल्य ने अपनी कुटिल नीति के अनुसार शत्रुओं को जीतने का उपाय बताते हुए लिखा है कि मुण्ड या जटिल के भेष में गुप्तचर बहुत से चेलों को साथ लेकर नगर के समीप आकर बैठ जाय। पूछने पर बतलाये कि हम पर्वत की गुहा में रहनेवाले हैं और हमारी उम्र ४०० साल की है। शिष्य लोग मूल-फल लेने के लिए शहर जाकर अमात्यों और राजा को महात्माजी के दर्शन के लिए प्रेरित करें। जब राजा दर्शन के लिए आजाय तो उसे पुराने राजा और देश के सम्बन्ध में इधर-उधर की बातें बतलाये और कहे कि 'सौ सौ साल बाद आग में प्रवेश कर मैं फिर बालक बन जाता हूँ। अब मैं आपके सम्मुख चौथी बार आग में प्रवेश करूँगा। आप अवश्य ही देखने आइए। जो इच्छा हो, तीन वर माँग लो[२]।' इस तरह की बातों से तत्कालीन विश्वासों के सम्बन्ध में बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

७. भारतीयों का भोजन

मैगस्थनीज़ लिखता है—"जब भारतवासी खाने बैठते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने मेज़ रखी जाती है, जो कि तिपाई की शकल की होती है। इसके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है, जिसमें सबसे पहले चावल डाले जाते हैं। वे इस तरह उबले होते हैं, जैसे जौ उबले हुए हों। इसके बाद अन्य बहुत

१. कौ० अर्थ० १४ । ३

२. कौ० अर्थ० १३ । २ 'योगवामनम्'

से पक्वान्न रखे जाते हैं, जो भारतीय सामग्रियों के अनुसार तैयार किये जाते हैं[१] ।"

एक अन्य स्थान पर यही ग्रीक यात्री लिखता है कि "वे सदैव अकेले भोजन करते हैं। वे कोई ऐसा नियत समय नहीं रखते, जब कि इकट्ठे मिलकर भोजन किया जाय। जिस समय जिसकी इच्छा होती है, वह उसी समय भोजन कर लेता है[२] ।"

इन उद्धरणों से भारतीयों के भोजन के ढंग पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वे भोजन में क्या क्या वस्तुएँ खाया करते थे, इसे जानने के लिए हमें मैगस्थनीज़ या कौटिल्य से कोई विशेष निर्देश नहीं मिलते। फिर भी अर्थ-शास्त्र के आधार पर कुछ बातों का उल्लेख करना आवश्यक है—

मौर्यकालीन भारतीय स्वादु भोजन बनाने के लिए बहुत प्रयत्नशील होते थे। राजा का भोजन बनाने के लिए जो महानस (रसोई) होती थी, उसके लिए कौटिल्य ने लिखा है कि तरह तरह के स्वादों का सुस्वादु भोजन तैयार कराया जाय[३] । भिन्न भिन्न वस्तुओं को बनाने के लिए भिन्न भिन्न लोग होते थे। साधारण बाज़ार में भी अनेकविध भोज्य पदार्थों के अलग अलग विक्रेता होते थे। मांस का प्रयोग बहुत था। उस समय में बहुत से पशु, पक्षी, मछली आदि जन्तुओं को भोजन के लिए मारा और बेचा जाता था। मांस को सुखाकर भी रखा जाता था[४] । विविध भोज्य पदार्थों को बनानेवालों में से कुछ के नाम अग्रलिखित हैं—

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण (English) p. 74

२. मैगस्थनीज़ (English) p. 70.

३. 'माहानसिकः सर्वमास्वादबाहुल्येन कर्म कारयेत्' कौ० अर्थ० ११२१

४. 'मांसमार्द्रं शुष्कं वा विक्रीणीयुः ।' कौ० अर्थ० २ । २९

(१) पक्वान्नपण्याः[1]—पक्वान्न बेचनेवाले।
(२) मांसपण्याः[2]—मांस बेचनेवाले।
(३) पक्वमांसिकाः[3]—मांस पका कर बेचनेवाले।
(४) औदनिकाः[4]—चावल पका कर बेचनेवाले।
(५) शौण्डिकाः[5]—शराब बेचनेवाले।
(६) आपूपिकाः[6]—रोटी बनाकर बेचनेवाले।

अन्य भी अनेकविध भोजन बनानेवालों का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है।

८. रीतिरिवाज, स्वभाव, सभ्यता की उत्कृष्टता

मौर्य्यकालीन भारतीयों के रीतिरिवाजों के सम्बन्ध में यूनानी लेखकों के कुछ विवरण उद्धृत करने योग्य हैं। हम उन्हें यहाँ उद्धृत कर देना ही पर्याप्त समझते हैं—

"भारतीय लोग किफ़ायत के साथ रहते हैं, विशेषतः तब जब कि वे कैम्प में हों। वे अनियन्त्रित भीड़ को नापसन्द करते हैं। इसी लिए वे हमेशा व्यवस्था बनाये रखते हैं[7]।"

"भारतीय लोग अपने चाल-चलन में सीधे और मित-व्ययी होने के कारण बड़े सुख से रहते हैं[8]।"

"उनके क़ानून और व्यवहार की सरलता इससे अच्छी तरह प्रमाणित होती है कि वे न्यायालय में बहुत कम जाते हैं।

---

१. कौ० अर्थ० २। ४
२. कौ० अर्थ० २। ४
३. कौ० अर्थ० १२। ४
४. कौ० अर्थ० १२। ४
५. कौ० अर्थ० १२। ४
६. कौ० अर्थ० १२। ४
७. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण (English) पृ० सं० 69
८. ,, ,, 69

उनमें गिरवी और धरोहर के अभियोग नहीं होते और न वे मुहर व गवाह की ज़रूरत रखते हैं। वे एक दूसरे के पास धरोहर रख कर आपस में विश्वास करते हैं। अपने घर व सम्पत्ति वे प्रायः अरक्षित अवस्था में ही छोड़ देते हैं। ये बातें सूचित करती हैं कि उनके भाव उदार व उत्कृष्ट हैं[१]।"

"उनमें व्यायाम करने की सर्वप्रिय रीति संघर्षण है। यह कई प्रकार से किया जाता है, पर संघर्षण प्रायः चिकने चिकने आबनूस के बेलनों को त्वचा पर फेर कर होता है[२]।"

"उनके समाधिस्थल सादे होते हैं। और मृतक के ऊपर उठाई हुई वेदी नीची होती है[३]।"

"अपने चाल की साधारण सादगी के प्रतिकूल वे बारीकी और नफासत के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है। वे (वस्त्र) मूल्यवान् रत्नों के विभूषित रहते हैं। वे लोग अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने हुए फूलदार कपड़े पहनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे पीछे छाता लगाये चलते हैं। वे सौंदर्य का बड़ा ध्यान रखते हैं और अपने स्वरूप को सँवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते[४]।"

"सचाई और सदाचार दोनों की वे समान रूप से प्रतिष्ठा करते हैं। इससे वृद्धों को तब तक वे विशेष स्वत्व नहीं देते, जब तक वे अधिक उत्कृष्ट सदाचारी न हों[५]।"

"भारतवासी मृतक के लिए कोई स्मारक नहीं उठाते, वरन् उस सत्यशीलता को जिसे मनुष्यों ने अपने जीवन में दिखलाया

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण (English) पृ० सं० 70
२. ,, ,, ,, 70
३. ,, ,, ,, 70
४. ,, ,, ,, 70
५. ,, ,, ,, 70

है तथा उन गीतों को जिनमें उनकी प्रशंसा वर्णित रहती है, मरने के बाद उनके स्मारक को बनाये रखने के लिए पर्याप्त समझते हैं[१]।"

"चोरी बहुत कम होती है। मैगस्थनीज़ कहता है कि उन लोगों ने जो एण्ड्रोकोटस (चन्द्रगुप्त) के डेरे में थे, जिसके भीतर ४,००,००० मनुष्य पड़े थे, देखा कि चोरी जिसकी इत्तिला किसी एक दिन होती थी, वह २०० ड्राचमी (Drachmae) के मूल्य से बढ़ती की नहीं होती थी, और यह ऐसे लोगों के बीच जिनके पास लिपि-बद्ध क़ानून नहीं, वरन् जो लिखने से अनभिज्ञ हैं और जिन्हें जीवन के समस्त कार्यों में स्मृति ही पर भरोसा करना पड़ता है[२]।"

"भारतवासियों में विदेशियों तक के लिए कर्मचारी नियुक्त होते हैं, जिनका काम यह देखने का रहता है कि किसी विदेशी को हानि न पहुँचने पावे। यदि उन (विदेशियों) में से कोई रोगग्रस्त हो जाता है तो वे उसकी चिकित्सा के निमित्त वैद्य भेजते हैं तथा और दूसरे प्रकार से भी उसकी रक्षा करते हैं। यदि वह मर जाता है, तो उसे गाड़ देते हैं और जो सम्पत्ति वह छोड़ता है उसे उसके सम्बन्धियों के हवाले कर देते हैं। न्यायाधीश लोग भी उन मामलों का जो विदेशियों से सम्बन्ध रखते हैं, बड़े ध्यानपूर्वक फ़ैसला करते हैं और उन लोगों पर बड़ी कड़ाई करते हैं, जो उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं[३]।"

"भूमि जोतनेवाले, यद्यपि उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा हो, तो भी किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों पक्ष के लड़नेवाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो खेती में लगे हुए रहते हैं, उन्हें पूर्णतया निर्विघ्न

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ० ३१

२. ,, ,, ३२

३. ,, ,, १०

पड़ा रहने देते हैं। इसके सिवाय न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं और न उसके पेड़ काटते हैं[1]।"

"ब्राचमनीज़ (ब्राह्मण) लोग दर्शन के ज्ञान को स्त्रियों को नहीं जताते कि कहीं यदि वे दुश्चरित्रा हो जायँ तो निषेध किये गये रहस्यों में से किसी को खोल न दें, अथवा यदि वे कहीं उत्तम दार्शनिक हो जावें, तो उन्हें छोड़ न दें[2]।"

इन उद्धरणों पर किसी भी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। ये वास्तविक भारतीय जीवन के बहुत से पहलुओं पर बहुत उत्तम प्रकाश डालते हैं।

८. क़ैदियों का छुटकारा

बन्धनागारों (जेलख़ानों) का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। यहाँ केवल यही बताना अभीष्ट है कि किसी किसी विशेष अवसर पर क़ैदियों को जेल से छुटकारा दिया जाता था। कौटिल्य ने लिखा है।

"राजा के जन्म-दिन उन क़ैदियों को जेल से छुटकारा दिया जाय, जो बालक, वृद्ध, रोग-पीड़ित और सर्वथा असहाय हों। इसी तरह का छुटकारा पूर्णमासी के दिन भी किया जाय। इन अवसरों पर पुण्यशील और किसी 'समय' (ठेका या समझौता) से बँधे हुए लोग दोष निष्क्रय (वह धन जो कि क़ैदी को क़ैद से मुक्त करने के लिए देना आवश्यक होता है) का धन देकर क़ैदियों को छुड़ावें।

"कार्य या शारीरिक दण्ड या जुरमाने का धन आदि के अनुसार प्रतिदिन या पाँच रातों के बाद क़ैदियों को क़ैद से मुक्त किया जाय।

"नये देश को जीतने के समय, युवराज के राज्याभिषेक के

---

१. मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण पृ० ३

२. " ६१

अवसर पर तथा पुत्र पैदा होने पर क़ैदियों को जेल से छोड़ा जाय[1]।"

ये सब नियम बन्धनागारों की अवस्था व सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डालते हैं।

१०—मर्दुमशुमारी

आज से सवा दो हज़ार वर्ष पहले मौर्यकालीन भारत में मर्दुमशुमारी या मनुष्य-गणना (Census) भी होती थी। मनुष्य-गणना करने का कार्य 'समाहर्त्ता' के सुपुर्द था। जनपद में यही मर्दुमशुमारी करता था[2]। नगरों में यह कार्य 'नागरक' करता था[3]। आज-कल मनुष्य-गणना कुछ निश्चित समय (प्रायः दस साल) के बाद की जाती है। पर मौर्य्यकाल में यह कार्य प्रति-वर्ष होता था। इसके लिए सरकार का एक स्थिर विभाग था, जो सदा मनुष्यों की संख्या अपनी 'निबन्ध-पुस्तकों' (रजिस्टरों) में दर्ज रखता था। केवल मनुष्यों की गणना नहीं होती थी, पशु व जन्तु भी गिने जाते थे। 'समाहर्ता' और 'नागरक' की तरफ़ से इस कार्य को 'गोप' नामक राजकर्मचारी (जो प्रायः दस ग्रामों के शासक होते थे) किया करते थे।

ये राजकर्मचारी प्रत्येक गाँव के रजिस्टर में निम्नलिखित बातें दर्ज करते थे[4]—

(१) गाँव में चारों वर्णों के कितने कितने आदमी हैं?

(२) कितने किसान हैं?

(३) कितने गोरक्षक या ग्वाले हैं?

(४) कितने सौदागर हैं?

---

१. कौ० अर्थ० २। ३६

२. कौ० अर्थ० २। ३२

३. कौ० अर्थ० २। ३४

४. 'तेषु चैतावच्चातुर्वर्ण्यमेतावन्तः कर्षक-गोरक्षक-वैदेहक-कारु-कर्मकर-

(५) कितने कारीगर हैं ?
(६) कितने नौकर हैं ?
(७) कितने दास हैं ?
(८) कितने दो पैरोंवाले जन्तु हैं ?
(९) कितने चौपाये हैं ?
(१०) गाँव में कुल धन कितना है ?
(११) गाँव से कितनी बेगार मिल सकती है ?
(१२) गाँव की चुंगी की आमदनी क्या है ?
(१३) गाँव से जुर्मानों-द्वारा क्या आमदनी होती है ?
(१४) कितने घर हैं, जिनसे कर मिलता है ?
(१५) कितने घर हैं, जिनसे कर नहीं मिलता है ?
(१६) निवासियों में कितनी स्त्रियाँ, कितने पुरुष, कितने वृद्ध और कितने बालक हैं ?
(१७) निवासियों के चरित्र किस तरह के हैं ?
(१८) उनके पेशे क्या क्या हैं ?
(१९) उनकी आमदनी कितनी कितनी है ?
(२०) उनका खर्च कितना कितना है ?

मर्दुमशुमारी के प्रत्येक रजिस्टर पर ये २० बातें दर्ज होती थीं। इन्हें पढ़कर अच्छी तरह समझ में आजाता है कि मौर्यकाल में मनुष्य-गणना कितनी उत्कृष्टता के साथ होती थी। राजनैतिक और आर्थिक—दोनों दृष्टियों से उस काल में मनुष्य-गणना का बड़ा महत्त्व था। आर्थिक दृष्टि से जहाँ कर वसूल करने में बहुत सुविधा होती थी, वहाँ राजनैतिक दृष्टि से शत्रुओं के गुप्तचरों

दासाश्चैति तावच्च द्विपदचतुष्पदमिदं चैव हिरण्य-विष्टि-शुल्क-दण्डस्समुतिष्ठतीति ।'

'गृहाणां च करदाकरदसंख्यातेन'

'कुलानां च स्त्रीपुरुषाणां बालवृद्धकर्मचरित्राजीवव्ययपरिमाणं विद्यात् ।' कौ० अर्थ० २ । ३३

तथा अन्य प्रतिनिधियों का अच्छी तरह पता लग सकता था। इसी लिए मर्दुमशुमारी के कर्मचारियों को यह आज्ञा थी कि उनके क्षेत्र में आने जानेवालों पर विशेष ध्यान रखें। शीघ्र ही उनकी सूचना उचित अधिकारियों को दे दें। विदेशियों की गति पर उस समय विशेष खयाल किया जाता था। इस दृष्टि से भी मनुष्य-गणना का बड़ा महत्त्व था।

मैगस्थनीज़ के विवरणों से भी मर्दुमशुमारी की सत्ता भली भाँति सूचित होती है। वह लिखता है—"तीसरा वर्ग उन लोगों का है, जो जन्म और मृत्यु का पता लगाते तथा उसका हिसाब रखते हैं। ऐसा करने का उद्देश्य केवल यही नहीं है कि यह करना कर वसूल करने में सहायक है। परन्तु अभीष्ट यह है कि चाहे छोटा हो या बड़ा—किसी का भी जन्म व मृत्यु राज्य की दृष्टि से न बच सके[1]।"

११. गुप्तचर-विभाग

मौर्य्यकाल में गुप्तचर-विभाग (C. I. D.) बहुत उन्नत अवस्था को प्राप्त था। आचार्य चाणक्य ने इस विभाग का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया है। अनेकविध कार्यों के लिए अनेकविध गुप्तचर नियत थे। मुख्यतया निम्नलिखित कार्यों के लिए गुप्तचरों का प्रयोग होता था—

(१) अमात्यों पर निरीक्षण रखने के लिए—उन्हीं व्यक्तियों को अमात्य बनाया जाता था, जिनकी पहले गुप्तचरों-द्वारा पूरी तरह परीक्षा की जा चुकी हो। पुरोहित, सेनापति आदि सब बड़े अमात्यों की परीक्षा के लिए अनेक भिन्न भिन्न उपाय कौटिल्य ने लिखे हैं। नियुक्ति के बाद भी गुप्तचर लोग निरन्तर अमात्यों के 'शौच' और 'अशौच' का पता लगाते रहते थे[2]।

---

१ मैगस्थनीज़ का भारतवर्षीय विवरण (English) p. 87.

२. 'उपधाभिश्शौचाशौचज्ञानममात्यानाम्' कौ० अर्थ० १ । १०

(२) राजकर्मचारियों पर निरीक्षण रखने के लिए—बड़े बड़े अमात्यों के सिवाय राज्य के सब कर्मचारियों पर भी गुप्तचर लोग निगरानी रखते थे[1]।

(३) पौर और जानपद लोगों के भावों का पता लगाने के लिए भी गुप्तचर नियत किये जाते थे। जनता में किस बात से असन्तोष है, लोग राजा को पसन्द करते हैं वा नहीं, देश के धनी-मानी, प्रभावशाली पुरुषों के क्या विचार हैं। अधीनस्थ जागीरदारों के क्या भाव हैं—इन सब बातों का गुप्तचर लोग पता लगाते रहते थे[2]।

(४) गुप्तचर लोग विदेशों में भी नियत होते थे। पड़ोसी, शत्रुदेश तथा अन्य विदेशीय राष्ट्रों की गति, विचार, भाव आदि का पता लगाने के लिए गुप्तचर हमेशा सचेष्ट रहते थे। जिस देश को अपने अधीन करना होता था, उसमें बहुत से गुप्तचर नाना-विध वेष बनाकर भेज दिये जाते थे। ये शत्रुओं में परस्पर फूट डालने तथा सब आवश्यक खबरें भेजने का काम किया करते थे[3]।

इस विभाग के गुप्तचर अनेक प्रकार के भेष धरते थे। इनमें कुछ आवश्यक भेद ये हैं—

(१) कापटिक छात्र[4]—विद्यार्थी के भेष में दूसरे के मर्म को जानने में समर्थ गुप्तचर।

---

१. 'पूजिताश्चार्थमानाभ्यां राज्ञा राजोपजीविनाम्।
जानीयुः शौचमित्येताः पञ्च संस्थाः प्रकीर्त्तिताः॥'
कौ० अर्थ० १।११

२. 'गूढपुरुषप्रणिधिः कृतमहामात्यापसर्पः पौरजानपदानपसर्पयेत्'
कौ० अर्थ० १। १३

३. 'परविषये वाच्यः' कौ० अर्थ० १। १४

४. कौ० अर्थ० १। ११

(२) उदास्थित[1]—संन्यासी व वैरागी के भेष में प्रज्ञा और सदाचार से युक्त गुप्तचर।

(३) गृहपतिक[2]—किसान के भेष में प्रज्ञा और सदाचार से युक्त गुप्तचर।

(४) वैदेहक[3]—सौदागर के वेष में प्रज्ञा और सदाचार से युक्त गुप्तचर।

(५) तापस[4]—मुण्ड या जटिल तपस्वी साधु के वेष में गुप्तचर।

इनके सिवाय सूद, रसोइया, स्नापक (स्नान करानेवाला), बिस्तर बिछानेवाला, नाई, प्रसादक, पानी भरनेवाला, रसद आदि का वेश बनाकर तथा उनका ही कार्य करके भी बहुत से गुप्तचर रहस्यों का पता लगाते थे[5]। कुब्ज, किरात, मूक, बधिर, जड़ आदि होने का बहाना कर बहुत से गुप्तचर दूसरों के मर्म का पता लगाते रहते थे[6]। स्त्रियाँ, वेश्यायें आदि भी इस विभाग में नियुक्त थीं[7]। बहुत से गुप्तचर भिखमंगे बनकर अपना कार्य करते थे[8]।

गुप्तचर-विभाग के केन्द्र अनेक स्थानों पर थे। इन्हें 'संस्था' कहते थे[9]। जिस किसी भी बात का पता लगता था, उसे 'संस्था'

---

१. कौ० अर्थ० १ । ११

२. ,, ,, १ । ११

३. ,, ,, १ । ११

४. ,, ,, १ । ११

५. ,, ,, १ । १२

६. ,, ,, १ । १२

७. ,, ,, ११ । १

८. ,, ,, १ । १२

९. ,, ,, १ । १२

पहुँचा दिया जाता था। वहाँ से वह उपयुक्त राजकर्मचारी के पास पहुँच जाती थी, इस कार्य के लिए गुप्तलिपि का प्रयोग किया जाता था[1]। विविध भावों को सूचित करने के लिए पृथक् पृथक् संज्ञायें बनी हुई थीं। इस गुप्तलिपि में सन्देश लिखकर यथास्थान पहुँचा दिया जाता था। 'संस्थाओं' को आपस में एक दूसरे का हाल मालूम न हो सकता था[2]। गुप्तचर लोग भी 'संस्था' को नहीं जानते थे। संस्था और गुप्तचरों के बीच में मध्यस्थ कार्य गुप्त वेशवाली स्त्रियाँ करती थीं। ये दासी, कुशीलवा, शिल्पकारिका, भिक्षुकी आदि नानाविध रूप बनाकर गुप्तचरों के सन्देश को 'संस्था' तक पहुँचाती थीं। सन्देश पहुँचाने के लिए केवल गुप्तलिपि का ही प्रयोग न होता था। अपितु अन्य भी अनेक साधन प्रयुक्त होते थे। गीत, बाजे आदि के इस काम के लिए निशान बने हुए थे[3]। साथ ही, शङ्ख, दुन्दुभि आदि की संज्ञायें बनी हुई थीं[4]। ख़ास तरह पर बजाने से ख़ास संज्ञा का ग्रहण होता था। धूवें, आग आदि के निशानों से भी सन्देश भेजे जाते थे[5]।

गुप्तचर-विभाग के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा सकता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इस विभाग का वर्णन इसलिए इतने विस्तार के साथ किया गया है कि उस साम्राज्यवाद के युग में इसका बहुत महत्त्व था। नवीन साम्राज्य स्थापित होने के कारण गुप्तचरों की बहुत आवश्यकता थी।

---

१. 'संस्थानामन्तेवासिनः संज्ञालिपिभिः चारसञ्चारं कुर्युः' कौ० अर्थ० १। १२

२. 'वचान्योऽन्यं संस्थास्ते वा विद्युः' कौ० अर्थ० १। १२

३. कौ० अर्थ० १। १२

४. 'तस्करामित्राभ्यागमे शङ्खदुन्दुभिप्वाशब्दमग्राह्याः कुर्युः' २। ३५

५. धूमाग्निपरम्परया वा। कौ० अर्थ० २। ३४

१२—डाक-प्रबन्ध

मौर्य्यकाल में डाक-प्रबन्ध किस तरह से होता था, इस सम्बन्ध में हमें कुछ विशेष परिज्ञान नहीं है। फिर भी अर्थशास्त्र में एक दो ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनका यहाँ उल्लेख करना बहुत उपयोगी है। उस समय डाक भेजने के लिए कबूतरों का प्रयोग होता था[1]। कपोतों के गले में पत्र लटका कर उन्हें उड़ा दिया जाता था। खब सिखाये हुए होने के कारण वे ठीक स्थान पर ही पत्र को पहुँचाने में समर्थ होते थे।

कबूतरों के सिवाय तेज सवारी पर भी डाक पहुँचाई जाती थी[2]। मौर्यसाम्राज्य जैसे विशाल साम्राज्य में—जिसके सुदूरवर्त्ती प्रदेश सड़कों, सरायों आदि से मिलाये हुए थे, इस तरह का प्रबन्ध होना बहुत आश्चर्यकर नहीं है। मुग़ल-सम्राटों की तरह मौर्य्य-सम्राटों ने भी, सम्भवतः, अपने राज्य में तेज़ घोड़ों-द्वारा डाक पहुँचाने का प्रबन्ध कर रक्खा था।

चन्द्रगुप्त-कालीन भारत के इस वर्णन को हम प्रसिद्ध ऐतिहासिक विन्सेन्ट ए० स्मिथ के निम्नलिखित वाक्य के साथ समाप्त करते हैं—

'The foregoing review of the Civil and Military system of Government during the reign of Chandra Gupta proves clearly that Northern India in the time of Alexander the Great had attained to a high degree of civilisation, which must have been the product of evolution continued through many centuries.'[3]

---

१. कौ० अर्थ० २ । ३४

२. ,, ,, २ । ३४

३ V. A. Smith. Early History of India p. 142.

चौदहवाँ अध्याय

चन्द्रगुप्त की मृत्यु और सम्राट् बिन्दुसार

१—सम्राट् चन्द्रगुप्त का अन्तिम समय

सम्राट् चन्द्रगुप्त ने ३२२ ई० पू० से २९८ ई० पू० तक राज्य किया। चन्द्रगुप्त के शासन-समय के सम्बन्ध में पुराणों में मतभेद है। कहीं उसका शासन-समय ३४ वर्ष लिखा है, तो कहीं २४ वर्ष[1]। लङ्का के प्राचीन इतिहासों में चन्द्रगुप्त का शासन-समय

---

१. मत्स्यपुराण में लिखा है—

चतुस्त्रिंशत् समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति।
अष्टाविंशति वर्षाणि भद्रसारस्तु तत्सुतः॥

इसके विपरीत वायु और ब्राह्म पुराणों में यह पाठ है—

चतुर्विंशत् समा राजा चन्द्रगुप्तो भविष्यति॥

श्रीनारायणशास्त्री की सम्मति में चन्द्रगुप्त का शासन-काल ३४ वर्ष मानना चाहिए। अपने पक्ष की पुष्टि में वे यह भी कहते हैं कि 'चतुर्विंशत्' शब्द व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। शुद्ध रूप है—'चतुर्विंशति'। यदि इस शुद्ध रूप को रखकर श्लोक पाठ किया जाय, तो छन्दोभङ्ग हो जाता है। अतः शास्त्री महोदय की सम्मति में भूल से किसी ने 'चतुस्त्रिंशत्' की जगह 'चतुर्विंशत्' लिख दिया है।

परन्तु पार्जीटर महोदय का मत है कि पुराण पहले प्राकृत रूप में थे। पीछे से उनका संस्कृत में अनुवाद किया गया। इस अनुवाद में अनेक स्थलों पर छन्द, व्याकरण आदि की अशुद्धियाँ हैं। यदि यह मत मान लिया जाय, तो श्रीशास्त्री की विप्रतिपत्ति निरर्थक हो जाती है।

देखो—F. E. Pargiter—'The Purān Text of the Dynasties of the Kali Age', Introduction and Appendix I.

२४ वर्ष लिखा गया है[१]। अतः यही ठीक प्रतीत होता है। ऐतिहासिक विन्सेन्ट ए० स्मिथ ने भी इसी को स्वीकृत किया है।

इस प्रकार २४ वर्ष तक आश्चर्य्यजनक तत्परता और शक्ति के साथ शासन कर चुकने पर इस प्रतापशाली सम्राट् का शासन-समय समाप्त हुआ। चन्द्रगुप्त के जीवन के अन्तिम समय के सम्बन्ध में प्राचीन लेखकों में बहुत मतभेद है। जैन-साहित्य के अनुसार चन्द्रगुप्त ने आचार्य भद्रबाहु श्रुतकेवली से जैन-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। एक बार पाटलिपुत्र में बारह वर्ष का घोर अकाल पड़ा। चन्द्रगुप्त के समकालीन अकाल का ज़िक्र हम पहले भी कर चुके हैं। अकाल की निवृत्ति का सब तरह से उद्योग किया गया। परन्तु जब सफलता नहीं हुई, तो राज्य छोड़कर चन्द्रगुप्त अपने गुरु भद्रबाहु श्रुतकेवली के साथ श्रवण बेलगोला (माइसूर) में जाकर रहने लगे और अन्त में अनशन व्रत ले लेने के कारण स्वर्ग-धाम को पधारे। अनेक विद्वान् चन्द्रगुप्त को शैव मानते हैं, परन्तु जैन-ग्रन्थों से इनका जैनी होना ही प्रतीत होता है। वर्तमान विद्वानों में चन्द्रगुप्त के धर्म के सम्बन्ध में मतभेद हैं। डा० फ्लीट तथा अन्य कतिपय विद्वानों ने इन जैन-कथाओं की प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट किया है। श्रीयुत वि० ए० स्मिथ ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्ली हिस्ट्री आफ़ इण्डिया' के द्वितीय संस्करण में जैन-कथाओं का खण्डन किया था। परन्तु तृतीय संस्करण में उन्होंने इनकी सत्यता को स्वीकृत कर लिया है[२]।

---

१. 'मोरियानं खत्तियानं वंसेजातं सिरीधरं
चन्दगुत्तो' ति पञ्ञत्तं चाणक्को ब्राह्मणो ततो।
सो चतुव्वीसवस्सानि राजा रज्जमकारयि॥ महावंश ५। १६, १८

२. "In the second edition of this book I rejected that tradition and dismissed the tale as 'Imaginary History.' But on reconsideration of the whole evidence and the objection urged against the crediblity of the story, I am

जिन आधारों पर सम्राट् चन्द्रगुप्त का जैन होना स्वीकृत किया जाता है, तथा अन्तिम समय में भद्रबाहु श्रुतकेवली के साथ श्रवणबेलगोला में अनशन व्रत करके प्राण-त्याग करने की कथा को सत्य समझा जाता है, हम पहले उनका उल्लेख करेंगे। पीछे से उनकी आलोचना करके किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचने का यत्न करेंगे। इन आधारों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) जैन-साहित्य, (२) शिलालेख।

पहले जैन-साहित्य को लीजिए। यतिवृषभ नामक दिगम्बर जैनाचार्य ने अपने 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' नाम के ग्रन्थ में लिखा है कि मुकुटधर राजाओं में सबसे अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त ने जैन-धर्म की दीक्षा ली। उसके बाद किसी मुकुटधर राजा ने जिनधर्म की दीक्षा ग्रहण न की[1]।

भद्रबाहु-चरित्र में लिखा है—अवन्तिदेश में 'चन्द्रगुप्ति' नाम का राजा राज्य करता था। इसकी राजधानी उज्जैन थी। एक बार राजा चन्द्रगुप्ति ने रात को सोते हुए भावी अनिष्ट फल के सूचक सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल होते ही उसको भद्रबाहु स्वामी के आगमन का समाचार मिला। यह स्वामी उज्जैन नगरी के बाहर एक सुन्दर बाग़ में ठहरा हुआ था। वनपाल ने जाकर राजा को सूचना दी कि गण के अग्रणी आचार्य भद्रबाहु अपने 'मुनिसंदोह' के साथ पधारे हुए हैं। यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय भद्रबाहु को बुला भेजा और अपने स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नों का फल ज्ञात होने पर राजा चन्द्रगुप्ति ने जैन-धर्म की दीक्षा ले ली और अपने गुरु भद्रबाहु

---

now disposed to believe that the tradition probably is true in its main outline, and that Chandragupta really abdicated and became a Jain ascetic."

V. A. Smith—Early History of India, p. 154.

१. मउडधरेसुं चरिमो जिणदिक्खं धरदि चन्दगुत्तो य
तत्तो मउडधरादो पव्वज्जं णेव गेह्णंति ॥

की सेवा में दत्तचित्त होकर तत्पर हो गया। कुछ समय बाद आचार्य भद्रबाहु सेठ जिनदास के घर आया। इस घर में एक अकेला बालक पालने पर भूल रहा था। यद्यपि इसकी आयु कुल साठ दिन की थी, तथापि भद्रबाहु को देखकर 'जाओ, जाओ' ऐसा वचन बोलना शुरू किया। इसे सुनते ही भद्रबाहु समझ गया कि शीघ्रही बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़नेवाला है। अतएव उन्होंने अपने ५०० मुनियों को लेकर दक्षिण देश में जाने का निश्चय किया। वहाँ जाकर उन्हें कुछ ही समय बाद यह मालूम होगया कि उनकी आयु थोड़ी रह गई है। अतः वे अपने घर पर विशाखाचार्य को नियत कर स्वयं एकान्त स्थान पर रह कर अन्तिम समय की प्रतीक्षा करने लगे। चन्द्रगुप्ति मुनि गुरु की सेवा में ही रहे। यद्यपि भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्ति को अपने पास रहने से बहुत मना किया, परन्तु उसने एक न मानी। एकान्त में रहते हुए गिरिगुहा में भद्रबाहु ने प्राण त्याग कर दिये। इसके बाद मुनि चन्द्रगुप्ति इसी गुरुगुहा में निवास करने लगे[1]।

---

१. भद्रबाहु-चरित्र के कुछ आवश्यक श्लोक निम्न-लिखित हैं—

अवन्तीविषयेऽत्राथ विजिताखिलमण्डले। ५
चन्द्रगुप्तिनृपस्तत्राचकाशच्चारुगुणोदयः। ८
ज्ञानविज्ञानपारीणो जिनपूजापुरंदरः। ९
राजँस्त्वदीयपुण्येन भद्रबाहुर्गणाग्रणीः
आजगाम त्वदुद्याने मुनिसंदोहसंयुतः॥ २१
....
अथैकस्मिन् दिने भद्रो भद्रबाहुः समाययौ
श्रेष्ठिनो जिनदासस्य कायस्थित्यै निकेतने। ২৩
तत्र शून्ये गृहे चैको विद्यते केवलं शिशुः। २८
झोलिकान्तर्गतः षष्ठिदिवसप्रमितस्तदा।
गच्छ गच्छ वचोऽवादीत् तच्छ्रुत्वा मुनिना द्रुतम्। २९

ब्रह्मचारी श्रीमन्नेमिदत्त-द्वारा बनाई प्रसिद्ध पुस्तक आराधनाकथाकोष में भी इसी प्रकार की कथा उल्लिखित है। इसे पृथक् रूप से देने की आवश्यकता नहीं। द्वादश वर्ष के घोर दुर्भिक्ष की सम्भावना होने पर आचार्य भद्रबाहु अपने मुनि-संघ के साथ दक्षिण-देश चले गये। "यति लोगों के वियोग के कारण उज्जयिनी-नाथ राजा चन्द्रगुप्त भी भद्रबाहु से दीक्षा लेकर मुनि होगया[1]।"

इसी से मिलती-जुलती कथा रामचन्द्रमुमुक्षुकृत पुण्याश्रव-कथाकोष में पाई जाती है[2]। प्रसिद्ध जैन-ग्रन्थ परिशिष्ट पर्व में भी चन्द्रगुप्त को जैन लिखा है[3]। अतः सिद्ध हुआ कि जैन-साहित्य के अनुसार मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त जैन था और उसने अपने गुरु भद्रबाहु के साथ दक्षिण में प्राण-त्याग किये थे।

जैन-साहित्य के सिवाय श्रवण बेलगोला (माइसूर) में प्राप्त अनेक संस्कृत व कनारी भाषा के शिलालेख इसी बात की पुष्टि करते हैं। इन शिलालेखों को प्रकाशित करते हुए श्रीयुत राइस लिखते हैं कि "इस स्थान पर जैनों की आबादी अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु-द्वारा हुई, इस व्यक्ति की मृत्यु इसी स्थान पर हुई। अन्तिम समय में अशोक का पितामह मौर्य राजा

निमित्तज्ञानतोऽज्ञासीन्मुनिरुत्पातमद्भुतम्।
शरद्द्वादशपर्य्यन्तं दुर्भिक्षं मध्यमण्डले। ६१
इति निर्वेदमाधाय भवभ्रमणभीतधीः
राज्यं स्वसूनवे दत्त्वा गेहे गेहेऽतिसंभ्रमात्।

१. ततश्चोज्जयिनीनाथश्चन्द्रगुप्तो महीपतिः।
वियोगाद्यतिनां भद्रबाहुं नत्वाभवन्मुनिः॥

(आराधनाकथाकोष)

२. श्रीनाथूराम प्रेमी-द्वारा अनूदित पुण्याश्रवकथाकोष देखिए।

३. परिशिष्ट पर्व ८। ४१५-४३५

चन्द्रगुप्त—ग्रीक ऐतिहासिकों का सैण्ड्राकोट्टस—इसकी सेवा करता था[१]।"

श्रवणबेलगोला की स्थानीय अनुश्रुति (Tradition) भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध जोड़ती है। इतना ही नहीं, अनुश्रुति द्वारा श्रवणबेलगोला के साथ इन दोनों का भी सम्बन्ध जुड़ता है। श्रवणगोला के दो पर्वतों में से छोटे का नाम 'चन्द्रगिरि' है। कहा जाता है कि यह नाम 'चन्द्रगुप्त' नामी एक महात्मा के नाम पर है। इसी पर्वत पर एक गुफा भी है, इसका नाम भद्रबाहु स्वामी की गुफा है। यहाँ एक मठ भी है, जिसे 'चन्द्रगुप्तवस्ति' कहते हैं।

चन्द्रगिरिपर्वत पर अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। ये लेख जैन-साहित्य के विवरण को ही पुष्ट करते हैं। इनसे प्रतीत होता है कि आचार्य भद्रबाहु ने इस स्थान पर अपने प्राणों का त्याग किया था और अन्तिम समय में उनका शिष्य चन्द्रगुप्त उनकी सेवा करता था[२]। इन शिलालेखों में से मुख्य शिलालेख में द्वादश वर्ष के दुर्भिक्ष तथा उसके बाद उज्जैन से जैन-मुनियों

---

१. "The settlement of the Jains at that place was brought about by the last of Srut-Kevalins, Bhadrabahu, and that this person died there, tended in his last moment by the Maurya king Chandragupta—the Sndrakottos of the Greek Historian—the grand-father of Asoka."

—Myrore and Coorg from Inscriptions by Lewis Rice.

२. यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपि
अपश्चिमोऽभूत् विदुषां विनेता, सर्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन ॥
यदीयशिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तस्समग्रशीलानतदेववृद्धः ।
विवेश यत्तीव्रतपःप्रभावात् प्रभूतकीर्त्तिर्भुवनान्तराणि ॥

इत्यादि

के संघ का दक्षिण में आना—आदि सब वृत्तान्त लिखा है[1]। ये शिलालेख विविध समयों के हैं। सबसे प्राचीन शिलालेख सातवीं सदी ई० पू० का है। अतः प्राचीनता के कारण इनकी प्रामाणिकता में भी सन्देह नहीं किया जा सकता। ये प्रमाण हैं, जिन्हें आधार में रख कर मौर्य चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध श्रवणबेलगोला के साथ जोड़ा जाता है। इन्हीं का अच्छे प्रकार विवेचन कर ऐतिहासिक स्मिथ भी सम्राट् चन्द्रगुप्त के अनशन-द्वारा प्राणत्याग की कथा को सत्य मानते हैं। परन्तु हमारी सम्मति में यदि इन ग्रन्थों का अच्छे प्रकार अनु-

---

१. "अथ खलु सकलजगदुदयकरणो दिनातिशयगुणास्पदीभूतपरमजिनशासनसरस्समभिवर्द्धितभव्यजनकमलविरसनवितिमिरगुणकिरणसहस्रमहोतिमहावीरसवितरि परिनिर्वृत्ते भगवत्परमर्षिगौतमगणधर साक्षाच्छिष्य लोहार्यजम्बुविष्णुदेव—अपराजितगोवर्द्धनभद्रबाहुविशाखप्रोष्ठिलक्षत्रिकार्यजयनामसिद्धार्थ धृतषेणबुद्धिलादिगुरुपरम्परीणक्रमाभ्यागतमहापुरुषसन्ततिसमवद्योतितान्वयभद्रबाहुस्वामिना उज्जयिन्याम् अष्टाङ्गमहानिमित्ततत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसंवत्सरकालवैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्वसङ्घ उत्तरापथात् दक्षिणापथं प्रस्थितः आर्येणैव जनपदं अनेकग्रामशतसंख्यमुदितजनधनकनकं शस्यगोमहिषाजाविकलसमाकीर्णं प्राप्तवान् अतः आचार्यप्रभाचन्द्रेण अवनितलललामभूतेऽथास्मिन् कटवप्रनामोपलक्षिते..........शिखरिणि जीवितशेषम् अल्पतरकालं अवबुध्याध्वनः सुचकितः तपः समाधिम् आराधयितुम् आपृच्छ्यं निरवशेषेण संघं विसृज्य शिष्येणैकेन पृथुलकास्तीर्णतलासु शिलासु शीतलासु स्वदेहं संन्यस्य आराधितवान् क्रमेण सप्तशतम् ऋषीणाम् आराधितम् इति जयतु जिनशासनम्।"

सब शिलालेखों के लिए देखिए Rice—Mysore and Coorg from Inscriptions.

शीलन किया जाय, तो हम किसी अन्य ही परिणाम पर पहुँच जावेंगे।

पुण्याश्रव कथा का ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है। इसमें भी चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध श्रवणवेलगोला के साथ जोड़ा गया है। परन्तु इस ग्रन्थ में जिस 'चन्द्रगुप्ति' के जैनसाधु बन कर अनशन व्रत करने का उल्लेख है, वह अशोक का पितामह चन्द्रगुप्त नहीं, अपितु अशोक का पौत्र चन्द्रगुप्त है। पुण्याश्रव-कथा में पटना के राजाओं का वृत्तान्त लिखते हुए पहले मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त का इतिहास लिखा है। नन्द-द्वारा चाणक्य के अपमानित होने के वृत्त वर्णन करके यह ग्रन्थ कहता है—

"अब चाणक्य को क्रोध आया और वह नगर से निकल कर बाहर जाने लगा। मार्ग में चाणक्य ने चिल्ला कर कहा—'जो कोई मेरे परमशत्रु राजा नन्द का राज्य लेना चाहता हो, वह मेरे पीछे पीछे चला आवे।" चाणक्य के ऐसे वाक्य सुनकर एक चन्द्रगुप्त नाम का क्षत्रिय, जोकि अत्यन्त निर्धन था, यह विचार कर कि इसमें मेरा क्या बिगड़ता है, चाणक्य के पीछे हो लिया। चाणक्य चन्द्रगुप्त को लेकर नन्द के किसी प्रबल शत्रु से जा मिला। और किसी उपाय से नन्द का सकुटुम्ब नाश करके उसने चन्द्रगुप्त को वहाँ का राजा बनाया। चन्द्रगुप्त ने बहुत काल तक राज्य करके अपने पुत्र बिन्दुसार को राज्य दे, चाणक्य के साथ जिन-दीक्षा ग्रहण की।......बिन्दुसार भी अपने पुत्र अशोक को राज्य दे महामुनि हुआ। अशोक के भी एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कुनाल रखा गया। कुनाल की बाल्यावस्था थी, अभी वह पठन-पाठन में ही लगा हुआ था कि इसी समय राजा अशोक को अपने किसी शत्रु पर चढ़ाई करने के लिए जाना पड़ा। जो मन्त्री नगर में रह गया था, उसके लिए राजा ने एक लिखी हुई आज्ञा भेजी कि अध्यापक को चावल, बैंगन आदि दे उसे संतुष्ट कर कुमार को अच्छी तरह पढ़ाना। राजा का यह पत्र पढ़नेवाले ने इस तरह पढ़ा कि 'कुमार को अन्धा

कर देना।[1]' राजा की आज्ञा जैसी पढ़ी गई थी, वैसी ही काम में लाई गई। कुमार के नेत्र फोड़ दिये गये। थोड़े दिन पीछे शत्रु को जीत कर राजा अशोक वापिस आया। अपने पुत्र की ऐसी दशा देखकर उसे बहुत शोक हुआ। थोड़े दिनों के बाद कुनाल का विवाह किसी चन्द्राननना नाम की कन्या से कर दिया गया, जिससे कि एक 'चन्द्रगुप्त' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा अशोक अपने पोते चन्द्रगुप्त को राज्य दे दीक्षित हुआ। अब अशोक के पीछे चन्द्रगुप्त राज्य करने लगा। एक दिन नगर के बाहरी उद्यान में कोई अवधि-ज्ञानी मुनि पधारे। वनपाल ने मुनि के आने की खबर राजा को दी। राजा चन्द्रगुप्त मुनि की वन्दना करने के लिए उद्यान में आया और श्रीमुनि को नमस्कार कर उनके पास बैठ गया। धर्म श्रवण करने के बाद राजा ने मुनि से अपने पूर्व-भव पूछे।........ चन्द्रगुप्त अपने ऐसे पूर्व-भव सुनकर प्रसन्न हो मुनिराज को नमस्कार कर नगर में लौट आया और सुख से राज्य करने लगा। एक बार राजा चन्द्रगुप्त ने रात्रि के पिछले प्रहर में नीचे लिखे हुए सोलह स्वप्न देखे[2] ....।

इसके आगे सम्पूर्ण वही कथा लिखी है, जो कि भद्रबाहु-चरित्र में पाई जाती है। इस प्रकार पुण्याश्रवकथाकोष के अनुसार श्रवणबेलगोला के साथ जिस चन्द्रगुप्त का सम्बन्ध है, वह अशोक का पितामह न होकर उसका पौत्र है।

जैन-ग्रन्थ 'राजावलिकथा' में भी यही कथा लिखी है। वहाँ पर भी विचाराधीन चन्द्रगुप्त अशोक का पितामह न होकर, उसका पौत्र है। वहाँ यह भी लिखा है कि भद्रबाहु के साथ जैन-मुनि बन कर चन्द्रगुप्त अपने पुत्र सिंहसेन को राज्य देकर स्वयं दक्षिण की तरफ़ चला गया[3]। हम जानते हैं कि मौर्यवंश के

१. 'अध्यापयताम्' के स्थान पर 'अन्धापयताम्' पढ़ लिया गया।

२. रामचन्द्रमुमुक्षुकृत पुण्याश्रवकथाकोष (नन्दिमित्र की कथा)

३. Indian Antiquary, Vol. XXI. में भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त पर डा० फ्लीट का लेख देखिए।

संस्थापक चन्द्रगुप्त का पुत्र सिंहसेन न था, अपितु बिन्दुसार था। अतः राजावलिकथा के अनुसार भी अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त का श्रवणबेलगोला के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह हमने देखा कि जैन-ग्रन्थ पुण्याश्रवकथा और राजावलिकथा के अनुसार जिस चन्द्रगुप्त ने आचार्य भद्रबाहु के साथ श्रवणबेलगोला में जाकर अनशन-व्रत-द्वारा प्राण त्याग किये वह अशोक का पौत्र और कुनाल का पुत्र चन्द्रगुप्त है, अशोक का पितामह नहीं।

भद्रबाहु-चरित्र में मुख्यतया आचार्य भद्रबाहु का इतिहास लिखा गया है। उसमें इस बात के लिए कोई निर्देश नहीं कि भद्रबाहु का शिष्य कौन सा चन्द्रगुप्त है। चन्द्रगुप्त नाम से अनेक सम्राट् हुए हैं। शिलालेखों के सम्बन्ध में भी यही बात है। वे जैनसाहित्य के अनुसार श्रवणबेलगोला की अनुश्रुति को लेखबद्ध कर देते हैं। इससे अधिक वे कोई मदद नहीं करते। हम इस अनुश्रुति में कोई सन्देह नहीं करते कि चन्द्रगुप्त नाम का उज्जयिनी का एक राजा आचार्य भद्रबाहु के साथ श्रवणबेलगोला में आया था और वहाँ पहुँच कर अनशन-व्रत करके स्वर्ग-लोक सिधारा था। परन्तु प्रश्न यही है कि यह चन्द्रगुप्त है कौन सा? जैन-साहित्य ही के अनुसार यह अशोक का पौत्र है। जैन-साहित्य में जहाँ स्पष्टरूप से चाणक्य और चन्द्रगुप्त का इतिहास लिखा है, वहाँ श्रवणबेलगोला में अनशन-व्रत करके प्राण त्याग करने का कोई वर्णन नहीं। परिशिष्टपर्व प्रसिद्ध जैनग्रन्थ है। इसमें चन्द्रगुप्त की मृत्यु तक का वर्णन किया गया है, परन्तु उसके साथ आचार्य भद्रबाहु और श्रवणबेलगोला का कोई ज़िक्र नहीं। आराधनाकथाकोष में भी चाणक्य की कथा पृथक् रूप से लिखी गई है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए क्या हम सुगमता से इस परिणाम पर नहीं पहुँच सकते कि मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम का भद्रबाहु और श्रवणबेलगोला के साथ कोई सम्बन्ध नहीं! यह सम्बन्ध तो अशोक के पौत्र राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय का है। श्रीयुत राइस ने इस कठिनता

का अनुभव किया था, इसी लिए इस कठिनता से वचने के लिए उन्होंने लिखा था कि दो चन्द्रगुप्तों का लिखा जाना प्राचीन अनुश्रुति में कुछ गड़बड़ का परिणाम है। और जैनलेखकों ने भूल से चन्द्रगुप्त को—जो वस्तुतः अशोक का पितामह था—अशोक का पौत्र लिख दिया है[1]।

हम श्रीयुत राइस की बात को मान लेते, यदि जैन-साहित्य में अशोक के पौत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय के वर्णन के साथ साथ उसके पितामह चन्द्रगुप्त का वर्णन न आता, परन्तु कठिनता तो यह है कि दोनों चन्द्रगुप्तों का वर्णन जैन-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यद्यपि दोनों को जैन माना गया है, पर प्रथम चन्द्रगुप्त के साथ भद्रबाहु और श्रवणवेलगोला का कोई सम्बन्ध नहीं वताया गया। इस अवस्था में जैनसाहित्य का अध्ययन करने के वाद हम यह मानने को बाधित हैं कि मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त के साथ आचार्य भद्रबाहु और श्रवणवेलगोला का कोई सम्बन्ध नहीं है, और चन्द्रगुप्त ने दक्षिण में अनशन-व्रत-द्वारा प्राण त्याग नहीं किये। यह वात अशोक के पौत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय के सम्बन्ध में सत्य है। जैन-साहित्य में इसका दूसरा नाम सम्प्रति आता है। यह सम्प्रति उज्जयिनी का प्रसिद्ध जैनसम्राट् हुआ है। सम्प्रति और चन्द्रगुप्त एक ही व्यक्ति के नाम हैं, और अशोक के उत्तराधिकारी इस जैन-सम्राट् ने किस तरह पश्चिमीय भारत में जैन-धर्म के विस्तार के लिए उद्योग किया, इसका वर्णन हम यथास्थान करेंगे।

२. सम्राट् बिन्दुसार

२६८ ई० पू० में सम्राट् चन्द्रगुप्त की मृत्यु हुई। इसके बाद चन्द्रगुप्त के पुत्र विन्दुसार का शासन-काल प्रारम्भ होता है। बिन्दुसार के अनेक नाम पुराणों में उल्लिखित हैं। विष्णुपुराण,

---

१. Indian Antiquary XXI. डा० फ्लीट का भद्रबाहु और चाणक्य-विषयक लेख।

कलियुगराजवृत्तान्त, दीपवंश और महावंश में 'विन्दुसार' शब्द आता है, परन्तु वायुपुराण में 'भद्रसार' तथा कुछ अन्य पुराणों में 'वारिसार' शब्द आते हैं। ग्रीक-लेखकों ने चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारी का नाम 'एमित्रोचेटस' (Amitrochates) लिखा है। डा० फ्लीट के अनुसार इसका संस्कृत स्वरूप अमित्रघात या अमित्रखाद है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि विन्दुसार का ही 'अमित्रघात' दूसरा नाम था। सम्राट् विन्दुसार के नाम के विषय में अनेक दन्तकथायें प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित हैं। यद्यपि इनका ऐतिहासिक मूल्य कुछ भी नहीं है, तथापि एक जैन-कथा का उल्लेख करना अनुचित न होगा। परिशिष्टपर्व[1] के अनुसार चन्द्रगुप्त की सब प्रकार से रक्षा करने के लिए चाणक्य ने यह निश्चय किया कि उसे विष खाने का अभ्यास कराया जाय। वह उसको प्रतिदिन विष खिलाने लगा। एक समय राजमहिषी चन्द्रगुप्त के साथ भोजन करने वैठी। किन्तु उस पर शीघ्र ही चन्द्रगुप्त के विष ने अपना प्रभाव दिखलाया और वह मर गई। उसके पेट में बच्चा था, अतः चाणक्य ने उसका पेट फड़वाकर बच्चा निकलवा लिया। विष की एक बूँद बच्चे के सिर में लगी थी, अतः चाणक्य ने उसका नाम बिन्दुसार रक्खा।

सम्राट् विन्दुसार के शासन-काल की कोई मुख्य घटना प्रसिद्ध नहीं है। या इस तरह कह सकते हैं कि हमें मालूम नहीं है। १६ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध तिब्बती लेखक तारानाथ ने लिखा है कि बिन्दुसार ने चाणक्य की सहायता से सोलह राज्यों पर विजय प्राप्त की[2]। उसने इन सोलह राजधानियों के राजाओं और

---

१. परिशिष्टपर्व ८। ४३६-४४५

२. V. A. Smith—Early History of India, p. 157.
और The Empire of Bindusara by Jayaswal in the Journal of Bihar and Orissa Research Society, 1916.

मंत्रियों को मारकर अपने साम्राज्य को एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक विस्तृत किया। इन महत्त्वपूर्ण विजयों का वृत्तान्त उपलब्ध नहीं होता। परन्तु इससे यह बात स्पष्टरूप से प्रकट होती है कि साम्राज्य-निर्माण के महान् कार्य को चन्द्रगुप्त अपने शासन-काल में पूरा नहीं कर सका था, इस कार्य को उसके सुयोग्य पुत्र ने जारी रक्खा। जब इन विजयों का वृत्तान्त उपलब्ध हो जावेगा, तो निस्सन्देह बिन्दुसार को भी चन्द्रगुप्त और अशोक जैसे सम्राटों की श्रेणी में स्थान मिलेगा।

हम पहले प्रतिपादित कर चुके हैं कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में सम्पूर्ण उत्तरीय भारत सम्मिलित था। अतः बिन्दुसार को उत्तरीय भारत के राजाओं को घात करने का कोई अवसर प्राप्त न था, उसने दक्षिण की ओर अपनी नज़र उठाई और उधर ही विजय-यात्रा प्रारम्भ की। अशोक के समय में दक्षिणी-भारत का बड़ा भाग मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था, इस प्रदेश को सम्राट् बिन्दुसार ने ही अपने अधीन किया।

मौर्य-सम्राटों के दक्षिण-विजय के कुछ निर्देश प्राचीन तामिल-साहित्य से भी उपलब्ध होते हैं। तामिल के प्राचीन ब्राह्मण कवि मामुलनार ने बारम्बार दक्षिण पर मौर्यों के आक्रमण का निर्देश किया है। अशोक के शिलालेखों से तो मौर्यों का दक्षिण पर शासन सिद्ध ही है। अतः स्पष्ट है कि सम्राट् अशोक के पूर्ववर्त्ती मौर्य बिन्दुसार ने इस प्रदेश को अपने अधिकार में किया। बारहवीं सदी के एक शिलालेख में एक प्राचीन विश्वास को उल्लिखित किया गया है, जिसके अनुसार कुन्तल—जिसमें उत्तरीय माइसूर तथा पश्चिमीय दक्खिन सम्मिलित हैं—प्रदेश पर नन्दों का अधिकार था। कदम्ब-वंश के राजा अपनी उत्पत्ति नन्द से ही बताते हैं। यदि यह ठीक है तो मानना पड़ेगा कि नन्दवंश के सम्राटों का राज्य-विस्तार दक्षिण में भी था, और चन्द्रगुप्त ने नन्दों को मारकर मगध का जो विस्तृत राज्य प्राप्त किया, उसमें दक्षिण भी शामिल था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नन्दों के समय में मगध का साम्राज्य बहुत ही विस्तृत और शक्तिशाली

था। यदि शिलालेख के इस विश्वास को सत्य माना जाय, तो दक्षिणीय भारत पर भी सम्राट् चन्द्रगुप्त के अधिकार की सत्ता को स्वीकृत करना पड़ेगा। इस अवस्था में—तारानाथ के अनुसार—बिन्दुसार ने कौन से और कहाँ के सोलह राजाओं को जीता, इसकी कल्पना करना बहुत कठिन है। हो सकता है कि मौर्य-साम्राज्य की स्थापना और नन्द-वंश के पतन के समय की अव्यवस्था का लाभ उठाकर दक्षिणीय भारत के अनेक राज्य स्वतन्त्र होगये हों और बिन्दुसार ने उन्हें फिर अपने अधीन किया हो। कुछ भी हो, यह निश्चित समझना चाहिए कि बिन्दुसार भी एक अत्यन्त शक्तिशाली सम्राट् थे और इनके समय में वह कार्य पूरा हुआ, जिसका प्रारम्भ चन्द्रगुप्त ने किया था। आचार्य चाणक्य के निरीक्षण में निःसन्देह बिन्दुसार ने भी मौर्य-साम्राज्य को सुदृढ़ तथा सुविस्तृत करने के कार्य को जारी रक्खा।

आचार्य चाणक्य सम्राट् बिन्दुसार के भी प्रधान मन्त्री थे, यह बात केवल तारानाथ के कथन से ही पुष्ट नहीं होती, अपितु जैनग्रन्थ भी यही बात प्रकट करते हैं। परिशिष्टपर्व के अनुसार चन्द्रगुप्त की मृत्यु पर जब बिन्दुसार सम्राट् बना, तो चाणक्य ने उससे कहकर सुबन्धु नाम के एक व्यक्ति को मंत्री बनवाया। "सुबन्धु चाणक्य से हृदय से द्वेष करता था। अतः उसने एक दिन एकान्त में राजा से कहा—'हे राजन्! यद्यपि मैं आपके लिए अभी उतना प्रामाणिक सिद्ध नहीं हुआ हूँ, तथापि कुलीनों के समान कुछ हित की बात कहता हूँ। तुम विश्वासघाती चाणक्य का कभी विश्वास मत करना। इस दुरात्मा ने तुम्हारी माता का पेट फड़वा डाला था।' राजा ने यही बात धाय से पूछी। वह भी चाणक्य से रुष्ट थी, अतः उसने भी यही बात कही। चाणक्य को भी इस बात से बहुत दुःख हुआ। उसने मन में सुबन्धु को बहुत धिक्कारा और तप करने का विचार करने लगा। इतने में राजा को दूसरी धाय से सत्य वृत्तान्त मालूम हुआ। तब उसने जाकर चाणक्य से क्षमा-याचना की और

राजसुख भोगने की प्रार्थना की। चाणक्य ने उसे क्षमा कर दिया परन्तु पीछे फिरना स्वीकार न किया। वह वन में चला गया और तप करने लगा। इधर सुबन्धु भी डरा। उसने राजा से प्रार्थना की—'महाराज ! मैंने भूल से ऐसा कहा। मुझे क्षमा कीजिए। मैं जाकर चाणक्य से क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।' राजा ने अनुमति दे दी[1]।"

यह बात असम्भव नहीं है कि चाणक्य सम्राट् बिन्दुसार के समय तक विद्यमान हो और मौर्य-साम्राज्य को सुदृढ़ करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहा हो। वस्तुतः आचार्य चाणक्य भारत के इतिहास में ही नहीं, अपितु संसार के इतिहास में एक अद्वितीय और अपूर्व महापुरुष हैं। मौर्य-साम्राज्य के रूप में सम्पूर्ण भारत को संगठित करना तथा भारत को इतना शक्तिशाली बनाना आचार्य चाणक्य का ही कार्य है।

सम्राट् बिन्दुसार के समय की एक और घटना की ओर भी ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। इनके शासन-काल में तक्षशिला में दो बार विद्रोह हुआ। तक्षशिला मौर्य-साम्राज्य के पश्चिमोत्तर प्रदेश (उत्तरापथ) की राजधानी थी, और स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुसार इसमें विद्रोहों का होना सर्वथा सम्भव था। अशोक के समय में भी यहाँ विद्रोह हुए। सम्राट् बिन्दुसार के समय के विद्रोहों का परिज्ञान प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रन्थ दिव्यावदान से होता है। वहाँ लिखा है—'राजा बिन्दुसार के तक्षशिला नगर ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह को शान्त करने के लिए बिन्दुसार ने कुमार अशोक को भेजा। उससे कहा—"कुमार ! जाओ और तक्षशिला नगर के विद्रोह को शान्त करो।" उसने उसके लिए चतुरङ्ग सेना तो दे दी, परन्तु यान और हथियार देने से इनकार कर दिया।...... जब तक्षशिला के पौरों ने सुना कि कुमार अशोक विद्रोह को शान्त करने के लिए आ रहे हैं, तब उन्होंने २½ योजन पहले तक तक्षशिला की

---

१. परिशिष्टपर्व ८। ४४६-४५२।

सड़क को और सम्पूर्ण तक्षशिला नगर को अच्छी तरह सजाया और पूर्णघट लेकर पहले ही अशोक के स्वागत के लिए चल पड़े। कुमार अशोक का स्वागत करके 'पौर' ने कहा—"न हम कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा बिन्दुसार के। परन्तु दुष्ट अमात्य हमारा परिभव करते हैं।" इसके बाद वे बड़े सत्कार के साथ अशोक को तक्षशिला नगरी में ले गये[1]।'

इस विद्रोह के बाद एक अन्य विद्रोह का वर्णन भी दिव्यावदान में किया गया है। इस विद्रोह को शान्त करने के लिए राजा बिन्दुसार ने कुमार सुषिमा को भेजा था, क्योंकि सम्भवतः अशोक उस समय उज्जैनी के शासक थे। तक्षशिला जैसे सीमावर्त्ती महत्त्वपूर्ण नगर का विद्रोह करना असम्भव नहीं है, अतः इन घटनाओं के ऐतिहासिक न होने में कोई कारण नहीं।

सम्राट् चन्द्रगुप्त की तरह बिन्दुसार के समय में भी भारत का विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। बिन्दुसार के समय पश्चिमीय एशिया में एण्टियोकस सोटर राज्य कर रहा था, यह सैल्यूकस निकेटर का ही उत्तराधिकारी था। इसने मैगस्थनीज़ के स्थान पर डायमेचस को अपना राजदूत बनाकर पाटलिपुत्र में भेजा।

---

१. 'अथो राज्ञो बिन्दुसारस्य तक्षशिला नाम नगरं विरुद्धम्। तत्र राज्ञा बिन्दुसारेणाशोको विसर्जितः। गच्छ कुमार तक्षशिलानगरं सन्नामय। चतुरङ्गं बलकायं दत्तं यानं प्रहरणं च प्रतिषिद्धम्। यावत् अशोकः कुमारः पाटलिपुत्रान्निर्गच्छन् भृत्यैः विज्ञापितः।... श्रुत्वा तक्षशिलानिवासिनः पौराः अर्धत्रितीयानि योजनानि मार्गे शोभां कृत्वा पूर्णघटं चादाय प्रत्युद्गताः। प्रत्युद्गम्य च कथयति। न वयं कुमारस्य विरुद्धाः नापि राज्ञो बिन्दुसारस्य। अपितु दुष्टामात्याः अस्माकं परिभवं कुर्वन्ति। महता च सत्कारेण तक्षशिलानगरं प्रवेशितः।'

दिव्यावदान edited by Cowell and Neil, पृष्ठ ३७१।

प्राचीन यूनानी लेखकों ने एण्टियोकस और बिन्दुसार—जिसे उन्होंने अमित्रघात या एमित्रेचेटस लिखा है—के सम्बन्ध के विषय में अनेक कथायें लिखी हैं। इनमें से एक कथा का यहाँ उल्लेख करना अप्रासङ्गिक न होगा। कहते हैं कि एक बार बिन्दुसार ने एण्टियोकस को लिखा कि कृपया मेरे लिए कुछ अञ्जीर, अंगूरी शराब और एक यूनानी अध्यापक ख़रीद कर भेज दीजिए। इसके उत्तर में एण्टिओकस ने अञ्जीर, और शराब तो ख़रीद कर भेज दिये, परन्तु यूनानी अध्यापक के विषय में कहला भेजा कि यूनानी प्रथा के अनुसार अध्यापक का क्रय-विक्रय नहीं हो सकता। इस सामान्य सी घटना से यह स्पष्टरूप से पता चलता है कि उस समय सुदूर एशिया माइनर के साथ भारत का सम्बन्ध स्थापित था।

सम्राट् बिन्दुसार के समय मिस्र का राजा फिलाडैलफस टाल्मी था। इसने मिश्र में २८५ ई० पू० से २४७ ई० पू० तक राज्य किया। इसने डायोनीसियस नामक एक राजदूत को भारतीय सम्राट् के राज-दरबार में भेजा था। डायोनीसियस चिरकाल तक बिन्दुसार के दरबार में रहा, इसने मैगस्थनीज़ की तरह भारत का एक विवरण भी लिखा था। यह विवरण ईसा की प्रथम शताब्दी तक अवश्य ही उपलब्ध था और इसका प्रयोग ऐतिहासिक प्लिनी ने किया था। शोक है कि यह वृत्तान्त अब उपलब्ध नहीं होता।

बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक राज्य किया। कुछ ग्रन्थों में इसका शासन-काल २८ वर्ष भी लिखा है। वि० ए० स्मिथ ने इनका २५ वर्ष शासन ही स्वीकृत किया है। इस तरह इनकी २७२ ई० पू० में मृत्यु हुई और सम्राट् अशोक राजगद्दी पर बैठे।

सम्राट् चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के इतिहास को समाप्त करने और अशोक का इतिहास प्रारम्भ करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है, कि मौर्य-साम्राज्य की स्थापना के साथ 'मौर्य-संवत' का भी प्रारम्भ किया गया था। वस्तुतः मौर्य-साम्राज्य के

स्थापन की घटना इस योग्य थी कि उससे एक नये संवत् का प्रारम्भ किया जावे। मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद भी यह संवत् स्थिर रहता है और मौर्यों के विरोधी भी इसका प्रयोग करते हैं। कलिङ्गराज खारवेल ने अपने शिलालेख में लिखा है—

"पनंतरियसठिवससते राजमुरियकाले वो छिने च चोयठ अगसतकुतरियम्"

यद्यपि अन्यत्र मौर्य-संवत् का प्रयोग नहीं दिखाई देता पर खारवेल के समय में इसका प्रयोग आश्चर्यकर है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

सम्राट् अशोक का राज्यारोहण

२७२ ई० पू० में सम्राट् बिन्दुसार की मृत्यु होने पर अशोक राजगद्दी पर बैठे। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार अशोक ने अपने अनेक भाइयों को मार कर राज्य प्राप्त किया। विषय को पूर्ण रूप से स्पष्ट करने के लिए हम बौद्ध-ग्रन्थों के मत को यहाँ उल्लिखित करते हैं। महावंश में लिखा है—

'मगध के राजा कालाशोक के दस लड़के थे। कालाशोक की मृत्यु के बाद उन्होंने बाईस वर्ष तक राज्य किया। उनके उत्तराधिकारी नन्द हुए, ये नौ भाई थे। इन्होंने भी बाईस वर्ष तक राज्य किया। चाणक्य नामक एक ब्राह्मण ने, जिसे अन्तिम नन्द धननन्द से बहुत घृणा थी, बड़े क्रोध के साथ नन्दवंश का नाश करके सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का राजा चन्द्रगुप्त को बना दिया। इस चन्द्रगुप्त ने चौबीस वर्ष तक राज्य किया। उसके बाद उसके लड़के बिन्दुसार ने अठाईस साल तक राज्य किया। राजा बिन्दुसार के सोलह रानियाँ थीं और एक सौ एक पुत्र थे। इन पुत्रों में सुमन सबसे बड़ा और तिष्य सबसे छोटा था। अशोक ने विमाताओं से उत्पन्न हुए सब भाइयों को मारकर अपने आप राज्य प्राप्त किया[1]।'

---

1. कालासोकस्स पुत्ता तु अहेसुं दस भातिका।
वावीसतिन्ते वस्सानि रज्जं समनुसासि सुं॥
....
तस्स पुत्तो बिन्दुसारो अठ्ठवीसति कारयि॥
बिन्दुसारसुता आसुं सतं एको च विस्सुता
असोको आसि ते सन्तु पुञ्ञतेजो बलिद्धिको॥

ऐतिहासिक स्मिथ ने महावंश की कथा को दीपवंश की कथा के साथ मिला कर लिखा है। इसी कथा में वे लिखते हैं—'बिन्दुसार की सोलह रानियाँ थीं और एक सौ एक पुत्र थे। इनमें सुमन सबसे बड़ा और तिष्य सबसे छोटा था। तीसरे पुत्र का नाम था—अशोक। यह तिष्य का सगा भाई था। इसे राजा बिन्दुसार ने पश्चिमी भारत का प्रान्तीय शासक नियत किया हुआ था। जब इसे समाचार मिला कि राजा बिन्दुसार भयङ्कर रूप से बीमार है, तो राजधानी उज्जैन को छोड़कर वह एक-दम साम्राज्य की राजधानी पाटलीपुत्र की तरफ़ चल पड़ा। राजधानी में पहुँच कर उसने अपने सबसे बड़े भाई सुमन का घात किया तथा अन्य अट्ठानवे भाइयों को मारा। केवल सबसे छोटे तिष्य को ही जीवित रहने दिया। इस प्रकार सब भाइयों का संहार कर अशोक भारत का सम्राट् होगया[१]।' अशोक ने किस प्रकार राज्य प्राप्त किया, इसका विस्तृत वर्णन दिव्यावदान में किया गया है। इस वर्णन से अशोक के पूर्व जीवन पर भी अच्छा प्रकाश पड़ेगा। इसलिए दिव्यावदान के वर्णन को हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"पाटलीपुत्र नगर में बिन्दुसार नाम का राजा राज्य करता था। राजा बिन्दुसार के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'सुसीम' रक्खा गया। इसी समय चम्पा नगरी में एक अन्य ब्राह्मण निवास करता था। उसकी लड़की बहुत ही सुन्दर 'दर्शनीया, प्रासादिका और जनपदकल्याणी' थी। उसके भविष्य के सम्बन्ध में ज्योतिषियों से पूछा गया। ज्योतिषियों ने बताया—इस लड़की का पति राजा होगा और इसके दो पुत्र-रत्न होंगे। एक पुत्र तो चक्रवर्ती

वेमातिके भातरो सो हन्त्वा एकूनकं सतं
सकले जम्बुद्दीपस्मिं एकरज्जमयापुणि ॥

महावंश—५। १४, १८—२०।

१. V. A. Smith—Asoka—The Buddhist Emperor of India, अध्याय ६

सम्राट् होगा और दूसरा वैरागी होकर 'सिद्धव्रत' हो जायगा। यह भविष्यवाणी सुनकर ब्राह्मण को बहुत ही प्रसन्नता हुई। दुनिया रुपये के पीछे चलती है। वह ब्राह्मण लड़की को लेकर पाटलीपुत्र चला आया और उसे अच्छे वस्त्र तथा आभूषणों से सजाकर राजा बिन्दुसार की पत्नी बनने के लिए उपहार-रूप से दे दिया। जब वह राजा बिन्दुसार के अन्तःपुर में प्रविष्ट हुई तो अन्तःपुर में रहनेवाली स्त्रियों के दिल में आया कि यह कन्या बहुत सुन्दर है, अत्यन्त प्रासादिका और जनपद-कल्याणी है। यदि कहीं राजा ने इसके साथ सम्भोग कर लिया, तो हमारी बात भी कोई न पूछेगा, हमारी तरफ़ आँख भी न उठायगा। यह सोचकर उन्होंने इस ब्राह्मण-कन्या को नाई का काम सिखला दिया। जब वह नाई के कार्य में खूब निपुण होगई तो राजा के बाल और मूँछें आदि सँवारने लगी। जब राजा सोता था, उस समय वह उसके बाल सँवारती थी। एक बार प्रसन्न होकर राजा ने उससे वर माँगने को कहा। उस कन्या ने कहा—'मैं देव के साथ समागम करना चाहती हूँ।' यह सुनकर राजा बोला—'तू नाइन है और मैं क्षत्रिय राजा हूँ, तेरा और मेरा समागम किस प्रकार हो सकता है?' कन्या बोली—'मैं नाइन नहीं हूँ, अपितु ब्राह्मण-कन्या हूँ। उसने मुझे आपकी पत्नी होने के ही लिए दिया है।' यह सुनकर राजा ने कहा—'फिर तुझे नाइन का कार्य किसने सिखाया है?'

ब्राह्मण-कन्या—अन्तःपुर की स्त्रियों ने।

राजा—अब तुझे और अधिक नाइन के कार्य को करने की आवश्यकता नहीं है।

इसके अनुसार राजा ने उस ब्राह्मण-कन्या को अपनी पटरानी बना लिया। और राजा उसके साथ क्रीडा, रमण आदि करने लगा। उसके गर्भ हो गया और नौ मास पश्चात् एक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा ने अपनी पटरानी से पूछा कि इसका नाम क्या रक्खा जाय? उसने उत्तर दिया—इस बच्चे के उत्पन्न होने से मैं 'अशोका' हो गई हूँ, इसलिए इसका नाम 'अशोक' रक्खा

जाय। अतः उसका नाम अशोक रख दिया गया। कुछ समय बाद रानी के एक और पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम 'विगत-शोक' रक्खा गया।

अशोक का शरीर ऐसा नहीं था कि उसके स्पर्श से सुख प्राप्त होता हो। वह 'दुःस्पर्शगात्र' था, इसलिए राजा बिन्दुसार उससे प्रेम नहीं करता था। अतः कुमार की परीक्षा लेने के लिए राजा ने परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव के साथ सलाह की। राजा ने कहा—'उपाध्याय! कुमारों की परीक्षा लेते हैं, देखते हैं कि कौन इस योग्य है कि मेरे बाद राज्य-कार्य को सँभाल सके।' परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव ने जवाब दिया—'बहुत अच्छी बात है, कुमारों को लेकर उद्यान में सुवर्ण-मण्डप में चलिए, वहाँ कुमारों की परीक्षा लेंगे।' यह सुनकर राजा कुमारों को लेकर सुवर्ण-मण्डप की ओर चला गया। इस समय अशोक को उसकी माता ने कहा—

"वत्स! राजा कुमारों की परीक्षा लेने के लिए सुवर्ण मण्डप में गया है। तू भी वहाँ चला जा।

अशोक—राजा तो मुझे देखना भी नहीं चाहता, मैं जाकर क्या करूँगा?

माता—फिर भी चला जाना ही ठीक है।

अशोक—बहुत अच्छा, परन्तु खाने को भेज देना।

जब अशोक पाटलीपुत्र से निकला, तो प्रधान मन्त्री का पुत्र राधागुप्त उसे मिला। उसने पूछा—'अशोक कहाँ जाते हो?' अशोक ने उत्तर दिया—'आज राजा सुवर्ण-मण्डप में कुमारों की परीक्षा ले रहा है, वहीं जाता हूँ।'

उस समय उस स्थान पर राजा का भद्रक नाम का हाथी खड़ा हुआ था। अशोक उस पर चढ़ गया और सुवर्ण-मण्डप जा पहुँचा। वह अन्य कुमारों के बीच में पृथ्वी पर बैठ गया। इसी बीच में कुमारों के लिए भोजन आया। अशोक की माता ने भी मिट्टी के बर्त्तन में दही और चावल डालकर भेज दिया था। तब राजा बिन्दुसार ने परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव से कहा—

'उपाध्याय ! कुमारों की परीक्षा लीजिए। देखिए कौन इस योग्य है कि मेरे बाद राजगद्दी पर बैठ सके।'

परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव ने देखा और सोचा कि राजा तो अशोक ही होगा, परन्तु यह राजा को अभीष्ट नहीं है। यदि यह कह दूँ कि अशोक राजा बनेगा, तब मेरे जीवित रहने की कोई सम्भावना नहीं है। इसलिए उसने उत्तर दिया—'बिना स्वयं बताये मैं यह बात प्रकट करता हूँ।' राजा ने कहा—'अच्छा, इसी तरह बताइए।' परिव्राजक ने कहा—'जिसका यान शोभन है, वह राजा बनेगा।' यह सुनकर सब कुमार सोचने लगे, 'मेरा यान शोभन है, मैं ही राजा बनूँगा।' अशोक ने भी सोचा—'मैं हाथी की पीठ पर चढ़कर आया हूँ, मेरा यान शोभन है, मैं ही राजा बनूँगा।' राजा ने कहा—'उपाध्याय ! अभी और परीक्षा लीजिए।' परिव्राजक पिङ्गल-वत्साजीव ने उत्तर दिया—'देव ! जिसका आसन आगे है, वही राजा बनेगा।' यह सुनकर सब कुमार सोचने लगे—'मेरा आसन सबसे आगे है, मैं ही राजा बनूँगा।' अशोक ने भी सोचा—'मेरा आसन पृथ्वी है, मैं ही राजा बनूँगा।' इसी प्रकार भोजन, वस्त्र, पात्र, पान आदि के विषय में कह कर परिव्राजक पिङ्गल-वत्साजीव बैठ गया।

सब कुमार अपने अपने स्थान पर वापिस आये। अशोक की माता ने उससे पूछा—'क्या फ़ैसला हुआ, कौन राजा बनेगा?' अशोक ने कहा—'जिसका यान, आसन, भोजन, पात्र, वस्त्र, पान सबसे अच्छे हैं, वही राजा बनेगा—यह फ़ैसला हुआ है। मेरा तो यह ख़याल है कि मैं ही राजा बनूँगा। क्योंकि हाथी मेरी सवारी है, पृथिवी मेरा आसन है, मिट्टी का बना हुआ बर्तन है, दधि के साथ मिले हुए चावल मेरा भोजन है, और उत्तम जल मेरा पान है।'

इसके बाद परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव ने यह सोच कर कि अशोक राजा होगा, उसकी माता की सेवा करनी प्रारम्भ कर दी। माता ने पूछा—'उपाध्याय ! राजा बिन्दुसार

के बाद कौन सा कुमार राजा होगा?' उपाध्याय ने कहा—'अशोक'। माता ने कहा—'कहीं राजा तुझसे किसी तरह इसका पता न लगा ले, अतः तू शीघ्र ही पाटलीपुत्र छोड़ कर सुदूर प्रदेश में चला जा। और जब अशोक राजा हो जावे, तब वापिस चले आना।' यह सुन कर परिव्राजक पिङ्गलवत्साजीव सीमावर्ती जनपदों में चला गया।

एक बार तक्षशिला नामक नगर ने राजा बिन्दुसार के विरुद्ध विद्रोह किया। इस विद्रोह को शान्त करने के लिए बिन्दुसार ने अशोक को भेजा। अशोक को बुलाकर राजा ने कहा—'कुमार! जाओ, तक्षशिला नगर को शान्त करो।' विद्रोह को शान्त करने के लिए राजा ने अशोक को चतुरङ्ग सेना तो दे दी, परन्तु यान और हथियार देने से निषेध कर दिया। जब कुमार अशोक पाटलीपुत्र से निकले तो भृत्यों ने कहा—'कुमार! हमारे पास लड़ाई के हथियार तो हैं ही नहीं, हम किसके साथ युद्ध करेंगे?' यह सुनकर अशोक ने कहा—'यदि मेरे राज्य में कुशल रहनी है तो हथियार उत्पन्न हो जावें।' अशोक के ऐसा कहने पर पृथिवी में छेद हो गया और देवताओं ने स्वयं प्रकट होकर हथियार उपस्थित कर दिये। तब अशोक चतुरङ्ग सेना के साथ तक्षशिला की ओर चल पड़ा। जब तक्षशिला में रहनेवाले नगरवासियों ने यह सुना, तो वे बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने तक्षशिला से साढ़े तीन योजन दूर तक मार्ग को खब अच्छी तरह सजाया और पूर्णघट को लेकर कुमार अशोक के स्वागत के लिए चल पड़े। अशोक के आने पर 'पौर' ने निवेदन किया—'हे कुमार! न हम आपके विरुद्ध हैं और न राजा बिन्दुसार के। परन्तु दुष्ट अमात्य लोग हमारा परिभव करते हैं।' वे पुरनिवासी बहुत ही स्वागत-सत्कार के साथ कुमार अशोक को तक्षशिला नगर में ले गये। उसके पास दो बड़े बड़े हाथी आये। ये उसके आगे रहते थे और मार्ग से सब बाधाओं को दूर करते जाते थे। यह देख देवताओं ने कहा—अशोक चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा, इसका किसी को विरोध न करना चाहिए।

यह तो अशोक के विषय में हुआ। उधर सुसीम (बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र) सुवर्ण-मण्डप से वापिस होकर जब पाटलीपुत्र में प्रवेश कर रहा था, तो राजा बिन्दुसार का प्रधान मंत्री खल्लाटक पाटलीपुत्र से बाहर जा रहा था। सुसीम खेल में मग्न था, उसने मखौल में खल्लाटक के सिर पर खटका गिरा दिया। इस बात को देख प्रधानमंत्री सोचने लगा, आज तो यह सिर पर खटका गिराता है, जिस दिन राजा बन जायगा, उस दिन हथियार गिराने लगेगा। इसलिए ऐसा उपाय करूँगा कि यह राजा ही न बन सके। खल्लाटक ने इस निश्चय के अनुसार प्रयत्न भी करना प्रारम्भ कर दिया। पाँच सौ अमात्यों को सुसीम के बखिलाफ़ कर दिया और अशोक को चक्रवर्ती राजा बनाया जाय, यह निर्णय कर दिया। अपने निश्चय को क्रियारूप में परिणत करने के लिए इन्होंने तक्षशिला-नगर में फिर विद्रोह खड़ा कर दिया।

इस बार विद्रोह को शान्त करने के लिए राजा बिन्दुसार ने सुसीम को भेजा। परन्तु कुमार सुसीम विद्रोह को शान्त न कर सका। राजा बिन्दुसार बीमार था। उसने कहा—'कुमार सुसीम को ले आओ, उसको राज्य पद में प्रतिष्ठापित करना है और कुमार अशोक को विद्रोह शान्त करने के लिए तक्षशिला में भेज दो।'

यह सुनकर अमात्यों ने राजा अशोक को हल्दी से लेप दिया और लाख को लोहे के बर्तन में डालकर उबालने लगे। उन्होंने प्रसिद्ध कर दिया कि कुमार अशोक बीमार हैं। (इसका उद्देश्य सम्भवतः यही था कि अशोक को तक्ष-शिला जाने से रोक सकें) उधर बिन्दुसार की अवस्था बिगड़ती चली गई। जब उनकी अन्तिम अवस्था निकट आगई और प्राणान्त का समय आगया, तब अमात्य लोग अशोक को विविध वस्त्रों और आभूषणों से सजाकर राजा बिन्दुसार के पास ले आये और कहने लगे—'इसको राजपद में प्रतिष्ठापित कर दीजिए, जब सुसीम वापिस आ जायगा, तब उसे राज्य दे दिया जायगा।'

यह सुनकर अशोक ने क्रोध से भर कर राजा से कहा—'यदि धर्म के अनुसार राज्य मुझी को प्राप्त होता है, तो देवता मेरे पट्ट बाँध दें।' देवताओं ने ऐसा ही किया। यह देखकर राजा बिन्दुसार के मुख से गरम खून निकलने लगा, और वह शीघ्र ही परलोक को प्राप्त हो गया।

इसके बाद अशोक को राज्य दे दिया गया। जब अशोक को राज्य दिया गया, तब एक योजन ऊपर यक्ष और एक योजन नीचे नाग इस बात को सुन रहे थे। अशोक ने राधागुप्त को अपना प्रधान मन्त्री नियत किया।

जब कुमार सुसीम ने राजा बिन्दुसार की मृत्यु और अशोक की राज्यप्राप्ति का हाल सुना, तो बहुत क्रुद्ध हुआ और शीघ्र ही वहाँ से चल पड़ा। जब अशोक ने सुसीम के आगमन का समाचार सुना, तो पाटलीपुत्र के एक द्वार पर एक 'नग्न' को और दूसरे द्वार पर दूसरे 'नग्न' को नियत कर दिया। तीसरे द्वार पर राधागुप्त नियत हुआ और चौथे द्वार पर अशोक स्वयं उपस्थित हुआ। राधागुप्त ने पहले द्वार पर एक यन्त्रवाला हाथी खड़ा कर दिया, और साथ में अशोक की एक मूर्ति भी स्थापित कर दी। उसके सम्मुख परिखा खुदवा कर उसमें खैर के अङ्गारे भरवा दिये। उसके ऊपर तृण आदि अच्छी तरह डलवा कर सबसे ऊपर मट्टी डलवा दी। जब सुसीम पाटलीपुत्र के समीप पहुँचा, तो राधागुप्त ने कहला भेजा—'यदि अशोक को मार दोगे, तभी राज्य कर सकोगे।' यह सुन कर सुसीम अशोक के घात के लिए पूर्व-द्वार की ओर चल पड़ा। दूर से अशोक की मूर्ति को ही अशोक समझ कर उससे युद्ध करने के लिए वह आगे बढ़ा। परन्तु मार्ग में खाई में गिर पड़ा। खाई खैर के जलते अङ्गारों से भरी हुई थी, उसमें पड़कर सुसीम का देहान्त होगया[1]।"

---

१. दिव्यावदान पृ० ३६९—३७१

यह उद्धरण मूल पुस्तक का शब्दानुवाद है।

दिव्यावदान का यह वृत्तान्त अशोक के प्रारम्भिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इस पर किसी प्रकार की टिप्पणी आदि करने की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु एक महत्त्व-पूर्ण विषय पर विचार करना आवश्यक है। क्या सचमुच अशोक ने अपने भाइयों को मार कर राजगद्दी प्राप्त की। महावंश और दीपवंश के अनुसार राजा अशोक ने अपने ९८ या ९९ भाइयों को मार कर राज्य प्राप्त किया। दिव्यावदान के अनुसार यदि ९८ भाइयों को नहीं तो कम से कम ज्येष्ठ भाई सुसीम का तो अवश्य ही घात किया। इस विषय पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है। महावंश में लिखा है कि सम्राट् बिन्दुसार की मृत्यु के चार वर्ष बाद राजा अशोक का राज्याभिषेक हुआ[1]। अशोक ने अपने शिलालेखों में सर्वत्र राज्याभिषेक के वर्ष से ही समय का परिगणन किया है, इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि राज्य-प्राप्ति और राज्याभिषेक के बीच में कुछ समय अवश्य व्यतीत हुआ था। यदि बौद्ध-ग्रन्थों की कथाओं पर विश्वास किया जाय, तो मानना पड़ेगा कि सम्राट् बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् राज्य के उत्तराधिकार के लिए घोर युद्ध हुआ था, और अपने भाइयों को पराजित करके ही अशोक राजसिंहासन पर बैठ सके थे।

पर अनेक विद्वान् इस बात से असहमत हैं। इसी प्रसङ्ग में विचार करते हुए श्रीयुत देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर लिखते हैं—

"अशोक ने अपने शिलालेखों में जहाँ कहीं भी कोई तिथि दी है, वहाँ उसकी परिगणना अपने राज्याभिषेक के काल से की है, इस बात को देखकर अनेक विद्वानों ने सिंहलद्वीप में प्राप्त बौद्ध-ग्रन्थों के इस कथन को विश्वसनीय समझा है कि

---

१. पत्वा चतुहिवस्सेहि एकरज्जं महायसो।
पुरे पाटलिपुत्तस्मिं अत्तानमभिसेचयि॥
महावंश ५. २२.

अशोक का राज्याभिषेक राजगद्दी पर बैठने के चार साल पश्चात् हुआ। परन्तु ये बौद्ध-ग्रन्थ यह भी बताते हैं कि अपने पिता की मृत्यु के बाद अशोक ने अपने ६६ भाइयों का घात कर राज्य पर अधिकार जमाया और सबसे छोटे भाई तिष्य के सिवाय अन्य किसी को भी जीवित न रहने दिया। परन्तु इस कथा का खण्डन अशोक के शिलालेखों-द्वारा हो जाता है, क्योंकि उनमें उसके केवल एक ही भाई का नहीं, अपितु अनेक भाइयों का ज़िक्र है जो कि न केवल पाटलीपुत्र में अपितु साम्राज्य के अनेक नगरों में रह रहे थे। यदि इस कहानी को केवल गप्प ही समझा जाता है, तो यह समझ में नहीं आता कि कहानी के उस हिस्से को क्यों प्रामाणिक समझा जाय, जिसमें कि अशोक के राज्याभिषेक का राज्य-प्राप्ति के चार वर्ष बाद होना कहा गया है[1]।"

श्रीयुत वि० ए० स्मिथ की भी यही सम्मति है। वे ६६ भाइयों को मारकर राजगद्दी प्राप्त करने की बात को कोरी और 'मूर्खतापूर्ण' गप्प समझते हैं। क्योंकि अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि उनके शासनकाल में उनके अनेक भाई तथा अन्य सम्बन्धी जीवित थे और अशोक उनके साथ बहुत ही अनुकम्पा का व्यवहार करते थे। अतः यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि महावंश की कथा विश्वसनीय नहीं है। इसका अच्छी तरह प्रतिपादन करके भी ऐतिहासिक स्मिथ लिखते हैं[2]—

"तथापि यह सम्भव है कि उत्तरीय इतिवृत्त, जिसके अनुसार कि राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में अशोक और सबसे बड़े भाई सुसीम का परस्पर झगड़ा हुआ, असली घटना पर स्थित हो। यह वृत्तान्त सिंहली भिक्षुओं-द्वारा उल्लिखित कथाओं की अपेक्षा अधिक ऐतिहासिक प्रतीत होता है[3]।"

---

१. D. R. Bhandarkar—'Asoka,' Ch. I.

२. Asoka by V. A. Smith, Ch. I.

३. V. A. Smith—The Early History of India, p. 164.

बेशक, यह सम्भव है। उत्तरीय इतिवृत्त अर्थात् दिव्यावदान की कथा में 'अनैतिहासिकता' कुछ नहीं है। उसको सच न मानने में कारण कोई नहीं है। क्योंकि इस संघर्ष का उल्लेख शिलालेखों में नहीं आता, यह कोई युक्ति नहीं है। प्रतीत होता है कि दिव्यावदान और महावंश दोनों ने ही असली घटना को आधार में रख कर अपनी कहानियों को लिखा है। परन्तु वर्णन में महावंश ने अतिशयोक्ति से काम लिया है।

अस्तु, राज्य-प्राप्ति से पूर्व अशोक तक्षशिला और उज्जैनी के प्रान्तीय शासक रह चुके थे। मौर्यसम्राट् अपने विस्तृत साम्राज्य का शासन प्रान्तों-द्वारा करते थे, यह पहले दिखलाया जा चुका है। तक्षशिला और उज्जैनी दोनों ही साम्राज्य के मुख्य केन्द्र थे। इन महत्त्वपूर्ण प्रान्तों के शासक रहने के कारण उनको शासन का अच्छी तरह अनुभव था।

महावंश के अनुसार जिस समय राजा बिन्दुसार की मृत्यु हुई, तो अशोक उज्जैनी के प्रान्तीय शासक थे। पिता की मृत्यु का समाचार सुनते ही वे वहाँ से चल पड़े और अपने बड़े भाई सुसीम या सुमन को पराजित कर राजगद्दी प्राप्त की[1]।

---

1. बिन्दुसारस्स पुत्तानं सब्बेसं जेट्ठभातुनो।
सुमनस्स कुमारस्स पुत्तो सो हि कुमारको॥
असोको पितरादिन्नं रज्जमुज्जेनियं हि सो
हित्वागतो पुप्फपुरं बिन्दुसारे गिलानके॥
कत्वा पुरं सकायत्तं मते पितरि भातरं
घातेत्वा जेट्ठकं रज्जं अगाहेसि पुरे वरे॥
महावंश ५, ४०—४२

सोलहवाँ अध्याय

सम्राट् अशोक का शासन

(२७२ ई० पू० से २३२ ई० पू० तक)

१—राज्य-विस्तार

राजगद्दी प्राप्त कर अशोक ने क्या कुछ किया, इसका क्रमबद्ध इतिहास लिख सकना सम्भव नहीं है। महावंश, दीपवंश और दिव्यावदान बौद्ध-ग्रन्थ हैं, इनकी रचना बौद्ध-धर्म को दृष्टि में रख कर की गई है। इन ग्रन्थों की दृष्टि में अशोक बौद्ध-धर्म का संरक्षक, प्रचारक और सहायक था। इसी दृष्टि से ये अशोक का वर्णन करते हैं। अशोक की राजनैतिक शक्ति, साम्राज्य-विस्तार आदि विषयों पर ये बहुत ही कम प्रकाश डालते हैं। शिलालेख निस्सन्देह हमारे कार्य में अधिक सहायक हैं। पर प्रायः ये भी धार्मिक आज्ञाओं के रूप में हैं, इनसे अशोक की धार्मिक नीति के विषय में जितना प्रकाश पड़ता है, उतना शासन-नीति के विषय में नहीं। यह सब कुछ होते हुए भी सम्राट् अशोक के शासन के विषय में जो कुछ ज्ञान हमको प्राप्त है, उसको यहाँ लिखने का प्रयत्न किया जायगा।

अपने पिता बिन्दुसार से अशोक को बहुत बड़ा साम्राज्य प्राप्त हुआ था। यह पूर्व में बङ्गाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में हिन्दूकुश पर्वत तक फैला हुआ था। इसके उत्तर में हिमालय की गगन-चुम्बिनी शिखायें स्थित थीं और दक्षिण में यह बहुत दूर तक विस्तृत था। अशोक ने इस विशाल साम्राज्य को और भी अधिक विस्तृत किया। जब अशोक के राज्याभिषेक को हुए आठ साल व्यतीत हो चुके, अर्थात् २६१ ई० पू० में कलिङ्ग देश पर आक्रमण किया गया। कलिङ्ग देश बङ्गाल

की खाड़ी के तट पर महानदी और गोदावरी नदियों के बीच में स्थित था। कलिङ्ग उस समय के अत्यन्त शक्तिशाली राज्यों में से एक था। मैगस्थनीज़ के अनुसार कलिङ्ग देश के राजा के पास ६० हज़ार पैदल, १,००० घुड़सवार और ७०० हस्ति-सेना विद्यमान थी। जिस देश में तैयार सेना (Standing Army) की मात्रा इतनी अधिक हो, उसकी शक्ति को कम न समझना चाहिए। इस शक्तिशाली राज्य पर अशोक ने बड़ी तैयारी के साथ आक्रमण किया। कलिङ्ग-राज ने साहस और धैर्य के साथ मुक़ावला किया। जमकर युद्ध करने पर भी कलिङ्गवासी अपनी स्वाधीनता क़ायम न रख सके। विश्वविजयिनी मगध की सेनाओं के सम्मुख उनकी एक न चली। अन्त में कलिङ्ग की पराजय हुई। इस युद्ध में कलिङ्ग के एक लाख आदमी मारे गये, डेढ़ लाख क़ैद कर लिये गये और इनसे कई गुना अधिक मनुष्य युद्ध के बाद आनेवाली स्वाभाविक आपत्तियों से काल के ग्रास हो गये! इन अङ्कों को देखकर सहज में ही अनुमान किया जा सकता है, कि इस कलिङ्ग-विजय का स्वरूप कितना भयङ्कर था। इस विजय का ज़िक्र सम्राट् अशोक अपने 'चतुर्दश शिलालेखों' में इस प्रकार करते हैं—

"राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिङ्ग देश को विजय किया। वहाँ डेढ़ लाख मनुष्य क़ैद किये गये, एक लाख मनुष्य मारे गये और इससे कई गुना आदमी (महामारी आदि से) मरे। इसके बाद कलिङ्ग देश विजय होने पर देवताओं के प्रिय का धर्म-पालन, धर्म-कर्म, और धर्मानुशासन अच्छी तरह से हुआ है। कलिङ्ग को जीतने पर देवताओं के प्रिय को बड़ा पश्चात्ताप हुआ, क्योंकि जिस देश का पहले विजय नहीं हुआ है, उस देश का विजय होने पर लोगों की हत्या वा मृत्यु अवश्य होती है और न जाने कितने आदमी क़ैद किये जाते हैं। देवताओं के प्रिय को इससे बहुत दुःख और खेद हुआ। देवताओं के प्रिय को इससे और भी दुःख हुआ कि वहाँ ब्राह्मण श्रमण तथा अन्य समुदाय के मनुष्य और

गृहस्थ रहते हैं, जिनमें ब्राह्मणों की सेवा, माता-पिता की सेवा, गुरुओं की सेवा, मित्र परिचित सहायक जाति दास और सेवकों के प्रति अच्छा व्यवहार किया जाता है और जो दृढ़ भक्ति-युक्त होते हैं ऐसे लोगों का वहाँ विनाश वध या प्रिय जनों से बलात् वियोग होता है। अथवा जो स्वयं तो सुरक्षित होते हैं, पर जिनके मित्र परिचित, सहायक और सम्बन्धी विपत्ति में पड़ जाते हैं, उन्हें भी अत्यन्त स्नेह के कारण बड़ी पीड़ा होती है। यह सब विपत्ति वहाँ प्रायः हर एक मनुष्य के हिस्से में पड़ती है, इससे देवताओं के प्रिय को विशेष दुःख होता है। क्योंकि ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ अनन्त सम्प्रदाय न हों और उन सम्प्रदायों में ब्राह्मण और श्रमण (विभक्त) न हों। और कोई देश ऐसा नहीं है, जहाँ मनुष्य एक न एक सम्प्रदाय को न मानते हों। कलिङ्ग देश के विषय में उस समय जितने आदमी मारे गये, मरे या क़ैद हुए, उनके सौवें या हज़ारवें हिस्से का नाश भी अब देवताओं के प्रिय को बड़े दुःख का कारण होगा[1]।"

वस्तुतः, सम्राट् अशोक को, जिनका हृदय पहले ही बौद्ध-धर्म की अहिंसाप्रधान शिक्षाओं की तरफ़ झुक रहा था, कलिङ्ग-विजय के अमित जननाश को देखकर अत्यन्त कष्ट हुआ। इसके बाद से उनकी मानसिक प्रवृत्ति बदल गई, उन्होंने शस्त्रों के द्वारा विजय करना छोड़कर धर्म-विजय के लिए उद्योग प्रारम्भ किया। यह होते हुए भी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि कलिङ्ग देश की विजय के कारण उनके साम्राज्य की शक्ति बहुत बढ़ गई और मगध के राज्य-विस्तार का विकास पूर्णता को प्राप्त हुआ। जिस देश को सम्राट् अशोक ने खून

१. 'चतुर्दश शिलालेखों' में १३ वाँ लेख—
यहाँ श्री० जनार्दन भट्ट, एम० ए० लिखित 'अशोक के धर्मलेख' पुस्तक का अनुवाद के लिए उपयोग किया गया है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए।



धौली में प्राप्त शिला काट कर बनाया गया हाथी। पृ० ४४८

की नदियाँ बहाकर प्राप्त किया था, उसका सुशासन करने के लिए कोई कसर बाक़ी न छोड़ी गई। उसे एक नवीन प्रान्त के रूप में परिणत किया गया। इस नवीन प्रान्त की राजधानी 'तुषाली' नगरी थी, इस पर भी राजघराने का कोई 'कुमार' ही प्रान्तीय शासक के रूप में राज्य करता था। कलिङ्ग की शासन-नीति को स्पष्ट करने के लिए अशोक ने दो विशेष शिला-लेख वहाँ पर खुदवाये थे। अशोक को कलिङ्ग के सुशासन का बहुत ख़्याल था, इसी लिए वे अपने कलिङ्ग के शिलालेखों में स्थानीय राजपदाधिकारियों को सुशासन के लिए बहुत ज़ोर देते हैं। वे लिखते हैं—

"देवताओं के प्रिय की आज्ञा से तुषाली नगर में उन महा-मात्रों को जो उस नगर का शासन करते हैं, ऐसा कहना—जो कुछ मेरा मत है उसके अनुसार मैं चाहता हूँ कि कार्य हो और अनेक उपायों से कार्य का आरम्भ किया जाय। मेरे मत में इस कार्य को सिद्ध करने का मुख्य उपाय आप लोगों के प्रति मेरी (यह) शिक्षा है, (जिसे मैं आप लोगों को देना चाहता हूँ)—आप लोग इसलिए कई सहस्र प्राणियों के ऊपर रक्खे गये हैं कि जिसमें हम अच्छे लोगों के स्नेह-पात्र बनें। सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं और जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरे पुत्र-गण सब तरह के हित और सुख को प्राप्त करें उसी प्रकार मैं चाहता हूँ कि सब मनुष्य ऐहिक और पारलौकिक सब तरह के हित और सुख का लाभ उठायें।..........यह लेख इसलिए लिखा गया कि जिसमें नगर-व्यावहारिक (नगर के शासक लोग) सदा इस बात का प्रयत्न करें कि नगर-निवासियों को अकारण बन्धन या दण्ड न हो। और इसलिए मैं धर्मानुसार पाँच पाँच वर्ष पर (ऐसे कर्मचारियों को) बाहर (दौरे पर) भेजा करूँगा, जो नरम क्रोध-रहित और दयालु होंगे और जो इस कार्य को ध्यान में रखते हुए मेरी आज्ञा के अनुसार चलेंगे।"

न केवल कलिङ्ग-राज्य का ही, अपितु सम्पूर्ण साम्राज्य का ही सम्राट् अशोक ने पुत्रवत् पालन किया। अशोक की शासन-

व्यवस्था का हम पृथक् अन्यत्र वर्णन करेंगे, यहाँ इतना दिखाना ही प्रयोजन है कि नवीन जीते हुए प्रदेश पर अशोक ने अच्छी तरह न्याय-पूर्वक शासन किया।

कलिङ्ग को जीतने के सिवाय क्या किसी अन्य दिशा में भी अशोक ने राज्य का विस्तार किया, इसका उत्तर दे सकना बहुत कठिन है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कलिङ्ग-विजय के बाद अशोक ने विजय (या शस्त्र-विजय) करना बन्द कर दिया। और तो और रहा, कलिङ्ग की समीपवर्त्ती जङ्गली जातियों पर भी आक्रमण नहीं किया गया, राजकर्मचारियों के पूछने पर भी अशोक ने आक्रमण से इनकार किया। और यही उचित समझा कि धर्म-द्वारा ही इन जङ्गली जातियों की भी विजय की जाय। इसी लिए अशोक अपने कलिङ्ग के द्वितीय विशेष शिलालेख में लिखते हैं—

"कदाचित् (आप यह जानना चाहें कि) जो सीमान्त जातियाँ अभी नहीं जीती गई हैं उनके सम्बन्ध में हम लोगों के प्रति राजा की क्या आज्ञा है, तो मेरा उत्तर यह है कि राजा चाहते हैं कि 'वे (सीमान्त जातियाँ) मुझसे न डरें, मुझ पर विश्वास करें और मुझसे सुख ही प्राप्त करें, कभी दुःख न पावें।' वे यह भी विश्वास रक्खें कि 'जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है, वहाँ तक राजा हम लोगों के साथ क्षमा का बर्त्ताव करेंगे।'...... अब इस (शिक्षा) के अनुसार चलते हुए आपको ऐसा काम करना चाहिए कि सीमान्त जातियाँ मुझ पर भरोसा करें और समझें कि राजा हमारे लिए वैसे ही हैं जैसे पिता।"

इससे स्पष्ट है कि कलिङ्ग-विजय के बाद सम्राट् अशोक ने विजयादि सब कुछ बन्द कर दिया और कलिङ्ग-विजय ही उनकी अन्तिम विजय थी। पर कलिङ्ग-विजय अन्तिम होने के साथ साथ क्या प्रथम विजय भी थी? इसका उत्तर देना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि कलिङ्ग-देश के सिवाय अशोक ने काश्मीर का भी विजय किया। सम्भवतः काश्मीर चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के साम्राज्य में सम्मिलित न था। सैल्यूकसद्वारा

सन्धि में जो प्रदेश चन्द्रगुप्त को प्राप्त हुए थे, काश्मीर उनके अन्तर्गत न था। कोई आश्चर्य नहीं कि इस प्रदेश का विजय अशोक ने ही किया हो। काश्मीर के राजाओं का क्रमानुसार वर्णन करते हुए कल्हण ने राजतरङ्गिणी में अशोक का भी परिगणन किया है। अशोक के विषय में कल्हण लिखता है—

'इसके बाद अशोक नामक नृपति ने वसुंधरा पर शासन किया। यह राजा बहुत ही शान्त और सत्यसन्ध था, 'जिन' के धर्म का अनुसरण करनेवाला था। इसने जेहलम नदी के तटों को स्तूपमण्डलों द्वारा आच्छादित कर दिया, और धर्मार्थ अनेक विहारों का निर्माण किया। इसने 'श्रीनगरी' नामक नगरी को बसाया, जिसमें कि ९६ लाख लक्ष्मी से युक्त घर विद्यमान थे। श्रीविजयेश के टूटे-फूटे क़िले को हटाकर उसके स्थान पर इस राजा ने सब दोषों से रहित विशुद्ध पत्थरों का एक विशाल क़िला बनवाया। और समीप ही एक बहुत बड़ा महल बनवाया, जिसका नाम अशोकेश्वर रक्खा गया[1]।"

अशोक से पूर्व जिन राजाओं के नाम दिये गये हैं, वे मौर्य-वंश के नहीं हैं। प्राचीन इतिहास-ग्रन्थों की लेखनशैली से हम अच्छी तरह जानते हैं कि इतिहासकार जिस प्रदेश का इतिहास लिख रहा होता है, उसका क्रमशः इतिहास लिखता जाता है। एक के बाद दूसरे जिस राजा ने राज्य किया, उसका वह वृत्तान्त लिख देता है। वंशक्रम आदि पर वे विशेष ध्यान नहीं रखते। इसी के अनुसार कल्हण ने भी काश्मीर के राजाओं का वर्णन करते हुए अशोक का वृत्तान्त दे दिया है, और काश्मीर के साथ सम्बन्ध रखनेवाले उसके कृत्यों का भी उल्लेख कर दिया है।

---

१. राजतरङ्गिणी—प्रथमस्तरङ्गः
१०१ से १०६ श्लोक तक
'अथावहदशोकाख्यः सत्यसंधो वसुन्धराम्।' १०१
इत्यादि

ऐतिहासिक दृष्टि से यह वर्णन कुछ न कुछ सहायक अवश्य है। यदि कल्हण के वर्णन को प्रामाणिक समझा जाय, तो मानना पड़ेगा कि अशोक ने काश्मीर पर भी अपना अधिकार स्थापित किया और वहाँ पर अच्छी तरह शासन किया। यह हम निश्चित रूप से जानते हैं कि अशोक को विहार, स्तूप आदि बनवाने का बड़ा शौक था, इसी के अनुसार उसने काश्मीर में भी अनेक स्तूपों और विहारों का निर्माण कराया। राजतरङ्गिणी के अनुसार तो काश्मीर की वर्तमान राजधानी श्रीनगर को बनवाने का श्रेय भी अशोक को ही प्राप्त है। काश्मीर के सिवाय किसी अन्य प्रदेश पर भी अशोक ने विजय की या नहीं, इस सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

२. साम्राज्य की सीमा[1]

मौर्य-सम्राट् अशोक के साम्राज्य की सीमायें कहाँ तक पहुँची हुई थीं, इस प्रश्न पर विस्तृत विचार करना बहुत आवश्यक है। वस्तुतः, अशोक के समय में ही हमको इतनी पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री मिलती है, जिससे कि हम मौर्य-साम्राज्य की सीमा के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अशोक के शिलालेख सम्पूर्ण भारत में प्राप्त हुए हैं। इन शिलालेखों की विविध स्थानों पर प्राप्ति ही अशोक के साम्राज्य-विस्तार को सूचित नहीं करती, अपितु इन शिलालेखों के अध्ययन-द्वारा भी हमें अन्तः-साक्षी से साम्राज्य की सीमा आदि के विषय में ज्ञान उपलब्ध होता है। इन दोनों प्रकार की—बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग—साक्षियों पर विचार करना उपयोगी है। पहले हम बहिरङ्ग साक्षी को लेते हैं।

चतुर्दश शिलालेखों की दो प्रतियाँ बङ्गाल की खाड़ी के पास

---

१. देखो श्रीयुत D. R. Bhandarkar की पुस्तक Asoka का द्वितीय अध्याय।

साम्राज्य के उत्तर-पूर्वीय प्रदेश में उपलब्ध होती हैं। इनमें से एक धौली नामक ग्राम के समीप, पुरी ज़िले के भुवनेश्वर नामक स्थान से दक्षिण की ओर सात मील दूर पर पाई जाती है। दूसरी प्रति मद्रास-प्रान्त के गञ्जाम ज़िले में जौगढ़ नामक स्थान पर पाई गई है। धौली और जौगढ़ दोनों स्थान प्राचीन कलिङ्ग-राज्य के अन्तर्गत हैं। कलिङ्ग-देश भारत के दक्षिण-पूर्वी भाग में है, और निस्सन्देह यह अशोक के साम्राज्य का भी दक्षिण-पूर्वीय भाग ही था। चतुर्दश शिलालेखों की तीसरी प्रति देहरादून ज़िले के कालसी नामक ग्राम के समीप पाई गई है। देहरादून से चकरौता को जो सड़क गई है, उससे कुछ दूर हट कर ठीक उस स्थान पर जहाँ कि यमुना नदी हिमालय पर्वत से विदा होती है, यह तीसरी प्रति उपलब्ध हुई है। चौथी और पाँचवीं प्रतियाँ भारत के पश्चिमोत्तर-भाग में प्राप्त हुई हैं। एवटाबाद से पन्द्रह मील उत्तर की तरफ़ हजारा ज़िले में मन्सेरा नामक स्थान पर एक प्रति मिली है; और पेशावर से चालीस मील उत्तर-पूर्व की तरफ़ शहबाज़गढ़ी के समीप दूसरी। चतुर्दश शिलालेखों की छठी प्रति काठियावाड़-प्रदेश के जूनागढ़ नामक नगर के समीप और सातवीं प्रति बम्बई से तीस मील उत्तर की ओर थाना ज़िले में सोपारा नामक स्थान पर मिली है। चतुर्दश शिलालेखों की कोई भी प्रति दक्षिणीय भारत में उपलब्ध नहीं हुई, परन्तु सुदूर दक्षिण में अशोक के अन्य कई शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। लघु शिलालेखों की तीन प्रतियाँ उत्तरीय मैसूर के सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर और ब्रह्मगिरि नामक स्थानों पर मिली हैं।

अशोक के शिलालेखों का इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में प्राप्त होना उसके साम्राज्य की सीमा के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डालता है। इससे हम सहज में ही अनुमान कर सकते हैं कि अशोक के साम्राज्य का विस्तार कहाँ कहाँ पर था। पर विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम शिलालेखों की अन्तःसाक्षी पर विचार करते हैं। अशोक ने अपने शिलालेखों में अपने सम-कालीन राजाओं और राज्यों का ज़िक्र किया है। इनके अध्ययन

से अशोक के साम्राज्य की सीमा तथा विस्तार पर भी बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। अशोक अपने 'चतुर्दश शिलालेख' के द्वितीय लेख में लिखते हैं—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सब स्थानों पर तथा जो उनके समीपवर्त्ती राज्य हैं, वहाँ जैसे चोड, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी में और अन्तियोक नाम यवनराजा और उसके समीपवर्त्ती जो राजा हैं, उन सबके देशों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने........"

इसी तरह १३ वें शिलालेख में लिखा गया है—

"यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय ने यहाँ (अपने राज्य में) तथा छः सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की है, जहाँ अन्तियोक नाम यवनराजा राज्य करता है और उस अन्तियोक के बाद तुरमय, अन्तिकिनि, मक और अलिकसुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते हैं और उन्होंने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोड, पाण्ड्य तथा ताम्रपर्णी में भी धर्म-विजय प्राप्त की है। उसी प्रकार 'हिदराजविषय' में भी यवनों में, काम्बोजों में, नाभक नाभपंक्तियों में, भोज पितनिक में, आन्ध्रों में और पुलिन्दों में सब जगह लोग देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन अनुसरण करते हैं और करेंगे[1]।........"

---

1. त्रयोदश शिलालेख के अनुवाद में और विशेषतः "उसी प्रकार हिदराज" आदि सन्दर्भ के विषय में विद्वानों की विविध सम्मतियाँ हैं। श्री० जनार्दन भट्ट के 'अशोक के धर्मलेख' में तथा नागरी-प्रचारिणी सभा काशी-द्वारा प्रकाशित 'अशोक की धर्म-लिपियाँ' में इनका अर्थ और तरह से ही किया गया है। यहाँ पर श्रीयुत देवदत्त रामकृष्णजी भाण्डारकर के अर्थ का अनुसरण किया गया है। यहाँ 'हिदराजविषय' इस शब्द का जान-बूझ कर अनुवाद नहीं किया गया है।

इन शिलालेखों में जिन राज्यों व राजाओं का ज़िक्र किया गया है, वे दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत हैं, और दूसरे वे जो अन्तर्गत नहीं हैं। पहले बाह्य राज्यों को लीजिए। अशोक ने भारत से बाहर के अन्तियोक, तुरमय, अन्तिकिनि, मक और अलिकसुन्दर राजाओं के नाम उल्लिखित किये हैं। निःसन्देह इन राजाओं के राज्य अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत न थे। इनके अतिरिक्त अशोक के साम्राज्य के दक्षिण में चोड, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी के राज्य स्थित थे। निस्सन्देह ये भी उसके साम्राज्य में सम्मिलित न थे। इन बाह्य राजाओं और राज्यों के सिवाय यवन, काम्बोज, नाभकनाभपंक्ति, भोज पितनिक, आन्ध्र और पुलिन्द राज्यों का भी साम्राज्य के अन्तर्गत परन्तु सीमावर्त्ती राज्यों के रूप में उल्लेख किया गया है[1]।

यदि हम इन सीमावर्त्ती अधीन राज्यों की सीमा को निश्चित कर सकें, तो अशोक के साम्राज्य की सीमा सरलता से निश्चित हो सकेगी। यवन शब्द से अशोक का क्या अभिप्राय है? निस्सन्देह ये ग्रीस में निवास करनेवाले वा सीरिया के यवन नहीं हो सकते। क्योंकि हम जानते हैं, कि ये राज्य अशोक के अधीन नहीं थे। ये तो भारत की सीमा के अन्दर बसे हुए यवन होने चाहिए। श्रीयुत भाण्डारकर के अनुसार ये यवन कोफन और सिन्ध के बीच में निवास करते थे। शहबाज़गढ़ी के समीप जो प्राचीन अवशेष दिखाई देते हैं, सम्भवतः वे इन्हीं यवनों के हैं। ये यवन किसी प्राचीन समय में भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में आ बसे थे। सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व भी भारतीय लोग ग्रीक लोगों से परिचित थे। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में यवन शब्द अनेक स्थानों पर आता है।

---

१. साम्राज्य के अन्तर्गत इन राज्यों के नाम 'चतुर्दश शिलालेखों' के पञ्चम शिलालेख में भी उपलब्ध होते हैं।

काम्बोज का प्रदेश यवनों के स्थान के समीप ही था। महाभारत में भी काम्बोजों का यवनों के साथ वर्णन आया है, वहाँ इनकी राजधानी राजपुर लिखी गई है। सम्भवतः इसी राजपुर को ह्यूनसांग ने हो-लो-शे-पू-लो लिखा है और कनिङ्घम ने इस हो-लो-शे-पू-लो को काश्मीर के दक्षिण में स्थित राजौरी से मिलाया है। यदि यह ठीक है, तो काम्बोज लोग राजौरी के इर्द-गिर्द के प्रदेश में रहते थे और इनके ही प्रदेश में स्थित मसेरा नामक स्थान पर अशोक के 'चतुर्दश शिलालेख' की एक प्रति उपलब्ध होती है।

नाभक नाभपंक्ति या नाभाक के नाभपंक्ति का स्थान कौन सा है, इसके लिए भी अशोक के शिलालेख हमें निर्देश देते हैं। नाभपंक्ति को यवन काम्बोज और भोजपेतनिक के बीच में लिखा गया है अतः यह राज्य पश्चिमोत्तर प्रदेश और भारत के पश्चिमीय तट के बीच में किसी स्थान पर होना चाहिए। नाभपंक्ति के बाद १३ वें शिलालेख में 'भोजपेतनिक' का नाम आता है। पाँचवें शिलालेख में इसके स्थान पर 'राष्ट्रिक पेतनिक' शब्द आया है। इन शब्दों पर विचार करके श्रीयुत भाण्डारकर लिखते हैं—"अशोक के शिलालेखों में 'राष्ट्रिक पेतनिक' को एक शब्द के तौर पर लेना चाहिए और इसका अर्थ है 'राष्ट्र या प्रान्त का वंशक्रमागत शासक'..... ......प्राचीन भारत में, निस्सन्देह, इस प्रकार के अनेक शासक थे। परन्तु पञ्चम शिलालेख में जिनका उल्लेख किया गया है, वे पश्चिमीय तट पर कहीं स्थित थे, क्योंकि वहाँ उन्हें 'अपरान्त' या पश्चिमीय तट के लोगों में गिना गया है। पश्चिमीय भारत के गुहा-लेखों में जिनको महारठी कहा गया है, वे ही ये भी हैं। प्रतीत होता है कि ये छोटे शासक थे और इनके पास महाराष्ट्र के पूना तथा अन्य समीपवर्त्ती ज़िले विद्यमान थे। इन गुहा-लेखों में महाभोजों के विषय में भी कहा गया है, ये भी छोटे शासक थे और बम्बई-प्रान्त के वर्तमान थाना तथा कोलाबा ज़िलों पर शासन करते थे। निस्सन्देह ये वही लोग हैं, जिन्हें त्रयोदश शिलालेख में

'भोज पेतनिक' कहा गया है।..........प्राचीन काल में अपरान्त की राजधानी शूर्पारक थी। यही वर्तमान सोपारा है, जो कि थाना ज़िले में स्थित है और जहाँ चतुर्दश शिलालेखों की एक प्रति उपलब्ध हुई है [1]।"

गोदावरी और कृष्णा नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश को आन्ध्रदेश कहा जाता है। परन्तु क्या मौर्यकाल में भी आन्ध्र-जाति यहीं निवास करती थी, यह कहना बहुत कठिन है। इस काल में आन्ध्रजाति बहुत शक्तिशाली थी। मैगस्थनीज़ के अनुसार आन्ध्रों की शक्ति भारत में केवल मगधराज की शक्ति से कम थी। मौर्य साम्राज्य के पतन के कुछ काल बाद आन्ध्रों ने बहुत ही शक्तिशाली तथा विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की थी। सम्भवतः अशोक के समय में आन्ध्र लोग भारत के दक्षिण-पूर्वीय प्रदेशों में निवास करते थे।

पुलिन्द लोग आन्ध्रों के उत्तर या उत्तर-पूर्व में निवास करते थे। वायुपुराण के अनुसार पुलिन्द जाति विन्ध्याचल की तराई में निवास करती थी। डा० भाण्डारकर ने पुलिन्दों के लिए मध्यप्रदेश का जब्बलपुर ज़िला नियत किया है।

ये सब राज्य सम्राट् अशोक के अधीन और मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत थे। निस्सन्देह, इनको कई अंशों में आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ये सबके सब राज्य भारत के सीमावर्ती प्रदेशों में स्थित थे। इनके शासन पर विशेष ध्यान दिया जाता था। हम ऊपर देख चुके हैं, कि सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में सीमावर्त्ती राज्यों पर शासन करने के लिए 'अन्तपाल' नियत थे। सम्राट् अशोक के शिलालेखों में भी 'अन्तमहामात्रों' का ज़िक्र आया है। इन सीमावर्त्ती राज्यों के अध्ययन से यह अच्छे प्रकार प्रकट हो जाता है कि सम्राट् अशोक के साम्राज्य में सम्पूर्ण उत्तरीय

भारत—यहाँ पर चन्द्रगुप्त की पश्चिमोत्तर सीमा को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए—सम्मिलित था। दक्षिणीय भारत का कितना अंश अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था, इसको जानने के लिए चोड, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी के राज्यों की स्थिति के विषय में विचार करना चाहिए।

प्राचीन चोड राज्य दक्षिणीय भारत के पूर्वीय भाग में स्थित था। अशोक ने अपने शिलालेखों में चोड और पाण्ड्य शब्दों का बहुवचनान्त में प्रयोग किया है। इससे यही परिणाम निकल सकता है कि अशोक के समय में अनेक चोड और पाण्ड्य राजा विद्यमान थे। टाल्मी ने दो चोड राज्यों का उल्लेख किया है। एक राज्य का नाम टाल्मी ने सोरटेई (Soretai) लिखा है, और इसकी राजधानी ओर्थोरा (Orthoura) को बताया है। कनिङ्घम ने ओर्थोरा को त्रिचनापली के निकटस्थ उडेयूर से मिलाया है। अतः इस चोड या सोर राज्य को दक्षिणीय चोडराज्य समझना चाहिए। उत्तरीय चोड-राज्य की राजधानी आर्केटस (Arkatos) थी। आर्केटस को वर्तमान आर्कोट के साथ मिलाया गया है।

टाल्मी ने पाण्ड्य को पाण्डिनोई (Pandinoi) लिखा है। और इसके मुख्य नगर को मेडोरा (Modoura) बताया है। यह 'मेडोरा' वर्तमान मदुरा ही है। मदुरा दक्षिणीय भारत का एक मुख्य नगर है, और प्राचीन समय में पाण्ड्य राज्य की राजधानी था। यद्यपि टाल्मी ने एक ही पाण्ड्य राज्य का उल्लेख किया है, तथापि अशोक के शिलालेखों से अनेक पाण्ड्य राज्यों का होना सूचित होता है। छठी सदी में वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में उत्तरपाण्ड्य का उल्लेख किया है। 'उत्तरपाण्ड्य' शब्द से यह स्पष्ट रूप सूचित होता है कि वराहमिहिर के समय में 'दक्षिणपाण्ड्य' भी अवश्य विद्यमान था। प्रतीत होता है कि अशोक के समय में भी यही अवस्था थी, तभी उसने 'पाण्ड्याः' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग किया है।

सम्राट् अशोक ने दक्षिण में दो अन्य स्वतन्त्र राज्यों का

उल्लेख किया है। ये राज्य हैं—केरलपुत्र और सातियपुत्त (केरल पुत्र और सत्यपुत्र)। केरल और सातिय जातियों के नाम से ही इनके प्रदेशों के भी नाम पड़े हैं। पहले ये जातियाँ उत्तरीय भारत में निवास करती थीं, परन्तु फिर अन्य अनेक जातियों की तरह अपने मूल प्रदेश को छोड़कर दक्षिण में आ बसीं। दक्षिणीय भारत के किस प्रदेश को इन जातियों ने अपना निवास-स्थान बनाया था, यह निश्चित करना बहुत कठिन है। सम्भवतः टाल्मी और 'परिप्लस आव दि एरिथ्रोयन सी' के लेखक-द्वारा ज्ञात सामग्री इस विषय में कुछ सहायक हो सकेगी। ये प्राचीन लेखक दक्षिण में चार राज्यों का उल्लेख करते हैं—लिमिरिके (Limyrike), ऐओइ (Aioi), पाण्डिनोई (Pandinoi) और सोरटेई (Soretai)। हम ऊपर बतला चुके हैं कि पाण्डिनोई और सोरटेई, पाण्ड्य और चोड-राज्यों को सूचित करते हैं। लिमीरिके को दमिरिके (Damir-ike) के तुल्य समझा जाता है, और दमिरिके केरलपुत्त राज्य के अन्तर्गत था। सम्भवतः प्राचीन केरलपुत्त राज्य में दक्षिण कनारा, कुर्ग, मलाबार, और माइसूर का उत्तर-पश्चिमी भाग सम्मिलित था। हो सकता है कि ट्रावन-कोर का उत्तरीय भाग भी केरलपुत्त में सम्मिलित हो। अब ऐओई पर विचार कीजिए। यदि सैण्ड्राकोट्टस को एण्ड्राकोट्टस और सबीरिया को एबीरिया लिखा जा सकता है, तो क्या आश्चर्य है कि सैओई (या सातिय) को ऐओई लिख दिया गया हो। यदि यह कल्पना ठीक हो, तो सातियपुत्र राज्य को वर्तमान ट्रावन्कोर कहा जा सकता है।[1] वस्तुतः अशोक-कालीन दक्षिण के प्राचीन राज्यों की सीमाओं को वर्तमान समय में निश्चित कर सकना बहुत कठिन है। परन्तु यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दक्षिण के इन चार राज्यों की सीमायें परस्पर मिली हुई थीं और दक्षिणीय भारत का जो भाग अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था, वह इन्हीं चार राज्यों में विभक्त था।

---

१. Bhandarkar—Asoka, पृ० ४० से ४३ तक

अब अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा को निश्चित करना कठिन नहीं रहा है। जो सामग्री हमारे पास विद्यमान है, और जिसका संक्षेप में उल्लेख ऊपर किया गया है, उसके आधार पर अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा भी सरलता से निश्चित की जा सकती है। यदि मद्रास के समीप पुलीकट से पश्चिम की ओर दक्षिण कनारा ज़िले के उत्तरीय हिस्से तक एक रेखा खींची जाय, तो इसे अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा कहा जा सकता है।

सम्राट् अशोक के साम्राज्य के विषय को समाप्त करने से पूर्व एक अन्य प्रदेश का ज़िक्र करना भी आवश्यक है। अशोक ने अपने शिलालेखों में इस प्रदेश को अटवी या आटव्य लिखा है। 'चतुर्दश शिलालेखों' के १३ वें शिलालेख में अशोक लिखते हैं—

"देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है, उसको भी सहन करना चाहिए। जहाँ तक हो सके, क्षमा करनी चाहिए। जो 'आटव्य' देवताओं के प्रिय के विजित देश में हैं, उनको भी मनाता रहता है, उनको भी (बुराई से बचने के लिए) ख़्याल दिलाता रहता है। यद्यपि देवों के प्रिय में शक्ति है, तब भी वह अनुताप करता रहता है। वह उनसे कहता रहता है कि अपने बुरे कर्मों पर लज्जित हों ताकि वे नष्ट न हों।"

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि 'आटव्य' लोगों के प्रदेश को भी कुछ अंशों में स्वतन्त्रता अवश्य प्राप्त थी। यदि वे पूर्णरूप से अशोक के अधीन हों, तो उपरिलिखित सन्दर्भ में अनेक वाक्य सर्वथा निरर्थक रह जाते हैं। इसलिए यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि ये 'आटव्य' कौन थे और कहाँ रहते थे? पुराणों में 'आटव्य' नाम पुलिन्द, विन्ध्यमूलीय और वैदर्भ के साथ साथ आता है। एक ताम्रपत्र ऐसा उपलब्ध हुआ है, जिसमें 'दभालराज्य' के राजा 'हस्तिन्' को अठारह अटवि-राज्यों का भी स्वामी बताया गया है। दभाला दहाला का रूपान्तर है। और

वर्तमान बुन्देलखण्ड को ही दहाला कहा जाता था। गुप्त-काल में सम्राट् समुद्रगुप्त ने अनेक अटविराज्यों के ऊपर विजय प्राप्त की थी। इन सब बातों को सम्मुख रख कर यह सहज में ही जाना जा सकता है कि यह 'आटव्य' प्रदेश बुन्देलखण्ड से लेकर उड़ीसा के समुद्रतट तक फैला हुआ था।

अशोक के साम्राज्य के विषय में जो विवेचन ऊपर किया गया है, इससे न केवल साम्राज्य की सीमाओं का ही ज्ञान होता है, परन्तु साम्राज्य का स्वरूप भी अच्छी तरह समझ में आ जाता है। यह नहीं समझना चाहिए कि सम्पूर्ण साम्राज्य पर सम्राट् अशोक का सीधा शासन था, साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक अर्ध-स्वतन्त्र जातियाँ तथा प्रदेश विद्यमान थे। परन्तु इन प्रदेशों पर साम्राज्य का पूर्ण अधिकार रहता था, स्थानीय और आन्तरिक विषयों में स्वतन्त्रता प्राचीन भारतीय शासन का एक आवश्यक अङ्ग है। न केवल ये जातियाँ और राज्य परन्तु अन्य स्थानीय संस्थायें भी अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रता का उपभोग करती थीं।

३—विदेशों के साथ सम्बन्ध।

सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखों में अनेक समकालीन विदेशी राज्यों और राजाओं का उल्लेख किया है। इन पर भी संक्षिप्त रूप से विचार करना आवश्यक है। जिन राजाओं का शिलालेखों में उल्लेख किया गया है, उनके नाम निम्न-लिखित हैं—

अन्तियोक, तुरुमय, अन्तिकिनी, मक और अलिकसुन्दर। इन पर संक्षिप्त टिप्पणी करना अत्यन्त उपयोगी है।

अन्तियोक—यह सीरिया तथा पश्चिमीय एशिया का अधिपति एण्टियोकस द्वितीय थिऑस (ई० पू० २६१—२४६) था। सिकन्दर की मृत्यु के बाद सीरिया आदि ऐशियाई प्रदेशों पर सैल्यूकस निकेटर ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था।

यह एरिटयोकस द्वितीय इसी सैल्यूकस का पौत्र था। अन्तियोक का राज्य मौर्य-साम्राज्य के समीपवर्ती ही था, अतएव अशोक ने उसका उल्लेख स्वाभाविक रूप से सबसे प्रथम किया है।

तुरुमय— यह ईजिप्ट का अधिपति टाल्मी द्वितीय फिले-डैल्फस (ई० पू० २८५-२४७) था।

अन्तिकिनि—बुल्हर के मतानुसार अन्तिकिनि ग्रीक 'एरिट-गेनस' से मिलता है, परन्तु क्योंकि इस नाम का कोई राजा नहीं हुआ, अतः अन्तिकिनि से एरिट-गोनस गोनटस का अभिप्राय लिया जाता है, जो कि मैसिडोनिया में २७६ ई० पू० से लेकर २३६ ई० पू० तक राज्य कर रहा था।

मक—यह साइरिनी का अधिपति मेगस था। इसने सम्भवतः ३०० ई० पू० से लेकर २५० ई० पू० तक राज्य किया।

अलिकसुन्दर—इसके विषय में विविध विद्वानों में मतभेद है। श्री० विन्सेन्ट स्मिथ के मत में यह एपिरस का अधिपति एलेक्ज़ण्डर (२७२-२५५ ई० पू०) था, परन्तु जर्मन विद्वान् हुल्श इसे कारिन्थ का राजा एलेक्ज़न्डर (२५२-२४४ ई० पू०) स्वीकृत करते हैं।

इन विदेशी राजाओं के साथ सम्राट् अशोक का सम्बन्ध स्थापित था। सीरिया के राज्य के साथ—जिसका राजा अन्तियोक था—तो मौर्य-सम्राटों का पहले से ही सम्बन्ध था। वे लोग भारत में अपने राजदूत भेजते थे, और भारत से इन देशों में दूत जाते थे। सीरिया के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध के विषय में तो कोई मतभेद हो ही नहीं सकता, परन्तु अन्य देशों के साथ भी यह सम्बन्ध स्थापित था। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, अशोक के समकालीन ईजिप्ट

के राजा टाल्मी फिलेडैल्फस ने भारत में अपना राजदूत भेजा था। अशोक भी अपने १३ वें शिलालेख में लिखता है—

"जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं पहुँच सकते, वहाँ भी लोग देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मविधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनुसार आचरण करते हैं और भविष्य में आचरण करेंगे।"

इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि सम्राट् अशोक के राजदूत नियमित रूप से विविध देशों में निवास करते थे। इस संदर्भ से पूर्व अशोक ने इन सब राज्यों का ज़िक्र किया है, ये पाश्चात्य देश तथा दक्षिण के पाण्ड्य, चोड आदि देश इनके अन्तर्गत हैं। निस्सन्देह, इन राज्यों में अशोक के राजदूत निवास करते थे और अशोक ने इनका प्रयोग अपनी 'धर्म-विजय' के लिए किया था। पाण्ड्य, चोड आदि दक्षिण के राज्यों पर हम पहले विचार कर चुके हैं, अतः यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं।

इन सब विदेशी राज्यों के साथ सम्राट् अशोक का धार्मिक प्रचार की दृष्टि से गूढ़ सम्बन्ध स्थापित था। लङ्का में अशोक ने अपने पुत्र को प्रचारक बनाकर भेजा था। इसी तरह अन्य राज्यों में भी अशोक-द्वारा प्रेषित दूत धर्म-प्रचार का कार्य करते थे।

४—शासन

सम्राट् अशोक ने बौद्ध-धर्म का संसार भर में प्रचार करने के लिए तथा अपने 'धम्म' के विचारों को सर्वत्र फैलाने के लिए बहुत उद्योग किया। राजगद्दी पर बैठने के आठ वर्ष बाद उसने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली और तदनन्तर अपने सम्पूर्ण जीवन को 'धम्म' के लिए व्यतीत किया। इसी के लिए उसने अपने राज्य के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में धर्म-यात्रा की, शिलालेख खुदवाये और विविध प्रकार से उद्योग किया। इन सब पर हम अगले अध्यायों में विचार करेंगे।

सम्राट् अशोक के शासन की अन्य कोई घटना हमें ज्ञात नहीं है। उसके शिलालेखों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि वह प्रतिवर्ष अपने राज्याभिषेक के दिवस को बड़े समारोह के साथ मनाया करता था। उस अवसर पर कैदी छोड़ दिये जाते थे, अपराधियों पर दया की जाती थी। तथा अन्य अनेक प्रकार से प्रजा पर कृपा की जाती थी।

मालूम होता है कि तक्षशिला के सीमावर्ती प्रान्त में अब तक भी किसी न किसी प्रकार से गड़बड़ हो रही थी। सम्राट् अशोक के शासन में भी वहाँ एक वार विद्रोह हुआ। अशोक ने कुमार कुनाल को विद्रोह शान्त करने के लिए भेजा। कुनाल अपने प्रयत्न में सफल हुआ। जिन राजकर्म-चारियों के अत्याचार से पीड़ित होकर तक्षशिला-निवासियों ने विद्रोह किया था, उनको पदच्युत कर दिया गया और भविष्य के लिए यह व्यवस्था कर दी गई कि तक्षशिला में प्रति तीन वर्षों के पश्चात् 'अमात्य' बदल दिये जाया करेंगे[1]।

सम्राट् अशोक के समय में शासन-सम्बन्धी अन्य कोई घटना हमें अब तक ज्ञात नहीं हुई है।

१. देखो—दिव्यावदान में कुनालावदान।

सत्रहवाँ अध्याय

अशोक की धर्म-विजय

इतिहास में सम्राट् अशोक के महत्त्व का मुख्य कारण उसकी धर्मविजय है। मौर्य-साम्राज्य की विश्वविजयिनी शक्ति को अशोक ने अन्य देशों के विजय में न लगाकर 'धर्म' के विस्तार के लिए लगाया। शस्त्र-द्वारा विजय को छोड़कर धर्म-द्वारा संसार की विजय प्रारम्भ की। कलिङ्ग देश को जीत चुकने पर अशोक ने अनुभव किया कि वास्तविक विजय शस्त्रों द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती, वह तो धर्म-द्वारा ही हो सकती है। इसी लिए अशोक ने लिखा है[1]:—

"कलिङ्ग को जीतने पर देवताओं के प्रिय को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। क्योंकि जिस देश की पहले विजय नहीं हुई है उस देश की विजय होने पर लोगों की हत्या वा मृत्यु अवश्य होती है। और न जाने कितने आदमी क़ैद किये जाते हैं। देवताओं के प्रिय को इससे बहुत दुःख और खेद हुआ। देवताओं के प्रिय को इस बात से और भी दुःख हुआ कि वहाँ ब्राह्मण श्रमण तथा अन्य सम्प्रदाय के मनुष्य और गृहस्थ रहते हैं, जिनमें ब्राह्मणों की सेवा, माता पिता की सेवा, गुरुओं की सेवा, मित्र परिचित सहायक जाति दास और सेवकों के प्रति अच्छा व्यवहार किया जाता है.................कलिङ्ग देश के विजय में उस समय जितने आदमी मारे गये, मरे या क़ैद हुए उनके सौवें और हज़ारवें हिस्से का नाश भी अब देवताओं के प्रिय को बड़े दुःख का कारण होगा।..................देवताओं के प्रिय यह इच्छा

---

१. चतुर्दश शिलालेख—१३ वां लेख।

करते हैं कि सब प्राणी निरापद, संयमी, शान्त और प्रसन्न रहें। धर्म-विजय को ही देवताओं के प्रिय मुख्यतम विजय मानते हैं।"

इस 'धर्म-विजय' और 'धम्मं' या 'धम्म' का क्या अभिप्राय है, तथा उसके लिए अशोक ने क्या क्या प्रयत्न किये, इसी बात पर हम इस अध्याय में विचार करेंगे। अनेक ऐतिहासिकों का मत है कि इन शिलालेखों में 'धम्म' से बौद्ध-धर्म का अभिप्राय है, और अशोक ने इसी बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए यह सब प्रयत्न किया। परन्तु हमारा यह विचार नहीं है। हम समझते हैं कि अशोक के 'धम्म' से किसी भी सम्प्रदाय व धर्म का विरोध नहीं हो सकता। 'धम्म' द्वारा अशोक सब धर्मों के सामान्य सिद्धान्तों का ही प्रचार करता था। 'धम्म' क्या है, इस बात को वह बार बार अपने शिलालेखों में स्पष्ट करता है। अशोक लिखता है[1]:—

"धर्म यह है कि दास और सेवकों से उचित व्यवहार किया जाय, माता और पिता की सेवा की जाय, मित्र, परिचित, रिश्तेदार, श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की हिंसा न की जाय।"

एक अन्य स्थान पर अशोक अपने 'धम्म' के सिद्धान्तों को इस प्रकार समझाता है[2]:—

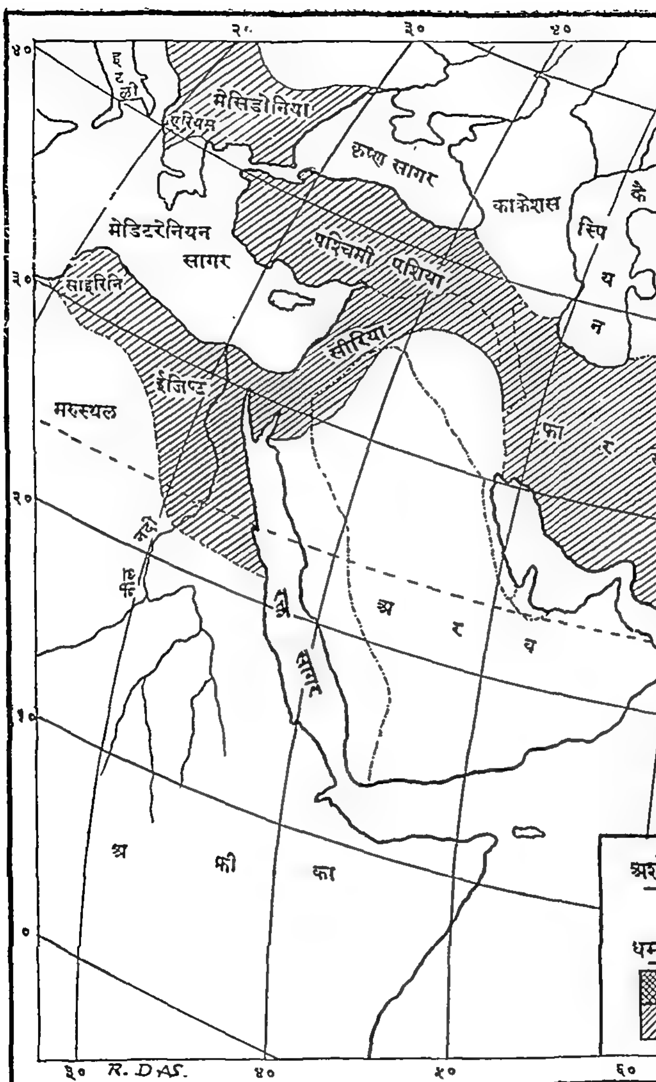
"माता और पिता की सेवा करनी चाहिए। (प्राणियों के) प्राणों का आदर दृढ़ता के साथ करना चाहिए। (अर्थात् जीव-हिंसा न करनी चाहिए), सत्य बोलना चाहिए, 'धम्म' के इन गुणों का प्रचार करना चाहिए। इसी प्रकार विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिए और अपने जाति-भाइयों के प्रति उचित बर्ताव करना चाहिए। यही प्राचीन (धर्म) की रीति है। इससे

---

१. चतुर्दश शिलालेख—११ वां लेख।

२. ब्रह्मगिरि का द्वितीय लघु शिलालेख।

ो चलना



है:—
परिचित,
है। थोड़ा

र्म करना
प से दूर
ार शौच

अभिप्राय
या, दान,
सा आदि
को स्पष्ट
से वह
पुनरुक्ति
ा अनुभव
'धम्म' के
व्यवहारों
कार की
तरह की
गलेखों के

के विवाह
इसी तरह
ार करते

करते हैं कि
रहें। धर्म-
मानते हैं।'

इस 'ध
है, तथा उ
पर हम इस
मत है कि इ
है, और अ
प्रयत्न किया
कि अशोक
नहीं हो सक
सिद्धान्तों क
को वह बा
लिखता है[1]:

"धर्म
किया जाय,
रिश्तेदार, श
प्राणियों की

एक अन
इस प्रकार स

"माता
प्राणों का श
हिंसा न कर
गुणों का प्रच
की सेवा कर
बर्ताव करन

---

१. चतुर्दश
२. ब्रह्मगि

आयु बढ़ती है और इसी के अनुसार मनुष्यों को चलना चाहिए।"

इसी प्रकार एक और स्थान पर अशोक ने लिखा है[1]:—

"माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमण को दान करना अच्छा है। थोड़ा व्यय करना और थोड़ा सञ्चय करना अच्छा है।"

फिर एक स्थान पर अशोक ने लिखा है[2] कि "धर्म करना अच्छा है। पर धर्म क्या है? धर्म यही है कि पाप से दूर रहे, बहुत से अच्छे काम करे, दया, दान, सत्य और शौच (पवित्रता) का पालन करे।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अशोक का 'धम्म' से अभिप्राय आचार के साधारण और सर्वसम्मत नियमों से है। दया, दान, सत्य, मार्दव, गुरुजन तथा माता-पिता की सेवा, अहिंसा आदि गुण ही अशोक के 'धम्म' हैं। अशोक अपने 'धम्म' को स्पष्ट करने के लिए इतना अधिक उत्सुक है कि अनेक प्रकार से वह इसी का वर्णन करता है। कई बार इसके लिए उसने पुनरुक्ति भी की है, और इस पुनरुक्ति में वह सचमुच आनन्द का अनुभव करता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अशोक अपने 'धम्म' के सन्देश को ले जाना चाहता है और जनता के साधारण व्यवहारों के साथ धम्म-व्यवहार की तुलना करता है। इस प्रकार की अनेक तुलनायें शिलालेखों में उपलब्ध होती हैं। इस तरह की एक तुलना मङ्गलाचार के सम्बन्ध में है। चतुर्दश शिलालेखों के नवम लेख में अशोक कहता है—

"लोग विपत्ति-काल में, पुत्र के विवाह में, कन्या के विवाह में, सन्तान की उत्पत्ति में, परदेश जाने के समय और इसी तरह के दूसरे अवसरों पर अनेक प्रकार के दूसरे मंगलाचार करते

---

१. चतुर्दश शिलालेख—३ य लेख।

२. द्वितीय स्तम्भलेख।

हैं। ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ अनेक प्रकार के क्षुद्र और निरर्थक मंगलाचार करती हैं। मंगलाचार अवश्य करना चाहिए, किन्तु इस प्रकार के मंगलाचार प्रायः अल्पफल देनेवाले होते हैं। धर्म का जो मंगलाचार है वह महाफल देनेवाला है। इसमें (धर्म के मंगलाचार में) दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर, प्राणियों की अहिंसा और ब्राह्मणों तथा श्रमणों का दान—यह सब करना पड़ता है। यह सब कार्य तथा इस प्रकार के अन्य कार्य धर्म के मंगलाचार कहलाते हैं। इसलिए पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र, साथी और कहाँ तक कहें पड़ोसी को भी यह कहना चाहिए:—"यह मंगलाचार अच्छा है, इसे तब तक करना चाहिए जब तक अभीष्ट कार्य की सिद्धि न हो।" यह कैसे? (अर्थात् धर्म के मंगलाचार से अभीष्ट कार्य कैसे सिद्ध होता है?) इस संसार के जो मंगलाचार हैं वे सन्दिग्ध हैं, अर्थात् उनसे अभीष्ट कार्य सिद्ध भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता। सम्भव है कि उनसे केवल ऐहिक फल मिले। किन्तु धर्म के मङ्गलाचार काल से परिच्छिन्न नहीं हैं (अर्थात् सब काल में उनसे फल मिल सकता है)। यदि इस लोक में उनसे अभीष्ट कार्य की सिद्धि न हो, तो परलोक में अनन्त पुण्य होता है। यदि इस लोक में अभीष्ट कार्य सिद्ध हो गया, तो दोनों लाभ हुए अर्थात् यहाँ भी कार्य सिद्ध हुआ और परलोक में भी अनन्त पुण्य प्राप्त हुआ।"

इसी तरह एकादश शिलालेख में साधारण दान और धर्मदान में भेद प्रदर्शित किया गया है। अशोक की सम्मति में 'ऐसा कोई दान नहीं है, जैसा धर्म का दान है।' इसलिए जिस व्यक्ति को सच्चे दान की इच्छा हो, वह धर्म का दान करे। धर्म का दान क्या है? धर्म का अनुष्ठान। अतः माता और पिता की सेवा की जाय, अहिंसा न की जाय, दासों और सेवकों से उचित व्यवहार किया जाय। सच्चा दान करनेवाला व्यक्ति धर्म को जाने और धर्म का अनुष्ठान करे। इसी तरह तेरहवें शिलालेख में अशोक साधारण

विजय और धर्म विजय में भेद करता है। साधारण रूप से राजा लोग शस्त्रास्त्र द्वारा विजय प्राप्त करते हैं, परन्तु धर्म-विजय शस्त्रों द्वारा नहीं प्राप्त की जाती। इसके लिए तो औरों का उपकार करना होता है। धर्म विजय के लिए जनता का 'हित और सुख' सम्पादित करना होता है, बुरे मार्ग से हट कर सन्मार्ग पर प्रवृत्त होना होता है और सब प्राणियों को 'निरापद, संयमी, शान्त और निर्भय' बनाने का प्रयत्न करना पड़ता है। यह धर्म-विजय, दया और त्याग से प्राप्त की जाती है।

यह अनेकविध तुलना अशोक बार बार इसी लिए करता है कि लोग उसके धर्म के सन्देश को अच्छे प्रकार समझ सकें। ऊपर जिन गुणों का वर्णन किया गया है, वे अशोक के सन्देश का केवल एक भाग मात्र हैं। इन गुणों के सिवाय 'धम्म' की पूर्णता के लिए कुछ अवगुणों या पापों से बचने की भी बहुत आवश्यकता है। अशोक के 'धम्म' की पूर्णता के लिए पाप या 'आसीनव' को जहाँ तक हो सके, कम करने की ज़रूरत है। 'धम्म' की वृद्धि के साथ साथ पाप की कमी भी तो चाहिए। परन्तु ये पाप हैं क्या? अशोक इन बातों को पाप समझता है—चंडता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान, और ईर्ष्या। वह लिखता है—

"मनुष्य को यह देखना चाहिए कि चंडता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान और ईर्ष्या—ये सब पाप के कारण हैं। और उसे अपने मन में सोचना चाहिए कि 'इन सब बातों के कारण से मेरी निन्दा न हो।' इस बात की ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए कि 'इस (मार्ग) से मुझे इस लोक में सुख मिलेगा और इस (दूसरे मार्ग) से मेरा परलोक बनेगा।"

[तृतीय स्तम्भलेख]

इस प्रकार अशोक ने अपने धर्म के सन्देश को जहाँ तक हो सका है, स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। पर शोक की बात है कि अनेक विद्वानों ने इसका अभिप्राय समझने में अनेक

ग़लतियाँ की हैं। कोई इसे बौद्ध-धर्म समझते हैं, तो कोई साधारण राज-धर्म। परन्तु वास्तविकता दोनों से भिन्न है। स्पष्ट रूप से 'धम्म' या 'धर्म' कुछ इस प्रकार के सिद्धान्तों व नियमों का संग्रह है, जो सर्व समयों और सर्व स्थानों के लिए शाश्वत और सार्वभौम नियम हैं। जिनका विरोध किसी धर्म के साथ नहीं होता, जिनकी आवश्यकता सब स्वीकार करते हैं; परन्तु क्रिया रूप में जिन्हें बहुत कम परिणत करते हैं। अशोक ने इसी के लिए प्रयत्न किया कि इन सर्वसम्मत और हितकारी सिद्धान्तों को क्रिया में परिणत किया जाय। वह स्वयं स्वीकार करता है, कि सब स्थानों पर सब सम्प्रदायों के लोग इन बातों को मानते हैं, इसी लिए वह लिखता है—"क्योंकि कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ ये ब्राह्मणों और श्रमणों के सम्प्रदाय न हों। और कोई ऐसा देश नहीं है, जहाँ लोग किसी न किसी सम्प्रदाय को न मानते हों।" और फिर "सर्वत्र ब्राह्मण, श्रमण तथा अन्य सम्प्रदाय के मनुष्य और गृहस्थ रहते हैं, जिनमें ब्राह्मणों की सेवा, माता-पिता की सेवा, गुरुओं की सेवा, मित्र, परिचित, सहायक, जाति, दास और सेवकों के प्रति अच्छा व्यवहार किया जाता है[1]।"

यह उद्धरण इस बात को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है कि अशोक भी अपने 'धम्म' को किसी एक सम्प्रदाय-विशेष तक ही परिमित न समझता था, परन्तु वह यह अनुभव करता था कि उसका 'धम्म' सब सम्प्रदायों, सब ब्राह्मणों, श्रमणों और गृहस्थों द्वारा अभिमत है। यही कारण है कि वह चाहता था कि "सब जगह, सब सम्प्रदायों के मनुष्य (एक साथ) निवास करें। क्योंकि हर एक सम्प्रदाय के मनुष्य संयम और चित्त शुद्धि चाहते हैं।" फिर सब सम्प्रदायों का भेद क्यों नहीं मिट जाता! क्योंकि "भिन्न भिन्न मनुष्यों की इच्छा और अनुराग भिन्न भिन्न होते हैं। वे (या तो सम्पूर्ण रूप से या) आंशिकरूप से (धर्म का)

---

१. चतुर्दश शिलालेख—१३ वाँ लेख।

पालन करेंगे। जो बहुत अधिक दान नहीं कर सकता, उसमें भी संयम, चित्तशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़भक्ति का होना नितान्त आवश्यक है[1]।"

हम समझते हैं, कि हमने अशोक के 'धम्म' को अब काफ़ी स्पष्ट कर दिया है। वह बौद्ध-धर्म नहीं है, और न साधारण राज-धर्म ही है, अपितु सब धर्मों के अविरुद्ध आचार के साधारण नियम हैं, जिनकी आवश्यकता और उपयोगिता सब समयों और सब देशों के लिए एक समान है। अनेक अन्य ऐतिहासिकों ने भी "धम्म" का यही अभिप्राय समझा है। श्रीयुत मैक्फायल लिखते हैं कि इन शिलालेखों में "धम्म का अभिप्राय बौद्ध धर्म से नहीं है। परन्तु उस सामान्य धर्मनीति (Piety) से है, जिसका पालन अशोक अपनी सारी प्रजा से कराना चाहता है, चाहे वह प्रजा किसी भी धर्म को माननेवाली हो[2]।"

प्रसिद्ध ऐतिहासिक विन्सेंट ए० स्मिथ लिखते हैं—"अशोक उपदेश की शक्ति में आश्चर्यजनक विश्वास रख कर जिस धर्म का निरन्तर प्रचार करता था, उसकी कुछ विशेषतायें हैं। धम्म से जिन बातों का वह ग्रहण करता है, वे निश्चितरूप से भारत के सब धर्मों में समानरूप से वर्तमान थीं। यह बात और है कि कोई धर्म किसी एक बात पर दूसरी बात की अपेक्षा अधिक ज़ोर देता हो[3]।"

श्रीयुत भाण्डारकर लिखते हैं—"जो कोई भी अशोक के धम्म के नियमों पर विचार करता है, वह उसकी शिक्षाओं की सादगी से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। उसके धम्म को सब धर्मों की सामान्य सम्पत्ति समझा जा सकता है। वह जिन गुणों और नियमों का पालन करने के लिए

१. चतुर्दशशिलालेख—७ वां लेख।

२. J. M. Macphail—पृ० ४८।

३. V. A. Smith—Asoka.

कहता है, वे सब ऐसे हैं, जिन्हें कि सारे धर्म अनुकरणीय बतलाते हैं[1] ।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अशोक बौद्धधर्म का कट्टर अनुयायी था। बौद्धधर्म के संसार-व्यापी धर्म बनने में उसका बड़ा हाथ है। पर 'धम्म' शब्द से उसका अभिप्राय बौद्ध-धर्म का कभी नहीं है। यह ठीक है कि बौद्ध धर्म की शिक्षाओं ने ही अशोक को 'धम्म' की तरफ़ प्रवृत्त किया और अपनी महती राजनैतिक व सैनिक शक्ति के द्वारा शस्त्र-विजय प्राप्त करने के बजाय, संसार पर सैनिक साम्राज्य की वृद्धि को छोड़ कर, धर्म-विजय और धार्मिक साम्राज्य के विस्तार के लिए प्रेरित किया, पर उसने अपनी असामान्य शक्ति का प्रयोग बौद्ध-धर्म के फैलाव के लिए नहीं, अपितु सर्वसम्मत 'धम्म' के प्रसार के लिए किया। इतिहास में यही अशोक की महिमा है।

बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं ने ही अशोक को इस आदर्श कार्य के लिए प्रवृत्त किया था। मोशिये सेनार्ट की सम्मति में अशोक के समय तक बौद्ध धर्म "केवल एक आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों का समूह था। वह विचारात्मक सिद्धान्तों और विशेष विश्वासों पर बहुत कम ध्यान देता था। उसमें अब तक साधुओं तथा पण्डितों के तत्त्व ने बहुत कम प्रवेश किया था[2] ।" यद्यपि सेनार्ट महोदय की यह बात प्रमाणों से पुष्ट नहीं होती, और हम देखते हैं कि बुद्ध की मृत्यु के १०० साल पीछे ही बौद्ध-धर्म में साधारण साधारण बातों पर झगड़े प्रारम्भ होगये थे और भिक्षुओं ने धर्म की बाह्य बातों पर अधिक ध्यान देना शुरू कर दिया था[3], तथापि बौद्ध-धर्म में अभी तक जीवनशक्ति विद्यमान थी। इस शक्ति को अशोक की प्रतिभा ने बढ़ाया, उसने बौद्ध-संघ के आन्तरिक झगड़ों को मिटाकर एकता और व्यवस्था स्थापित की, तथा इस

१. Bhandarkar—Asoka—पृ० १०७।

२. Indian Antiquary 1891 पृ० २६४-५।

३. T. W. Rhys Davids—Buddhism पृ० १९०।

शुद्ध बौद्ध धर्म की उच्च शिक्षाओं का—जिनके साथ अन्य धर्मों का कोई विरोध न था—प्रचार किया। इस प्रचार के लिए अशोक ने अनेकविध उपायों का प्रयोग किया।

सबसे पहला और साथ ही सबसे मुख्य उपाय 'धर्म-महामात्रों' की नियुक्ति है। 'धर्म-महामात्र' नाम के राजकर्मचारी या अमात्य पुराने सम्राटों के समय में नियत नहीं किये जाते थे। सबसे पहले अशोक ने ही इन्हें नियत किया। वह स्वयं लिखता है—

"धर्म-महामात्र पहले कभी नियुक्त नहीं किये गये। पर मैंने राज्याभिषेक के १३ वर्ष बाद इन धर्म-महामात्रों को नियुक्त किया।[1]" इनको नियत करने का प्रयोजन क्या था? अशोक के ही शब्दों में "वे (धर्म-महामात्र) धर्म की रक्षा करने के लिए, धर्म की वृद्धि करने के लिए और धर्मात्मा जनों के हित और सुख के लिए सब सम्प्रदायों में कार्य करने को नियत किये गये हैं।[2]"

सम्राट् अशोक के समय भारतवर्ष में अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। वह काल एक महान् धार्मिक सुधारणा के आन्दोलन का था। प्राचीन हिन्दू-धर्म के अन्दर महावीर, बुद्ध भगवान् आदि सुधारक नानाविध परिवर्तन कर रहे थे। इस बौद्धकाल में कितने प्रकार के धर्म्म भारत में प्रचलित थे, इसका परिज्ञान निम्नलिखित संदर्भ से सम्यक् प्रकार हो सकता है—

"आजीवकों के अनुयायियों का देवता आजीवक है, निगन्थों का देवता निगन्थ है, जटिलों का जटिल है, परिव्राजकों का परिव्राजक है, अवरुद्धकों का अवरुद्धक है, जो लोग हस्ति, अश्व, गौ, कुत्ता, कौआ, वासुदेव, बलदेव, पुराणभद्द, मणिभद्द, अग्नि,

---

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० ५।

२. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० ५।

> नाग, सुपरण, यक्ख, असुर, गन्धब्ब, महाराज, चण्ड, सूर्य्य, इन्द, ब्रह्मा, देव और दिशा की उपासना में लगे हैं उनके देवता क्रमशः हस्ति, अश्व, गौ, कुत्ता, कौआ, वासुदेव आदि हैं।[1] "

श्री भाण्डारकर की सम्मति में बौद्ध-ग्रन्थ 'निद्देश' का यह संदर्भ चौथी सदी ई० पू० का है। इसी से स्पष्ट है कि उस समय भारत में अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे। इन सम्प्रदायों में सबसे अधिक शक्तिशाली बौद्ध और भागवत धर्म थे। सम्राट् अशोक यद्यपि स्वयं बौद्ध थे और उसके हित-साधन तथा विस्तार के लिए वैयक्तिक रूप से पूर्ण प्रयत्न करते थे, तथापि सम्राट् की स्थिति में वे सब सम्प्रदायों के तत्त्व या सार की ही वृद्धि चाहते थे, इसी को उन्होंने 'धम्म' शब्द से बार बार प्रकट किया है। इसी 'तत्त्व' की वृद्धि के लिए इन धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की गई थी। ये महामात्र किसी एक सम्प्रदाय में नहीं, परन्तु सभी सम्प्रदायों में नियत किये गये थे। विविध सम्प्रदायों में रह कर कार्य करते हुए ये महामात्र उनके 'तत्त्व' पर ज़ोर देते थे। अशोक को किसी भी सम्प्रदाय से द्वेष व विरोध न था। वे तो यह अनुभव करते थे कि सब सम्प्रदायों में धर्म का वास्तविक तत्त्व विद्यमान है। फिर सम्प्रदायों की विविधता क्यों है? क्योंकि मनुष्यों की प्रवृत्तियाँ तथा सामर्थ्य भिन्न भिन्न है। कोई एक सम्प्रदाय सबकी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता। अतः विविध सम्प्रदाय तो रहेंगे ही। आवश्यक यह है कि ये सम्प्रदाय केवल 'धर्म-तत्त्व' पर ज़ोर दें, बाह्य बातों पर नहीं। इसका परिणाम यह होगा कि जहाँ 'धम्म' का विकास होगा, वहाँ अपने सम्प्रदाय की भी वृद्धि होगी। इसी बात को सम्मुख रख कर तथा अपने 'धम्म' के सन्देश को सर्वत्र

---

१. R. G. Bhandarkar—Vaishnavism, Śaivism and minor religious systems. पृ० ३।

पहुँचाने के लिए अशोक ने ये राजकर्मचारी नियत किये थे। इसी लिए अशोक लिखते हैं[1]—

"देवताओं के प्रिय प्रिय-दर्शी राजा विविध दान और पूजा से गृहस्थ वा संन्यासी सब सम्प्रदायवालों का सत्कार करते हैं। किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नहीं करते, जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। सम्प्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है; पर उसकी जड़ वाक्-संयम है अर्थात् लोग केवल अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें। केवल विशेष विशेष कारणों के होने पर निन्दा होनी चाहिए। क्योंकि किसी न किसी कारण से सब सम्प्रदायों का आदर करना लोगों का कर्त्तव्य है। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की उन्नति और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार होता है। इसके विपरीत जो करता है वह अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचाता है और दूसरे सम्प्रदायों का भी अपकार करता है। क्योंकि जो कोई अपने सम्प्रदाय की भक्ति में आकर इस विचार से कि मेरे सम्प्रदायों का गौरव बढ़े, अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा करता है वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को पूरी हानि पहुँचाता है। समवाय (मेल-जोल) अच्छा है, अर्थात् लोग एक दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें और उसकी सेवा करें। क्योंकि देवताओं के प्रिय (राजा) की यह इच्छा है कि सब सम्प्रदायवाले बहुत विद्वान् और कल्याण का कार्य करनेवाले हों। इसलिए जहाँ जहाँ जो जो सम्प्रदायवाले हों उनसे कहना चाहिए कि देवताओं के प्रिय दान या पूजा को इतना बड़ा नहीं समझते जितना इस बात को कि सब सम्प्रदायवालों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। इस कार्य के निमित्त बहुत से धर्म-महामात्र, स्त्री-महामात्र, व्रज-भूमिक, तथा अन्य राज-कर्मचारिगण नियुक्त हैं। इसका फल यह

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० १२

है कि अपने सम्प्रदाय की वृद्धि होती है, और धर्म का विकास होता है।"

इस शिलालेख में अन्य सम्प्रदायों के प्रति अशोक का भाव बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। अशोक चाहता था कि सम्प्रदायों में पारस्परिक विरोध-भाव का अन्त हो। लोग वाणी का संयम करें। अन्य सम्प्रदायों के दोष न देखें, परन्तु धर्म के तत्त्व पर ध्यान दें। यह कार्य सरलता से नहीं किया जा सकता था। इसके लिए बड़े भारी 'प्रक्रम' या उद्योग की आवश्यकता थी। यह उद्योग धर्म-महामात्र, स्त्री-महामात्र तथा व्रजभूमिक नामक राज-कर्मचारियों से कराया गया। पुरुषों में जो कार्य धर्म-महामात्र करते थे, स्त्रियों में वही कार्य स्त्री-महामात्र करते थे। व्रजभूमिक का अभिप्राय अब तक स्पष्ट नहीं हुआ है। व्रजभूमि साधारणतया चरागाह की भूमियों को कहते हैं। सम्भवतः देहात के उन प्रदेशों में, जहाँ पूर्णतया स्थिर आबादी नहीं थी, यही कार्य व्रजभूमिक नाम के कर्मचारियों-द्वारा किया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि अशोक सन्तोष के साथ कह सका कि "इसका फल यह है कि अपने सम्प्रदाय की वृद्धि होती है और धर्म का विकास होता है।"

धम्म-महामात्रों को नियत करने के सिवाय सम्राट अशोक ने स्वयं भी 'धम्म' के प्रचार का उद्योग किया। इस प्रयोजन के लिए वह समय समय पर यात्राओं के लिए जाया करता था। यात्रा तो पहले भी सम्राट् लोग किया करते थे। परन्तु इन पुराने नरपतियों की यात्रा का उद्देश्य आनन्द व मौज होती थी। वे विहार-यात्रायें किया करते थे, धम्म-यात्रा नहीं। अशोक ने धम्म-यात्राओं का प्रारम्भ किया। इन धर्म-यात्राओं में शिकार आदि करके समय नष्ट न किया जाता था अपितु इनमें "श्रमण और ब्राह्मणों का दर्शन करना और उन्हें दान देना, वृद्धों का दर्शन करना और सुवर्ण-दान देना, जनपद में निवास करनेवाली जनता के पास जाकर उन्हें उपदेश देना और धर्म-विषयक

विचार करना" होता था[1]। निस्सन्देह अन्य आमोद-प्रमोद के स्थान पर इस धर्म-यात्रा में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक को बहुत आनन्द आता था।

इन यात्राओं-द्वारा सम्राट् अशोक धर्म के वास्तविक तत्त्व का पता लगाता था। ब्राह्मणों, श्रमणों और वृद्धों के दर्शन करता था। उन्हें दान देता था। उनका सत्संग कर धर्म के तत्त्व का अनुभव करता था। साथ ही जनपद-निवासियों से धर्म-विषयक चर्चा होती थी और उन्हें उपदेश दिया जाता था। ऐसी धर्म-यात्रायें समय समय पर होती रहती थीं। इनका प्रभाव साधारण जनता पर बहुत ही उत्तम पड़ता था। विस्तृत मौर्य-साम्राज्य के अधिपति सम्राट अशोक का साधारण जनता के साथ धर्म-चर्चा करना और 'धम्म-सार' का उपदेश करना निस्सन्देह अद्भुत प्रभाव उत्पन्न करता था। इससे साधारण जनता में धम्म के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती थी। उनमें वास्तविक धम्म की अभिवृद्धि होती थी।

पर आखिर सम्राट् अशोक एक व्यक्ति था। वह अकेला क्या कुछ कर सकता था? इसलिए उसने आवश्यक समझा कि विस्तृत साम्राज्य के विविध शासनाधिकारी भी स्वयं वैयक्तिक रूप से धम्म के तत्त्व की वृद्धि में सहायता किया करें। इसी लिए उसने आज्ञा प्रचारित की—

"इसलिए देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—यह विचार मेरे मन में आया कि (लोगों को) धर्म-श्रवण कराऊँ और उन्हें धर्म का उपदेश दूँ, जिसमें कि लोग उसे सुनकर उसी के अनुसार आचरण करें, उन्नति करें और विशेष रूप से धर्म की वृद्धि करें। इसी उद्देश्य से धर्म-श्रवण कराया गया और विविध प्रकार से धर्म का उपदेश दिया गया, जिसमें कि मेरे 'पुरुष' नामक कर्मचारी-गण जो बहुत समय से लोगों के ऊपर

---

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० ८।

नियुक्त हैं, मेरे उपदेशों का प्रचार करें और उनका खूब विस्तार करें। रज्जुकों को भी जो लाखों मनुष्यों पर नियुक्त हैं, यह आज्ञा दी गई है कि 'धर्मयुत' नामक कर्मचारियों को इसी प्रकार उपदेश देना[1]।"

इस उद्धरण में जिन राज्य पदाधिकारियों के नाम आये हैं, उनकी स्थिति के सम्बन्ध में हम 'अशोक की शासन-व्यवस्था' पर लिखते हुए विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि 'रज्जुक' बड़े उच्च अमात्य होते थे, जिनके हाथों में वस्तुतः शासन की रज्जु रहा करती थी। ये रज्जुक तथा अन्य 'पुरुष' आदि राज-कर्मचारी भी अशोक की तरह 'धम्म' के तत्त्व की वृद्धि के लिए प्रयत्न करते थे। अशोक ने इन्हें भी अपनी तरह धम्म-यात्रायें करने का आदेश दिया था। वे लिखते हैं—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के १२ वर्ष बाद मैंने यह आज्ञा दी है—मेरे राज्य में सब जगह युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक पाँच पाँच वर्ष पर इस काम के लिए (अर्थात्) धर्मानुशासन के लिए तथा और और कामों के लिए (सर्वत्र यह कहते हुए) दौरा करें कि—माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमण को दान देना अच्छा है। जीव-हिंसा न करना अच्छा है[2]।"

इस प्रकार सम्राट् अशोक की तरह अन्य राज्य-पदाधिकारी भी अपने अपने क्षेत्र में धर्म-यात्रा किया करते थे और जनता में 'धम्म' का प्रचार करते रहते थे। वे केवल सरकारी अधिकारी का ही कार्य न करते थे, परन्तु धर्म-प्रचारक का भी कार्य करते थे। जब राज्य के अधिकारी—जिनका कार्य राज्य के कोने कोने तक पहुँचा हुआ होता है—'धम्म' के प्रचार में लगे हुए हों, तब उसमें सफलता का होना बहुत सुगम है। यही कारण है कि

---

१. सप्त स्तम्भलेख—लेख-सं० ७।

२. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० ३।

अशोक सर्वत्र धर्म-राज्य या धर्म-विजय स्थापित करने में सफल हुआ था। धर्म-विजय का यह उपाय अशोक की अपनी प्रतिभा का फल था। पहले भी राजा धर्म का सन्देश लोगों को सुनाना चाहते थे, पर वे सफल न हुए। इस कार्य में अशोक ही पहले-पहल सफल हुआ। वह स्वयं लिखता है—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—बहुत दिन हुए जो राजा हो गये हैं, उनकी इच्छा थी कि किसी प्रकार लोगों में धर्म की वृद्धि हो। पर लोगों में आशानुरूप धर्म की वृद्धि नहीं हुई। इसलिए देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—यह विचार मेरे मन में उदय हुआ कि पूर्व समय में राजा लोग यह चाहते थे कि किसी प्रकार लोगों में उचित रूप से धम्म की वृद्धि हो, पर लोगों में उचित रूप से धर्म की वृद्धि नहीं हुई। तो अब किस प्रकार लोगों को (धर्म-पालन में) प्रवृत्त किया जाय, किस प्रकार लोगों में उचित रीति से धर्म की वृद्धि की जाय, किस प्रकार मैं धर्म की वृद्धि से कम से कम कुछ लोगों को तो धर्म में तत्पर करा सकूँ[1] ?"

इसके आगे अशोक ने धर्म-प्रचार के लिए काम में लाये अपने उपायों का वर्णन किया है। ये उपाय सचमुच इस प्रकार के हैं, जिनसे कि धम्म-विजय स्थापित हो सकती थी। परन्तु स्वयं तथा अपने राज-कर्मचारियों-द्वारा साधारण जनता तक धम्म के तत्त्व का सन्देश पहुँचाना ही पर्याप्त न था। इसके लिए यह भी आवश्यक था कि जनता की भलाई के लिए, सर्वसाधारण के उपकार के लिए प्रबन्ध किया जाय। अशोक सर्वसाधारण जनता को परोपकार, सेवा, दान आदि धर्म-तत्त्वों की शिक्षा देना चाहता था। इसके लिए आवश्यक था कि वह पहले स्वयं तथा अपने निकट सम्बन्धियों-द्वारा उदाहरण स्थापित करे। इसी लिए अशोक लिखता है—

१. सप्त स्तम्भलेख—लेख-सं० ७।

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—सड़कों पर भी मैंने मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिए बरगद के पेड़ लगवाये, आम्रवृक्ष की वाटिकायें लगवाईं, आध आध कोस पर कुएँ खुदवाये, सरायें बनवाईं, और जहाँ तहाँ पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिए आपान (पियाऊ) बैठाये। किन्तु यह उपकार कुछ भी नहीं है। पहले के राजाओं ने और मैंने भी विविध प्रकार के सुखों से लोगों को सुखी किया है। किन्तु मैंने यह (सुख की व्यवस्था) इसलिए की है कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करें[1]।"

यह समझ सकना कठिन नहीं है, कि अशोक का इस तरह लोकोपकारी कार्यों की तरफ़ विशेषरूप से ध्यान देना किस तरह धर्म के विस्तार में सहायक हुआ। निस्सन्देह, पहले भी राजा इन कार्यों को किया करते थे। अशोक स्वयं इस बात को मानता है। परन्तु उसका एक विशेष उद्देश्य था। उसी को सम्मुख रखकर वह सब कार्य करता था। वह जानता था कि यदि लोगों से धर्माचरण कराना है, तो स्वयं सबसे पहले तैयार होना पड़ेगा। इसी लिए उसने न केवल स्वयं परन्तु अपने निकट सम्बन्धियों-द्वारा भी परोपकार, दान आदि प्रभूतमात्रा में कराया। अनेक राज्य-कर्मचारी अशोक तथा उसके सम्बन्धियों के दान आदि का प्रबन्ध करते थे। अशोक लिखता है—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं— ये[2] तथा अन्य दूसरे प्रधान कर्मचारी मेरे तथा मेरी रानियों के दानोत्सर्ग के सम्बन्ध में नियुक्त हैं और यहाँ (पाटलिपुत्र में) तथा प्रान्तों में वे मेरे सब अन्तःपुरवालों को बतलाते हैं कि कौन कौन से अवसरों पर कौन कौन सा दान करना चाहिए। वे मेरे पुत्रों तथा

---

१. सप्त स्तम्भलेख—लेख-सं० ७।

२. 'ये' से ग्रहण धर्म-महामात्रों का होता है। इससे पहले पैरे में धर्म-महामात्रों का वर्णन है।

दूसरे राजकुमारों के दानोत्सर्ग कार्य की देख-भाल करने के लिए नियुक्त हैं, जिसमें कि धर्म की उन्नति और धर्म का आचरण हो। धर्म की उन्नति और धर्म का आचरण इसी में है कि दया, दान, सत्य, शौच (पवित्रता) मृदुता और साधुता लोगों में बढ़े[1]।"

सम्राट् अशोक की रानियों और कुमारों ने किस प्रकार 'दानोत्सर्ग' किया, इसे जानने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। यह अनुमान कर सकना कठिन नहीं है, कि अशोक के इन निकट सम्बन्धियों ने भी उसी के मार्ग का अवलम्बन किया था। वे भी साधारण जनता को लाभ पहुँचाने के लिए कूप, धर्मशाला आदि का निर्माण करते थे। दान, उपकार और सेवा के इस महान आयोजन का फल वस्तुतः बहुत ही आनन्ददायक हुआ था। सम्पूर्ण भारत में धर्म का वातावरण तैयार हो गया था। सबमें धर्म के लिए उत्साह था। धर्मपालन में सब गौरव का अनुभव करते थे। परन्तु अशोक का यह धर्म, ध्यान रखिए, मनुष्यों को आपस में लड़ानेवाला, द्वेष और घृणा पैदा करनेवाला, नहीं था। इस धर्म का तो मूल तत्त्व ही दूसरे के धर्म को सम्मान की दृष्टि से देखना था। इसमें साम्प्रदायिक कलह और पक्षपात की कोई गुञ्जाइश नहीं थी।

इसी धार्मिक वातावरण को उत्पन्न करने के लिए अशोक ने इस प्रकार के दृश्य दिखलाने का प्रबन्ध किया था, जिनसे कि लोगों में धार्मिक भाव उत्पन्न हों। प्राचीन समयों में एक प्रकार के उत्सव होते थे, जिन्हें 'समाज' कहा जाता था। इनमें दूर दूर से लोग एकत्रित होते थे। यह समाज भी दो प्रकार के थे। एक प्रकार के 'समाजों' में केवल गाना-बजाना और खेल-कूद होता था। दूसरे प्रकार के 'समाजों' में खाना पीना भी होता था और मांस भी पकाया जाता था। दूसरे प्रकार के समाज अशोक को बिलकुल पसन्द न थे। इन्हें उसने बन्द कर

1. सप्त स्तम्भलेख—लेख-सं० ७

दिया था[1]। परन्तु पहले प्रकार के समाजों में कोई दोष न था, अतः उनका प्रयोग धार्मिक वातावरण उत्पन्न करने में किया गया। इन समाजों में विमान, हाथी, अग्निस्कन्ध आदि के दृश्य दिखाये जाते थे[2]। डा० भाण्डारकर ने दिखलाया है कि किस प्रकार विमान, हाथी, अग्निस्कन्ध आदि का सम्बन्ध भगवान् बुद्ध के जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं से है[3]। इन दृश्यों को दिखला कर उन घटनाओं तथा उनकी शिक्षाओं का स्मरण कराया जाता था। साधारण जनता केवल उपदेशों से सन्तुष्ट नहीं होती। उपदेश उनके हृदय पर अधिक प्रभाव उत्पन्न नहीं करते। इसलिए अधिक अच्छा तरीका यह है कि प्रत्यक्ष रूप से उन्हें ऐसे दृश्य दिखलाये जावें, जिनसे वे सब बात समझ जावें। इन विमान आदि को दिखाने का यही अभिप्राय था। इनसे जहाँ जनता का मनोरञ्जन होता था, वहाँ उनके हृदय में धर्म के प्रति सम्मान और आस्था भी उत्पन्न होती थी।

अपने धर्म के सन्देश को स्थिर रखने के लिए ही अशोक ने विविध स्थानों पर धर्म-लिपियाँ खुदवाईं। अनेक शिलाओं और स्तम्भों पर अपने धर्म-संदेश को उत्कीर्ण कराने में उसका उद्देश्य यही था कि भविष्य में आने वाले लोग उसके सन्देश को जान सकें और तदनुसार आचरण कर सकें। वह बार बार अपने इस भाव को प्रकट करता है—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी ऐसा कहते हैं—इसी उद्देश्य से मैंने धर्म-स्तम्भ बनवाये, धर्म-महामात्र नियुक्त किये और धर्म का श्रवण कराया।[4]"

"यह लेख इसलिए लिखा गया है कि जब तक सूर्य्य और

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० १।
२. " " ३।
३. Bhandarkar—Asoka पृ० १३५—१३८।
४. सप्त स्तम्भलेख—लेख सं० ७।

चन्द्रमा हैं, तब तक मेरे पुत्र और प्रपौत्र इसी के अनुसार आचरण करें[1]।"

"यह धर्म-लेख इसलिए लिखवाया है कि यह चिरस्थित रहे और मेरे स्त्री-पुत्र-पौत्र तथा प्रपौत्र सब लोगों के हित के लिए पराक्रम करें[2]।"

"इस धर्म-लेख के लिखाने का यह उद्देश्य है कि यह बहुत दिनों तक स्थिर रहे और मेरी प्रजा इसके अनुसार आचरण करे[3]।"

इसी तरह अन्य भी अनेक लेखों के अन्त में अशोक ने यही भाव प्रकट किया है। वह अपने सन्देश को चिरस्थायी बनाना चाहता था। इसी के लिए उसने शिलाओं और स्तम्भों पर उसे खुदवाया। निस्सन्देह, इसमें वह सफल भी हुआ। इन्हीं शिलाओं और स्तम्भों के कारण आज भी हम अशोक के सन्देश को सुन रहे हैं।

सम्राट् अशोक ने अपने धर्म के इस सन्देश को न केवल अपने साम्राज्य में प्रचारित किया था; अपितु विदेशी राष्ट्रों में भी इसका प्रचार किया था। उसके धर्म की विजय भारत में ही नहीं, किन्तु विदेशों में भी स्थापित हुई थी। जिन जिन साधनों का प्रयोग उसने भारत में 'धम्म' के प्रचार के लिए किया, उन्हीं का उपयोग विदेशों में भी किया। विदेशी राज्यों में भी 'धम्म-विजय' के लिए महामात्र नियत किये गये, सड़कें बनवाई गईं, कूप खुदवाये गये—लोगों के आराम के लिए सब तरह की सुविधा की गई। साथ ही धम्म का सन्देश सुनाने के लिए 'अन्तमहामात्र' नियत किये गये। अशोक ने अपने इस 'प्रक्रम' का स्वयं बड़े सुन्दर रूप में वर्णन किया है—

---

१. सप्तस्तम्भलेख—लेख-सं० ७

२. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० ६

३. ,, ,, लेख-सं० ५

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में सब स्थानों पर तथा जो उनके पड़ोसी राज्य हैं वहाँ, जैसे चोड़, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी में और अन्तियोक नाम यवनराजा और जो उस अन्तियोक के पड़ोसी राजा हैं, उन सब देशों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा—एक मनुष्यों की चिकित्सा और दूसरी पशुओं की चिकित्सा—का प्रबन्ध किया है। और जहाँ पर मनुष्यों और पशुओं के लिए उपयुक्त ओषधियाँ नहीं प्राप्त होती थीं, वहाँ लाई और लगाई गई हैं। इसी तरह से मूल और फल भी जहाँ नहीं थे, वहाँ लाये और लगाये गये हैं। मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिए वृक्ष लगाये और कुएँ खुदवाये गये हैं[1]।"

"मैंने अपने राज्याभिषेक के तेरह वर्ष बाद (धर्म-महामात्र) नियुक्त किये (धर्म-महामात्र) धर्म की रक्षा करने के लिए, धर्म की वृद्धि करने के लिए, धर्मयुक्तों के हित और सुख के लिए तथा यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पेतनिक तथा पश्चिमी सीमा पर (रहनेवाली अन्य जातियों के) हित और सुख के लिए सब सम्प्रदायों के बीच में नियुक्त हैं[2]।"

"यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय ने यहाँ (अपने राज्य में) तथा छः सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की है। जहाँ अन्तियोक नाम यवन-राजा राज्य करता है और उस अन्तियोक के बाद तुरमय, अन्तिकिनि, मक और अलिकसुन्दर नाम के चार राजा राज्य

---

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० १

२. ,, ,, लेख-सं० ५

करते हैं, और उन्होंने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोड़, पाण्ड्य, तथा ताम्रपर्णी में भी धर्म-विजय प्राप्त की है।........सब जगह लोग देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन अनुसरण करते हैं और अनुसरण करेंगे। जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जाते, वहाँ भी लोग देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मविधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनुसार आचरण करते हैं और भविष्य में आचरण करेंगे[1]।"

ये उद्धरण अशोक के विदेशों में धर्म-विजय के लिए किये गये प्रयत्नों को स्पष्ट कर देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशों में 'धर्म-विजय' का कार्य दूतों की अधीनता में किया जाता था। मौर्यकाल में विदेशों में राजदूत भेजने की प्रथा प्रचलित थी। भारत के दूत दूर दूर देशों में जाते थे और विदेशी राजदूत भारत की राजधानी पाटलिपुत्र में रहते थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से मालूम पड़ता है कि विदेशीय सम्बन्धों के निरीक्षण तथा विदेशीय दूतों के स्वागत आदि के लिए राज्य का एक पृथक् विभाग होता था। हमें यह भी मालूम है कि मौर्यसम्राटों के पास विदेशों से आये अनेक राजदूत रहते थे और भारत से विदेशों में दूत जाते थे। विदेशों में रहनेवाले इन्हीं राजदूतों से, सम्भवतः, अशोक ने धम्म-प्रचार का भी कार्य लिया। तभी तो उसने यह कहा है कि "जहाँ देवताओं के प्रिय के दूत नहीं, वहाँ भी लोग देवताओं के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं।" सम्भवतः अशोक के धम्म-महामात्र इन्हीं राजदूतों की अधीनता में कार्य करते थे। उन्हें किसी सम्प्रदाय से विरोध न था। वे अन्यों के मतों का खण्डन न करते थे। वे तो 'वाक्-संयम' से काम लेते हुए अन्य

---

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० १३

सम्प्रदायों के गुणों का ही अवलोकन करते थे। उन्हें किसी से विरोध-भाव न था। वे धम्म के तत्त्व का चुपचाप शान्ति से प्रचार करते थे। लोकोपकारक कार्य करके जनता की भलाई करते थे। यही कारण है कि खून की एक बूँद भी गिराये विना ये अशोक की 'धम्म-विजय' स्थापित कर सके।

ग्रीक लोगों-द्वारा अधिकृत राज्यों में भी भारतीय धम्म महामात्रों ने अशोक के 'धम्म' का सन्देश सुनाया। ग्रीक लोगों का भारतीयों से धर्म-तत्त्व का श्रवण करना कुछ यूरोपीय विद्वानों को ठीक न मालूम पड़ा। भला, भारतीय लोग भी कभी यूरोपीयों के शिक्षक हो सकते हैं! यह सर्वथा असम्भव है। अशोक का ऐसा लिखना केवल आत्माभिमान की पराकाष्ठा को ही सूचित करता है। इसी भाव को सम्मुख रख कर प्रो० रीज़-डेविड्स ने प्रतिपादित किया है कि ग्रीक लोगों में भारतीयों-द्वारा धर्म-तत्त्व का प्रसारित होना कभी भी सम्भव नहीं। यह अशोक ने केवल प्रलाप-मात्र ही किया है। क्या कभी ग्रीक यह सह सकते थे कि काफिर (Barbarians) लोग उन्हें शिक्षा दें। अतः अशोक का यह दावा, कि उसने इन प्रदेशों में अपनी तरफ़ से धर्म-महामात्र भेजे, कभी ठीक नहीं हो सकता[1]। प्रो० रीज़ डेविड्स पाली भाषा के महान् पण्डित हैं। उन्होंने बौद्ध-साहित्य का बड़ी गम्भीरता से अनुशीलन किया है। यह होते हुए भी हम उनकी इस आलोचना से सहमत नहीं हो सकते। हम जानते हैं कि मौर्य्यकाल में भारत देश उन्नति के उच्च शिखर पर विराजमान था। न केवल आध्यात्मिक तथा धार्मिक क्षेत्र में अपितु ऐहलौकिक व राजनैतिक क्षेत्र में भी उस समय के भारतीयों ने आश्चर्यजनक उन्नति की थी। उस काल में बहुत से भारतीय प्रचारक विदेशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार कर रहे थे। हिमालय की बर्फ़ीली चोटियाँ, पामीर की दुर्गम घाटियाँ और अरबसागर की भयानक तरंगें उनके मार्ग को नहीं रोक सकती थीं। वे

१. Rhys Davids—Buddhist India, पृ० २९८-९

असभ्य जातियों को सभ्यता सिखा रहे थे, भटके हुओं को सच्चा रास्ता दिखा रहे थे। उस समय का भारत सच्चे अर्थों में 'संसार का गुरु' था। इस अवस्था में क्या यह सम्भव नहीं है कि ग्रीक राज्यों में भारतीय प्रचारक गये हों ? प्रो० रीज़ डेविड्स का कथन केवल यही सूचित करता है कि जातिगत पक्षपात से वे सर्वथा शून्य नहीं हैं।

इस तरह जिस धर्म-विजय को स्थापित करने का उद्योग अशोक ने भारत में किया, उसी को विदेशों में भी स्थापित करने के लिए उसने प्रयत्न किया। वह इसमें सफल भी हुआ, क्योंकि वह स्वयं लिखता है—"इस प्रकार सर्वत्र जो विजय हुई है, वह विजय वास्तव में सर्वत्र आनन्द देनेवाली है। धर्म-विजय में जो आनन्द मिलता है, वह बहुत प्रगाढ़ आनन्द है[1]।" इस सर्वत्र धर्म-विजय को अशोक इतना महत्त्व देते थे कि वे अपनी धर्म-विजय का वर्णन कर लिखते हैं—

"यह लेख इसलिए लिखा गया कि मेरे पुत्र और पौत्र जो हों, वे नया (देश) विजय करना अपना कर्त्तव्य न समझें। यदि कभी वे नया देश विजय करने में प्रवृत्त हों, तो उन्हें शान्ति और नम्रता से काम लेना चाहिए और धर्म-विजय को ही यथार्थ विजय समझना चाहिए। उससे इस लोक और परलोक दोनों जगह सुख-लाभ होता है[2]।"

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व हम यह आवश्यक समझते हैं कि अशोक की धर्म-विजय के एक अन्य महत्त्व-पूर्ण भाग पर विचार कर लें। अशोक की दया, अनुकम्पा, दान और सेवा का क्षेत्र केवल मनुष्यों तक ही परिमित न था। देश और राष्ट्र की सीमाओं को तो वह पार कर ही चुका था, पर मानवीय और पशु-जगत् का भेद भी उसके सम्मुख क्षुद्र वस्तु थी।

---

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० १३

२. ,, ,, ,, १३

इसी लिए अशोक ने जहाँ मनुष्यों के हित के लिए अनेक कार्य किये, वहाँ पशुओं को भी भुला नहीं दिया। उनको भी उसके 'धम्म' में स्थान था।

पशुओं के हित के लिए अशोक ने जो कुछ किया उसे हम दो भागों में बाँट सकते हैं। पहले तो उसने पशुओं को नुक़सान पहुँचाने और उन्हें मारने का निषेध किया। दूसरी बात यह कि उनकी रक्षा और उन्नति के लिए अनेक उपायों का प्रयोग किया। हम दोनों पर क्रमशः पृथक् पृथक् विचार करेंगे।

अशोक ने उन प्राणियों का वध सर्वथा रोक दिया, जो 'न तो किसी उपयोग में आते हैं, और न खाये जाते हैं।' इस प्रकार निम्नलिखित प्राणियों के वध का अशोक ने अपने राज्याभिषेक के छब्बीस वर्ष बाद सर्वथा निषेध कर दिया था—सुग्गा, मैना, अरुण, चकोर, हंस, नान्दीमुख, गेलाट, जतुका (चमगीदड़), अम्बाकपीलिका, दुडि (कछुवी), बे-हड्डी की मछली, वेदवेयक (जीवजीवक), गंगापुपुटक, संकुज-मत्स्य, कछुआ, साही, पर्णशश, बारहसिंगा, साँड, ओकपिण्ड, मृग, सफ़ेद कबूतर, और ग्राम के कबूतर। इनके सिवाय प्रयोग में न आनेवाले अन्य चौपायों के वध का भी सर्वथा निषेध कर दिया गया था[1]। इस तरह अशोक ने पशुओं के व्यर्थ संहार को रोका था।

जहाँ भोजन के लिए अथवा अन्य उपयोगों के लिए पशुवध किया जाता है, उसको भी कम करने के लिए अशोक ने प्रयत्न किया था। वह लिखता है—

"गाभिन या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ी और सुअरी तथा इनके बच्चों को, जो छः महीने तक के हों, न मारना चाहिए। मुर्गों को बधिया न करना चाहिए। जीवित प्राणियों के साथ भूसी को न जलाना चाहिए। अनर्थ करने के लिए या प्राणियों की हिंसा के लिए वन में आग न लगानी चाहिए। प्रति चार चार महीनों की तीन ऋतुओं की तीन पूर्णमासियों के दिन,

१. सप्तस्तम्भलेख—लेख-सं० ५

'पौष' मास की पौर्णमासी के दिन, चतुर्दशी अमावास्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली न मारनी चाहिए और न बेचनी चाहिए। इन सब दिनों में हाथियों के वन में तथा तालाबों में कोई भी दूसरे प्रकार के प्राणी न मारे जाने चाहिएँ।[1]"

इसके अतिरिक्त पशुओं को कष्ट से बचाने के लिए उसने यह भी प्रयत्न किया कि उन्हें दागा न जाय। इसी लिए उसने पशुओं के दागने में अनेक बाधायें उपस्थित की थीं—

"प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या व पूर्णिमा तथा पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन, और प्रत्येक चार चार महीने के त्यौहारों के दिन बैल को न दागना चाहिए। तथा बकरा, भेड़ा, सुअर और इसी तरह के दूसरे प्राणियों को, जो दागे जाते हैं, न दागना चाहिए। पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र के दिन और प्रत्येक चातुर्मास्य के शुक्ल पक्ष में घोड़े और बैल को न दागना चाहिए[2]।

इन नानाविध बाधाओं को उपस्थित करने का प्रयोजन यही था कि प्राणियों को जहाँ तक सम्भव हो, कम से कम कष्ट दिया जाय।

यह न समझना चाहिए कि अशोक के ये विधान बौद्ध-धर्म के पक्षपात के कारण किये गये थे। वस्तुतः इस तरह के प्रतिबन्ध तो भारत के सब धर्मों के अनुकूल हैं। व्यर्थ पशुहिंसा का कोई भी भारतीय धर्म पक्षपाती नहीं। बौद्ध-धर्म सर्वथा अहिंसा का प्रतिपादक है। परन्तु अशोक ने हिंसा का सर्वथा निषेध नहीं किया। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी, जो कि बौद्ध-ग्रन्थ नहीं है, इस प्रकार के प्रतिबन्ध पतिपादित हैं[3]।

---

१. सप्तस्तम्भलेख—लेख-सं० ५

२. ,, ,, ५

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र २। २६ 'सूनाध्यक्षः'

परन्तु पशुओं के हित के लिए अशोक ने केवल व्यर्थ हिंसा का ही निषेध नहीं किया, अपितु उनके आराम के लिए नानाविध उपायों की आयोजना की। ये उपाय प्रायः वे ही हैं, जो मनुष्यों के आराम और सुख के लिए किये गये थे। इन पर हम पहले भी विचार कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना ध्यान में रखना चाहिए कि अशोक ने पशुओं की चिकित्सा के लिए भी विशेष रूप से प्रबन्ध किया था[1]।

इस तरह, अशोक ने न केवल अपने साम्राज्य में, परन्तु विदेशी राज्यों में भी 'धम्म' की महान् विजय स्थापित की थी। यही धम्म-विजय अशोक के इतिहास में सबसे बढ़कर गौरव की वस्तु है। इसी के लिए अशोक की कीर्त्ति है। यह हम पहले प्रतिपादित कर चुके हैं, कि अशोक जिस 'धम्म' का प्रचार कर रहा था, वह बौद्ध-धर्म न था, अपितु सब धर्मों के अविरोधी सिद्धान्तों का ही संग्रह था। तथापि तत्कालीन बौद्ध-धर्म की उच्च और विशुद्ध शिक्षाओं का परिणाम था कि अशोक इस 'धम्म' के लिए प्रवृत्त हुआ। इस 'धम्म-विजय' ने बौद्ध-धर्म के विस्तार में बहुत सहायता की। जनता अपने इतने महान् उपकर्त्ता सम्राट् अशोक के धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगी। यही कारण है कि बौद्ध-धर्म के प्रचारक बड़ी सुगमता से देश-विदेश में बुद्ध की शिक्षाओं को फैला सके। अशोक की धर्म-विजय ने समकालीन तथा भावी बौद्ध-प्रचारकों के लिए 'बौद्ध-धर्म की विजय' का मार्ग साफ़ कर दिया।

---

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० २

अठारहवाँ अध्याय

सम्राट् अशोक और बौद्ध-धर्म

१. बौद्ध-धर्म की दीक्षा

बौद्ध-धर्म के प्रचार में सम्राट् अशोक का वही स्थान है, जो क्रिश्चिएनिटी के प्रचार में सेंट पाल और इस्लाम के प्रचार में खलीफ़ा उमर का। सम्राट् अशोक के ही प्रयत्नों द्वारा बौद्ध-धर्म संसार-प्रसिद्ध धर्म बना। अतः अशोक के बौद्ध-धर्म के साथ सम्बन्ध का विस्तृत विचार करना बहुत आवश्यक है।

सम्राट् अशोक पहले बौद्ध-धर्म के अनुयायी नहीं थे। उन्होंने अपने शासन के आठवें वर्ष में बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया। इसके सम्बन्ध में बौद्ध-ग्रन्थों में अनेकविध कथायें उल्लिखित हैं। उनको संक्षेप में यहाँ उद्धृत करना अप्रासङ्गिक न होगा। पहले महावंश और दीपवंश की कथा को लीजिए —

"जब अशोक ने अपने बड़े भाई सुमन को मारकर राजगद्दी प्राप्त की, तब सुमन की धर्मपत्नी को गर्भ था। यह स्त्री अशोक की क्रोधाग्नि से बच कर निकल गई और पाटलिपुत्र के पूर्वद्वार से निकल कर एक चण्डालग्राम में पहुँची। चण्डालग्राम के मुखिया को, जिसका नाम 'तमालप्रिय' था, इस पर दया आ गई और इसे अपने पास आश्रय दे दिया। जिस दिन यह चाण्डाल-ग्राम में पहुँची, उसी दिन इसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस लड़के का नाम निग्रोध रखा गया। ग्राम का मुखिया सात वर्ष तक निरन्तर निग्रोध और उसकी माता की सेवा करता रहा। निग्रोध जन्म से ही अत्यन्त गम्भीर

था और उसमें एक साधु होने के सब लक्षण विद्यमान थे। जब वह सात साल की उमर का हुआ, तो नियम-पूर्वक भिक्षु बन गया।

एक बार निग्रोध पाटलिपुत्र में आया। यह किसी को मालूम न था कि यह राज-घराने का ही व्यक्ति है। जब वह राजप्रासाद के पास से गुज़र रहा था, तो राजा का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। निग्रोध के गम्भीर और सन्तों के अनुरूप मुख ने उसे अपनी ओर खींच लिया। अशोक ने उसे बुलवाया और कहा—'तात! तुम जहाँ उचित समझो बैठ जाओ।' यह सुनकर निग्रोध ने राजसिंहासन की ओर क़दम उठाया। अशोक ने यह देखकर समझ लिया कि यह भिक्षु अवश्य ही राजप्रासाद का स्वामी बनेगा, और स्वयं हाथ से पकड़कर उसे राज-सिंहासन पर बैठा दिया[1]। इस प्रकार अपनी ओर से भिक्षु के प्रति सम्मान प्रदर्शित करके अशोक ने उसका भोजन आदि से सत्कार किया, जो भोजन अपने लिए तैयार कराया था वही उसको भी खाने के लिए दिया। भोजन आदि से तृप्त हो चुकने पर अशोक ने निग्रोध से बुद्ध-द्वारा उपदिष्ट धर्म के विषय में प्रश्न किया। यह सुनकर भिक्षु ने भगवान् बुद्ध-द्वारा उपदिष्ट सम्पूर्ण धर्म का

१. निसीद तातानुरूपे आसने ताह भूपति
अदिस्वा भिक्खुमञ्ञं सो सीहासनमुपागमी।
तस्मिं पल्लङ्कमायन्ते राजा इति विचिन्तयि
अज्जायं सामणेरो मे घरे हेस्सति सामिको।
आलम्बित्वा करं रञ्ञो सो पल्लङ्कं समारुहि।

महावंश। ५, ६५—६७.

वहुत अच्छी रीति से उपदेश किया, जिसे सुनकर राजा वहुत सन्तुष्ट हुआ। निग्रोध के मुख से बौद्ध-धर्म के तत्त्व को सुनकर अशोक तत्काल ही बौद्ध-धर्म का अनुयायी वन गया। इसके बाद उसने बौद्ध भिक्षुओं को वहुत कुछ दान-पुण्य किया।"

इस प्रकार सिंहल द्वीप में प्राप्त प्राचीन बौद्ध-इतिहासों के अनुसार अशोक ने राज्यप्राप्ति के आठ साल बाद निग्रोध के उपदेश से बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया।

दिव्यावदान में अशोक के बौद्ध-धर्म का अनुयायी वनने की कथा अन्य ही भाँति से लिखी है। उसका सार निम्नलिखित है—

"जब राजा अशोक ने राजगद्दी प्राप्त की, तव वह वहुत क्रूर और अत्याचारी था। एक वार उसके अमात्यों ने उसकी आज्ञा का पालन न किया, अशोक को वहुत क्रोध आया। क्रोध में उसने अपनी तलवार को म्यान से खींच कर पांच सौ अमात्यों के सिरों को धड़ से अलग कर दिया। एक और दिन की वात है; उसके अन्तःपुर की स्त्रियों ने, जो कि कुरूप होने के कारण उस पर हँसा करती थीं, एक 'अशोक वृक्ष' के पत्तों को तोड़ लिया। नाम-साम्य के कारण अशोक इस वृक्ष से वहुत प्रेम करता था। अशोक को वहुत क्रोध आया, उसने उन पांच सौ स्त्रियों को जीते जी आग में जला दिया।

जब अमात्यों ने देखा कि राजा इस प्रकार अत्याचार कर रहा है, तो उन्होंने उससे प्रार्थना की कि 'आप अपने हाथों को इस प्रकार अपवित्र न कीजिए। क्यों नहीं आप अपराधियों को दण्ड देने के लिए किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त कर लेते?' राजा ने ऐसा ही किया। चण्डगिरिक नाम का एक व्यक्ति इस काम के लिए नियत किया गया। यह वहुत ही क्रूर था, क्रूरता में इसका मुक़ावला कर सकनेवाला दूसरा मिलना कठिन था। प्राणियों को कष्ट देने में इसे अत्यन्त आनन्द आता था। इसने अपने माता-पिता को स्वयं अपने हाथों से मार दिया था। इस भयानक व्यक्ति को मुख्य 'वध्य-घातक' नियत किया गया। इसी कार्य के

लिए एक भयङ्कर जेलखाना बनाया गया। इसका बाह्य-स्वरूप बहुत ही उत्तम तथा दर्शनीय था। लोग देखते ही मोहित हो जाते थे और सोचते थे कि अन्दर चलकर भी देखें। परन्तु अन्दर पहुँचते ही उन पर घोर सङ्कट आपड़ते थे। राजा की आज्ञा थी कि जो कोई भी आदमी इस जेल के अन्दर पहुँच जाय, उसको जीता न छोड़ा जाय। अपितु नानाविध कष्ट देकर मार दिया जाय। इसी के लिए अनेक प्रकार के प्रबन्ध किये गये थे।

जो कोई भी इस जेलखाने में आता, बचकर न लौटता। एक बार बालपण्डित नाम का एक भिक्षु इस जेलखाने में चला गया। जेल में आते ही बध्य-घातक ने उसे पकड़ लिया। भिक्षु को सात दिन की मोहलत दी गई। परन्तु सातवें दिन के समाप्त होते ही भिक्षु को एक जलती हुई भट्टी में डाल दिया गया। परन्तु बध्य-घातक उसको भट्टी में डालकर जब नीचे देखने लगा, तो उसने एक बहुत ही विचित्र दृश्य देखा। बालपण्डित एक कमल पर बैठा हुआ है, चारों तरफ़ ज्वालायें उठ रही हैं, परन्तु उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकतीं। इस चमत्कार की सूचना राजा को दी गई, वह देखने के लिए आया, और अपनी आँखों से बालपण्डित के प्रताप को देखकर आश्चर्यित रह गया। भिक्षु ने उसे उपदेश दिया। इस चमत्कार और भिक्षु के उपदेश को सुनकर वह बहुत प्रभावित हुआ और क्रूरता छोड़ कर बौद्ध-धर्म का अनुयायी बन गया। जेलखाना तोड़ दिया गया तथा बध्य-घातक को जीते जी आग में जला दिया गया[1]।"

यही कथा कुछ परिवर्तन के साथ ह्यूनसांग ने भी अपने यात्रावृत्तान्त में लिखी है। ह्यूनसांग लिखता है—"पहले-पहल जब अशोक राजगद्दी पर बैठा, तब वह बहुत ही क्रूर था। क्रूरतापूर्वक मनुष्यों को मारने के लिए ही उसने एक नरक का निर्माण कराया था। इसके चारों तरफ़ ऊँची दीवारें और विशाल बुर्ज बनवाये गये थे। इसके अन्दर मनुष्यों

---

१. दिव्यावदान ३७३—३७६

को कष्ट देने के लिए नानाविध साधन तैयार किये गये थे। पिघली हुई गरम धातुओं से परिपूर्ण भट्टियाँ बनी हुई थीं, अनेक तेज़ हथियार मौजूद थे। अभिप्राय यह कि प्राणियों के क्लेश के लिए सब तरह का सामान विद्यमान था। इस प्रकार नरक-गृह को तैयार कर अशोक ने एक क्रूर व्यक्ति को चुना और उसे इस नरक का अध्यक्ष नियत किया।

पहले तो सम्पूर्ण राज्य में जो कोई भी अपराधी होता था, उसे बिना उसके अपराध पर विचार किये इस नरक-गृह में भेज दिया जाता था। यहाँ उसे सब प्रकार से कष्ट देकर मार दिया जाता था। परन्तु राजा इससे भी सन्तुष्ट न हुआ। अतः जो कोई भी उस स्थान से गुज़रता था, उसे पकड़ लिया जाने लगा और सब प्रकार से कष्ट देकर घात होने लगा। जो कोई भी उस स्थान पर आता था, उसे मार दिया जाता था। आत्मरक्षा का कोई भी अवसर उसे न मिलता था।

इस समय एक श्रमण, जिसे संघ का सदस्य हुए बहुत समय व्यतीत नहीं हुआ था, आसपास भीख माँगता हुआ घूम रहा था। वह नरक-गृह के द्वार पर आ पहुँचा। नरक-गृह के अध्यक्ष ने उसे पकड़ लिया और मारने के लिए तैयारी करने लगा। श्रमण डर गया और पूजा तथा उपासना के लिए कुछ समय की मोहलत माँगी। इसी बीच में रस्सियों से बँधे हुवे एक मनुष्य को नरक-गृह में लाया गया। क्षण भर में उसके हाथ-पैर काट डाले गये और उसके शरीर को बुरी तरह से पीस दिया गया।

श्रमण ने इस भयानक दृश्य को देखा। उसका हृदय दया से भर गया। उसे निश्चय होगया कि सब सांसारिक वस्तुएँ अनित्य हैं। यह अनुभव करने पर उसे 'अर्हत पद' प्राप्त होगया। तब नरक-गृह के अध्यक्ष ने उससे कहा—'अब मरने के लिए तैयार हो जाओ।' श्रमण अर्हत पद को प्राप्त कर चुका था, वह जन्म और मरण के बन्धन से मुक्त हो चुका था, इसलिए यद्यपि उसे खौलते हुए कढ़ाये में डाल दिया गया, तथापि उसे यह शीतल

जलाशय की तरह ही प्रतीत हुआ। खौलते कढ़ाये के तल पर एक कमल दिखाई दिया, जिस पर कि श्रमण विराजमान था। इस दृश्य को देखकर नरक का अध्यक्ष डर गया और राजा के पास इस विचित्र घटना का संदेश सुनाने के लिए एक दूत को भेजा। राजा स्वयं चलकर आया और इस अपूर्व दृश्य को देखा। उसने उच्च स्वर से इस चमत्कार की प्रशंसा की।

नरक-गृह के अध्यक्ष ने राजा को सम्बोधन करके कहा—"महाराज! आप भी मरने के लिए तैयार हो जाइए।"

राजा ने पूछा—"किसलिए?"

"क्योंकि आप यह आज्ञा कर चुके हैं कि जो कोई भी इस नरक-गृह में आवे उसको प्राणदण्ड दिया जाय। तब आपने यह नहीं कहा था कि यदि राजा यहाँ पर आवे तो उसे न मारा जाय।"

"वस्तुतः ही आज्ञा दी जा चुकी है, और उसका उल्लंघन नहीं हो सकता। परन्तु जब आज्ञा दी गई थी, तो तुम्हें भी अपवाद नहीं किया गया था तुमने बहुत समय तक प्राणियों का नाश कर लिया है, अब मैं तुम्हारा घात करूँगा।"

यह कह कर राजा ने साथियों को आज्ञा दी। उन्होंने नरक-गृह के अधिपति को पकड़ लिया और खौलते हुए कढ़ाये में डाल दिया। उसकी मृत्यु के बाद राजा वापिस चला गया। नरक-गृह को नष्ट कर दिया, खाइयों को भरवा दिया और इस प्रकार के क्रूर कर्मों की इतिश्री कर दी।............जब राजा अशोक नरक-गृह को नष्ट कर चुका, तो उसे उपगुप्त नाम का एक प्रसिद्ध अर्हत मिला। इस अर्हत ने धीरे धीरे अशोक पर अपना प्रभाव जमाना शुरू किया और उसे बौद्ध-धर्म का अनुयायी बना लिया। राजा ने अर्हत को सम्बोधन करके कहा—'पूर्व जन्मों में मैंने जो पुण्य संचित किया है, उसके

लिए धन्यवाद! मैंने राज्याधिकार को तो प्राप्त किया है, पर अपने दोषों के कारण भगवान् बुद्ध को मिलकर उनका अनुयायी बनने का सौभाग्य मुझे प्राप्त नहीं हुआ। इसलिए अब मेरी इच्छा है कि मैं स्तूपों का निर्माण कर भगवान् बुद्ध के अवशेषों का सम्मान करूँ[1]।"

एक अन्य स्थान पर भी ह्यूनसांग ने अशोक के नरक-गृह का उल्लेख किया है। इस स्थान पर नरक-गृह को उज्जैनी के समीप स्थिर बताया गया है[2]।

महावंश, दिव्यावदान और ह्यूनसांग की इन कथाओं में कहाँ तक सत्यता है, यह कह सकना बहुत कठिन है। प्रायः ऐतिहासिक विद्वान् इन कथाओं की सत्यता पर सन्देह करते हैं। उनका कथन है कि बौद्ध धर्म के महत्त्व को बढ़ाने के लिए बौद्ध लेखकों ने इन कथाओं को गढ़ लिया है। हमें तो यह प्रतीत होता है कि इन कथाओं का आधार अवश्यमेव सत्य है। यह बात और है कि एक सामान्य से आधार को रख कर बौद्ध लेखकों ने विशाल कथाओं को खड़ा कर लिया हो।

अगला प्रश्न, जिस पर कि हमें विचार करना है, यह है कि सम्राट् अशोक ने किस समय बौद्ध-धर्म को स्वीकृत किया। डा० फ्लीट के मतानुसार राज्याभिषेक के तीस वर्ष बाद अशोक ने बौद्ध-धर्म को स्वीकृत किया। परन्तु अन्य विद्वान् इस मत को नहीं मानते। यह ठीक भी है, क्योंकि राज्याभिषेक के बाद तीस वर्ष व्यतीत होने से पूर्व ही अशोक भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान आदि बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानों की यात्रा कर चुका था और उन स्थानों की उसने पूजा भी की थी। इसी तरह अपने

---

१. Beal—Buddhist Records of the Western World, Vol. II. पृ० ८६—८८

२. तथा Vol. II. पृ० २७१

शासन के दस वर्ष बाद अशोक ने 'सम्बोधि' का अनुसरण किया था[1]। सम्बोधि का यहाँ क्या अर्थ है, इस विवाद में पड़ने की हमें आवश्यकता नहीं, इतना लिखना ही पर्याप्त है कि 'सम्बोधि' बौद्ध-धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। इन बातों को सम्मुख रख कर डा० फ्लीट के मत को ठीक न मानना अनुपयुक्त नहीं है।

अशोक ने बौद्ध-धर्म को कब स्वीकृत किया, इसके सम्बन्ध में महावंश की कथा बहुत सहायक है। इस कथा के अनुसार जिस समय सुमन के पुत्र निग्रोध ने अशोक को बौद्ध बनाया, उस समय निग्रोध की आयु सात वर्ष की थी।[2] और निग्रोध उत्पन्न तब हुआ था, जब कि अशोक ने सुमन को मार कर राज्य प्राप्त किया था। निग्रोध की माता भाग कर पाटलिपुत्र से बाहर चण्डाल-ग्राम में चली गई थी और कुछ समय बाद निग्रोध उत्पन्न हुआ था। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि राज्य प्राप्त करने के लगभग आठ साल बाद अशोक ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया।

इस बात की पुष्टि अशोक के शिलालेखों से भी होती है। रूपनाथ के प्रथम लघु शिलालेख में अशोक लिखते हैं—"देवताओं के प्रिय इस तरह कहते हैं—ढाई वर्ष से अधिक हुए कि मैं उपासक हुआ पर मैंने अधिक उद्योग नहीं किया। किन्तु एक वर्ष से अधिक हुआ, जब मैं संघ में आया हूँ, तब से मैंने अच्छा उद्योग किया है।" इसलिए जब यह शिलालेख लिखवाया गया तब अशोक को बौद्ध-धर्म का अनुयायी बने कम से कम $३\frac{१}{२}$ साल ($२\frac{१}{२}$ साल से कुछ अधिक, सम्भवतः, $३\frac{३}{४}$ या ४ साल) व्यतीत हो चुके थे। इस शिलालेख में आगे अशोक ने अपने उद्योग का चित्र खींचा है, इसे देखकर 'चतुर्दश

१. 'चतुर्दश शिलालेख' धर्मलिपि ८

२. महावंश—५। ४६

दिस्वा तं जेट्ठचण्डालो अत्तनो सामिनं विय
मञ्जन्तो तं उपट्ठासि सत्तवस्सानि साधुकम् ॥

शिलालेख' की चतुर्थ धर्मलिपि का स्मरण हो आता है। इन दोनों ही शिलालेखों में अशोक अपने 'धर्म-प्रचार' का चित्र खींचता है। दोनों शिलालेखों को एक साथ पढ़कर आसानी से यह कल्पना की जा सकती है कि ये दोनों लगभग एक ही समय में लिखवाये गये थे। चतुर्दश शिलालेखों की चतुर्दश लिपि को लिखवाने का समय अशोक स्वयं उल्लिखित करता है। उसके अनुसार अपने शासन के बारहवें वर्ष में वह धर्मलिपि लिखवाई गई थी। यदि प्रथम लघु शिलालेख को भी उसका समकालीन ही समझा जावे, जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, तो वह भी बारहवें वर्ष में लिखवाई गई समझी जावेगी। इस प्रकार बारहवें वर्ष से लगभग चार साल पूर्व—अर्थात् शासन के आठवें वर्ष में—सम्राट् अशोक ने बौद्ध-धर्म को स्वीकृत किया[1]।

अपने शासन के आठवें वर्ष में ही अशोक ने कलिङ्ग देश को जीता था। इस विजय में प्राणियों की जो हत्या हुई, उस पर अशोक ने अपने एक शिलालेख में भारी पश्चात्ताप किया है। अशोक लिखता है—"कलिंग को जीतने पर देवताओं के प्रिय को बड़ा पश्चात्ताप हुआ।[2]" इत्यादि। इसको देखकर प्रायः विद्वानों ने कल्पना की है, कि कलिङ्ग-विजय के कारण ही सम्राट् अशोक ने बौद्ध-धर्म को स्वीकृत किया। उसी के द्वारा उसमें वह धर्माङ्कुर उत्पन्न हुआ, जो कि पीछे एक महान् वृक्ष के रूप में परिणत हुआ। कलिङ्ग-विजय के बाद अशोक ने केवल बौद्ध-धर्म को ही स्वीकृत नहीं कर लिया, अपितु अपनी 'धर्म-विजय' के अपूर्व कार्यक्रम को भी प्रारम्भ कर दिया। परन्तु यह मत इसलिए ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि कलिङ्ग-विजय के बाद पर्याप्त समय तक अशोक बौद्ध-धर्म के प्रचार या 'धर्म-विजय' के लिए कोई विशेष यत्न नहीं करते। वे उसके बाद चार वर्ष के लगभग तक अपना जीवन साधारण रूप से व्यतीत करते हैं, धर्म के

---

१. D. R. Bhandarkar—Aśoka, पृ० ७५.

२. चतुर्दश शिलालेख—त्रयोदश धर्मलिपि।

ऊपर कोई विशेष ध्यान नहीं देते। रूपनाथ के प्रथम लघु शिला-लेख तथा चतुर्थ शिलालेख (चतुर्दश शिलालेखों में) से यही बात प्रकट होती है। फिर, अशोक ने जिस शिलालेख में कलिङ्ग-विजय तथा उससे जनित पश्चात्ताप का वर्णन किया है, वह शिलालेख उन्होंने कलिङ्ग-विजय के एक-दम बाद ही प्रकाशित नहीं कर दिया था। उसे तो उसके कई वर्ष बाद लिखवाया गया था। उसमें तो उन भावों का वर्णन है, जो कि उस समय उनमें विद्यमान थे, न कि उन भावों का, जो कलिङ्ग-विजय के बाद ही उनके हृदय में आये थे। अतः कलिङ्ग-विजय को अशोक के बौद्ध-धर्म को स्वीकृत करने में हेतु मानना युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता[1]।

इस प्रकार कलिङ्ग-विजय और बौद्ध-धर्म की स्वीकृति—इन दोनों घटनाओं में कार्य-कारणभाव है, यह नहीं कहा जा सकता। यह होते हुए भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि कलिङ्ग-विजय ने अशोक का ध्यान शस्त्र-विजय तथा अन्य ऐसे ही कर्मों से दूर कर दिया। उनका बौद्ध-धर्म की ओर झुकाव हुआ और उनमें धर्माङ्कुर उत्पन्न हुआ। कलिङ्ग-विजय ही उनकी अन्तिम विजय है। इसके बाद उनका ध्यान धर्म-विजय की तरफ़ आकृष्ट हुआ और बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया। बौद्ध-धर्म के अनुयायी बन चुकने पर अशोक ने अनेक स्तूपों तथा विहारों का निर्माण कराया। इनके विषय में हम पृथक् विचार करेंगे।

२—तीर्थ-यात्रा

सम्राट् अशोक अपने 'चतुर्दश शिलालेखों' की आठवीं धर्म-लिपि में लिखते हैं—

"बहुत दिन हुए देवताओं के प्रिय (अर्थात् राजा लोग) विहार-यात्रा के लिए निकलते थे। इन यात्राओं में शिकार तथा

१. D. R. Bhandarkar—Aśoka, पृ० ७७.

इसी प्रकार के दूसरे आमोद प्रमोद होते थे। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के दस वर्ष बाद सम्बोधि (बोधि वृक्ष) के प्रति अनुगमन किया। इस प्रकार धर्म-यात्रा (की प्रथा का प्रारम्भ हुआ)। धर्म-यात्रा में यह होता है:—श्रमण और ब्राह्मणों का दर्शन करना, वृद्धों का दर्शन करना तथा सुवर्णदान देना; जानपद में जाकर धर्म का उपदेश करना और धर्म-विषयक विचार करना। उस समय से अन्य (आमोद-प्रमोद के) स्थान पर इसी धर्म-यात्रा में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा बारम्बार आनन्द लेते हैं।"

इस धर्म-लिपि से स्पष्ट है कि बौद्ध-धर्म को स्वीकृत कर चुकने के पश्चात् अशोक ने आमोद-प्रमोद तथा शिकार आदि के लिए यात्राओं को बन्द करके उनके स्थान पर धर्म-यात्रा का प्रारम्भ किया। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक वर्ष सम्राट् अशोक इसी प्रकार की यात्रा के लिए निकला करते थे। इस तरह की एक यात्रा का वर्णन दिव्यावदान में उपलब्ध होता है। उसी यात्रा को प्रमाणित करने के लिए कुछ शिलालेख भी उपलब्ध होते हैं। सम्भवतः यह यात्रा बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी। इसका संक्षेप में यहाँ उल्लेख करना अशोक और बौद्धधर्म के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रदर्शित करने के लिए बहुत ही आवश्यक है।

२४६ ई० पू० के लगभग, जब अशोक को शासन करते हुए चौबीस साल व्यतीत हो चुके थे, उन्होंने एक महत्त्व-पूर्ण तीर्थ-यात्रा का प्रारम्भ किया। इसमें उन्होंने उन सब तीर्थ-स्थानों का अवलोकन किया, जो कि बौद्ध-धर्म की दृष्टि से पवित्र माने जाते थे।

राजा के अमात्यों ने यह सलाह दी कि इस तीर्थ-यात्रा के लिए उपगुप्त नाम के एक भिक्षु की सेवा प्राप्त की जाय। यह उपगुप्त गुप्त नामक गान्धिक का पुत्र था और एक भविष्य-वाणी के अनुसार बुद्ध भगवान् के सौ साल बाद उत्पन्न हुआ था। उस समय में यह मथुरा के समीप नतभक्तिकारण्य में

उरुमुण्ड पर्वत पर निवास कर रहा था। इसके साथ अठारह हज़ार भिक्षु और निवास करते थे[1]। जब राजा ने उपगुप्त के विषय में सुना तो अपने मन्त्रियों को बुलाया और कहा कि ' हाथी, घोड़े, रथ आदि अच्छे प्रकार तैयार कर दो, मैं उरुमुण्डशैल को जाऊँगा और वहाँ भिक्षु उपगुप्त के दर्शन करूँगा। " यह सुनकर मन्त्रियों ने कहा —'देव! इनको भेज दीजिए। उपगुप्त ही यहाँ चला आवेगा, आपको वहाँ जाने की ज़रूरत नहीं। " राजा बोला—'हम इस योग्य नहीं हैं कि उपगुप्त यहाँ आवे, हमीं को वहाँ पर जाना चाहिए। " यह कह कर राजा ने स्वयं ही उपगुप्त के पास जाने का निश्चय कर लिया। परन्तु जब उपगुप्त को मालूम हुआ कि राजा बहुत साथियों के साथ मेरे पास आ रहा है, तो उसने सोचा कि मेरे पास आने में बहुत से आदमियों को कष्ट होगा। इसी तरह बहुत से बैल आदि पशुओं को भी तकलीफ़ होगी। यह सोच कर उपगुप्त ने राजा के पास कहला भेजा कि मैं स्वयं ही आजाऊँगा, आप यहाँ आने का कष्ट न करें। यह जान कर राजा अशोक ने स्थविर उपगुप्त के लिए सब प्रकार का प्रबन्ध कर दिया। मथुरा से जलमार्ग-द्वारा नौकाओं में उपगुप्त तथा उसके साथियों के पाटलिपुत्र तक आने का प्रबन्ध किया गया।

उपगुप्त भी अपने अठारह हज़ार साथियों के साथ नौकाओं पर चढ़कर मथुरा से यमुना गङ्गा के मार्ग से होता हुआ पाटलिपुत्र पहुँच गया। पाटलिपुत्र में उपगुप्त का बड़े समारोह और धूमधाम के साथ स्वागत किया गया। जिस आदमी ने पहले-पहल अशोक को उपगुप्त के आगमन का समाचार दिया, प्रसन्न होकर अशोक ने उसे अपने शरीर से उतार कर चार हज़ार का एक हार इनाम

---

१. 'तेन खलु समयेनायुष्मान् उपगुप्तोऽष्टादशभिरर्हतसहस्रैः परिवृतो नतभक्तिकारण्यान्ते प्रतिवसति'

दिव्यावदान पृ०—३८९

में दे दिया। फिर 'घाण्टिक' को बुलाकर आज्ञा दी—'सारे नगर में एक साथ घण्टे बजा दिये जावें, ताकि लोगों को मालूम हो जाय कि उपगुप्त पधार गये हैं।' सम्पूर्ण नगर को सजाया गया, ३½ कोस तक बाहर भी सजावट की गई। अशोक स्थविर उपगुप्त का स्वागत करने के लिए स्वयं ३½ कोश आगे तक गये। सम्पूर्ण 'पौर' तथा अमात्य उनके साथ थे। ज्योंहीं अठारह हज़ार साथियों से घिरे हुए स्थविर उपगुप्त को सम्राट् अशोक ने देखा, वह अपने हाथी से नीचे उतर गया। कुछ क़दम पैरों से चलकर वह उपगुप्त के पास पहुँचा और एक पैर नदी के तीर पर तथा दूसरा नाव पर रख कर उसने स्वयं उपगुप्त को नीचे उतारा और फिर इस तरह उस के पैरों पर गिर पड़ा जैसे जड़ से कटा हुआ वृक्ष। फिर हाथ जोड़ कर अशोक ने कहा—

"जब मैंने शत्रुगणों का नाश करके शैलों समेत यह पृथिवी प्राप्त की, जिसके समुद्र ही आवरण हैं और जिसके ऊपर शासन करनेवाला अन्य कोई नहीं है; उस समय भी मुझे वह सुख नहीं हुआ जो आज आपको देखकर हुआ है[1]।"

इसी तरह अशोक ने अन्य स्तुति भी की। स्थविर उपगुप्त सम्राट् अशोक के सिर पर दाँया हाथ फेरता हुआ बोला—

'राज्य के कार्य को ठीक प्रकार करते रहो और तीन दुर्लभ रत्नों (बुद्ध, धम्म और संघ) की नित्य पूजा करते रहो[2]।'

---

१. यदा मया शत्रुगणान्निहत्य प्राप्ता समुद्राभरणा सशैला।
एकातपत्रा पृथिवी तदा मे प्रीतिर्न सा या स्थविरं निरीक्ष्य॥
त्वद्दर्शनान्मे द्विगुणः प्रसारः सञ्जायतेऽस्मिन् वरशासनाग्रे।
त्वद्दर्शनाच्चैव परेऽपि शुद्ध्या दृष्टो मयाद्याप्रतिमः स्वयम्भूः॥

इत्यादि

२. अप्रमाद्येन सम्पाद्य राज्यैश्वर्यं प्रवर्त्तताम्।
दुर्लभं त्रीणि रत्नानि नित्यं पूजय पार्थिव॥

दिव्यावदान पृ० ३८७

इसी तरह स्थविर और सम्राट् में बहुत देर तक बातचीत होती रही। अन्त में अशोक ने कहा—'हे स्थविर! मेरी इच्छा है कि मैं उन सब स्थानों का दर्शन करूँ, जहाँ कि भगवान् बुद्ध ठहरे थे; उनका सम्मान करूं तथा वहाँ पर स्थिर निशान छोड़ जाऊँ, जिससे कि भविष्य में आनेवाली सन्तति को शिक्षा मिलती रहे।'

स्थविर ने कहा—"साधु साधु! तुम्हारे हृदय में बहुत उत्तम विचार उत्पन्न हुआ है। मैं तुम्हें मार्ग दिखाने का कार्य बड़ी प्रसन्नता के साथ करूँगा।"

इस प्रकार धर्म-यात्रा या तीर्थ-यात्रा का प्रारम्भ हुआ। पाटलिपुत्र से चलकर ये उस प्रदेश से होते हुए जहाँ अब मुजफ़्फ़रपुर और चम्पारन के ज़िले हैं, तथा जहाँ अशोक के पांच विशाल प्रस्तर-स्तम्भ पाये जाते हैं, हिमालय की तराई में जा पहुँचे। सम्भवतः उसके बाद वे पश्चिम की ओर मुड़ गये और लुम्बिनी के प्रसिद्ध उद्यान में पहुँचे। यहीं पर भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। इस स्थान पर पहुँच कर उपगुप्त ने अपने दाँये हाथ को फैला कर कहा—

"महाराज! इस प्रदेश पर भगवान् का जन्म हुआ था'।"[1]

ये शब्द अब तक भी इस स्थान पर स्थित एक प्रस्तर-स्तम्भ पर उपलब्ध होते हैं। इस स्तम्भ पर जो लेख खुदा हुआ है, उससे अशोक की यात्रा के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातें ज्ञात होती हैं। शिलालेख यह है—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के बीस वर्ष बाद, स्वयं आकर (इस स्थान की) पूजा की। यहाँ शाक्य-मुनि बुद्ध का जन्म हुआ था। इसलिए यहाँ पत्थर की बनी हुई एक बृहत् दीवार स्थापित की गई तथा पत्थर का एक स्तम्भ खड़ा किया गया। यहाँ भगवान् का जन्म हुआ

---

१. 'अस्मिन् महाराज प्रदेशे भगवान् जातः'

दिव्यावदान पृ० ३८९

था, इसलिए लुम्बिनी ग्राम का धार्मिक कर उठा दिया गया और (भूमिकर के रूप में केवल) आठवाँ भाग लेना निश्चित किया गया।"

इस शिलालेख से भगवान् बुद्ध के जन्मस्थान का ठीक ठीक पता लगता है और दिव्यावदान की तीर्थ-यात्रा की कथा की पुष्टि होती है । अशोक बुद्ध के जन्मस्थान की पूजा करके तथा वहाँ प्राचीर और प्रस्तर-स्तम्भ बनवा कर ही सन्तुष्ट नहीं हो गया, अपितु लुम्बिनी गाँव का धार्मिक कर (बलि) सर्वथा हटा दिया । धर्म-स्थानों पर 'बलि' नाम के धार्मिक कर की प्रथा प्राचीन काल में प्रचलित थी। कौटिल्य अर्थ-शास्त्र में इसका उल्लेख मिलता है। आज-कल भी अनेक तीर्थ-स्थानों पर किसी न किसी प्रकार से धर्म-कर लगाया जाता है। लुम्बिनी ग्राम, महात्मा बुद्ध का जन्मस्थान होने के कारण बौद्ध लोगों का बहुत बड़ा तीर्थ था। सम्भवतः यहाँ पर भी बलि नामक कर लिया जाता था । परन्तु अशोक ने अपनी तीर्थ-यात्रा के अवसर पर इस कर को सर्वथा हटा दिया। कर के हट जाने से निस्संदेह लुम्बिनी में तीर्थ-यात्रार्थ जाने की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से बढ़ी होगी। पर अशोक ने इतना ही नहीं किया, उसने लुम्बिनी के भूमि-कर को भी कम कर दिया। प्राचीन भारत में उपज का $\frac{1}{4}$ या $\frac{1}{6}$ भाग भूमि-कर के रूप में लिया जाता था, परन्तु लुम्बिनी निवासियों के प्रति उदारता तथा भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित करने के लिए इस भूमि-कर को भी घटा कर $\frac{1}{8}$ कर दिया गया। लुम्बिनी का यह शिलालेख वर्तमान समय में रुम्मिन-देई नामक स्थान पर प्राप्त होता है। उसके समीप ही एक शिलालेख और है। वह निग्लीव नामक स्थान पर उपलब्ध हुआ है।

इन शिलालेखों से भी राज्यप्राप्ति के चौबीस वर्ष बाद अशोक का हिमालय की तराई में तीर्थ-यात्रा के लिए आगमन प्रमाणित होता है।

लुम्बिनी में अशोक ने बहुत दान-पुण्य किया । इसके बाद

स्थविर उपगुप्त राजा अशोक को कपिलवस्तु[1] लेगया और कपिलवस्तु पहुँच कर उसने अपने दाँये हाथ को फैला कर कहा— 'महाराज! इस स्थान पर बोधिसत्त्व ने राजा शुद्धोदन के घर में अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था।' यहाँ पर भी बहुत कुछ दान-पुण्य किया गया। इसके आगे दिव्यावदान में अनेक स्थानों की यात्रा का वर्णन किया गया है, जहाँ कि उपगुप्त की अध्यक्षता में सम्राट् अशोक ने यात्रा की थी। उपगुप्त सब स्थानों के महत्त्व का वर्णन करता जाता था और अशोक उनकी यथोचित रीति से पूजा-सम्मान आदि करते हुए दान-पुण्य करते जाते थे।

दिव्यावदान के अनुसार इस तीर्थ-यात्रा का क्रम इस प्रकार है—पहले लुम्बिनी-उद्यान, फिर कपिलवस्तु, फिर बुद्ध-गया के समीप बोधिवृक्ष। बोधिवृक्ष के नीचे ही भगवान् बुद्ध ने सुदीर्घ काल तक समाधि लगाई थी। यहाँ अशोक ने एक लाख सुवर्ण-मुद्राओं का दान किया। यहाँ पर एक चैत्य बनवाया गया। बुद्धगया के बाद स्थविर उपगुप्त राजा को सारनाथ ले गया। यहीं पर सबसे पूर्व भगवान् ने धर्मचक्र प्रवर्तित किया था। सारनाथ के बाद यात्री कुशीनगर[2] पहुँचे जहाँ कि भगवान् बुद्ध ने निर्वाण पद प्राप्त किया था। इन स्थानों के सिवाय राजा ने उपगुप्त के

---

१. कपिलवस्तु सम्भवतः बस्ती ज़िले के उत्तर में पिपरावा के समीप है। ह्यूनत्सांग ने कपिलवस्तु का वर्णन किया है, उसके वर्णन को पढ़ कर यह प्रतीत होता है कि कपिलवस्तु पिपरावा के दस मील उत्तर-पश्चिम में—जहाँ कि अब तिलौरा कोट नाम का स्थान है और जिसके इर्द-गिर्द बहुत से प्राचीन भग्नावशेष पड़े हुए हैं—स्थित था। यह स्थान नैपाल में है।

२. कुशीनगर गोरखपुर ज़िले के पूर्व में कसिया नामक स्थान पर है। यहाँ एक ताम्र-पत्र उपलब्ध हुआ है, जिस पर निम्नलिखित

साथ श्रावस्ती[1] की भी यात्रा की। यहाँ जेतवन विहार की पूजा की गई, इसी विहार के अन्दर भगवान् बुद्ध ने बहुत समय तक निवास किया था। इसी तरह बुद्ध के सारिपुत्र, मौद्गलायन, महाकश्यप आदि शिष्यों के स्तूपों के प्रति भी सम्मान का भाव प्रदर्शित किया गया। वत्कुल के स्तूप पर अशोक ने केवल एक कौड़ी ही चढ़ाई, क्योंकि बुद्ध भगवान् के इस शिष्य ने प्राणियों के हितार्थ कोई विशेष प्रयत्न नहीं किये थे। बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य आनन्द के स्तूप पर अशोक ने साठ लाख सुवर्ण-मुद्रायें अर्पित कीं।

दिव्यावदान में वर्णित तीर्थ-यात्रा के क्रम में काँट-छाँट करने की कुछ विद्वानों ने कोशिश की है। श्रीयुत वि० ए० स्मिथ[2] ने यात्रा का क्रम यह रखा है—लुम्बिनी, कपिलवस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, बुद्धगया, कुशीनगर। श्रीयुत सम्पूर्णानन्द[3] यात्रा का क्रम इस प्रकार रखना उचित समझते हैं—लुम्बिनी, कुशीनगर, कपिलवस्तु, श्रावस्ती, सारनाथ, बुद्धगया अथवा गया, सारनाथ, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर और फिर लुम्बिनी। पर इस प्रकार से यात्रा-क्रम में परिवर्तन करने की क्या आवश्यकता है, यह हमें समझ नहीं पड़ता। 'सुविधा' का प्रश्न सम्राट् अशोक के सम्मुख इतना अधिक न था, जितना कि धर्मानुसार तीर्थ-स्थानों को देखने का प्रश्न। यदि दिव्यावदान का सम्यक् प्रकार

शब्द लिखे हुए हैं —'[परिनि] र्वाण—चैत्ये ताम्रपट्ट इति'। वि० ए० स्मिथ के अनुसार नेपाल में पूर्वीय राप्ती और गण्डक नदी के संगम स्थान पर कुशीनगर की स्थिति थी।

१. श्रावस्ती गोंडा और बहराइच ज़िलों की सीमा पर राप्ती नदी के किनारे पर है। सम्भवतः प्राचीन श्रावस्ती को वर्तमान सहेठ-महेठ नामक थान सूचित करता है।

२. V. A. Smith—The Early History of India, p. 167.

३. सम्पूर्णानन्द—सम्राट अशोक।

से अनुशीलन किया जाय, तो उसका क्रम ही ठीक प्रतीत होगा। पहले अशोक भगवान् बुद्ध की जीवन-घटनाओं को सम्मुख रख कर यात्रा करना प्रारम्भ करते हैं। पहले उन्हें जन्मस्थान दिखलाया जाता है, फिर बाल्यजीवन का क्रीड़ा-स्थान, फिर तपस्या का स्थान, फिर धर्मचक्रपरिवर्तन का स्थान और फिर निर्वाणस्थान। दिव्यावदान के अनुसार यहाँ उनकी एक यात्रा समाप्त हो जाती है। तदनन्तर अशोक उपगुप्त के सम्मुख नये सिरे से श्रावस्ती आदि स्थानों को देखने की अभिलाषा प्रकट करते हैं। उसी के अनुसार स्थविर उपगुप्त उन्हें इन स्थानों को देखने के लिए ले जाते हैं। इन बातों को देखकर क्रम-विषयक विवाद की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

अशोक की यह तीर्थ-यात्रा बहुत महत्त्व-पूर्ण है। इसमें उन्होंने न केवल धर्म-प्रचार आदि का कार्य किया, अपितु उन स्थिर चिह्नों को भी बनवाया, जो आज तक अशोक की कीर्ति का ही स्मरण नहीं कराते अपितु बुद्ध भगवान् की स्मृति को भी स्थिर बनाते हैं।

३—बौद्ध अशोक

हम पहले प्रतिपादित कर चुके हैं कि सम्राट् अशोक ने अपनी राजकीय शक्ति का प्रयोग कर जिस 'धम्म' का प्रचार किया था, वह बौद्ध-धर्म नहीं था, वह सब धर्मों के अविरुद्ध और सम्मत सिद्धान्तों का समूह-मात्र था। अशोक उसे सब सम्प्रदायों का सार (तत्त्व) कहता है। इसी सार्वभौम धम्म' के प्रचार के लिए अशोक ने विशेष रूप से उद्योग किया था। परन्तु सम्राट् अशोक बौद्ध भी था और 'बौद्ध' होने की स्थिति से इस धर्म के प्रति भी उसके विशेष कर्त्तव्य थे। इन्हें पूरा करने में अशोक ने कोई कमी नहीं की। अपितु अपनी शक्ति के अनुसार बौद्ध-धर्म में सुधार, व्यवस्था आदि स्थापित करने के लिए पूर्ण उद्योग किया। अशोक के इस उद्योग का कुछ विवरण उसके

शिलालेखों द्वारा उपलब्ध होता है। हम उन्हीं को आधार में रख कर 'बौद्ध अशोक' के कार्यों की आलोचना करेंगे।

अशोक लिखते हैं—"मगध के प्रियदर्शी राजा संघ को अभिवादन (पूर्वक सम्बोधन करके) कहते हैं कि (वे) विघ्नहीन और सुख से रहें। हे भदन्तगण! आपको मालूम है कि बुद्ध, धम्म और संघ में हमारी कितनी भक्ति और गौरव है। हे भदन्तगण! जो कुछ भगवान बुद्ध ने कहा है, सो सब अच्छा कहा है। पर, भदन्तगण! मैं अपनी ओर से (कुछ ऐसे ग्रन्थों के नाम लिखता हूँ, जिन्हें मैं अवश्य पढ़े जाने योग्य समझता हूँ)। हे भदन्तगण! (इस विचार से कि) 'इस प्रकार सद्धर्म चिरस्थायी रहेगा' मैं इन धर्म-ग्रन्थों (का नाम लिखता हूँ) यथा—विनय-समुकसे [विनय समुत्कर्षः], अलियवसानि [आर्यवंशः], अनगतिभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूते [मौनेयसूत्रम्], उपति-सपसिने [उपतिष्य प्रश्नः], राहुलवाद जिसे भगवान् बुद्ध ने झूठ बोलने के बारे में कहा है। इन धर्म-ग्रन्थों को, हे भदन्तगण! मैं चाहता हूँ कि बहुत से भिक्षुक और भिक्षुकी बार बार श्रवण करें और धारण करें और इसी प्रकार उपासक और उपासिका भी (सुनें और धारण करें)। हे भदन्तगण! मैं इसलिए यह (लेख) लिखवाता हूँ कि लोग मेरा अभिप्राय जानें[1]।"

यह शिलालेख बहुत महत्त्व-पूर्ण है। इससे यह मालूम होता है कि अशोक को किन बौद्ध-ग्रन्थों से विशेष प्रेम था। 'विनय-समुकसे' आदि ग्रन्थों के विषय में अशोक की इच्छा है कि भिक्षुक, भिक्षुकी और उपासक-उपासिका उनको सुनें और धारण करें। बौद्ध-धर्म के किस पहलू पर अशोक का अधिक ज़ोर था, यह इन ग्रन्थों से जाना जा सकता है। डा० भाण्डार-कर ने इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार किया

---

१. भाबू में प्राप्त शिलालेख।

है।[1] ये ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध होते हैं और किस किस रूप में बौद्ध साहित्य में वर्त्तमान हैं, इसका अनुशीलन कर आप लिखते हैं कि इन ग्रन्थों-द्वारा यह अच्छी तरह मालूम पड़ जाता है कि अशोक किस प्रकार का बौद्ध था। वह बौद्ध-धर्म के विधि-विधानों और पारलौकिक विषयों पर इतना ध्यान नहीं देता था, जितना कि धर्म के आधारभूत तत्त्वों पर देता था। धर्म की बाह्य विधियाँ उसे आकृष्ट नहीं करती थीं, उसे तो आन्तरिक तत्त्व का ध्यान था। उदाहरण के तौर पर 'आर्यवंश' को लीजिए—इसमें भिक्षुओं के लिए चतुर्विध आचार-मर्यादा नियत की गई है। इस आर्यवंश सुत्त का कहना है कि (१) भिक्षु को सादी पोशाक से सन्तुष्ट रहना चाहिए। (२) सीधी तरह से प्राप्त हुए सादे भोजन से सन्तुष्ट रहना चाहिए। (३) अत्यन्त तुच्छ निवासस्थान से सन्तुष्ट रहना चाहिए और (४) मनन करने में आनन्द अनुभव करना चाहिए।

इसी तरह के साधारण परन्तु सारयुक्त धर्म का प्रतिपादन अन्य ग्रन्थों में है। अशोक-द्वारा निर्दिष्ट कोई भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो व्यर्थ की बाह्य कर्म-विधियों से भरा हुआ हो। सब 'सुत्त' इस प्रकार के हैं, जो भिक्षुओं की वास्तविक उन्नति करनेवाले हैं। ऐसे नहीं, जिनके द्वारा अन्दर से सर्वथा खोखला होते हुए भी केवल बाह्य बातों को ठीक तरह से करते रहने के कारण भिक्षु पूर्ण समझे जा सकें। ये ग्रन्थ न केवल भिक्षुओं के लिए पर साधारण जनता के लिए भी बहुत उपयोगी हैं। इसीलिए अशोक ने कहा है कि इनका श्रवण और धारण केवल भिक्षुओं को ही नहीं करना चाहिए, अपितु सामान्य उपासकों को भी उनका श्रवण और धारण करना चाहिए। 'बौद्ध' होने की स्थिति में भी अशोक धर्म के तत्त्व पर ही मुख्यतः ध्यान रखता था। उसके समय में बौद्ध भिक्षुओं में साधारण साधारण बातों पर विवाद प्रचलित थे। ये विवाद भगवान् बुद्ध की मृत्यु के एक

१. Bhandarkar—Aśoka, पृ० ८६ से ८८ तक।

शताब्दी बाद ही प्रारम्भ हो गये थे। बौद्ध-साहित्य के अध्ययन से मालूम पड़ता है कि वैशाली की द्वितीय महासभा से पूर्व दस बातों पर भिक्षुओं में गहरा मतभेद था। इनमें से अनेक बातें बहुत ही तुच्छ हैं। नमक रखने, चटाई पर बैठने और ज़मीन खोदने आदि के सम्बन्ध में भिक्षुगण परस्पर मतभेद रखते थे[1]। वैशाली की द्वितीय महासभा के वृत्तान्त को यदि ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय, तो मालूम पड़ेगा कि तत्कालीन बौद्ध भिक्षु बाह्य बातों और विधियों पर बहुत ध्यान देते थे। इन्हीं को धर्म का असली तत्त्व समझते थे। यद्यपि वैशाली की महासभा ने विवाद-ग्रस्त विषयों का निर्णय कर दिया था, तथापि बाह्य कर्मों और विधियों को महत्त्व देने की प्रवृत्ति बन्द न हुई। बौद्धधर्म में तत्त्व का क्षय और बाह्य बातों की प्रधानता निरन्तर बढ़ती गई। अशोक इस प्रवृत्ति को बन्द करना चाहता था। यही कारण है कि उसने बुद्ध की उन शिक्षाओं की तरफ़ भिक्षुओं तथा साधारण उपासकों का ध्यान आकृष्ट किया, जो धर्म के वास्तविक तत्त्व के साथ सम्बन्ध रखती हैं, बाह्य विधियों के साथ नहीं। निस्सन्देह अशोक का यह आदेश बौद्ध-धर्म को अधिक पवित्र और विशुद्ध बनाने में सफल हुआ।

बौद्ध-धर्म के सम्बन्ध में अशोक का एक अन्य कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह है, बौद्ध संघ में फूट न पड़ने देना। इस सम्बन्ध में अशोक के तीन लेख उपलब्ध हुए हैं—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं कि पाटलिपुत्र में तथा प्रान्तों में कोई संघ में फूट न डाले। जो कोई—चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी—संघ में फूट डालेगा, वह सफ़ेद कपड़े पहना कर उस स्थान में रख दिया जायगा, जो भिक्षुओं या भिक्षुणियों के लिए उचित नहीं है (अर्थात् वह भिक्षु-समाज से बहिष्कृत कर दिया जायगा)। इसी प्रकार हमारी यह आज्ञा भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ को बता दी जाय। देवताओं

१. Rockhill—Life of Buddha, pp. 171—3.

के प्रिय ऐसा कहते हैं—इस तरह का एक लेख आप लोगों के पास भेजा गया है, जिसमें कि आप लोग उसे याद रक्खें। ऐसा ही एक लेख आप लोग उपासकों के लिए भी लिख दें, जिसमें कि वे हर उपवास के दिन इस आज्ञा के मर्म को समझें। साल भर प्रत्येक उपवास के दिन हर एक महामात्र उपवासव्रत पालन करने के वास्ते इस आज्ञा के मर्म को समझाने तथा इसका प्रचार करने के लिए जायगा। जहाँ जहाँ आप लोगों का अधिकार हो, वहाँ वहाँ आप सर्वत्र इस आज्ञा के अनुसार प्रचार करें। इसी प्रकार आप लोग सब कोटों (दुर्गों) और सब विषयों (प्रान्तों) में भी इस आज्ञा को भेजें।"[1]

"देवप्रिय प्रियदर्शी कौशाम्बी के महामात्रों को इस प्रकार आज्ञा देते हैं—संघ के नियम का उल्लंघन न किया जाय। जो कोई संघ में फूट डालेगा, वह श्वेत वस्त्र पहना कर उस स्थान से हटा दिया जायगा, जहाँ भिक्षु या भिक्षुणियाँ रहती हैं (अर्थात् वह भिक्षु-समाज से पृथक् कर दिया जायगा)[2]।"

"..............भिक्षु और भिक्षुणी दोनों के लिए (संघ का) मार्ग नियत किया गया है ....जो कोई भिक्षुणी या भिक्षु-संघ में फूट डालेगा, वह उस स्थान से हटा दिया जायगा, जो भिक्षुकों या भिक्षुणियों के लिए नियत हैं। मेरी इच्छा है कि संघ का मार्ग स्थिर रहे[3]।'

सारनाथ, प्रयाग और साञ्ची में प्राप्त ये तीन शिलालेख संघ में एकता क़ायम रखने के लिए अशोक-द्वारा किये गये प्रयत्नों का वर्णन करते हैं। इनसे प्रतीत होता है कि संघ में फूट न होने देने के लिए अशोक तुला हुआ था। बुद्ध की मृत्यु के बाद ही संघ में मतभेद और फूट प्रारम्भ हो गई थी। अशोक से

---

१. सारनाथ का लघु स्तम्भलेख।

२. प्रयाग का स्तम्भलेख।

३. साञ्ची का स्तम्भलेख।

पूर्व भी इन मतभेदों को दूर करने के लिए दो महासभायें हो चुकी थीं। परन्तु मत-भेद बन्द नहीं हुआ था। अशोक से पूर्व सङ्घ में अनेक विभाग हो चुके थे। इस तरह फूट की यह प्रक्रिया दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जाती थी। इसी को रोकने के लिए अशोक ने ये आज्ञायें प्रकाशित कीं। इनके अनुसार जो कोई भिक्षु संघ में फूट डालता था, उसे बहिष्कृत कर दिया जाता था। भिक्षु लोग पीले वस्त्र पहना करते थे। श्वेत वस्त्र गृहस्थियों के लिए थे, भिक्षु उन्हें कभी नहीं पहनते थे। अतः बहिष्कृत व्यक्ति को श्वेत वस्त्र पहना कर संघ से निकाल दिया जाता था। इस तरह वे संघ में कोई गड़बड़ न डाल सकते थे। परन्तु हो सकता है कि वे साधारण जनता में—उपासकों में अपने विषमय सिद्धान्तों का प्रचार करें, जिस खराबी तथा नियमोल्लङ्घन के कारण उन्हें सङ्घ से निकाला गया है, उसका प्रभाव साधारण उपासकों पर डाल दें। इसलिए साधारण उपासकों के पास भी यह आज्ञा पहुँचा दी गई थी। इस आज्ञा के पालन कराने के लिए महामात्र उत्तरदाता थे। यहाँ महामात्रों से अभिप्राय सम्भवतः धर्म-महामात्रों का है। जिस तरह इन धर्म-महामात्रों का कार्य विविध सम्प्रदायों में सहिष्णुता तथा उत्तम संबन्ध स्थापित करना था, उसी तरह बौद्ध-संघ में एकता स्थापित रखना भी इन का कार्य था। संघ की आन्तरिक फूट, निस्सन्देह, 'धर्म-तत्त्व' की वृद्धि में बाधक थी। इसलिए उसे रोकना आवश्यक था और इसी लिए यह कार्य धर्म-महामात्रों को सुपुर्द कर दिया गया था।

प्रश्न यह होता है कि संघ में फूट न डालने देने के लिए ये आज्ञायें अशोक ने किस स्थिति में प्रकाशित कीं? ये उत्कीर्ण लेख यह बात अवश्य सूचित करते हैं कि संघ में एकता क़ायम रखने के लिए अशोक ने अपनी राजनैतिक शक्ति का उपयोग लिया। धर्म-महामात्र राजकीय कर्मचारी थे। जब वे संघ की एकता के लिए उत्तरदाता थे, तब अवश्य ही वे इसके लिए अपनी राजकीय शक्ति का प्रयोग करते होंगे। क्या डॉ० भाण्डारकर की तरह हम यह समझ लें कि अशोक न केवल साम्राज्य

का अधिपति था, अपितु बौद्ध संघ (Buddhist Church) का भी मुखिया था[१]। वह धार्मिक और राजनैतिक—दोनों प्रकार का राजा था। उसमें सम्राट् और पोप के कार्य व पद मिलकर एक हुए थे। हमारी सम्मति में यह धारणा युक्तियुक्त नहीं है। बौद्ध संघ का संगठन इस प्रकार का नहीं था कि उसका कोई माना हुआ मुखिया होता हो। बुद्ध ने अपने धार्मिक संगठन की जो प्रणाली आविष्कृत की थी, वह 'पोपडम' या 'गुरुडम' से रहित थी। इस लोक-सत्तात्मक संघ का अशोक स्वामी न हो सकता था। हमारी सम्मति में ये लेख किसी धार्मिक पक्षपात को सूचित नहीं करते। इनमें केवल यही कहा गया है कि संघ में फूट न पड़ने पावे। अशोक को धर्म के जिस तत्त्व को सर्वत्र फैलाने की चिन्ता लगी हुई थी, जिसके कारण वह सब सम्प्रदायों को 'वाक्-संयम' की शिक्षा देता था, उसी के कारण वह यह भी आवश्यक समझता था कि संघ में फूट न पड़े। वह इस महान् धार्मिक संगठन को अपनी 'धम्म-विजय' के लिए प्रयुक्त करना चाहता था, इसी लिए उसने ये आज्ञायें प्रकाशित की थीं।

यदि अशोक का बौद्ध संघ में 'पोप' का स्थान होता, तो वह ये वाक्य किस प्रकार लिख सकता कि "समवाय (मेलजोल) अच्छा है, अर्थात् लोग एक दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें और उसकी सेवा करें। क्योंकि देवताओं के प्रिय की इच्छा है कि सब सम्प्रदायवाले बहुत विद्वान् और कल्याणकारी हों[२]।" अशोक तो ब्राह्मण, श्रमण, आजीवक, निर्ग्रन्थक—सबको एक दृष्टि से देखता था। सबके सम्प्रदायों में सत्य व तत्त्व का अवलोकन करता था। उसे बौद्धों के साथ विशेष पक्षपात करने की आवश्यकता न थी। संघ में एकता स्थापित रखने के लिए प्रचलित की हुई उसकी आज्ञायें धर्म-विजय के लिए आवश्यक थीं। इसी लिए उनको प्रकाशित

१. Bhandarkar—Aśoka, पृ० ६६.

२. चतुर्दश शिलालेख लेख-सं० १३।

किया गया है। इनके सिवाय अन्य कोई शिलालेख इस प्रकार का नहीं है, जो उसके बौद्ध धर्म के साथ पक्षपात को सूचित करता हो।

अशोक स्वयं बौद्ध था। प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार उसने लाखों स्तूपों और विहारों का निर्माण कराया। जब चीनी पर्यटक ह्यूनसांग भारत में आया था, तो उसने अशोक-द्वारा निर्मित सैकड़ों स्तूपों व विहारों का अवलोकन किया था। अशोक के शिलालेखों में कुछ इस प्रकार के भी हैं, जो उसके तथा उसके निकट सम्बन्धियों के दिये गये दान को सूचित करते हैं। उन्हें यहाँ उद्धृत कर देना ही पर्याप्त है—

"राजा प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के बारह वर्ष बाद यह न्यग्रोध-गुहा आजीवकों को दी[1]।"

"राजा प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के बारह वर्ष बाद खलतिक पर्वत पर यह गुहा आजीवकों को दी[1]।"

"राजा प्रियदर्शी ने राज्याभिषेक के उन्नीस वर्ष बाद खलतिक पर्वत पर 'सुपिया गुहा' आजीवकों को दी[1]।"

ये तीनों लेख गया के पास 'बराबर' पहाड़ी की गुफाओं में खुदे हुए हैं। इनसे सूचित होता है कि अशोक केवल बौद्ध भिक्षुओं को ही दान न देता था, अन्य लोग भी उसके दान से लाभ उठाते थे। यद्यपि वह अन्यत्र भी सबको समान रूप से दान देने का उल्लेख करता है, तथापि इन ठोस प्रमाणों के मिल जाने पर इस सम्बन्ध में कोई सन्देह ही नहीं रहता। आजीवक लोग वैष्णव साधुओं को कहते थे, बौद्ध भिक्षुओं को नहीं।

एक उत्कीर्ण लेख में अशोक की रानी के दान का भी वर्णन है। वह लेख यह है—"देवताओं के प्रिय सर्वत्र महामात्रों को यह आज्ञा देते हैं—दूसरी रानी ने जो कुछ दान किया हो, चाहे

१. बराबर पहाड़ी की गुफाओं के लेख।

वह आम्रवाटिका हो या उद्यान या दान-गृह अथवा और कोई चीज़ हो, वह सब उसी रानी का दान गिना जाना चाहिए। ये सब कार्य दूसरी रानी अर्थात् तीवर की माता कारुवाकी के किये हुए हैं[1]।"

४ बौद्ध धर्म की तृतीय महासभा

बौद्ध साहित्य के अनुसार बुद्ध के अनुयायियों की अनेक महासभायें प्रसिद्ध हैं। धर्म-सम्बन्धी विवाद-ग्रस्त विषयों का निर्णय करने तथा 'पापभिक्षुओं' को वहिष्कृत करने के लिए ये महासभायें विविध समयों में होती रही हैं। पहली महासभा पाटलिपुत्र में आचार्य 'महाकस्सप' की अध्यक्षता में हुई थी[2]। महावंश में इस महासभा को 'थेरीय सङ्गीति' कहा गया है। बुद्ध के निर्वाण के बाद पहली सदी में बौद्ध थेरों में केवल एक ही भेद था, इस समय के पश्चात् उनमें अन्य अनेक भेद उत्पन्न हुए। 'महाकस्सप' की अध्यक्षता में जो पहली महासभा हुई, उसमें दस हज़ार पापभिक्षुओं को वहिष्कृत किया गया[3]।

बौद्ध धर्म की दूसरी महासभा बुद्ध की मृत्यु के ११० साल बाद हुई। इसका सभापति आचार्य 'यश' था। इसमें भिक्षुओं के दस विवाद-ग्रस्त विषयों पर विचार होकर उनका निर्णय

---

१. लघुस्तम्भ लेख, लेख-सं० ४।

२. या महाकस्सपादीहि महाथेरेहि आदितो।
कता धम्मसङ्गीति थेरिया, ति पवुच्चति॥
महावंश ५। १

३. तेहि सङ्गीति कारेहि थेरेहि दुतियेहि ते।
निग्गहीता पापभिक्खू सब्बे दस सहस्सका॥
महावंश ५। ३

हुआ। यह महासभा वैशाली नगरी में हुई थी। इसमें भी बहुत से 'पापभिक्षुओं' को बौद्ध संघ से बहिष्कृत किया गया था[1]।

सम्राट् अशोक के समय बौद्ध धर्म की तृतीय महासभा हुई। इसका विस्तृत वर्णन महावंश और दीपवंश में उल्लिखित है। इस तृतीय महासभा का बौद्ध धर्म के इतिहास में बड़ा महत्त्व है। इसके बाद ही बौद्ध धर्म संसारव्यापी धर्म बना और बुद्ध के अनुयायियों में नवीन स्फूर्ति उत्पन्न हुई। इससे पूर्व बौद्ध संघ आपस के झगड़ों में व्यग्र था। भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं को तोड़-मरोड़ कर मनमाने अर्थ किये जा रहे थे। जिस भिक्षु को जो कुछ अभीष्ट होता था, वही बुद्ध के नाम पर लगा दिया जाता था। इस तरह बौद्ध संघ में अनेक सम्प्रदाय उत्पन्न हो रहे थे। महावंश के अनुसार इन सम्प्रदायों की कुल संख्या अट्ठारह थी[2]। इन विभिन्न सम्प्रदायों के सिवा संघ में अन्य भी अनेक झगड़े थे। परिणाम यह हुआ कि संघ में साधारण उपासना तक भी बन्द हो गई। सात वर्ष तक निरन्तर 'उपोसथ' नहीं हो सका। इस अवस्था में इन झगड़ों का अन्त करने तथा बौद्ध धर्म में एकता स्थापित करने के लिए बुद्ध के अनुयायियों की तृतीय महासभा पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध 'अशोकाराम' में हुई। इस सभा का सभापति सम्राट् अशोक का गुरु आचार्य उपगुप्त निश्चित हुआ। महावंश और दीपवंश में इस आचार्य का नाम 'मोद्‌गलिपुत्र तिष्य' लिखा है। उपगुप्त और मोद्‌गलिपुत्र तिष्य एक ही व्यक्ति के भिन्न भिन्न नाम हैं[3]। महावंश में इस महासभा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सम्राट् अशोक ने सम्पूर्ण बौद्ध भिक्षुओं को एकत्रित करने के लिए दो यक्षों को नियत कर दिया। ये यक्ष सब जगह गये

---

१. Rockhill—Life of Buddha 169—180.

२. महावंश पञ्चम परिच्छेद के प्रारम्भ में इन विविध सम्प्रदायों के नाम लिखे गये हैं।

३. Cambridge History of India, Vol. I, पृ. ४९८.

और भिक्षुओं को एकत्रित कर लाये। सात दिन के बाद सब भिक्षु इकट्ठे हो गये। सातवें दिन अशोक अपने बनवाये हुए अशोकाराम में गया और वहाँ पर सब भिक्षुओं को एकत्रित होने को कहा। स्वयं अशोक अपने गुरु आचार्य तिष्य के साथ सभामण्डप के मध्य में विराजमान होगया। वहाँ पर पहले मिथ्या दृष्टिवाले भिक्षुओं को एक एक करके बुलाया गया, और उनसे भगवान् बुद्ध के धर्म के सम्बन्ध में पूछा गया। उन्होंने अपने अपने विचार के अनुसार बुद्ध के सिद्धान्तों की व्याख्या की। इस पर इन सब मिथ्या दृष्टिवाले भिक्षुओं को बहिष्कृत कर दिया गया, जो भिक्षु इस तरह निकाले गये, उनकी संख्या साठ हज़ार थी[1]।

अब धामिक भिक्षुओं को बुलाया गया। उनसे पूछा गया कि भगवान् बुद्ध की क्या शिक्षायें थीं ? उन्होंने उत्तर दिया— भगवान् सम्बुद्ध की शिक्षायें 'विभज्जवादी' हैं। धार्मिक भिक्षुओं की इस बात से आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य ने सहमति प्रकट की। इस पर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। पापभिक्षु बहिष्कृत होगये और संघ शुद्ध होगया। सात वर्ष के बाद फिर 'उपोसथ' किया जा सका। परन्तु तृतीय महासभा की समाप्ति यहीं पर नहीं होगई। आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य ने १,००० भिक्षुओं को चुन लिया[2]। ये भिक्षु बड़े विद्वान् और अनुभवी थे। इन १००० भिक्षुओं की सभा आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुई। यह सभा नौ मास तक होती रही। धर्म-सम्बन्धी सब विवादग्रस्त विषयों पर इसमें विचार हुआ। अन्त में मोद्गलिपुत्र तिष्य का बनाया हुआ 'कथावत्थु' नाम का ग्रन्थ प्रमाणरूप से सबने स्वीकृत किया। इस तरह सम्राट् अशोक के राज्याभिषेक के सतरह साल बाद ७२ वर्ष के वृद्ध, महाविद्वान्, धर्माचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य ने बौद्धधर्म की तृतीय

---

१. महावंश ५ । २७२

२. महावंश ५ । २७७

महासभा की समाप्ति की। साथ ही पृथ्वी काँप कर कह उठी 'साधु'।

बौद्ध धर्म के आन्तरिक विवादों के समाप्त होने पर और संघ में एकता स्थापित हो जाने पर आचार्य तिष्य ने देश-विदेशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए महान् आयोजना तैयार की। इसी के साथ में विदेशों में बौद्ध धर्म का विस्तार प्रारम्भ हुआ। इसका वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

उन्नीसवाँ अध्याय

विविध देशों में बौद्ध धर्म का विस्तार

१. बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव

ईसा के जन्म से कम से कम पाँच सदी पूर्व मगध के उत्तर में लुम्बनी नामक वन में उस महापुरुष का जन्म हुआ, जिसे आज तक एक तिहाई मनुष्य-जाति ईश्वर मान कर पूजती है। बुद्ध ने प्राचीन आर्य-धर्म की बिगड़ी हुई अवस्था का अनुभव किया। उसमें सुधार के लिए, प्रचलित अन्धविश्वासों और कुरीतियों को दूर करने के लिए इस शाक्य-महात्मा ने अपने वैभवशाली राज्य को छोड़ दिया। सत्यज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्वस्व त्याग कर बोधिवृक्ष के नीचे तपस्या प्रारम्भ कर दी। अन्त में तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ और 'बुद्ध' बनकर गौतम ने निश्चय किया कि संसार से अन्धविश्वास को दूर करना चाहिए। इसी लिए बनारस में आकर 'धर्म-चक्र' का प्रवर्तन करते हुए अपने शिष्यों को सम्बोधन करके कहा—"हे भिक्षुओ! अब तुम लोग जाओ और बहुतों के कुशल के लिए, संसार की दया के निमित्त, देवताओं और मनुष्यों की भलाई, कल्याण और कुशल के लिए भ्रमण करो। तुममें से कोई दो भी एक ही मार्ग से न जाओ। हे भिक्षुओ! तुम लोग उस सिद्धान्त का प्रचार करो जो कि आदि में उत्तम है, मध्य में उत्तम है, अन्त में उत्तम है। सम्पन्न, पूर्ण और पवित्र जीवन का प्रचार करो।"[1] इस प्रभावशाली उपदेश को सुनकर बुद्ध के शिष्य सब दिशाओं में फैल गये और नवीन उच्च शिक्षाओं का प्रचार करने लगे।

---

1. महावग्ग १. २. १। पृष्ठ १८८

बुद्ध के जीवन-काल में बौद्ध-धर्म भारत तक ही परिमित रहा। यद्यपि लंका के प्राचीन इतिवृत्त में इस प्रकार की कथाएँ उल्लिखित हैं, जिनसे कि बुद्ध का लंका में अनेक बार आगमन सूचित होता है, परन्तु साधारणतया इन पर विश्वास नहीं किया जाता।[1] बुद्ध के समय में तथा उसके बाद भी दो शताब्दियों तक बौद्ध धर्म का प्रचार भारत से बाहर नहीं हो सका। इस बीच में भारत के अन्दर भी बौद्ध धर्म उन्नति नहीं कर सका। भगवान् बुद्ध की मृत्यु के बाद ही 'बौद्ध संघ' में आन्तरिक झगड़े प्रारम्भ हो गये, अनेक सम्प्रदायों का जन्म हो गया। भिक्षु-गण साधारण साधारण बातों पर विवाद करने लगे। बुद्ध की शिक्षाओं की उसके शिष्यों ने अपनी समझ के अनुसार व्याख्या करनी प्रारम्भ कर दी। इस अवस्था को दूर करने के लिए तत्कालीन बौद्ध नेताओं ने दो महासभाओं की आयोजना की। पहली महासभा बुद्ध की मृत्यु के बाद हुई और दूसरी इसके लगभग १०० साल बाद। इन सभाओं का यह परिणाम हुआ कि बौद्ध-धर्म की आन्तरिक पवित्रता बहुत समय तक स्थिर रह सकी। परन्तु इस समय में बौद्ध प्रचारक भारत से बाहर नहीं गये। भारत से बाहर बौद्ध-धर्म का प्रचार अशोक के समय में शुरू हुआ।

२, सम्राट् अशोक का प्रक्रम और धर्म-विजय

जिस समय अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया, उस समय तक इस धर्म ने भारत में भी बहुत अधिक शक्ति नहीं प्राप्त की थी। कौन्स्टैन्टाइन की तरह अशोक ने एक अत्यन्त शक्तिशाली और बुद्धि-शील धर्म की राजनैतिक उपयोगिता के कारण शरण नहीं ली थी। उसने इसकी शिक्षाओं की उच्चता और पवित्रता को दृष्टि में रख कर इसे अपनाया था।[2] यही कारण है कि उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति को इसकी शिक्षाओं

१. R. S. Copleston—Buddhism Primitive and Present, पृष्ठ ३१०-३१४.

२. Bhandarkar—Asoka, पृष्ठ २२५.

का प्रचार करने में लगा दिया। अशोक के इसी 'प्रक्रम'[1] के साथ विदेशों में बौद्ध धर्म के विस्तार का इतिहास प्रारम्भ होता है। सबसे पहले अशोक ने बौद्ध संघ की आन्तरिक अव्यवस्था को दूर करने का यत्न किया। संघ में भेद डालनेवालों के लिए कठोर दण्ड का विधान किया[2]। फिर अनेक उपायों का आश्रय ले बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए 'प्रक्रम' का प्रारम्भ किया। यहाँ पर हम केवल विदेशीय प्रचार के विषय में विचार करेंगे। विदेशों में बौद्ध-धर्म के विस्तार का प्रारम्भ 'बौद्ध-धर्म की तीसरी महासभा' के साथ हुआ। इस महासभा के लिए अशोक ने अपने राज्य के समस्त भिक्षुओं को एकत्रित किया[3]। अशोक का गुरु मोद्‌गलिपुत्त तिष्य इस सभा का सभापति बना। धर्म-सम्बन्धी अनेक आवश्यक विषयों पर विचार हो चुकने पर एक हज़ार भिक्षुकों की एक परिषद् नियत की गई। इस परिषद् के अधिवेशन नौ मास तक होते रहे। धार्मिक ग्रन्थों की पुनरावृत्ति की गई। तिष्य का 'कथावत्थु' ग्रन्थ प्रामाणिक पुस्तक के रूप में स्वीकृत किया गया। इसी महासभा की समाप्ति पर यह निश्चय किया गया कि बौद्ध धर्म के लिए विविध देशों में भिक्षु भेजे जायँ। इसी के अनुसार अनेक मिशन तैयार किये गये[4]। दीपवंश के अनुसार विविध मिशनों के नेता और उनको समर्पित देशों की सूची इस प्रकार है[5]—

---

१. रूपनाथ का प्रथम लघु शिलालेख।

२. सारनाथ का स्तम्भलेख।

३. महावंश परिच्छेद ५, श्लोक २६५—२७१।

४. V. A. Smith—Asoka.

५. दीपवंश (Oldenburg) अध्याय ८, श्लोक १—११।

मोग्गलिपुत्तो दीघदस्सी शासनस्स अनागते।

पश्चन्तम्हि पतिट्ठानं दिस्वा दिब्बेन चक्खुना ॥ १ ॥

देश	मुख्य प्रचारक
१. काश्मीर और गान्धार	मज्झन्तिक
२. महीशमण्डल (माइसूर)	महादेव
३. वनवासी (उत्तरीय कनारा)	रक्खित
४. अपरान्तक (बम्बई के उत्तर का तट)	योनक धम्मरक्खित
५. महारट्ठ (महाराष्ट्र)	महाधर्म रक्खित
६. योन (भारत से उत्तर-पश्चिम प्रदेश)	महारक्खित
७. हिमवन्त (हिमालय का प्रदेश)	मज्झिम, कस्सप इत्यादि
८. सुवन्न भूमि (पेगू और मालमीन)	सोण, उत्तर
९. लंका (सीलोन)	महीन्द इत्यादि

इसी प्रकार का वर्णन महावंश में भी उपलब्ध होता है[1]। लंका के इन प्राचीन इतिहासों में उपलब्ध वर्णन विश्वसनीय है, यह बात कुछ उत्कीर्ण लेखों से सूचित होती है। इन लेखों में

मज्झन्तिकादयो थेरे पाहेसि अत्तपञ्चमे
सासनस्स पतिट्ठाय पच्चन्ते सतबुद्धिया ॥ २ ॥
पच्चन्तकानं देसानं अनुकम्पथ पाणिनम् ।
पभातुका बलप्पत्ता देसेथ धम्ममुत्तमम् ॥ ३ ॥
गन्त्वा गन्धारविसयं मज्झन्तिको महा इसि ।
कुपितं नागं पसादेत्वा मोचेसि बन्धना बहु ॥ ४ ॥
गन्त्वा च रट्ठं महिसं महादेवो महिद्धिको ।
चोदित्वा निरय दुक्खेन मोचेसि वन्धना बहु ॥ ५ ॥
अथाऽपरोऽपि रक्खितो विकुब्बनेसु कोविदो ।
वेहासं अब्भुग्गन्त्वान देसेसि अनमतग्गियम् ॥ ६ ॥
योनक धम्मरक्खित थेरो नाम महामति ।
अग्गिक्खन्धोपमसुत्त कथाय च महिद्धिको ॥ ७ ॥
नारदकस्स पजातक कथाय च महिद्धिको ॥ ८ ॥
महारक्खित थेरोऽपि योनक लोकम् पसादयि
कालकाराम सुत्तन्त कथाय च महिद्धिको ॥ ९ ॥ इत्यादि

१. महावंश पञ्चम परिच्छेद ।

दीपवंश और महावंश में उल्लिखित प्रचारकों के नाम पाये जाते हैं। सांची के स्तूप में खोज करने पर प्राचीन अवशेषों से युक्त एक पात्र मिला है जिसके भीतरी ढक्कन पर 'मज्झिम' और बाहरी ढक्कन पर 'कासपगोत' नाम उत्कीर्ण हैं। यह 'कासपगोत' और 'मज्झिम' दीपवंश और महावंश के अनुसार हिमवन्त प्रदेश में गये प्रचारक-मण्डल के नेता थे। सांची में ही एक अन्य अवशेष उपलब्ध हुआ है, जिस पर ये दोनों नाम उत्कीर्ण हैं और उनके नामों के साथ 'हेमवताचार्य' या हिमालय के आचार्य की उपाधि लगी हुई है। यहीं पर एक अन्य अवशेष मिला है जिस पर कि 'मोगलिपुत्र' लिखा है, यह सम्भवतः बौद्ध धर्म की तृतीय महासभा का सभापति मोद्गलिपुत्र तिष्य ही है[1]।

विदेशों में बौद्धधर्म के प्रचार के लिए वस्तुतः ही यह बहुत महत्त्व-पूर्ण संगठन था। ऐतिहासिक स्मिथ के शब्दों में संसार के इतिहास में धार्मिक प्रचार के लिए इससे अधिक पूर्ण और संगठित प्रयत्न और कभी नहीं हुआ[2]। इसी प्रयत्न का यह परिणाम हुआ कि एशिया के विभिन्न देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ। यह महान् संगठन बौद्ध धर्म की इस 'तृतीय महासभा' का ही फल था। इसका श्रेय मोद्गलिपुत्र तिष्य को ही दिया जाना चाहिए, अशोक को नहीं[3]। सम्राट् की स्थिति में अशोक किसी धर्म-विशेष के लिए अपनी राजकीय शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता था। उसने अपनी 'धर्मविजय' के लिए जो प्रयत्न किया था, वह 'बौद्ध धर्म' के प्रचार से भिन्न था।

---

१. Cunningham—Bhilasa Topes और R. K. Mukerji—Men and thought in Ancient India.

२. V. A. Smith—Asoka (2nd Edition), पृष्ठ ४६.

३. Bhandarkar—Asoka, पृष्ठ १६७—"For these missions Mogali-putta Tissa was perhaps responsible, but they had nothing to do with the measures which Asoka adopted with the same object in view."

परन्तु 'धम्म' के प्रचार में अशोक जिन सिद्धान्तों का प्रचार कर रहा था, वे ही मुख्यतः बौद्ध धर्म के सिद्धान्त थे, यद्यपि अन्य धर्मों को भी उनसे विरोध नहीं हो सकता था। यही कारण है कि इस 'धम्म-विजय' से भी बौद्ध धर्म के प्रचार में बड़ी भारी सहायता मिली, अतः इसका भी संक्षिप्त उल्लेख करना यहाँ बहुत आवश्यक है। अशोक अपने प्रसिद्ध 'चतुर्थ शिलालेखों' में लिखता है।

"धम्म-विजय को ही देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी मुख्यतम विजय मानते हैं। यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय ने यहाँ (अपने राज्य में) तथा छः सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की है, जहाँ अन्तियोक नाम यवन-राजा राज्य करता है, और उस अन्तियोक के बाद तुरुमय, अन्तिकिनि, मक और अलिकसुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते हैं और उन्होंने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोड़, पाण्ड्य तथा ताम्रपर्णी में भी धर्म-विजय प्राप्त की है। उसी प्रकार यहाँ राजा के अपने राज्य में यवनों और काम्बोजों में, नाभाक और नाभाक पंक्तियों में, वंशानुगत भोजों आन्ध्रों और पुलिन्दों में—सब जगह लोग देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन अनुसरण करते हैं और अनुसरण करेंगे।[1]

विविध देशों में धर्म-विजय के लिए विनियुक्त अमात्यों का उल्लेख अन्य शिलालेखों में भी आया है[2]।

इन शिलालेखों के अनुसार सीरिया व पश्चिमीय एशिया के राजा अन्तियोक (एन्टियोकस थियोस २य) इजिप्ट के राजा तुरुमय (टॉल्मी फिलेडेलफस) साइरिनि (उत्तरीय अफ्रीका में)

---

१. जनार्दन भट्ट—अशोक के शिलालेख, परन्तु भट्ट महोदय के अनुवाद को Bhandarkar—Asoka और Inscriptions of Asoka को दृष्टि में रखकर परिवर्तित कर दिया गया है।

२. चतुर्दश शिलालेख में द्वितीय और पञ्चम लेख।

के राजा मक (मैगस) और यूपिरस के राजा अलिकसुन्दर (एलैकज़ैण्डर) के राज्यों में अशोक धर्म-विजय के लिए गये[1]।

इन सुदूर पश्चिमीय देशों के सिवाय भारत के दक्षिण में भी अशोक के अमात्य गये। अशोक के राज्य से बाहर दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, केरलपुत्र, सातियपुत्र,[2] और ताम्रपर्णी के स्वतंत्र राज्य थे। ताम्रपर्णी लंका का प्राचीन नाम है, और सातियपुत्र से केरल के समीप के प्रदेश का ग्रहण किया जा सकता है। साम्राज्य के अन्दर भी 'आन्ध्र' 'पुलिन्द' आदि जातियों में 'धर्म' की स्थापना की गई। पंचम शिलालेख में इस सूची में गान्धार और 'राष्ट्रीक' (महाराष्ट्र) देशों की और वृद्धि कर दी गई है।

सम्राट् अशोक अपनी धर्म-विजय का कार्य 'धर्म-महामात्र' और 'धर्मयुत' नाम के राज-कर्मचारियों की सहायता से करता था। ये महामात्र सब जगह देवताओं के प्रिय अशोक के सन्देश को सुनाते थे और लोगों को वास्तविक धर्म का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करते थे। इनका कार्य 'हित और सुख करना, अनाथों और वृद्धों की रक्षा करना तथा क़ैद और प्राणदण्ड को नियंत्रित करना' होता था। ये सर्वत्र अपने 'हित और सुख' के उद्देश्य से भ्रमण करते थे और लोगों पर 'धर्म-विजय' प्राप्त करते थे। इतना ही नहीं, अशोक ने इन विदेशी राष्ट्रों में मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिए प्रबन्ध किया। जहाँ ओषधियाँ नहीं थीं वहाँ ओषधियाँ लगवाईं। मार्गों पर मनुष्यों और पशुओं के आराम के लिए वृक्ष लगवाये और कुएँ खुदवाये[3]। अशोक के इन

---

१. V. A. Smith—Asoka, पृष्ठ ४३.

२. द्वितीय शिलालेख।

३. 'प्रिय दसनो राजा द्वे चिकीछकता मनुसचिकीछ च पसुचिकीछा च। ओसुढानि च यानि मनुसोपगतानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपितानि च मूलानि च फलानि च यत यत नास्ति

प्रयत्नों का क्या परिणाम हुआ होगा, इसका अनुमान सहज में किया जा सकता है। अशोक के समय में प्रायः सभी अन्य राज्यों में विदेशी विजेता राज्य कर रहे थे, उन्हें अपनी शक्ति और वैभव के सिवाय अन्य किसी बात का ख्याल नहीं था। जनता की भलाई उनके ध्यान में कभी न आती थी। ऐसे समय अशोक के इन लोकोपकारी प्रयत्नों का यह परिणाम अवश्य ही हुआ होगा कि सब लोग अशोक को ही अपना उपकर्ता, अपना विजेता समझने लगे। साधारण जनता के लिए वही राजा है, वही स्वामी है, जो उनके हिताहित, सुख-दुःख का ध्यान रक्खे, उनके आराम के लिए कूप खुदवाये, धर्मशालायें बनवाये। वृक्ष लगवाये और अस्पताल खुलवाये। यही कारण है, कि इन सब विदेशी राज्यों में खून की एक बूँद भी गिराये बिना, केवल प्रेम और परोपकार के द्वारा अशोक अपनी अपूर्व 'धर्म-विजय' स्थापित कर सका।

सर्व-साधारण जनता पर अशोक तथा उसके प्रतिनिधि 'महामात्रों' के धर्म का क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसकी कल्पना भी सहज में की जा सकती है। विदेशों की जनता ने अपने इन उपकर्त्ताओं को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखा, इनके धर्म के प्रति उनके हृदयों में स्वाभाविक रूप से अनुराग उत्पन्न हुआ। जिस धर्म के अनुयायी इस प्रकार परोपकार के लिए अपने तन, मन, धन को स्वाहा कर सकते हैं, वह कितना उच्च धर्म है। इसी लिए बिना बड़े शास्त्रार्थों के, बिना लम्बे-चौड़े व्याख्यानों के, हज़ारों लाखों मनुष्य बौद्ध-धर्म के अनुयायी होने लगे। उधर मोद्गलिपुत्र तिष्य के प्रचारक अपना कार्य कर ही रहे थे। अशोक के इन प्रयत्नों ने उनकी परोक्षरूप से बहुत सहायता की और बड़े वेग से बौद्ध-धर्म का प्रचार होने लगा।

सर्वत्र हारापितानि च रोपितानि च। पंथेसू कूपा च खानापिता व्रछा च रोपायिता प्रतिभोगाय पसुमनुसानं' (गिरिनार शिला-लेख)

विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार का यह पहला युग है। इस समय में इन प्रचारकों ने विविध देशों में किस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रचार किया, इसका वृत्तान्त अब उपलब्ध नहीं होता। केवल सीलोन के सम्बन्ध में कुछ बातें ज्ञात होती हैं। वहाँ महिन्द' ने किस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रचार किया, इसका हाल महावंश और दीपवंश में उल्लिखित है। हम इस पर आगे चलकर विचार भी करेंगे। ऊपर जिन देशों का नाम लिखा गया है, प्रतीत होता है, कि उनके सिवाय कुछ अन्य देशों में भी अशोक के समय में बौद्ध प्रचारक धर्म-प्रचार के लिए गये थे। इन देशों में चीन और खोतान के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। चीन के प्राचीन ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि २१७ ई० पू० के लगभग कुछ बौद्ध भिक्षु चीन की राजधानी में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए गये। कई ऐतिहासिक तो यहाँ तक कहते हैं कि २०० ई० पू० से पहले चीन में बौद्ध शिक्षाओं का बहुत विस्तार हो चुका था[२]। परन्तु यह प्रचार किस प्रकार और किन भिक्षुओं के प्रयत्न से हुआ, यह अब हमें मालूम नहीं है। खोतान में भी, चीनी ग्रन्थों तथा खोतानी पुस्तकों के अनुसार, अशोक के लड़के कुस्तन ने बौद्धधर्म की स्थापना की[३]।

३. लङ्का में महेन्द्र का प्रचार

लंका को जो प्रचारक-मण्डल भेजा गया, उसका नेता सम्राट् अशोक का पुत्र महेन्द्र था। महेन्द्र के साथ कम से कम चार और भिक्षु थे। इन प्रचारकों ने किस प्रकार लंका में बौद्धधर्म का प्रचार किया, यह वृत्तान्त महावंश, दीपवंश, दिव्यावदान, अशोकावदान और ह्यूनसांग के यात्रा-विवरण में उल्लिखित है। इन्हीं प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर महेन्द्र के प्रचार का

१. Edkins—Chinese Buddhism, पृष्ठ २८.

२. H. G. Wells—The Outline of History, पृष्ठ २१३.

३. Rockhill—The Life of Buddha, पृष्ठ २३४.

संक्षिप्त वर्णन हम यहाँ उल्लिखित करेंगे। महावंश और दीपवंश के अनुसार यह वृत्तान्त इस प्रकार है—

जब कि सम्राट् बिन्दुसार अभी जीवित थे, तब कुमार अशोक अवन्तिदेश के 'कुमार[1]' थे। उनकी राजधानी उज्जैन थीं। उस समय उनका सेट्ठी जाति की एक कन्या के साथ सम्बन्ध हो गया। इस कन्या का नाम देवी था और यह 'वेदिसगिरि'[2] की रहनेवाली थी। इसका राजकुमार के साथ विवाह हो गया। और बुद्ध की मृत्यु के २४० वर्ष बाद[3] उनसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम महेन्द्र रक्खा गया। दो वर्ष बाद सङ्घमित्रा नाम की एक लड़की भी उत्पन्न हुई। जिस समय अशोक ने अपने भाइयों का घात कर[4] साम्राज्य को हस्तगत कर लिया, उस

---

१. मौर्यकाल में 'कुमार' शब्द का व्यवहार प्रान्तों के शासकों के लिए भी होता था। सम्पूर्ण मौर्य साम्राज्य पांच बड़े प्रान्तों में विभक्त था। इन पर शासन करने के लिए प्रायः राजघराने के व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे। ये शासक 'कुमार' या 'आर्यपुत्र' कहलाते थे। अशोक के शिलालेखों में इन्हें इन शब्दों से ही कहा गया है। यथा:—

'देवानां पियस्सवचनेन; तोसलियं कुनाले महामाता च वनविय अँ किं छि' इत्यादि (धौली का शिलालेख) और भी देखिए— Bhandarkar—Asoka, अध्याय २।

२. भीलसा के समीप वेसनगर। इसके वर्णन के लिए देखिए Cunningham—Bhilsa Topes.

३. द्वे वस्ससतानि होन्ति चतुवस्सं पन उत्तरि।
समन्तरम्हि सो जातो महेन्दो असकत्तजो॥
(Oldenburg-Dipvansa, अध्याय ६, श्लोक २०)

४. वेमतिके भातरो सो हन्त्वा एकूनकं सतं।
सकले जम्बुदीपस्मिं एकं रज्जमपापुणि॥
(महावंश—पञ्चम परिच्छेद श्लोक २०)

समय 'देवी' वेदिसगिरि में ही रही, परन्तु दोनों सन्तान अपने पिता के साथ राजधानी में चले गये। संघमित्रा का विवाह 'अग्निब्रह्मा' नाम के एक ब्राह्मण से किया गया। इनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम सुमन रक्खा गया।

अशोक के राज्याभिषेक के चार वर्ष बाद युवराज तिष्य—जो कि उसका भाई था—अग्निब्रह्मा और सुमन ने बौद्ध-धर्म्म की दीक्षा ली। इस समय सम्राट् अशोक 'धम्म' के प्रचार में पूर्ण रूप से तत्पर था। उस द्वारा अभिवाञ्छित चौरासी हज़ार स्तूप बन कर तैयार हो चुके थे[1]। इसी समय बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों की एक बड़ी भारी सभा की गई, जिसमें लाखों भिक्षु सम्मिलित हुए। अशोक पूर्ण समारोह के साथ सभा के मध्य में उच्च मञ्च पर विराजमान हुआ। इस समय अशोक के सब अपराध और दोष धुलकर दूर हो चुके थे और अब वह चण्डाशोक के स्थान पर 'धम्मासोक' बन चुका था। क्योंकि युवराज तिष्य पूर्णरूप से अपने नवीन धर्म की सेवा में तत्पर था, अतः अशोक ने विचार किया कि युवराज के पद पर तिष्य के स्थान पर कुमार महेन्द्र को नियुक्त कर दिया जाय। परन्तु महेन्द्र का धर्मगुरु 'मोद्गलिपुत्त तिस्स'

दीपवंश के अनुसार—

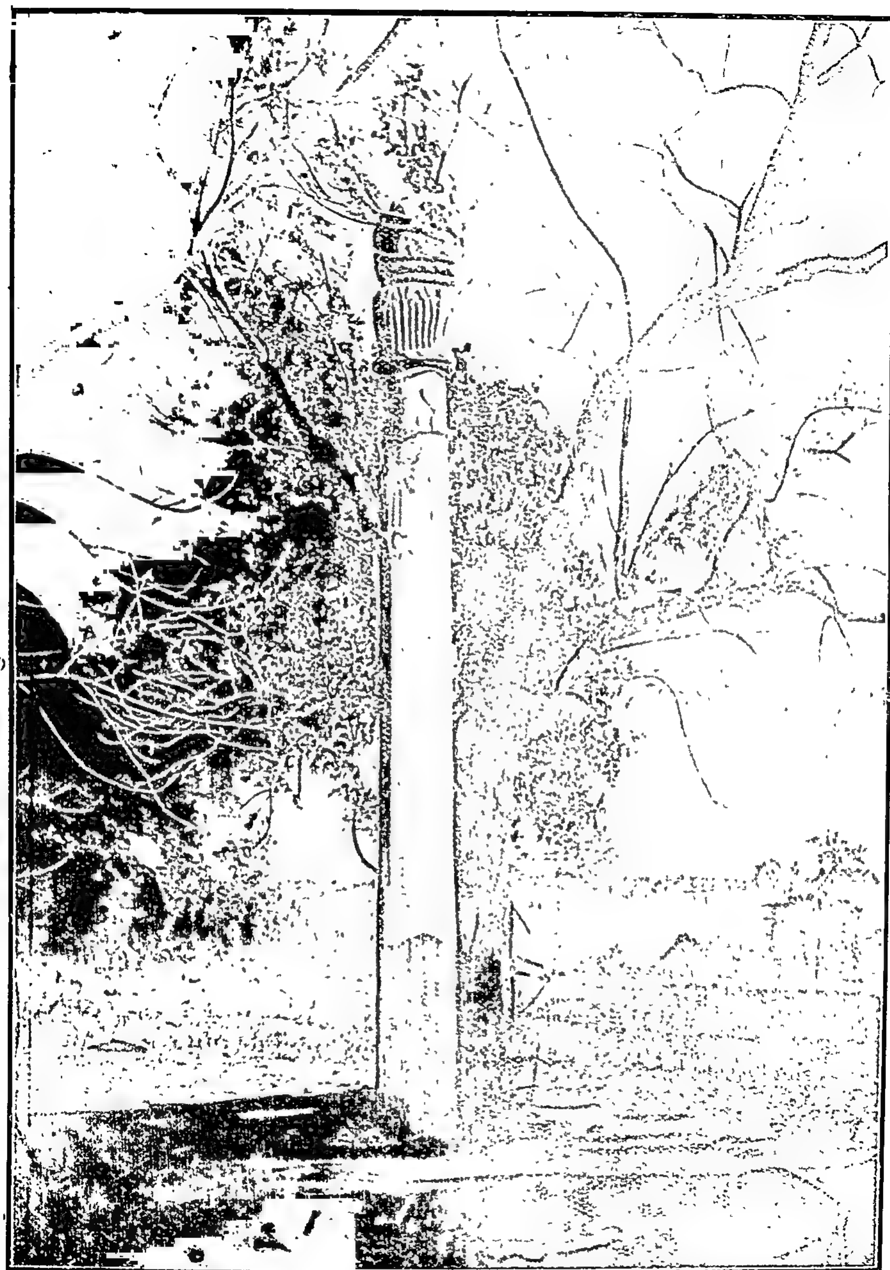
हन्त्वा एक सते भाते वसं कत्वान एकतो।
महिन्द चुद्दसमे वस्से असोकं अभिसिञ्चयुम् ॥

(अध्याय ६ श्लोक २२)

१. पूरे तु चतुरासीति सहस्सेसु महीतले।
तत्थ तत्थेव राजूहि विहारे आरभायथि ॥ महावंश ५, ८१-८२
इसी तरह दिव्यावदान—चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्रं प्रतिष्ठापितं सर्वत्र च शतसहस्राणि दत्तानि जातौ बोधौ धर्मचक्रे परिनिर्वाणे च ॥

(Cowell and Neil—Divyavadana, p. 429.)

इसी तरह ह्यूनसांग के यात्रा-विवरण में वर्णित है।



बेसनगर में प्राप्त गरुड़-स्तम्भ । पृ० ४२८

इससे सहमत न हुआ[1]। उसने महेन्द्र और संघमित्रा—दोनों को भिक्षुव्रत देना निश्चय कर रक्खा था। अतः सम्राट् से उसने महेन्द्र को युवराज न बनाने के लिए निवेदन किया। सम्राट् तैयार होगया और महेन्द्र तथा संघमित्रा को भिक्षु धर्म की दीक्षा दी गई। कुमार महेन्द्र की आयु २० वर्ष की हो चुकी थी अतः उसे एक-दम संघ में ले लिया गया। संघमित्रा की आयु अभी दो वर्ष कम थी इसलिए उसे दो वर्ष और प्रतीक्षा करनी पड़ी। महेन्द्र ने सम्राट् अशोक के राज्याभिषेक के ६ वर्ष बाद भिक्षुव्रत ग्रहण किया। सम्राट् के राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद बौद्ध-संघ से अव्यवस्था को दूर करने के लिए बौद्ध धर्म की तीसरी महासभा हुई। इसका सभापति सम्राट् अशोक का धर्मगुरु 'मोद्गलिपुत्र तिष्य' बना। इस महासभा में 'कथावत्थु' नामक प्रबन्ध की रचना की गई और संघ के अन्दर व्यवस्था स्थापित करने के लिए महान् उद्योग किया गया। साथ ही बौद्ध धर्म का देश-देशान्तरों में प्रचार करने के लिए अनेक प्रचारक-मण्डल तैयार किये गये। इसी समय लंका के राजा 'देवानाम्पिय तिस्स' (देवानां प्रिय तिष्य) ने भारतवर्ष में एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजा। 'तिस्स' इसी वर्ष लंका की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ था। यह अशोक का बहुत ही घनिष्ट मित्र और सहायक था। अपने शक्तिशाली मित्र के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिए ही यह 'मण्डल' भेजा गया था। इसका प्रधान था, तिस्सका भतीजा 'महाअरिट्ठ'। उस समय लङ्का पर भी सम्राट् अशोक का बड़ा प्रभाव था। यद्यपि भारत के दक्षिण में स्थित यह द्वीप मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था, तथापि यहाँ पर भी अशोक ने अपनी धर्म-विजय प्राप्त की थी। इसी लिए अशोक उचित

---

१. 'उपज्झायो कुमारस्स अहु मोग्गलि सव्हयो' (महावंश ५, २०७) संघमित्रा की उपाध्याया का नाम धर्मपाला दिया गया है। यथा—'संघमित्तायुपज्झाया धम्मपाला' तिविस्सुता, आचरिया आयुपाली काले सासी अनासवा। महावंश—५, २०९—२१०)

अभिमान के साथ लिखता है, कि "और उन्होंने (देवताओं के प्रिय अशोक ने) अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोल, पांड्य तथा ताम्रपर्णी में भी अपनी धर्म-विजय प्राप्त की है[१]।" ताम्रपर्णी लंका का ही दूसरा नाम है। इस धर्म-विजय के कारण लंका पर अशोक का बहुत अधिक प्रभाव था। वहाँ का राजा और प्रजा, दोनों ही उसे अपना उपकर्ता मानते थे। इसीलिए इस 'धर्म-विजय' से वे प्रभावित हुए 'देवानाम्पिय तिस्स' ने अपनी श्रद्धा और सम्मान का उपहार दूत-मण्डल के द्वारा अशोक के पास भेजा। दीपवंश के अनुसार तिस्स ने अपने राज्य में उत्पन्न होने-वाले अमूल्य और आश्चर्यकर रत्नों को देखकर कहा कि 'निस्सन्देह इन उपहारों के लिए मेरे मित्र धम्मासोक के सिवाय अन्य कोई योग्य नहीं है।' इन अमूल्य उपहारों को लेकर 'महा अरिट्ठ' का प्रतिनिधि-मण्डल लंका से चलकर सात दिन में ताम्रलिप्ती[२] के बन्दरगाह पर पहुँचा। वहाँ से राजधानी पाटलिपुत्र तक पहुँचने में और सात दिन लगे। सम्राट् अशोक ने इस दूत-मण्डल का राजकीय रीति से बड़े समारोह के साथ स्वागत किया। लंकाधिपति के अमूल्य उपहारों के बदले में अशोक ने भी समान मूल्य के अन्य उपहार 'देवानां पियतिस्स' के पास भेजे। ५ मास तक लंका का प्रतिनिधि-मण्डल पाटलिपुत्र में रहा। इसके बाद जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से वापस चला गया। प्रतिनिधियों को विदा करते हुए अशोक ने तिस्स के लिए यह सन्देश दिया—

"मैं बुद्ध की शरण में चला गया हूँ। मैं धर्म की शरण में चला गया हूँ। मैं संघ की शरण में चला गया हूँ। मैंने शाक्य-पुत्र के धर्म का सामान्य शिष्य होने की प्रतिज्ञा कर ली है। तुम भी इसी बुद्ध, धर्म और संघ के त्रिवाद का

---

१. अशोक के चतुर्दश शिलालेख।

२. वर्तमान तामलूक नगर।

आश्रय लेने के लिए अपने मन को तैयार करो। जिन के उच्चतम धर्म का आश्रय लो, गुरु बुद्ध की शरण में आने का निश्चय करो।"

इधर तो अशोक का यह सन्देश लेकर 'महा अरिट्ठ' लंका वापिस जा रहा था, उधर बौद्ध धर्म की तृतीय महासभा की परिसमाप्ति पर 'मोग्गलि पुत्त तिस्स' अन्य विविध देशों की तरह लंका में भी बौद्ध धर्म का प्रचार करने की योजना कर रहा था। लंका में जो मिशन भेजा गया उसका प्रधान, सम्राट् अशोक का पुत्र महेन्द्र था। उसके साथ में अन्य पाँच प्रसिद्ध भिक्षु भी थे।[२] इन भिक्षुओं में अशोक का दौहित्र व संघमित्रा का पुत्र सुमन भी एक था। महेन्द्र ने सम्राट् की अनुमति से लंका जाने से पूर्व अपनी माता तथा अन्य सम्बन्धियों से मिलने का विचार किया। इस कार्य में उसे छः मास लगे। महेन्द्र की माता 'देवी' वेदिसगिरि में रहती थी। वह अपने पुत्र से मिलकर बहुत प्रसन्न हुई। यहाँ महेन्द्र को 'देवी' ने स्वनिर्मित एक अत्युत्तम विहार में ठहराया। श्री वी० ए० स्मिथ के अनुसार सम्भवतः यहाँ 'वेस' नगर से दक्षिण पश्चिम में ५ मील के लगभग दूर स्थित साँची की भव्य इमारतों की ओर निर्देश है[३]। यहाँ पर भी महेन्द्र निरन्तर धर्म का प्रचार करता रहा और उसने अपनी माता के भतीजे के पुत्र (भन्दु) को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया। 'भन्दु' भी भिक्षु बनकर महेन्द्र के साथ हो लिया और लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए साथ चल पड़ा।

अब यह प्रचारक-मण्डल सीधा लंका की ओर चल पड़ता है। दक्षिण भारत के विविध देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए अन्य अनेक प्रचारक भेजे गये थे। यथा 'महीश-मण्डल'

---

१. दिव्यावदान में इस आचार्य का नाम 'उपगुप्त' लिखा है।

२. लङ्कादीपवरं गन्त्वा महिन्दो अत्तपञ्चमो।
सासनं थावरं कत्वा मोचेसि बन्धवा बहु ॥ Oldenburg—दीपवंशो ८।१२

३. V. A. Smith—Asoka (2nd edition), page 213.

(माइसूर) में महादेव, और महारठ्ठ (महाराष्ट्र) में महाधर्म-रक्खित। इसलिए महेन्द्र का प्रचारक-मण्डल सीधा लंका के लिए प्रस्थान करता है और लंका के 'मिस्स' पर्वत पर आ पहुँचता है। अशोक के सन्देश के कारण "देवानाम्पियतिस्स" पहले ही इस मिशन का स्वागत करने के लिए तैयार था। वह ४० हज़ार मनुष्यों के साथ एक हिरण का शिकार कर रहा था। कथा आती है कि हिरण का रूप धारण करके एक देवता आया हुआ था और यह मिस्स पर्वत की ओर तिस्स को ले जा रहा था[१]। यह कथा ठीक हो या न हो, यह निश्चित है कि जब तिस्स ने इन पीत वस्त्रधारी भिक्षुओं को देखा तो उसके हर्ष की कोई सीमा न रही। एकत्रित हुए तिस्स के साथियों और तिस्स को महेन्द्र ने उपदेश दिया। पहले ही उपदेश का यह असर हुआ कि तिस्स ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। उसके ४० हज़ार साथियों ने भी इसी समय में बौद्ध धर्म को स्वीकृत किया। राजकुमारी अनुला ने भी अपनी ५०० अनुयायी स्त्रियों के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। परन्तु उसे निराश होना पड़ा। उसे बताया गया कि पुरुष-प्रचारकों को स्त्रियों को दीक्षा देने का अधिकार नहीं है। स्त्रियों को स्त्रियाँ ही दीक्षा दे सकती हैं। कुमारी संघमित्रा निस्सन्देह अनुला को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर सकती है। इसी के अनुसार विचार के अनन्तर, राजा तिस्स ने 'महाअरिट्ठ' के नेतृत्व में फिर एक प्रतिनिधि-मण्डल सम्राट् अशोक के पास भेजा। यह मण्डल संघमित्रा को भी बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए आमंत्रित करने तथा बोधिवृक्ष की एक शाखा को लेने के लिए भेजा गया था। यद्यपि अशोक अपनी प्रिय पुत्री से विदा नहीं होना चाहता था, परन्तु बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए उसने अपनी पुत्री को ख़ुशी से लंका जाने की आज्ञा दे दी। इसी तरह बोधिवृक्ष की शाखा को

---

१. Copleston—Buddhism, Past and Present in India and Ceylon, page 317

भेजने का भी उपक्रम किया गया। बड़े समारम्भ के साथ सुवर्ण के कुठार से बोधिवृक्ष की शाखा काटी गई। उसे बड़े प्रयत्न से लङ्का तक सुरक्षित पहुँचाने का आयोजन किया गया। इस शाखा के लंका तक पहुँचने का वर्णन बड़ी सुन्दरता के साथ बौद्ध ग्रन्थों में किया गया है। वहाँ इसका स्वागत करने के लिए पहले से ही तैयारियाँ हुई थीं। बड़े सम्मान के साथ बोधिवृक्ष की शाखा का आरोपण किया गया। संघमित्रा के लंका पहुँचने पर अनुला ने अपनी सहेलियों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ली।

राजा तिस्स ने संघमित्रा के निवास के लिए एक स्त्री-विहार बनवा दिया, वहाँ भिक्षुणी बनने के ५९ वर्ष बाद अर्थात् ७९ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई। इस समय लंका के राजा तिस्स की भी मृत्यु हो चुकी थी। और उसके उत्तराधिकारी राजा 'उत्तिय' को राज्य करते हुए ९ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। महेन्द्र की भी इससे एक वर्ष पहले मृत्यु हो चुकी थी। मृत्यु के समय उसकी आयु ९० वर्ष की थी।

महेन्द्र के निवास के लिए भी लंकाधिपति तिस्स ने एक विहार का निर्माण कराया था। इसका नाम 'महाविहार' रक्खा गया था। लंका में यह पहला विहार था। इसके बाद चैत्यगिरि आदि बहुत से विहार बने। इस प्रकार लंका में निरन्तर बौद्ध धर्म का विस्तार होने लगा और धीरे धीरे सम्पूर्ण लङ्कावासियों ने बौद्ध धर्म को अपना लिया। महावंश में इस समय बुद्ध के दन्त आदि अनेक अवशेषों और बौद्ध भिक्षुओं के विविध चमत्कारों का वर्णन है, जिन्हें देख कर लोग धड़ाधड़ बौद्ध धर्म को अपनाने लगे। इन चमत्कारों की बात चाहे सत्य हो, चाहे मिथ्या, इतना निश्चित है कि महेन्द्र के 'प्रचारक-मण्डल' के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ कि धीरे धीरे सारा लंका द्वीप बौद्ध धर्म की शरण में आ गया।

अब तक लंका द्वीप में बौद्ध धर्म के विस्तार का जो वर्णन किया गया है, वह महावंश और दीपवंश के आधार पर है।

दिव्यावदान और ह्यू नसांग का वर्णन कुछ भिन्न है। दिव्यावदान में महेन्द्र को अशोक का भाई कहा गया है। ह्यू नसांग भी महेन्द्र को अशोक का छोटा ही भाई लिखता है[1]। इन ग्रन्थों का लंका के इतिवृत्ति से दूसरा भेद यह है कि इसके अनुसार महेन्द्र, दक्षिण-भारत में प्रचार करता हुआ लंका गया था। दिव्यावदान के अनुसार महेन्द्र कावेरी के तटवर्ती प्रदेश में भी पहुँचा था, और वहाँ उसने एक विहार भी बनवाया था। सातवीं सदी ई० प० (ईसवी सन् के पश्चात्) जब ह्यू नसांग ने भारत की यात्रा की थी तब उसने इस विहार को भग्नावस्था में भी देखा था। वह लिखता है—"इस शहर (मालकूट) के पूर्व में कुछ दूरी पर एक प्राचीन संघाराम है, इसका मुख्य भवन और आँगन जंगली घास से ढका हुआ है, केवल आधार की दीवारें बची हुई हैं। इसको अशोक राजा के छोटे भाई महेन्द्र ने बनवाया था[2]।

प्रो० ओल्डनबर्ग के अनुसार भी लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भिक्षुगण पाटलिपुत्र से सीधे ही नहीं गये थे। पहले बौद्ध धर्म का प्रचार दक्षिण भारत में किया गया और वहाँ से धीरे धीरे यह धर्म लंका में गया[3]।"

४. खोतान (लीयुल) में कुमार कुस्तन

सम्राट् अशोक के ही समय में खोतान में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि इस देश में भी एक मिशन बुद्ध की शिक्षाओं का विस्तार करने के लिए गया। अशोक का पुत्र राजकुमार कुस्तन इस बौद्ध-मिशन का मुखिया था। इन भिक्षुओं ने किस तरह खोतान जैसे देश में बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार किया, इसका वर्णन कुछ तिब्बती ग्रन्थों में उल्लि-

१. Beal—Buddhist Records of the Western World, II, p. 249.

२. Beal—Buddhist Records of the Western World, II, p. 231.

३. Oldenburg—Preface to the Vinay Texts.

खित है। सम्भवतः ये तिब्बती ग्रन्थ खोतान की प्राचीन पुस्तकों के अनुवाद हैं। आज खोतान देश सभ्यता की दृष्टि से बहुत पीछे है। प्रायः यह देश मरुस्थलों और जंगलों द्वारा आच्छादित है। परन्तु अब से कुछ सदी पूर्व ही यह एक उन्नत सभ्यता का केन्द्र था। यह मरुभूमि न होकर शस्य-श्यामल क्षेत्रों से परिपूर्ण था। उस समय इसमें बौद्ध धर्म का प्रचार था। सहस्रों ऊँचे ऊँचे स्तूप और बौद्ध-विहार इसके हरे-भरे मैदानों की शोभा बढ़ाते थे। पाँचवीं सदी में फाहियान और सातवीं सदी में ह्यूनसांग भारत की यात्रा करते हुए खोतान में भी पधारे थे। इन चीनी-यात्रियों ने इस देश का जो वर्णन किया है उससे प्रतीत होता है कि उस समय सम्पूर्ण खोतान देश बौद्धधर्म का अनुयायी था। यहाँ पर अनेक शहर बौद्ध-सभ्यता और बौद्ध-शिक्षा के केन्द्र थे। विहारों में सहस्रों भिक्षु निवास करते थे। आज कल तुर्किस्तान और विशेषतः खोतान में जो खुदाई हुई है उससे इस प्रदेश में बौद्ध-मूर्ति, स्तूप तथा विहार प्रभूत-मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। इन अन्वेषणों द्वारा इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं रह जाता कि एशिया के अन्य देशों की तरह खोतान भी बहुत समय तक बौद्ध धर्म का अनुसरण करता रहा है। तिब्बती ग्रन्थों में खोतान में राजकुमार कुस्तन के प्रचार का जो वर्णन मिलता है वह सर्वांश में विश्वसनीय नहीं है। अन्य प्राचीन इतिवृत्तों की तरह उसमें भी बहुत सी असम्भव गाथाएँ मिला दी गई हैं। परन्तु सत्य वृत्तान्त को समझ सकना कठिन नहीं है। इधर-उधर की असम्भव गाथाओं को अलग करके असली कथा सरलता से पता लगाई जा सकती है। तिब्बती ग्रन्थों में उपलब्ध वृत्तान्त को संक्षेप में इस प्रकार लिखा जा सकता है[1]:—

---

१. जिन तिब्बती ग्रन्थों में बौद्ध धर्म के प्रचार की ये गाथायें उल्लिखित हैं, उनके तिब्बती नामों तथा उनके अभिप्राय को Rockhill ने अपनी पुस्तक The Life of Buddha में दिया है।

"बुद्ध काश्यप के दिनों में कुछ ऋषिलोग खोतान देश में आये। परन्तु लोगों ने उनके साथ बुरा वर्ताव किया। इसलिए वे वहाँ से चले गये। इस पर नागों को बहुत कष्ट हुआ। उन्होंने सारे खोतान को झील के रूप में परिणत कर दिया जब बुद्ध शाक्यमुनि इस संसार में विद्यमान थे; वे खोतान में पधारे। उन्होंने खोतान की झील को प्रकाश की किरणों से घेर लिया। इस प्रकाश से ३६३ फूल उत्पन्न हुए। प्रत्येक कमल के मध्य में एक प्रदीप दीप्त हो रहा था। सारे कमलों का प्रकाश एक स्थान पर एकत्रित होगया। इस प्रकाश ने झील के चारों ओर बाईं तरफ़ से दाईं तरफ़ तीन तरफ़ चक्कर लगाया। इसके बाद प्रकाश लुप्त होगया। बुद्ध शाक्यमुनि ने अन्य भी अनेकों इस प्रकार के प्रयोग किये जिनके प्रभाव से यह झील सूख गई और फिर खोतान देश शुष्क होगया।

"राजा अजातशत्रु ने ३२ वर्ष तक राज्य किया। अजातशत्रु के राज्याभिषेक के ५ वर्ष बाद भगवान् बुद्ध की मृत्यु होगई। उनकी मृत्यु के बाद भी अजातशत्रु २५ साल तक राज्य करता रहा। अजातशत्रु से धर्माशोक तक कुल १० राजा हुए। धर्माशोक ने ५४ वर्ष तक राज्य किया।

"बुद्ध भगवान् की मृत्यु के २३४ वर्ष बाद भारतवर्ष पर धर्माशोक का राज्य था। पहले यह राजा बहुत अत्याचारी और क्रूर था। इसने बहुत से आदमियों की हत्या की थी। परन्तु पीछे से अशोक धार्मिक बन गया। उसने 'अर्हत यश' द्वारा बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और भविष्य में कोई भी पाप न करने की प्रतिज्ञा की।.............इस समय खोतान की झील सूख चुकी थी परन्तु देश अभी आबाद न था।

"राज्याभिषेक के ३० वें साल में महारानी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियों ने बतलाया कि इस बालक में प्रभुता के अनेक चिह्न विद्यमान हैं। यह अशोक के जीवन-काल में ही राजा बन जायेगा। सम्राट् अशोक यह सुनकर

घबराया। उसने आज्ञा दी कि बालक का परित्याग कर दिया जाय। परित्याग कर देने पर भी भूमि-द्वारा बालक का पालन होता रहा। इसी लिए उसका नाम कु-स्तन (कु = भूमि है स्तन जिसकी) पड़ गया।

"उस समय रीगा (चीन) में एक बोधि सत्व राज करता था। उसके ९९९ पुत्र थे। रीगा के शासक बोधिसत्व ने वैश्रवण से प्रार्थना की कि उसके एक और पुत्र हो जाय ताकि संख्या पूरी एक हज़ार हो जावे। वैश्रवण ने देखा कि कुस्तन का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। वह उसे रीगा ले गया और बोधिसत्व के पुत्रों में सम्मिलित कर दिया। रीगा के राजा ने उसका पुत्रवत् पालन किया। परन्तु एक दिन जब कि उसका रीगाधिपति के पुत्रों के साथ झगड़ा हो रहा था उन्होंने उससे कहा—'तू रीगा के सम्राट् का पुत्र नहीं है।' यह सुनकर कुस्तन को बहुत कष्ट हुआ। इस बात की सत्यता का निश्चय करके उसने राजा से अपने देश का पता लगाने और वहाँ जाने की इजाज़त माँगी। इस पर राजा ने कहा—'तू मेरा पुत्र है' यह मेरा अपना देश है, तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिए।' यद्यपि राजा ने उसे कई बार कहा पर उसने एक न सुनी। कुस्तन ने यही चाहा कि उसका एक अपना राज्य हो। इसलिए उसने अपने साथ १० हज़ार आदमियों को एकत्रित किया और उनके साथ अपना पृथक् राज्य ढूँढ़ने के लिए पश्चिम की तरफ़ चल पड़ा। इस तरह चलते चलते वह खोतान के 'मेस्कर' नामक स्थान में आ पहुँचा।

"सम्राट् धर्माशोक के मंत्री का नाम 'यश' था। इसका प्रभाव बहुत बढ़ रहा था। धीरे धीरे राजा को यह खटकने लगा। अतः यश ने अपना पृथक् प्रदेश ढूँढ़ने का निश्चय किया। वह अपने सात हज़ार आदमियों के साथ भारत को छोड़कर चला गया और पश्चिम तथा पूर्व में नये प्रदेश

का अनुसन्धान करने लगा। इस प्रकार वह 'उ-थेन' नदी के दक्षिणवर्ती प्रदेश में जा पहुँचा।

"अब यह हुआ कि कुस्तन के अनुयायियों में से दो व्यापारी घूमते फिरते 'तो-ला' नामक प्रदेश में आये। यह प्रदेश ग़ैर-आबाद था। इसकी रमणीयता को देखकर उन्होंने विचार किया कि यह प्रदेश कुमार कुस्तन के रहने योग्य है। इसके बाद वे मंत्री—यश के शिविर में पहुँचे। मंत्री यश 'तो-ला' स्थान से दक्षिण की तरफ़ ठहरा हुआ था। जब यश को कुस्तन के सम्बन्ध में पता लगा, तो उसने यह सन्देशा उसके पास भेजा—'तुम राज-घराने के हो और मैं भी एक उच्च घराने (मंत्री का घराना) का हूँ। अच्छा हो कि हम मिल जावें और इस 'उ-थेन' प्रदेश में मिलकर बस जावें। तुम राजा बनो और मैं तुम्हारा मंत्री।' सन्देश को सुनकर कुस्तन अपने अनुयायियों के साथ यश के पास आया और कुस्तन नदी के दक्षिण में बस गया। यह देश 'हङ्ग-गु-जो' कहलाता है।

"कुमार और मंत्री इस बात पर सहमत न हो सके कि कहाँ अपने घर बनाये जायँ। उनके अनुयायियों में भी भेदभाव था। इसलिए वे आपस में झगड़ने लगे। परन्तु अब वैश्रवण और श्रीमहादेवी उनके सम्मुख प्रकट हुए। कुमार और मंत्री ने दोनों देवों के लिए उस स्थान पर मन्दिर बनवा दिये और उन्हें अपने राज्य का शासक मान कर उनका सम्मान किया।"

"इस तरह कुमार कुस्तन और मंत्री यश में परस्पर समझौता होगया। कुस्तन राजा बन गया और यश उसका मंत्री। कुमार के चीनी अनुयायी 'उथेन' नदी के निचले भाग में और मंत्री के भारतीय अनुयायी 'उ-थेन' के उपरले भाग में बस गये। बीच में चीनी और भारतीय मिलकर रहने लग गये। तदनन्तर उन्होंने एक दुर्ग का निर्माण किया।

"खोतान देश आधा चीनी है और आधा भारतीय, अतः लोगों की भाषा न तो भारतीय ही है और न चीनी, अपितु दोनों का मिश्रण है। अक्षर बहुत कुछ भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं। लोगों की आदतें बहुत कुछ चीन से मिलती हैं। धर्म और भाषा भारत के साथ मिलती हैं। खोतान में वर्तमान भाषा का प्रवेश आर्यों (बौद्ध प्रचारकों) द्वारा हुआ है।

"जिस समय कुस्तन रीगा के राज्य को छोड़कर नये राज्य का अन्वेषण करने के लिए चला, उस समय उसकी आयु १२ साल की थी। जब उसने लीयुल (खोतान) राज्य की स्थापना की, तब वह १९ वर्ष की आयु का था। यदि भगवान् बुद्ध के निर्वाण से ठीक ठीक हिसाब लगाया जाय, तो निर्वाण के ठीक २३४ साल बाद लीयुल के राज्य की स्थापना हुई।

इसके बाद तिब्बती ग्रन्थों में खोतान के अन्दर बौद्ध धर्म के इतिहास का उल्लेख है। इसे यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। बौद्ध धर्म के प्रवेश के सम्बन्ध में इतना वृत्तान्त ही पर्याप्त है।

इस वृत्तान्त के अनुसार 'कुस्तन' और 'यश' अपने अनुयायियों के साथ खोतान में प्रचारक के रूप में नहीं गये थे अपितु उपनिवेश संस्थापकों के तौर पर गये। सम्राट् अशोक के समय भारत की राजनैतिक शक्ति प्रबल थी। विदेशों के साथ भारत का सम्बन्ध था। यहाँ से भारतीय लोग विदेश में आते-जाते रहते थे। अनेक बौद्ध प्रचारक धर्म का प्रचार करने के लिए बाहर गये। परन्तु तिब्बती ग्रन्थों का यह वृत्तान्त इतिहास के एक नवीन पहलू पर भी प्रकाश डालता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्यकाल में उत्साही धर्म-प्रचारकों ने नई नई बस्तियाँ बसाईं। धार्मिक क्रान्तियों के समय प्रायः ऐसा हुआ भी करता है। धार्मिक सुधारणा के आवेश से नव-जीवन-प्राप्त

जातियों का विकास एक ही दिशा में नहीं होता। वह विकास सर्वतोमुख होता है। इस्लामी धार्मिक सुधारणा के बाद अरब लोगों का सर्वत्र प्रसार हुआ। यूरोप में १६ वीं सदी में जो धार्मिक सुधारणा हुई, उसके बाद नये आवेश के साथ यूरोपियन लोग सर्वत्र फैले। क्या आश्चर्य है कि बौद्ध धार्मिक सुधारणा के बाद भारत में भी यही हुआ हो। मौर्य-साम्राज्य के प्रारम्भ में राजनैतिक विजेता के रूप में भारत की कीर्ति सर्वत्र फैली। अशोक ने इस विजय को तो जारी रक्खा, पर शस्त्र-विजय के स्थान पर 'धर्म-विजय' का अवलम्बन किया। यह धर्म-विजय अन्य विजयों से अधिक उत्कृष्ट और स्थायी थी। अशोक के समय में धर्म-प्रचारकों के रूप में भारतीय सर्वत्र विदेशों में गये। परन्तु इतिवृत्त से तो यह सूचित होता है कि वे उपनिवेश-संस्थापक होकर भी गये। खोतान के आबादी-शून्य प्रदेश को 'यश' की अध्यक्षता में भारतीयों ने और 'कुस्तन' के नेतृत्व में चीनियों ने आबाद किया। इन दोनों तत्त्वों से खोतान में जिस बौद्ध-सभ्यता का विकास हुआ, उसमें भारतीय और चीनी दोनों ही अंश विद्यमान थे। तिब्बती ग्रन्थों के इतिवृत्त से निम्न-लिखित तथ्यों का पता लगा सकना कुछ भी कठिन नहीं है:—

१. अशोक से पूर्व भी भारतीय प्रचारक खोतान में गये, परन्तु वहाँ वे अपना प्रचार करने में समर्थ नहीं हुए। उन्हें अपमानित होकर वहाँ से लौटना पड़ा।

२. किन्हीं दैवी आपत्तियों से यह देश नष्ट-भ्रष्ट होगया और इसकी पुरानी आबादी का अन्त होगया। भौगोलिक व भौतिक परिस्थितियों के परिवर्तन से प्रायः ऐसा होता रहता है।

३. अशोक के समय 'मंत्री-यश' इस प्रदेश में उपनिवेश बसाने के लिए गया। उधर चीनी लोग भी यहीं पर उपनिवेश-स्थापना के लिए आये। सम्भवतः, कुस्तन से पूर्व ही चीन में बौद्ध-धर्म का सन्देश पहुँच चुका था। कुस्तन के नेतृत्व में चीनी लोगों का एक दल खोतान में गया और

वहाँ पर एक सम्मिलित (चीनी और भारतीय) बौद्ध-सभ्यता का विकास हुआ।

हो सकता है कि नागों-द्वारा खोतान के जलमय होने की बात सर्वथा गप्प ही हो। सत्य यही हो कि कुस्तन के नेतृत्व में चीनियों और भारतीयों के दो दल खोतान में पहुँचे हों और इन्होंने वहाँ बौद्ध धर्म की स्थापना की हो। वास्तविक बात का पता लगाना असम्भव है, केवल कल्पना ही की जा सकती है। परन्तु इतना निश्चित है कि अशोक के समय विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जो बलवती लहरें भारत से चली थीं उन्हीं द्वारा खोतान में भी बौद्ध धर्म की स्थापना हुई थी।

५. मोद्गलिपुत्र तिष्य के प्रचारक-मण्डलों की सफलता

बौद्ध धर्म की तृतीय महासभा की समाप्ति पर आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य ने जो विविध प्रचारक मण्डल विदेशों में बौद्ध धर्म का विस्तार करने के लिए भेजे, उनमें से कुमार महेन्द्र ने लंका में किस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रचार किया, यह हम पहले देख चुके हैं। अन्य मण्डलों के सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ विवरण बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। केवल महावंश में संक्षेप के साथ इनके कार्य की तरफ़ निर्देश किया गया है। यह वर्णन अस्पष्ट और विचित्र बातों से भरा हुआ है। ऐसा मालूम पड़ता है कि जिस समय महावंश लिखा गया, उस समय इन मण्डलों के कार्य का कोई सम्बद्ध विवरण विद्यमान न था, केवल उनकी अपूर्व व गौरवमय सफलता की अतीत स्मृति ही अवशिष्ट थी। यह होते हुए भी महावंश का विवरण मनोरञ्जक और पढ़ने योग्य है[1]।

---

१. यह विवरण महावंश के द्वितीय परिच्छेद में विद्यमान है। महावंश के अँगरेज़ी अनुवाद के लिए George Turnour और L. C. Wijesinha Mudaliyar द्वारा अनूदित महावंश देखिए। यह

"काश्मीर और गान्धार में प्रचार के लिए थेर मज्झन्तिक गये। उस समय इन देशों पर 'आरवाल' नामक नागराजा राज्य कर रहा था। इसको अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त थीं। अपने प्रभाव से यह एक महान् जलप्रवाह द्वारा सम्पूर्ण काश्मीर और गान्धार की फ़सलों को नष्ट कर रहा था। थेर मज्झन्तिक आकाशमार्ग से उड़कर उस जल के ऊपर बड़े गम्भीर ध्यान में मग्न होकर इधर-उधर फिरने लगा। जब नागों ने उसे देखा, तब उन्हें बड़ा क्रोध आया। उन्होंने सब समाचार नागराज तक पहुँचा दिया। क्रोध से अभिभूत नागराज ने विविध उपायों से थेर मज्झन्तिक को भयभीत करने का प्रयत्न किया, बड़ी ज़ोर से हवा चलने लगी। बादल मूसलाधार वर्षा करने लगे। बिजली कड़कने लगी। मेघ गरजने लगे। वृक्ष और पर्वत टुकड़े टुकड़े होकर गिरने लगे।

"नागों ने विविध भयंकर रूपों को धारण कर थेर मज्झन्तिक को घेर लिया। उन्होंने उसे डिगाने का अनेक भाँति प्रयत्न किया। स्वयं नागराज ने विविध प्रकार से उसे कष्ट दिये। परन्तु थेर ने अपनी अलौकिक शक्तियों से इन सबका मुक़ाबला किया और नागों के सब प्रयत्नों को व्यर्थ कर दिया। अन्त में थेर मज्झन्तिक ने अपने उत्कृष्ट सामर्थ्य का प्रदर्शन कर नागराज को सम्बोधन कर इस प्रकार कहा—'हे नागराज! यदि सम्पूर्ण (मनुष्य) लोक देवों को भी अपने साथ लेकर मुझे नष्ट करना चाहे, तब

अनुवाद विशेषतः George Turnour द्वारा अनूदित पूर्वार्ध, मूल महावंश का भावानुवाद प्रतीत होता है। अतः असली अभिप्राय के मूल का अवलोकन करना आवश्यक है। हमने मूल पाली महावंश को सम्मुख रख कर हिन्दी अनुवाद किया है। यद्यपि यह भी मूल का अक्षरानुवाद न होकर भावानुवाद है, तथापि अँगरेज़ी अनुवाद से इसमें अनेक भिन्नतायें हैं।

भी वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। हे महानाग! यदि तू ससमुद्र और सपर्वत इस सारी पृथ्वी को मेरे ऊपर फेंक दे तब भी तू मुझमें किसी प्रकार का भय सञ्चार नहीं कर सकता, हे उरगाधिप! अपनी इस विनाश प्रक्रिया को बन्द कर दो[1]।

"यह सुनकर नागों का राजा बहुत प्रभावित हुआ। उसमें थेर मज्झन्तिक के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा उत्पन्न हुई। तब थेर ने उसे धर्मोपदेश किया। धर्म का उपदेश सुनकर नागराज ने बौद्ध धर्म को स्वीकृत कर लिया। इसी प्रकार ८४ हज़ार अन्य नागों ने थेर मज्झन्तिक के धर्म की दीक्षा ली।

"हिमवन्त देश में भी बहुत से गन्धर्व, यक्ष और कुम्भण्डकों ने बौद्ध धर्म को स्वीकृत किया। एक यक्ष ने जिसका नाम पञ्चक था, अपनी पत्नी हारीत के साथ धर्म के प्रथम फल की प्राप्ति की और अपने ५०० पुत्रों को इस प्रकार उपदेश किया—जैसे अब तक तुम क्रोध करते आये हो, वैसे अब भविष्य में क्रोध मत करो। क्योंकि सब प्राणी सुख की कामना करनेवाले हैं, अतः अब कभी किसी का घात न करो। जीवमात्र का कल्याण करो। सब मनुष्य सुख के साथ रहें[2]।

---

१. सदेव कोपि चे लोको आगन्त्वा तासयेय्यमं
न मे पटिबलो अस्स जनेतुं भय भेरवं।
स चे पित्वं महिं सब्बं ससमुद्दं सपब्बतं
उक्खिपित्वा महानाग! खिपेय्यासि ममोपरि।
नेव मे सक्कुणेय्यासि जनेतुं भयभेरवं
अञ्ज दत्थु नवोवस्स विधातो उरगाधिप॥ महावंश—१२, १६—१८,

२. 'मा' दानि कोधं जनयि इतो उद्धं यथा पुरे
सस्स घातञ्च मा कत्थ सुखकामानि पाणिनो।
कयेथ येत्तं सत्तेसु वसन्तु मनुजा सुखं—महावंश १२, २२—२३

पञ्चक से यह उपदेश पाकर उन्होंने इसी के अनुसार आचरण किया।

"तदनन्तर नागराजा ने थेर मज्झन्तिक को रत्नजटित आसन पर बिठलाया और स्वयं समीप खड़ा होकर उस पर पङ्खा झलने लगा। उस दिन काश्मीर और गान्धार के निवासी नागराज को विविध उपहार भेंट करने के लिए आये हुए थे। जब उन्होंने थेर की अलौकिक शक्तियों और महान् प्रभाव को सुना, तब वे उसके समीप आये और उसका अभिवादन करके खड़े हो गये।

"थेर ने उन्हें आसीविसोपम धम्म का उपदेश किया। इस पर ८० हज़ार मनुष्यों ने बौद्ध धर्म को स्वीकृत किया और १ लाख मनुष्यों ने थेर द्वारा 'प्रव्रज्या' ग्रहण की। उस दिन से लेकर आज तक काश्मीर और गान्धार के मनुष्य बौद्ध धर्म की तीनों वस्तुओं (बुद्ध, संघ, और धम्म) के प्रति पूर्ण भक्ति रखते हैं और (भिक्षुओं के) पीतवस्त्रों को धारण करते हैं[1]।" थेर महादेव बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए 'महिसमण्डल' प्रदेश में गया। ऐतिहासिक स्मिथ के अनुसार महिसमण्डल, माइसूर का नाम है[2]। माइसूर में जाकर महादेव ने जनता के बीच में 'देवदूत सुत्तन्त' का उपदेश किया। इसका परिणाम यह हुआ कि ४० हज़ार मनुष्यों ने 'प्रव्रज्या' लेकर भिक्षुओं के पीतवस्त्र धारण किये।

---

१. असीतिया सहस्सानं धम्माभिसमयो अभू
सतसहस्स पुरिसापब्बजुं थेर सन्तिके।
ततोय्यमुनि कस्मीर गन्धारा ते इदानिपि।
आसुं कासावपज्जोता वत्थुत्तय परायणा॥ महावंश १२, २७-२८.

२. V. A. Smith—Asoka, page 44.

"इसी प्रकार आचार्य रक्खित वनवासी[1] देश को आकाशमार्ग से उड़कर गया। वहाँ उसने जनता के मध्य में 'अनमतग्ग' का प्रचार किया। साठ सहस्र मनुष्य बौद्ध धर्म के अनुयायी होगये। सैंतीस हज़ार मनुष्यों ने भिक्षु बनना भी स्वीकृत किया। इस आचार्य ने वनवासी देश में पाँच सौ विहारों का भी निर्माण किया और उस प्रदेश में बौद्ध धर्म की अच्छी प्रकार से स्थापना कर दी।

"थेर योनक धम्म रक्खित अपरन्तक[2] देश में गया। वहाँ जाकर उसने 'अग्गिक्खन्धोपमसुत्त' का उपदेश किया। यह आचार्य धर्म और अधर्म को खब अच्छी तरह समझता था। इसका उपदेश सुनने के लिए सताईस सहस्र मनुष्य एकत्रित हुए। इनमें से एक हज़ार पुरुष और इससे भी अधिक स्त्रियाँ जो कि विशुद्ध क्षत्रिय जाति की थीं, भिक्षु-संघ में प्रविष्ट होने के लिए तैयार होगईं।

"थेर महाधम्मरक्खित महाराष्ट्र देश में प्रचार के लिए गया। वहाँ उसने 'महानारदकस्सपह्न जातक' का उपदेश किया। चौरासी हज़ार मनुष्यों ने सत्य बौद्ध मार्ग का अनुसरण किया और तेरह हज़ार मनुष्य प्रव्रजित हुए।

"आचार्य महारक्खित 'योन'[3] देश में गया। वहाँ उसने 'कालकाराम सुत्त' का उपदेश किया। एक लाख सत्तर हज़ार प्राणियों ने बुद्ध-मार्ग के फल को प्राप्त किया और दस हज़ार मनुष्य भिक्षु बने।

---

१. वनवासी देश—उत्तरीय कनारा

२. अपरन्तक देश—बम्बई का उत्तरीय तट

३. योनदेश—भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के अनन्तर के देशों को योन देश समझा जाता था। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि सम्राट अशोक के समय भारत की पश्चिमोत्तर सीमा वर्तमान ब्रिटिश भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से बहुत अधिक परवर्ती थी।

"आचार्य मज्झिम अन्य चार थेरों के साथ[1] हिमवन्त देश में गया। वहाँ जाकर इन प्रचारकों ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। इस देश में अस्सी करोड़ प्राणियों ने बौद्ध धर्म के फल को प्राप्त किया। इन पाँच थेरों ने पृथक् पृथक् हिमवन्त देश के पाँच राष्ट्रों में प्रचार किया। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक राष्ट्र में एक एक लाख मनुष्यों ने भिक्षु बन कर बौद्ध संघ में प्रविष्ट होना स्वीकृत किया।

"आचार्य उत्तर के साथ थेर सोण सुवर्णभूमि[2] में गया। उस समय सुवर्णभूमि के राजगृह में यह अवस्था थी कि ज्यों ही कोई कुमार उत्पन्न होता था उसी क्षण एक राक्षसी आकर उसे खा जाती थी। जिस समय ये थेर सुवर्णभूमि में पहुँचे उसी समय राजगृह में एक बालक उत्पन्न हुआ। लोगों ने समझा कि ये थेर राक्षसी के सहायक हैं, अतः वे उन्हें घेर कर मारने के लिए तैयार होगये। थेरों ने उनके अभिप्राय को समझ लिया और इस प्रकार से कहा —'हम तो शील से युक्त श्रमण हैं, राक्षसी के सहायक नहीं हैं[3]।' उसी समय राक्षसी अपने सम्पूर्ण साथियों के साथ समुद्र से निकली। इस पर सब आदमी भयभीत होकर हाहाकार करने लगे। परन्तु थेरों ने अपने अलौ-

---

१. हिमवन्त में प्रचार करनेवाले आचार्य मज्झिम के इन साथियों का नाम महावंश में नहीं लिखा परन्तु दीपवंश में इनका नाम इस श्लोक में लिखा है—

कस्सपगोत्तो च यो थेरो मज्झिमो दुरभिसदो।
सहदेवो मूलकदेवो हिमवन्ते यक्खगणं पसादयुम्॥

२. सुवर्णभूमि = पेगू और मोलमीन

३. 'किमेतन्ति' च पुच्छित्वा थेरा ते एवमाहुते।
समणा वयं सीलवन्ता न रक्खसीसहायका॥
महावंश १२, ४७—४८

किक प्रभाव-द्वारा बहुत-से राक्षसों को प्रकट कर राजकुमार का भक्षण करनेवाले राक्षसों को घेर लिया। नये अगणित राक्षसों को देख कर ये राक्षस भाग खड़े हुए। इस प्रकार सर्वत्र अभय की स्थापना कर इन थेरों ने एकत्रित लोगों को 'ब्रह्मजाल सुत्त' का उपदेश किया। बहुत से लोगों ने बौद्ध धर्म को स्वीकृत कर लिया। विशेषतः साठ सहस्र मनुष्य तो धर्म से अच्छी प्रकार परिचित व आकृष्ट होगये। एक हज़ार पांच सौ पुरुषों और इतनी ही स्त्रियों ने भिक्षु बनकर संघ में प्रवेश किया। "इस समय के बाद सुवर्णभूमि के राजवंश में जो भी कुमार उत्पन्न हुए वे (थेर सोण और उत्तर के नाम से) सोणुत्तर कहलाये।"

इस तरह विविध प्रचारक-मण्डलों के विदेशों में बौद्ध धर्म के विस्तार का उल्लेख कर महावंश लिखता है कि—

महोदयस्यापि जिनस्स कड्ढनं,
विहाय पत्तं अमतं सुखम्पि ते।
करिंसु लोकस्स हितं तहिं तहिं,
भवेय्य को लोक हिते पमादवा ॥[1]

निस्सन्देह इन सिद्ध थेरों ने अपने अमृत से भी बढ़कर आनन्द सुख का परित्याग कर सुदूरवर्ती देशों में भटक कर, सब कष्टों को सह कर संसार का हित-साधन किया था। निस्सन्देह ये धन्य हैं।

महावंश का यह विवरण कहाँ तक मान्य है, यह निश्चय कर सकना बहुत कठिन है। आकाशमार्ग से उड़कर सुदूरवर्ती प्रदेशों में जाना, अपने प्रभाव से जलाशयों को सुखा देना आदि चमत्कारिक बातें पूर्णांश में तथ्य नहीं समझी जा सकतीं। एक एक प्रदेश में थोड़े से प्रयत्न से लाखों व्यक्तियों का बौद्ध हो जाना

---

१. महावंश—१२, ५५

भी सरल नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि जिस समय महावंश और दीपवंश लिखे गये, उस समय बौद्ध धर्म के विस्तार का निश्चित इतिहास विद्यमान न था, केवल अतीत स्मृति के रूप में कुछ बातें लोगों को मालूम थीं। उन्हीं को इन लंका के इतिहासों में उल्लिखित कर दिया गया है। यदि ये पूर्णतः सत्य न भी हों, तब भी ये उस लहर को अच्छी प्रकार प्रदर्शित कर देते हैं जो कि सम्राट् अशोक के शासन-काल में देश-विदेश को बौद्ध धर्म से आप्लावित कर रही थी।

महावंश और दीपवंश के सिवाय अन्यत्र बौद्ध साहित्य में इन प्रचारक-मण्डलों के निर्माण और उनके कार्यों का उल्लेख नहीं मिलता।

परन्तु काश्मीर में आचार्य मज्झन्तिक के प्रचार का वृत्तान्त तिब्बती तथा चीनी बौद्ध ग्रन्थों में भी विद्यमान है। तिब्बती और चीनी साहित्य में उत्तरीय बौद्ध धर्म के ही इतिवृत्त उल्लिखित हैं। अतः मोद्‌गलिपुत्र तिष्य के प्रचारक-मण्डलों में से काश्मीर के प्रचारकों का वर्णन करना उनके लिए स्वाभाविक और उचित है। तिब्बती ग्रन्थ दुल्व के अनुसार महात्मा बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष पश्चात्[1] आचार्य मध्यान्तिक (मज्झन्तिक) काश्मीर में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए गया। वहाँ पर नागों का अधिकार था.........आगे लगभग वही कथा उल्लिखित है, जो महावंश में है।[2]

इसी प्रकार प्रसिद्ध चीनी पर्यटक ह्यू नसांग ने अपने यात्रा-वृत्तान्त में काश्मीर का वर्णन करते हुए वहाँ पर बौद्ध धर्म के

---

१. उत्तरीय बौद्ध साहित्य में प्रायः अशोक के समय को भी बुद्ध के निर्वाण से सौ साल बाद लिखा जाता है। यद्यपि ऐसा लिखना उनकी भूल है, तथापि मज्झन्तिक को भी निर्वाण के सौ साल बाद लिखना यह सूचित करता है कि उनके अनुसार मज्झन्तिक अशोक का समकालीन था।

२. Rockhill—Life of Buddha, 107—110.

विस्तार का भी इतिहास लिखा है। वह लिखता है—"एक बार पुराने समयों में जब महात्मा बुद्ध उद्यान देश से एक दानव को पराभूत कर वापस आरहे थे, तब आकाशमार्ग से आते हुए जब वे ठीक काश्मीर के ऊपर पहुँचे तब उन्होंने आनन्द को सम्बोधन करके कहा—मेरे निर्वाण के बाद अर्हत मध्यान्तिक इस देश में एक राज्य स्थापित करेगा, यहाँ के लोगों को सभ्य बनाएगा और अपने प्रयत्न से बुद्ध के शासन का विस्तार करेगा[1]।" इनके आगे ह्यूनत्सांग के अर्हत मध्यान्तिक-द्वारा काश्मीर में बौद्ध धर्म के विस्तार का वृत्तान्त लिखा है। यह वृत्तान्त भी महावंश के वर्णन से बहुत कुछ मिलता है।

इस तरह काश्मीर में बौद्ध धर्म के विस्तार के सम्बन्ध में सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य एकमत है। लंका, तिब्बत और चीन में एक ही इतिवृत्त का उपलब्ध होना इसकी सत्यता को सूचित करता है। हम इससे यह भी सुगमता से समझ सकते हैं कि महावंश के अन्य प्रचारक-मण्डलों के सम्बन्ध में प्राप्त विवरण भी सत्य घटनाओं पर आश्रित हैं।

—

बीसवाँ अध्याय

अशोक-कालीन शासन-व्यवस्था

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था पर हम विस्तार से विचार कर चुके हैं। अशोक के समय में भी वही शासन-व्यवस्था प्रचलित थी। यद्यपि थोड़े बहुत परिवर्तन आवश्यकता के अनुसार किये गये थे, परन्तु शासन के स्वरूप में बहुत भेद नहीं आया था। यह होते हुए भी इस अध्याय में हम अशोक विषयक ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर स्वतन्त्ररूप से शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार करेंगे। मुख्यतया हम अशोक के शिलालेखों को ही अपने सम्मुख रक्खेंगे।

अशोक का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। प्रायः सम्पूर्ण भारत उसमें सम्मिलित था। इतने बड़े साम्राज्य पर शासन करने के लिए केवल केन्द्रित सरकार ही पर्याप्त न हो सकती थी। अतः साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभक्त किया गया था। जिस प्रकार वर्तमान ब्रिटिश-शासन के अधीन भारत को अनेक प्रान्तों में विभक्त किया गया है उसी तरह अशोक के समय में भी किया गया था। अशोक के शिलालेखों से यह बात अच्छी तरह प्रकट हो जाती है। प्रान्त भी दो प्रकार के थे। एक तो बड़े प्रान्त, जिनका राजनैतिक दृष्टि से बहुत महत्त्व था। इनके शासन पर विशेष ध्यान रक्खा जाता था। दूसरे प्रकार के प्रान्त साधारण होते थे। बड़े प्रान्तों पर शासन करने के लिए प्रायः राजघराने के व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था। ये प्रान्ताधीश कुमार या आर्यपुत्र कहाते थे। दूसरी श्रेणी के प्रान्तों पर राजघराने के सिवाय साधारण व्यक्ति नियत किये जाते थे। अशोक के समय कुमारों-द्वारा—शासित प्रान्तों की संख्या कम से कम चार अवश्य थी।

तक्षशिला—कुमारों-द्वारा शासित प्रथम प्रान्त की राजधानी तक्षशिला थी। मौर्यकाल में तक्षशिला का बहुत महत्त्व था। यह पश्चिमोत्तर भारत का मुख्य नगर था। व्यापार और शिक्षा की दृष्टि से यह नगर बहुत प्रसिद्ध था। पश्चिम की ओर जानेवाला राजमार्ग तक्षशिला होकर जाता था। पश्चिमोत्तर प्रान्त की राजधानी होने के कारण तक्षशिला पर विशेष ध्यान दिया जाता था। भारत में सदा ही पश्चिमोत्तर दिशा से अनेक विजेता अपनी शक्तिशाली सेनाओं को लेकर आक्रमण करते रहे हैं। मौर्यकाल में भी इधर से निरन्तर भय बना रहता था। अतः तक्षशिला में शासन करने के लिए एक 'कुमार' नियत किया जाता था। हम पहले देख चुके हैं कि इस प्रदेश में समय समय पर विद्रोह भी होते रहते थे।

सुवर्णगिरि—यह अशोक के साम्राज्य के दक्षिणीय प्रान्त की राजधानी थी। यहाँ पर भी एक कुमार शासन करता था। दक्षिण में चोड, पाण्ड्य, सत्यपुत्र आदि राज्यों की सत्ता होने के कारण इनसे सर्वदा डर बना रहता था। साथ ही दक्षिण का प्रदेश पाटलिपुत्र से बहुत दूर था। अतः आवश्यकता थी कि उस पर शासन करने के लिए किसी जिम्मेवार व्यक्ति को नियत किया जाय। सुवर्णगिरि किस नगर का नाम था, यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। प्रो० कृष्णस्वामी आयङ्गर ने कल्पना की है कि हैदराबाद के निजाम के राज्य में रायचूर ज़िले में स्थित कनकगिरि ही प्राचीन सुवर्णगिरि है। परन्तु सुवर्णगिरि की स्थिति का निश्चितरूप से अब तक पता नहीं लग सका है।

तुषाली—अशोक-द्वारा विजित कलिङ्ग-राज्य की राजधानी का नाम तुषाली था। यहाँ पर शासन करने के लिये भी एक कुमार नियत था। नवीन विजित प्रदेश पर ठीक प्रकार से शासन कर सकना सरल नहीं था। साथ ही यहाँ पर

विद्रोही-तत्त्व भी जोर के साथ काम कर रहे थे। समीप ही जङ्गली जातियाँ सदा सिर उठाने के लिए उद्यत थीं, अतः इसे भी कुमार-द्वारा शासित प्रदेश बनाया गया। तुषाली या तोसाली वर्तमान धौली का ही रूपान्तर प्रतीत होता है, जहाँ कि अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की एक प्रति उपलब्ध हुई है।

उज्जैनी—यह पश्चिमीय प्रदेशों का मुख्य नगर था। सम्भवतः इस प्रान्त के क्षेत्र में बहुत से प्रदेश सम्मिलित थे। तभी यह सीमा प्रदेश पर स्थित हुए बिना भी एक 'कुमार-द्वारा शासित प्रान्त' का केन्द्रस्थान था। उज्जैनी भारत के प्राचीन इतिहास में एक महत्त्व पूर्ण नगर रहा है। मौर्य साम्राज्य में इसकी स्थिति 'द्वितीय नगर' के रूप में थी।

'कुमार-द्वारा शासित' इन चार प्रान्तों को छोड़ कर अशोक के विस्तृत साम्राज्य में अन्य भी अनेक प्रान्त थे। यद्यपि अशोक के शिलालेखों से इनकी सत्ता सूचित नहीं होती, परन्तु जूनागढ़ में प्राप्त रुद्रदामन के प्रसिद्ध शिलालेख से यह बात स्पष्टरूप से प्रमाणित हो जाती है। इस शिलालेख से पता चलता है कि मौर्य चन्द्रगुप्त के समय में सुराष्ट्र (काठियावाड़) पर वैश्य पुष्पगुप्त राज्य कर रहा था। इसी तरह सम्राट् अशोक के समय में सुराष्ट्र के शासक का नाम यवन तुषास्प था। तुषास्प के नाम के साथ यवन लगा देख कर अश्चर्य न करना चाहिए। यदि अकबर के समय में हिन्दू मानसिंह और बीरबल विविध प्रान्तों के अधिपति हो सकते थे, तो अशोक के समय में यवन तुषास्प के प्रान्ताधीश होने में क्या आश्चर्य है? फिर अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत जो यवन आदि आर्य भिन्न जातियाँ बसी हुई थीं, उन्होंने भारत की आर्य-सभ्यता को पूर्णरूप से स्वीकृत कर लिया था। पुष्पगुप्त और तुषास्प के नाम के साथ शिलालेख में राजा शब्द आया है, इससे इनके स्वतन्त्र होने की कल्पना न करनी चाहिए। गुप्तकाल में प्रान्तीय शासकों के नामों के साथ 'महाराजा' तक लगाया जाता था।

सुराष्ट्र की तरह के और कितने प्रान्त थे, यह निश्चित कर सकना बहुत कठिन है। पर इस प्रकार के प्रान्तों की सत्ता में कोई सन्देह नहीं। मगध तथा उसके समीपवर्त्ती प्रदेश सीधे सम्राट् के अधीन थे। जिस प्रकार सुदूरवर्त्ती प्रान्त कुमारों के अधीन थे, उसी तरह समीपवर्त्ती प्रदेश सम्राट् के। इन प्रान्तों के अन्य कितने और कौन कौन से उपविभाग थे, यह अशोक के शिलालेखों से नहीं ज्ञात होता। सम्भवतः कौटिल्य का संग्रहण, द्रोणमुख आदि विभाग ही अशोक के समय में भी विद्यमान था। इन विभागों और उपविभागों के शासकों की नियुक्ति सम्राट् की तरफ़ से नहीं होती थी। इन्हें कुमार ही नियुक्त करते थे। वस्तुतः, प्रान्तों के शासन के लिए कुमार ही उत्तरदाता समझे जाते थे। यही कारण है कि जब सम्राट् के इन विभागों व उपविभागों के शासकों को कोई आज्ञा भेजनी होती थी, तब वह कुमारों के द्वारा ही भेजता था। अतएव 'इसिला' (जो कि सुवर्णगिरि के दक्षिणीय कुमार-प्रान्त का एक उपविभाग था) के महामात्रों को अशोक सीधे तौर पर आज्ञा नहीं भेजते, परन्तु आर्यपुत्र या कुमार के द्वारा भेजते हैं।[1] इससे साथ में यह भी प्रकट होता है कि सुवर्णगिरि-प्रान्त के एक से अधिक उपविभाग थे, जिनमें शासनार्थ पृथक् पृथक् महामात्र नियत होते थे।

इसी तरह समापा (जो कि कलिङ्ग-प्रान्त का एक उपविभाग था) के महामात्रों को भी राजा सीधा आज्ञा नहीं देता, अपितु तोसाली के कुमार की मार्फत आज्ञा देता है।[2] परन्तु जहाँ पर सम्राट् का सीधा शासन था, वहाँ उपविभागों के शासकों को सीधा सम्राट् की तरफ़ से हुकुम जाता था। अतएव कौशाम्बी और सारनाथ के महामात्रों के नाम उसने सीधे तौर पर ही आज्ञायें प्रकाशित की हैं।[3]

---

१. सिद्धपुर का लघु शिलालेख।

२. कलिङ्ग का जौगढ़ में प्राप्त अतिरिक्त-शिलालेख।

३. सारनाथ का लघु स्तम्भलेख और कैशाम्बी का स्तम्भलेख।

यद्यपि प्रान्तों में कुमारों को शासन के विषय में उत्तरदायिता होने के कारण बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त थी, परन्तु वे स्वयं ही शासन न करते थे। उनके साथ शासन के लिए बहुत से महामात्र होते थे। शासन के लिए कुमार और महामात्रों की सम्मिलित उत्तरदायिता थी। अतएव अशोक ने प्रान्तीय शासकों के नाम जो आज्ञायें प्रकाशित की हैं, वे केवल कुमार या आर्यपुत्र के नाम ही नहीं की गईं, परन्तु कुमार और महामात्र दोनों के नाम की गई हैं[1]। वर्तमान परिभाषा में जिस प्रकार सपरिषद् गवर्नर (The Governor in Council) के नाम अनेक आज्ञायें प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार अशोक भी 'महामात्रों-सहित कुमार' के नाम अपनी आज्ञायें भेजा करता था।

इसी प्रकार कुमार भी जब अपने अधीनस्थ महामात्रों को कोई आज्ञा भेजते थे, तब अकेले अपने नाम से नहीं, अपितु महामात्रों के साथ ही, उनके और अपने—दोनों के नाम से आज्ञा प्रकाशित करते थे। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रान्तों के शासन के लिए अकेले कुमार की उत्तरदायिता नहीं थी, अपितु कुमार और महामात्र सम्मिलित रूप से उत्तरदायी थे।

शासन-कार्य में सम्राट् की सहायता करने के लिए और विविध राजकर्मचारियों से सम्राट् का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अशोक के समय कोई सभा थी या नहीं, इस विषय पर भी शिलालेखों से उत्तम प्रकाश पड़ता है। अशोक अपने तृतीय शिलालेख में कहते हैं—

"मेरे राज्य में सब जगह युत (युक्त) लाजुक (रज्जुक) और पोदसिक (प्रादेशिक) पाँच पाँच वर्ष के बाद इस काम के

१. 'सुवंणगराते अयपुतस महामाताण' च वचनेन इसिलसि महामात्र आरोगियं वतविया हेवं चा वतविया।'
'देवानां पियस वचनेन तोसलियं कुमाले महामाता च'
(सिद्धपुर का लघु शिलालेख और जौगढ़ का अतिरिक्त लेख)

लिए (अर्थात) धर्मानुशासन के लिए तथा और और कामों के लिए (सर्वत्र यह कहते हुए) दौरा करें कि "माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमण को दान देना अच्छा है। जीवहिंसा न करना अच्छा है। थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना अच्छा है। (मन्त्रियों की) परिषद् भी 'युक्तों' को (इस व्यय और संचय की) परिगणना के लिए (इस आज्ञा के) शब्दों और भावों के अनुसार आज्ञा प्रदान करेगी।"

इस लेख से परिषद् की सत्ता प्रमाणित होती है। यदि हम कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित मन्त्रिपरिषद् की रचना तथा कार्यों को अपने सम्मुख रख कर इस लेख पर विचार करें, तो परिषद् की स्थिति अच्छी प्रकार समझ में आजाती है। इस लेख से स्पष्ट है कि यह मन्त्रिपरिषद् प्रत्येक राजकीय आज्ञा को क्रिया में परिणत करती थी, तथा राजकर्मचारियों के निरीक्षण और मार्ग प्रदर्शन का कार्य भी करती थी। अशोक के छठे शिलालेख से भी मन्त्रिपरिषद् के विषय में अच्छा प्रकाश पड़ता है। अशोक लिखते हैं—

"हर समय चाहे मैं खाता होऊँ या अन्तःपुर में रहूँ......... सब जगह प्रतिवेदक प्रजा का हाल मुझको सुनायें। मैं प्रजा का सब जगह काम करूँगा। यदि मैं स्वयं अपने मुख से आज्ञा दूँ कि अमुक आज्ञा (लोगों को) दी जाय या सुनाई जाय, अथवा महामात्रों को कोई आत्ययिक आज्ञा दी जाय और यदि उस विषय में परिषद् में कोई विवाद उपस्थित हो या परिषद् उसे अस्वीकार करे, तो मैंने आज्ञा दी है कि फ़ौरन ही हर घड़ी और हर जगह मुझे सूचना दी जाय, क्योंकि मैं कितना ही परिश्रम करूँ......... मुझे सन्तोष नहीं होता।"

इससे यह परिणाम निकलता है कि जब राजा आत्ययिक कार्य के लिए अपनी प्रजा को या महामात्रों को कोई आज्ञा अपनी तरफ़ से देता था, तब भी मन्त्रिपरिषद् में उस पर विचार होता था।

यदि परिषद् उसके पक्ष में हो, तब तो कोई बात नहीं। परन्तु यदि वह उस आत्ययिक आज्ञा को अस्वीकार करे या परिषद् में उस पर विवाद व मतभेद हो, तो शीघ्र ही प्रतिवेदक राजा को सूचना देते थे, जिससे कि राजा यथोचित कार्य कर सके।

ऊपर जिन शिलालेखों के उद्धरण दिये गये हैं, उनसे मन्त्रि-परिषद् की सत्ता में कोई सन्देह शेष नहीं रहता। ऐसा प्रतीत होता है कि परिषद् ही साधारण रूप से सम्पूर्ण राज-कार्य किया करती थी। वही आज्ञाओं को प्रकाशित करती, राज-नियमों का पालन कराती तथा शासन-कार्य का समुचित रूप से प्रबन्ध करती थी। जब कभी आत्ययिक अवस्था में राजा को कोई विशेष आज्ञा अपनी ओर से देने की आवश्यकता होती थी, तब भी मन्त्रिपरिषद् उसका पीछा न छोड़ती थी और अपनी सम्मति के अनुसार राजा के कृत्य को नियन्त्रित करती थी।

प्रतीत होता है कि अशोक-जैसे शक्तिशाली सम्राट् का अनेक बार अपनी मन्त्रि-परिषद् से विरोध भी हो जाता था। अशोक अपनी इच्छा के अनुसार कोई कार्य करना चाहते थे, परन्तु परिषद् उनकी स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिए सदा समुद्यत रहती थी। अशोकावदान की निम्नलिखित कथा इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालती है—

"जब राजा अशोक को बौद्ध-धर्म में श्रद्धा उत्पन्न हुई तो उन्होंने भिक्षुओं से पूछा—

'भगवान् के लिए सबसे अधिक धन किसने दान किया है?'

भिक्षुओं ने कहा—'गृहपति अनाथ पिण्डक ने।'

'भगवान् के लिए उसने कितना धन दान किया?'
'सौ करोड़'।

यह सुनकर राजा सोचने लगे—अनाथ पिण्डक ने गृहपति

होकर सौ करोड़ दान किया है, अतः मैं भी अवश्य ही इतना दान करूँगा।[1]"

अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए अशोक ने बहुत यत्न किया। हज़ारों स्तूप, विहार आदि बनवाये। लाखों भिक्षुओं को भोजन और आश्रय दिया। इस प्रकार धीरे धीरे अशोक ने नब्बे करोड़ तो भगवान् के नाम पर भिक्षुओं, विहारों और संघ को दान कर दिया। परन्तु दस करोड़ और शेष बच गया। राजा इसको सरलता से न दे सका। इस कारण उसे बहुत कष्ट हुआ। राजा को शोकातुर होते देखकर प्रधानामात्य राधागुप्त ने, जिसने कि दान में अशोक की बहुत सहायता की थी, पूछा—'प्रबल शत्रु संघ चारों तरफ़ से घेर कर भी जिस चण्ड सूर्य के समान देदीप्यमान मुख को देख न सके, जिसकी शोभा के सम्मुख सैकड़ों कमल भी लजाते हैं, हे देव! वह तुम्हारा मुख सवाष्प क्यों है?'

राजा ने कहा—'राधागुप्त! न मुझे धन के विनाश की चिन्ता है, न राज्य के नाश का ख्याल है और न किसी आश्रय का वियोग हुआ है। मुझे सोच केवल इस बात का है कि पूज्य भिक्षुओं से मुझे बिछुड़ना पड़ रहा है।.........मैंने प्रतिज्ञा की थी कि भगवान् बुद्ध के लिए सौ करोड़ दान करूँगा, परन्तु मेरा यह मनोरथ पूरा नहीं हुआ।'

इसके बाद राजा अशोक ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिए राज्यकोष से शेष धन को दान करने का निश्चय किया।

---

१. यदा राज्ञाशोकेनार्धामलकदानेन भगवच्छासने श्रद्धा प्रतिलब्धा, स भिक्षून् उवाच। केन भगवच्छासने प्रभूतं दानं दत्तम्! भिक्षव ऊचुः अनाथपिण्डकेन गृहपतिना। राजाह। कियत्तेन भगवच्छासने दानं दत्तम्। भिक्षव ऊचुः। कोटिशतं तेन भगवच्छासने दानं दत्तम्। श्रुत्वा च राजाशोकश्चिन्तयति। तेन गृहपतिना भूत्वा कोटिशतं भगवच्छासने दानं दत्तम्। तेनाभिहितम्। अहमपि कोटिशतं भगवच्छासने दानं दास्यामि।

परन्तु वह इस विषय में भी सफल-मनोरथ नहीं हुआ। "क्योंकि उस समय में कुनाल का पुत्र (अशोक का पौत्र) सम्पदि युवराज था। उसको अमात्यों ने कहा—'कुमार! राजा अशोक को सदा थोड़े ही रहना है। उसका थोड़ा ही समय बाकी है। यह द्रव्य कुर्कुटाराम नामक विहार को भेजा जा रहा है। राजाओं की शक्ति कोष पर ही आश्रित है। इसलिए मना कर दो।' कुमार ने भाण्डागारिक को राजकोश से दान देने से मना कर दिया।

पहले राजा अशोक सुवर्णपात्र में रख कर भिक्षुओं के लिए भोजन भेजा करता था। परन्तु इसके लिए भी मना कर दिया गया। फिर उसने चाँदी के पात्र में भोजन भेजना चाहा, वह भी बन्द कर दिया गया। फिर उसने लोहे के पात्र में भोजन भेजना चाहा, इसके लिए भी अनुमति नहीं मिली। अन्त में उसने मट्टी के बर्तन में कुर्कुटाराम के भिक्षुओं के लिए भोजन भेजना चाहा, पर उसके लिए भी उसे अनुमति नहीं मिल सकी। अन्त में उसके पास केवल आधा आमला बच गया, जो कि उस समय उसके हाथ में मौजूद था।

इसके बाद संविग्न होकर अशोक ने अमात्यों और 'पौर' को बुलाकर पूछा 'इस समय राज्य का स्वामी कौन है?' यह सुन कर प्रधानामात्य ने उठकर और यथोचित रीति से अशोक को प्रणाम करके उत्तर दिया—'आप ही राज्य के स्वामी हैं।' यह सुनकर अशोक की आँखों से आँसू फूट पड़े। आँसुओं से अपने बदन को गीला करते हुए उसने कहा—'तुम केवल मुझ पर कृपा करके झूठमूठ क्यों कह रहे हो कि मैं ही राजा हूँ। मेरे से तो

१. तस्मिंश्च समये कुनालस्य सम्पदिनामपुत्रो युवराज्ये प्रवर्त्तते। तस्यामात्यैरभिहितम्। कुमार, अशोको राजा स्वल्पकालावस्थायी, इदं च द्रव्यं कुर्कुटारामं प्रेष्यते कोशबलिनश्च राजानो निवारयितव्यः। यावत् कुमारेण भाण्डागारिकः प्रतिषिद्धः।

दिव्यावदान पृ० ४२६०, ४३०

राज्य छिन गया है। मेरे पास केवल आधा 'आमला ही शेष बच गया है। ऐश्वर्य को धिक्कार है[1] !'

इसके बाद राजा अशोक ने वह आधा आमला ही कुर्कुटाराम विहार के पास भेज दिया और कहला भेजा कि 'जो सम्पूर्ण जम्बुद्वीप का स्वामी था, आज वह केवल आधे आमले का स्वामी रह गया है। मन्त्रियों ने उसके अधिकार को छीन लिया है[2] ।'

निस्सन्देह अशोकावदान की यह कथा अशोक की राज्य-व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डालती है। उसकी स्वेच्छाचारिता को रोकने का कार्य अमात्यगण निरन्तर करते रहते थे। इस कार्य में 'पौर' सभा भी उनकी सहायता करती थी। चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था में पौर सभा पर हम विचार कर चुके हैं। अशोक के समय में भी उसकी सत्ता सूचित होती है।

अशोक का एक अन्य शिलालेख भी मन्त्रिपरिषद्-द्वारा राजा के स्वेच्छाचार को नियन्त्रित करने का निर्देश करता है। अब तक प्राचीन इतिहास के विद्वान इस शिलालेख का अर्थ और ही तरह से करते आये हैं। परन्तु श्रीयुत के० पी० जायसवाल ने इसके अर्थ पर अद्भुत प्रकाश डाला है। उन्हीं के अर्थ का अनुसरण कर हम इस शिलालेख को इस प्रकार लिख सकते हैं।

---

१. अथ राजाशोकः संविग्नोऽमात्यान् पौरांश्च संनिपात्य कथयति। कः साम्प्रतं पृथिव्यामीश्वरः। ततोऽमात्य उत्थायासनाद् येन राजाशोकस्तेनाञ्जलिं प्रणम्योवाच। देवः पृथिव्यामीश्वरः। अथ राजाशोकः साश्रुदुर्दिननयनवदनोऽमात्यानुवाच—

दाक्षिण्यादनृतं हि किं कथयथ भ्रष्टाधिराज्या वयम्।
शेषं त्वामलकार्धमित्यवसितं यत्र प्रभुत्वं मम॥
ऐश्वर्यं धिगनार्यं......

२. त्यागशूरो नरेन्द्रोऽसौ अशोको मौर्यकुञ्जरः।
जम्बुद्वीपेश्वरो भूत्वा जातोऽर्धामलकेश्वरः॥
भृत्यैः स भूमिपतिरद्य हृताधिकारो दानं प्रयच्छति किलामलकार्द्धमेतत्।

दिव्यावदान ४३१, ४३२

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं—राज्याभिषेक के छब्बीस वर्ष बाद मैंने इस धर्मलिपि (Document of Law) को लिखवाया। मेरे राजूक (लजूक) नाम के कर्मचारी लाखों मनुष्यों के ऊपर नियुक्त हैं। उन राजूकों को जो कि अभिहार (युद्ध) और दण्ड (Home administration) के (विभागों) पर नियुक्त हैं, उन्हें मैंने पूर्णतया स्वतन्त्र (आत्मपतिय—स्वयं अपना पति-रक्षक) कर दिया है। यह किस लिए? जिससे कि राजूक विना किसी बाधा के और विना किसी भय के अपने कार्य कर सकें, जानपद सभा के लिए अनुकूल और सन्तोषजनक हो सकें तथा उनको 'अनुग्रह' दे सकें। वे लोग उन सबको जानेंगे जो सन्तुष्ट हैं, सुखी हैं या जो आपत्ति में हैं, दुखी हैं। वे धर्म-सेवा में लगे हुए कर्मचारियों-द्वारा जानपद सभा को सम्मति प्रदान करावेंगे। इस प्रकार से वे (राजूक) इहलोक और परलोक दोनों को प्राप्त करेंगे।

राजूक मेरी आज्ञाओं का उल्लङ्घन करते हैं (लघन्ति = लंघन्ति) जब कि मेरे छोटे कर्मचारी (पुरुष) मेरी सम्मतियों और आज्ञाओं के अनुसार आचरण करते हैं। राजूक प्रदेशों को निर्देश देंगे जो कि उनकी (राजूकों की) इच्छानुसार काम करना चाहते हैं, मेरे अनुसार नहीं। इसलिए जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने लड़के को निपुण धाई के हाथ में सौंप कर निश्चिन्त हो जाता है (और सोचता है कि) "यह धाई मेरे लड़के को सुख पहुँचाने की भरपूर चेष्टा करेगी।" उसी प्रकार मैंने अपनी प्रजा को राजूकों के हाथ में सौंप दी है, जिससे कि वे जानपद-सभा के सन्तोष और भले के अनुसार काम कर सकें। जिससे कि वे (राजूक) बिना किसी बाधा और विना किसी भय के अपने कर्म को कर सकें, इससे मैं उन्हें अब से युद्ध और दण्ड के शासन में स्वतन्त्र कर देता हूँ।

परन्तु वस्तुतः मेरी इच्छा है कि दण्ड और व्यवहार में समता विद्यमान रहे। यद्यपि मैं अपनी अवस्था से च्युत होगया हूँ, फिर भी मेरी प्रार्थना है[1]......"

इसके बाद सम्राट् प्रार्थना करते हैं कि जिन कैदियों को प्राण-दण्ड की सजा मिली है, उनको धार्मिक कृत्य करने की इजाज़त दी जाय आदि। इस शिलालेख की जो व्याख्या श्रीयुत जायसवाल ने की है, यदि उसे ठीक माना जाय, तो न केवल अशोक की शासन-व्यवस्था पर ही अच्छा प्रकाश पड़ेगा अपितु अन्य अनेक प्रश्नों का भी सरलता से हल हो सकेगा। अन्य बातों पर हम यथास्थान विचार करेंगे। यहाँ हमारा अभिप्राय केवल शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी प्रश्नों से है।

इस शिलालेख से स्पष्ट प्रतीत होता है कि राजा को नियन्त्रित करने का कार्य मन्त्री लोग निरन्तर करते रहते थे। अशोक के शिलालेखों में 'राजूक' शब्द का क्या अभिप्राय है, इस विषय पर विद्वानों में बहुत मतभेद है। प्रायः इससे एक प्रकार के राजकर्मचारियों को ग्रहण किया जाता है, जो कि राज-कर एकत्रित करने का कार्य करते थे। पर वस्तुतः यह बात नहीं है। इस शिलालेख से तो ऐसा प्रतीत होता है कि ये राज्य के सबसे बड़े कर्त्ता-धर्त्ता होते थे, राजा इनके हाथ में प्रजा को इस प्रकार सुपुर्द कर सकता था जिस प्रकार कि माता बच्चे को धाई के सुपुर्द कर देती है। सम्पूर्ण शासन इन्हीं के अधीन था, ये जानपद-सभा में प्रजा पर 'अनुग्रह' कर सकते थे, अर्थात् कर आदि में कमी करने का अधिकार रखते थे। सम्भवतः प्राचीन साहित्य में 'मन्त्रधर' और 'मन्त्रग्राह' शब्द जिन कर्मचारियों के लिए प्रयुक्त हुए हैं, जिन्हें कि वैदिक तथा संस्कृत-साहित्य में 'राजकृतः' कहा गया है, उन्हीं को अशोक ने 'राजूक' या 'लजूक' लिखा है। इसका धात्वर्थ 'रज्जुओं से नियन्त्रण करनेवाला, (रज्जुभिर्नियन्ता) या शासन की रज्जुओं को सम्भालनेवाला है। इन सब बातों को

1. अशोक स्तम्भशिलालेख ४.

सम्मुख रखकर यदि 'राजूक' से राज्य के मुख्य मन्त्रियों का अभिप्राय लिया जाय, तो अनुचित न होगा। अशोक के शिलालेखों से इसका यही अर्थ प्रतीत होता है। इस प्रकार राजा को शासन-कार्य में सहायता पहुँचाने के लिए 'राजूकों' या मन्त्रियों की सत्ता थी। ये मन्त्री एक सभा को बनाते थे, जिसे मन्त्रिपरिषद् कहा जाता था और यह परिषद् राजा का नियन्त्रण करने में मुख्य भाग लेती थी।

उस समय में 'जानपद-सभा' भी विद्यमान थी। इस सभा की स्थिति और रचना के विषय में हम पहले विचार कर चुके हैं। अशोक के समय में भी इसकी सत्ता दिखलाना ही हमारा यहाँ प्रयोजन है। इस शिलालेख से यह भी सूचित होता है कि मन्त्रियों को 'जानपदसभा' के हित और सन्तोष का बहुत खयाल रहता था। समय समय पर वे उस पर अनुग्रह भी किया करते थे।

जानपदसभा की तरह पौरसभा भी सम्राट् अशोक के समय में विद्यमान थी। 'अथ राजाशोकः संविग्नोऽमात्यान् पौरांश्च सन्निपात्य कथयति' दिव्यावदान के केवल इस वचन से ही इस समय में पौरसभा की सत्ता सूचित नहीं होती, इसके लिए अन्य प्रमाण भी हमारे पास विद्यमान हैं।

दिव्यावदान में लिखा है—

"उत्तरापथ में राजा अशोक के विरुद्ध तक्षशिलानगर ने विद्रोह कर दिया। जब राजा ने यह समाचार सुना, तो वह स्वयं ही विद्रोह को शान्त करने के लिए चल पड़ा। यह देख कर अमात्यों ने कहा—'देव! कुमार को भेज दीजिए वह विद्रोह को शान्त कर देगा।' राजा ने कुनाल को बुलाया और कहा—'वत्स कुनाल! क्या तक्षशिलानगर के विद्रोह को शान्त करने के लिए जाओगे?' कुनाल ने उत्तर दिया—'हाँ, देव! जाऊँगा।'......इसके अनुसार कुनाल ने तक्षशिला की ओर प्रस्थान किया और उसके समीप

तक जा पहुँचा। जब तक्षशिला के 'पौरों' ने यह सुना तो उन्होंने ३½ योजन तक मार्ग को और सम्पूर्ण नगर को सजाया। फिर 'पूर्ण कुम्भ' लेकर आगे ही कुनाल के स्वागत के लिए चल पड़े।

महामान्य कुमार के पास पहुँच कर यथोचित सत्कार के बाद 'पौरों' ने कहा—'न हम कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा अशोक के। परन्तु दुष्टात्मा अमात्य आकर हमारा अपमान करते हैं[1]। इसके बाद कुनाल को वे बड़े सम्मान के साथ तक्षशिला-नगर में ले गये।''

सम्भवतः इसी विद्रोह और 'पौर' के दुष्ट अमात्यों के प्रति विरोधभाव प्रदर्शित करने का यह परिणाम था कि तक्षशिला के अमात्यों के लिए नियम बनाया गया कि प्रति तीन वर्षों के बाद उनको परिवर्तित कर दिया जाय, जब कि अन्य प्रान्तों में अमात्य पांच वर्ष बाद बदले जाते थे। इस नवीन व्यवस्था को अशोक ने अपने कलिङ्ग के शिलालेख में सूचित किया है।

---

१. राज्ञोऽशोकस्योत्तरापथे तक्षशिलानगरं विरुद्धम्। श्रुत्वा च राजा स्वयमेवाभिप्रस्थितः। ततोऽमात्यैरभिहितः। देव कुमारः प्रेष्यतां स सन्नामयिष्यति। अथ राजा कुनालमाहूय कथयति। वत्स कुनाल गमिष्यसि तक्षशिलानगरं सन्नामयितुम्। कुनाल उवाच। परं देव गमिष्यामि।........

अनुपूर्वेण तक्षशिलामनुप्राप्तः। श्रुत्वा च तक्षशिलापौरा अर्धत्रिकाणि योजनानि मार्गशोभां नगरशोभां च कृत्वा पूर्णकुम्भैः प्रत्युद्गताः। वक्ष्यति च

श्रुत्वा तक्षशिलापौरा रत्नपूर्णघटादिकान्।
गृह्य प्रत्युज्जगामाशु बहुमान्यं नृपात्मजम्॥

प्रत्युद्गम्य कृताञ्जलिरुवाच। न वयं कुमारस्य विरुद्धा न राज्ञोऽशोकस्यापितु दुष्टात्मानोऽमात्या आगत्यास्माकमपमानं कुर्वन्ति। यावत्कुनालो महता सम्मानेन तक्षशिलां प्रवेशितः।

दिव्यावदान पृ० ४०७–४०८

दिव्यावदान के इस उद्धरण से निम्नलिखित बातें सूचित होती हैं—

(१) सम्राट् अशोक के समय प्रान्तीय राजधानियों में भी पौर-सभा होती थी।

(२) यह पौरसभा अपने प्रान्तीय शासकों की स्वेच्छाचारिता को नियन्त्रित करती थी। अनेक बार उनके विरुद्ध विद्रोह करके अपनी बात को स्वीकृत कराने के लिए वह उन्हें बाधित भी करती थी।

(३) उस समय वैध आन्दोलन (Constitutional Agitation) के इस आधारभूत सिद्धान्त का प्रायः प्रयोग किया जाता था, कि 'राजा कोई गलती नहीं कर सकता।' (King can do no wrong) उत्तरदाता अमात्य समझे जाते थे, आन्दोलन उनके ही विरुद्ध किया जाता था।

(४) प्रान्तीय शासकों के विरुद्ध केन्द्रित सरकार या उसके प्रधान 'सम्राट्' के पास अपील करने का अधिकार प्रान्तीय सभाओं को था।

प्रान्तीय राजधानियों में पौरसभा की सत्ता दिव्यावदान की एक अन्य कथा से भी प्रमाणित होती है। कथा इस प्रकार है—

एक बार राजा अशोक बहुत सख्त बीमार पड़े। अनेक इलाज कराये गये, परन्तु सफलता न हुई। राजा को अपने जीवन की आशा न रही। उसने सोचा कि शीघ्र ही कुमार कुनाल को राजगद्दी देकर निश्चिन्त हो जाना चाहिए। जब यह बात रानी 'तिष्यरक्षिता' को मालूम हुई, तो उसे बड़ी चिन्ता हुई। वह कुनाल की सौतेली माता थी, उससे द्वेष रखती थी, तथा उसे राज्याधिकार से वञ्चित रखना चाहती थी। इसलिए उसने राजा से कहा कि 'तुम्हारे स्वास्थ्य का उत्तरदायित्व मुझ पर है, मैं तुमको अच्छा करूँगी।' उसने राजा का इलाज शुरू किया। आखिर राजा स्वस्थ हो गया। रोग से मुक्त होकर राजा तिष्य रक्षिता पर बहुत प्रसन्न हुआ और उसे कोई वर माँगने

को कहा। तिष्यरक्षिता ने कहा—'मुझे सात दिन के लिए राज्य दे दीजिए।' अपने वचनानुसार राजा ने यही किया। तिष्यरक्षिता ने राज्य पाकर सोचा—यह बड़ा उत्तम अवसर मिला है। अब कुनाल से बदला लिया जा सकता है। इसलिए उसने एक कपटलेख तैयार किया और उसके द्वारा तक्षशिला के 'पौरों' को आज्ञा दी कि कुनाल (जो इस समय तक्षशिला का कुमार था) को अन्धा कर दो। उसने लिखा—

राजा अशोक ने 'तक्षशिलाजन' को आज्ञा दी है कि इस शत्रु की आँखों को निकाल कर फेंक दो। यह मौर्य-वंश का कलङ्क है।[1]

राजा अशोक को जो कार्य बहुत शीघ्रता से करना होता था, उसे वह अपने दन्त की मुद्रा से मुद्रित करता था। रानी तिष्यरक्षिता ने सोचा कि इस कपटलेख को भी राजा की दन्तमुद्रा से मुद्रित करना चाहिए। नहीं तो पौर इस पर विश्वास नहीं करेंगे और इसकी सत्यता के विषय में सम्राट् से पता लगावेंगे। परन्तु यदि यह दन्तमुद्रा से मुद्रित होगा, तो राजा की आज्ञानुसार बिना 'ननु नच' किये शीघ्र ही उन्हें इसके अनुसार कार्य करना पड़ेगा। इसलिए जब राजा सो रहा था, तब तिष्यरक्षिता ने उस आज्ञापत्र को राजा की दन्तमुद्रा से मुद्रित कर दिया। जब यह आज्ञापत्र तक्षशिला पहुँचा, तो 'पौरजानपदों' को बहुत आश्चर्य हुआ। वे कुनाल के गुणों तथा सत्कार्यों से

---

१. यावत् राज्ञा तिष्यरक्षितायाः सप्ताहं राज्यं दत्तम्। तस्या बुद्धिरुत्पन्ना। इदानीं मयास्य कुनालस्य वैरं निर्यातितव्यम्। तया कपटलेखो लिखितस्तक्षशिलानां पौराणां कुनालस्य नयनं विनाशयितव्यमिति। आह च।

राजा ह्यशोको बलवान् प्रचण्डः आज्ञापयत् तक्षशिलाजनं हि।
उद्धार्यतां लोचनमस्य शत्रोःमौर्यस्य वंशस्य कलङ्क एषः॥

राज्ञोऽशोकस्य यत्र कार्यम् आशु परिप्राप्यं भवति दन्तमुद्रया मुद्रयति।

दिव्यावदान पृ० ४०६. ४१०

उसको बहुत पसन्द करते थे। उनका साहस न हुआ कि कुमार को इसकी ख़बर की जावे। पर वह लेख तो दन्तमुद्रा से मुद्रित था, उसका शीघ्र पालन आवश्यक था। अतः उन्होंने राजा की आज्ञा कुनाल के सम्मुख पेश की। कुनाल ने स्वयं वधिकों को बुलाया और सम्राट् की आज्ञा का पालन होना ही चाहिए, इसलिए अपनी आँखें अपने आप ही बाहर निकलवा दीं।

यह कथा ठीक है या नहीं, इस विवाद में हम नहीं पड़ना चाहते। यदि इस कथा को 'निरी गप्प' भी समझा जावे, तब भी अशोक के समय में 'पौरसभा' की सत्ता इससे सूचित हो ही जाती है। यदि उस समय में 'पौरसभा' न होती तथा राजा की तरफ़ से उसके पास इस तरह से आज्ञायें न भेजी जातीं, तो इस कथा की रचना अन्य ही भाँति से की जाती। कथा की इस प्रकार से रचना ही पौरसभा की सत्ता तथा उसकी स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालती है।

अशोक का इतिहास तैयार करने के लिए जो सामग्री हमारे पास विद्यमान है, उससे तत्कालीन शासन-व्यवस्था के अन्य भी अनेक अङ्गों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। अशोक के शिलालेखों में अनेक राज्यकर्मचारियों के नाम आते हैं। 'चतुर्दश शिला-लेखों' में से तृतीय शिलालेख में राजूक, प्रादेशिक और युक्त नाम के कर्मचारियों का ज़िक्र आया है। इनमें से प्रत्येक पर क्रमशः विचार करने की आवश्यकता है। रज्जुक का क्या अभि-प्राय है, इस पर हम पहले भी विचार कर चुके हैं। ये राजशासन की बागडोर को सँभालनेवाले कर्मचारी होते थे। लाखों मनुष्यों के शासन का इन पर भार था। ये मन्त्रधर मन्त्री होते थे। कई विद्वानों की यह कल्पना कि "रज्जुक लेखक का काम करते थे। आजकल के कायस्थ जो काम करते हैं, वही काम उस समय के रज्जुक लोग करते थे"[1] ठीक नहीं प्रतीत होती। चतुर्थ स्तम्भ-

---

१. जनार्दन भट्ट—'अशोक के धर्मलेख' पृ० १२६

लेख में, जिसकी विशद् व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं, इनके जो कार्य वर्णित हैं, उनसे यह कल्पना सर्वथा निर्मूल प्रतीत होती है। राजूक शब्द को रज्जु से मिलाकर श्रीयुत भाण्डारकर लिखते हैं—"स्ट्रेबो ने एक प्रकार के अफ़सरों का वर्णन किया है, जो कि नदियों पर ध्यान रखते हैं, जिस प्रकार मिस्र में ज़मीन मापी जाती है, उस तरह ज़मीन को मापते हैं और 'उनको दण्ड या इनाम देते हैं जिन्हें देना चाहिए।' सम्भवतः स्ट्रेबो ने राजूकों को दृष्टि में रखते हुए ही यह वर्णन किया है। अतः राजूक न्यायाधीश और पैमाइश के आफ़िसर (Settlement Officer) दोनों ही का कार्य करते थे।[१]" परन्तु यदि चतुर्थ स्तम्भलेख पर अच्छी तरह ध्यान दिया जाय, तो इस कल्पना में भी बहुत सार नहीं रहता। जब अशोक 'राजूक' के कार्यों को स्वयं स्पष्ट कर रहे हैं, तो कल्पना की आवश्यकता ही क्या है? 'राजूक' तो उन अमात्यों का नाम है, जिनके हाथ में राज्यशासन का कार्य सौंप कर राजा उस तरह निश्चिन्त हो जाता था, जिस तरह माता अपने पुत्र को दाई के हाथ में सौंप कर निश्चिन्त हो जाती है। विविध राजूकों के हाथ में राज्य के विविध विभाग होते थे। इस प्रकार राजूकों को हम राज्य के मन्त्रियों का सूचक समझ सकते हैं।

'प्रादेशिक' को डा० थामस ने कौटिलीय अर्थशास्त्र के 'प्रदेष्ट्र' के साथ मिलाया है। डा० भाण्डारकर ने भी इस बात को स्वीकृत किया है। परन्तु इस समता में क्या हेतु है, यह हमें समझ नहीं आता। अर्थशास्त्र के प्रदेष्टा शब्द पर हम पहले विचार कर चुके हैं। प्रदेष्टा कण्टकशोधन (The Administrative Court) का न्यायाधीश होता था, और इसी कारण कर वसूल करने आदि के झगड़ों में—जिनमें राज्य और व्यक्ति का पारस्परिक मुक़दमा होता

---

१. D. R. Bhandarkar—Aśoka, पृ० ५५, ५६

है—यह समाहर्त्ता के साथ मिलकर काम करता था। यदि इस मत को स्वीकार किया जाय, तो 'प्रादेशिक' और 'प्रदेष्टृ' को मिलाने का प्रश्न उठ ही नहीं सकता। प्रदेष्टृ एक न्याय-सम्बन्धी कर्मचारी है और प्रादेशिक शासन-सम्बन्धी धात्वर्थ के अनुसार भी प्रदेष्टृ और प्रादेशिक को मिलाना उचित नहीं है। प्रादेशिक की स्थिति को निश्चित कर सकना बहुत कठिन नहीं है, सम्भवतः यह 'प्रदेश' का शासक होता था। अशोक का साम्राज्य 'विविध प्रदेशों' में विभक्त था और उनके शासक को 'प्रादेशिक' कहते थे। जिस प्रकार वर्तमान समय में कमिश्नर आदि अफ़सर होते हैं, उसी तरह अशोक के समय में 'प्रादेशिक' भी होता था।

'युक्त' शब्द से भी विशेष राजकर्मचारियों का ग्रहण होता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी 'युक्तों' का वर्णन है। साथ ही 'युक्त' के सहायक के लिए 'उपयुक्त' शब्द भी आया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में 'युक्त' के विषय में जो कुछ लिखा गया है, उससे यही प्रतीत होता है कि ये भी प्रादेशिक की तरह ही किसी प्रदेश-विशेष पर (प्रदेश की अपेक्षा छोटे विभाग पर) शासन किया करते थे। ये वहाँ का राज-कर वसूल करते, राजकीय सम्पत्ति का प्रबन्ध करते और राजकीय आय का सब हिसाब किताब रखते थे। श्रीयुक्त भाण्डारकर ने इन्हें ज़िले का शासक (District Officer) लिखा है[1]। वर्तमान ज़िले के शासकों (कलेक्टरों) की तरह इनके पास भी शासन-सम्बन्धी अनेक अधिकार थे। मनुस्मृति में इनके विषय में लिखा है—'प्रणष्ट हुए धन को पुनः प्राप्त होने पर 'युक्त' उसे सुरक्षित रखें। जिन पर बीच में ही धन खा जाने का दोष साबित हो जाय, उनको हाथी से

---

१. भाण्डारकर 'अशोक' पृ० ५२

कुचलवा दिया जाय[1]।" इससे भी 'युक्तों' की स्थिति के विषय में अच्छा प्रकाश पड़ता है। राज्य-कर वसूल करने का काम होने के कारण इन्हें बहुत अवसर था कि ये धन खा जाया करें, अतएव आचार्य चाणक्य लिखते हैं—'जिस तरह यह नहीं मालूम हो सकता कि पानी के भीतर रहती हुई मछली पानी पी रही है या नहीं, उसी तरह से यह भी पता नहीं लग सकता कि 'युक्त' धन उड़ा रहे हैं[2]'।

भारत में ये युक्त और उपयुक्त नामक राज-कर वसूल करने-वाले राजकर्मचारी बहुत समय तक विद्यमान रहते हैं। प्रसिद्ध राष्ट्रकूट राजा गोविन्द चतुर्थ (९३० ई० प०) ने अपने शिलालेख में राष्ट्रपति, ग्रामकूट और महत्तर आदि राजकर्मचारियों के साथ ही युक्त और उपयुक्त कर्मचारियों का भी उल्लेख किया है। इसी तरह प्रसिद्ध गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने शिलालेख में सम्भवतः इन्हीं कर्मचारियों को 'आयुक्त' और 'विनियुक्त' नाम से लिखा है। राजूक, प्रादेशिक और युक्त के सिवाय अन्य राजकर्मचारियों का वर्णन भी अशोक के शिलालेखों में आता है। इन पर भी विचार करना अत्यावश्यक है।

कलिङ्ग के प्रथम पृथक् शिलालेख में 'नागरकव्यावहारिकाः, (नगलक वियो [हा] लका) शब्द आया है। श्रीयुत डा० भाण्डारकर तथा अन्य विद्वानों ने इसे एक ही शब्द समझ कर इससे 'नगर-व्यावहारिक' नाम के राजकर्मचारियों का द्योतक

---

१. प्रणष्टाधिगतं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैरधिष्ठितम्।
यांस्तत्र चौरान् गृह्णीयात्तान् राजेभेन घातयेत्॥
मनुस्मृति ८। ३४

२. मत्स्या यथान्तस्सलिले चरन्तो ज्ञातुं न शक्या सलिलं पिबन्तः।
युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ताः ज्ञातुं न शक्या धनमाददानाः॥
कौ० अर्थ० २। ९.

बताया है।[१] परन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होता। 'नगलक वियोहालका' यह मूल पाठ है। इससे 'नागरक' और 'व्यावहारिक' नाम के दो कर्मचारियों को ग्रहण करना चाहिए। कौटिलीय अर्थशास्त्र में अष्टादश महामात्यों का परिगणन करते हुए 'पौर' और 'व्यावहारिक' का भी परिगणन है। श्रीयुत जायसवाल ने वहाँ इन दोनों को पृथक् पृथक् ही माना है।[२] पौर और नागरक एक ही बात है, इसमें कोई सन्देह नहीं। 'पौर' तथा 'व्यावहारिक' से कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार किन कर्मचारियों का ग्रहण होता है, इस पर हम पहले विचार कर चुके हैं। यहाँ अशोक के शिलालेखों में उन्हीं दोनों कर्मचारियों का उल्लेख है, और इनके वही कार्य समझने चाहिए। इन दोनों अमात्यों के कार्यों पर अशोक के इस वचन से भी कुछ प्रकाश पड़ सकता है।—

'एताए अथाए इयं लिपि लिखित हिद एन नगलक वियोहालका
सवतं समयं यूजेवू (ति नगलज) नस अकस्मा पलिबोधे
व अकस्मा पलिकिलेसे व नो सियाति।'

अर्थात् 'यह लेख इसलिए लिखा गया कि जिससे नागरक और व्यावहारिक इस बात का यत्न करें कि नगरनिवासियों को अकारण बन्धन या अकारण दण्ड न हो।' निस्सन्देह नागरकों का कार्य शासन होने से वे बन्धन करते थे और व्यावहारिकों का कार्य न्याय करना होने से वे दण्ड देते थे। इसी लिए अशोक ने उन्हें सावधान किया है कि वे अकारण ही बन्धन और दण्ड न दें।

चतुर्दश शिलालेखों में से बारहवें शिलालेख में धर्ममहामात्र, स्त्रियध्यक्ष-महामात्र और व्रजभूमिक (धममहामाता, इथीझख-महामाता, वचभूमीका) नाम के अमात्यों व राजकर्मचारियों का भी उल्लेख आया है। इनके सम्बन्ध में अशोक लिखते हैं—

---

१. Bhandarkar—Aśoka, p. 56.

२. Jayaswal—Hindu Polity, Vol. II., p. 134.

"क्योंकि देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है कि सब सम्प्रदायवाले बहुत विद्वान् और कल्याण का कार्य करनेवाले हों। इसलिए जहाँ जहाँ जो जो सम्प्रदायवाले हों, उनसे कहना चाहिए कि देवताओं के प्रिय दान या पूजा को इतना बड़ा नहीं समझते जितना इस बात को कि सब सम्प्रदायवालों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। इस कार्य के निमित्त बहुत से धर्ममहामात्र, स्त्रियध्यक्ष-महामात्य तथा अन्य अनेक राजकर्मचारिगण नियुक्त किये गये हैं। इसका फल यह है कि अपने सम्प्रदाय की वृद्धि होती है और धर्म का विकाश होता है।"

ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट् अशोक ने अपने 'धम्म' के प्रचार के लिए इन नवीन महामात्रों को नियत किया था। क्योंकि इनका कार्य ही मुख्यतः धम्म का प्रचार बतलाया गया है। अशोक अपने पञ्चम शिलालेख में इस बात को अपने आप ही स्पष्ट करते हैं। आप लिखते हैं—

"धर्ममहामात्र पहले कभी निश्चित नहीं किये गये। पर मैंने राज्याभिषेक के तेरह वर्ष बाद इन धर्ममहामात्रों को नियुक्त किया। ये (धर्ममहामात्र) धर्म की रक्षा करने के लिए, धर्म की वृद्धि करने के लिए और धर्मात्मा जनों के हित और सुख के लिए सब सम्प्रदायों में कार्य करने को नियत किये गये हैं।"

ये धर्ममहामात्र धर्म के प्रचार और वृद्धि के लिए नियत किये गये थे। धर्म' शब्द से अशोक का क्या अभिप्राय है, इस पर हम पहले विचार कर चुके हैं। उसी धर्म के प्रचार और वृद्धि के लिए ये विविध प्रकार के लोकोपकारक कार्य करते थे। धर्म का अनुसरण करनेवालों के मार्ग में जो रुकावटें आती हैं, ये उनका निवारण करते थे। ब्राह्मण, गृहपति, अनाथों और वृद्धों के सुख और हित के लिए यत्न करते थे। जब किसी को अनुचित रूप से क़ैद या वध की आज्ञा होती थी, तो उसे ये रुकवा देते थे या दण्ड को बदलवा देते थे। यदि कभी दण्ड तो न्याय-

पूर्वक दिया गया हो परन्तु अपराधी व्यक्ति बहुत बड़े परिवार-वाला हो, आपत्ति का मारा हुआ हो या अत्यन्त वृद्ध हो, तो उस पर भी धर्ममहामात्र दया प्रदर्शित करते थे।[1] ये धर्ममात्र केवल मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत प्रदेशों में ही नियत थे। इन्हीं के कार्यों को करने के लिए अशोक ने साम्राज्य से बाहर भी अपनी तरफ़ से कर्मचारियों को नियत किया था। ये कर्मचारी 'अन्तमहामात्र' कहाते थे। प्रायः अन्तमहामात्र को कौटिलीय अर्थशास्त्र के अन्तपाल से मिलाया गया है। परन्तु सप्तस्तम्भ लेखों में से प्रथम लेख में आये 'अन्तमहामात्र' शब्द पर यदि विचार किया जाय, तो प्रतीत होगा कि जिस प्रकार अपने साम्राज्य में धर्म की वृद्धि के लिए धर्ममहामात्र आदि कर्मचारी थे, उसी तरह साम्राज्य के बाहर अन्तमहामात्र। 'अन्तमहामात्र' से अन्तपाल (High Officer of the Frontiers) का ग्रहण नहीं किया जा सकता, यह इस बात से भी स्पष्ट है कि पञ्चम शिलालेख (चतुर्दश शिला लेख) में यवन, गान्धार, कम्बोज, राष्ट्रिक पेतनिक आदि सीमान्त प्रदेशों में धर्म के प्रचार और वृद्धि के लिए 'धर्ममहामात्रों' की ही नियुक्ति बताई गई है। यदि इनमें धर्म के प्रचार और वृद्धि के लिए अन्तमहामात्रों की नियुक्ति हुई होती, तो अशोक पञ्चम शिलालेख में ऐसा कदापि न लिखते। अशोक के शिलालेखों में जहाँ भी 'अन्त' शब्द आया है, वहाँ इसका अर्थ या तो 'सीमावर्ती राजा' है और या 'सीमावर्ती राज्य।'[2]

'स्त्रियध्यक्ष महामात्र' का क्या अभिप्राय है, यह निश्चित कर सकना बहुत कठिन है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में 'स्त्रियध्यक्ष' का कहीं वर्णन नहीं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अर्थशास्त्र में स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले अनेक जटिल प्रश्नों पर

---

१. चतुर्दश शिलालेखों में पञ्चम धर्मलिपि।

२. भाण्डारकर- अशोक पृ० ५८।

विचार किया है। क़ानून के प्रकरण में स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले विशेष क़ानूनों का वर्णन है। असहाय स्त्रियों की सहायता के लिए राज्य की ओर से विशेष रूप से प्रबन्ध किया जाता था। इन बातों को देखकर डा० भाण्डारकर की कल्पना है कि स्त्रियों के लिए यदि कौटिल्य के समय में भी कोई 'स्त्रियध्यक्ष' होता हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।[1] परन्तु द्वादश शिलालेख में जिस 'स्त्रियध्यक्ष महामात्र' का वर्णन आता है, उसके कार्य कौटिल्य के कल्पित स्त्रियध्यक्ष से सर्वथा भिन्न हैं। उसकी नियुक्ति तो अशोक के 'धम्म' के लिए की गई है। अतः 'स्त्रियध्यक्ष महामात्र' की स्थिति जानने के लिए पञ्चम शिलालेख के इन वाक्यों पर ध्यान देना चाहिए—"ये यहाँ (पाटलिपुत्र में) और बाहर के सब नगरों में—सब जगह हमारे भाइयों, बहनों तथा दूसरे रिश्तेदारों के अन्तःपुरों में नियुक्त हैं।" यह कल्पित करना कठिन नहीं है कि अन्तःपुरों में—स्त्रियों के बीच में धर्म का प्रचार और वृद्धि के लिए स्त्रियाँ ही नियुक्त की जाती थीं और इन्हीं को 'स्त्रियध्यक्षमहामात्र' कहा जाता था।

'व्रजभूमिक' का अर्थ ठीक ठीक निश्चित नहीं हुआ है। इस पर टिप्पणी करते हुए काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा-द्वारा सम्पादित 'अशोक की धर्मलिपियाँ' पुस्तक में इस प्रकार लिखा गया है—"(१) 'व्रच' को 'वर्च' मानकर 'शौच, भूमि को शुद्ध करनेवाले' अर्थ करना हास्यास्पद है। (२) व्यापार, यात्रा आदि के मार्गों के अधिकारी, संभव है कि अशोक ने इनसे यात्रियों की सम्हाल, उनसे कर उगाहने आदि के साथ सब धर्मों की ओर प्रेमभाव का उपदेश देने का काम भी लिया हो, (३) चरागाहों के अध्यक्ष, जिनकी सम्हाल में व्रज (गोष्ठान) थे। कौटिल्य ने उनके विषय में बहुत लिखा है, सम्भव है नगरों के बाहर लोगों के आने जाने के मार्गों के पास रहने के कारण वे भी सर्व-धर्म-समादर का उपदेश देने के लिए नियत किये गये हों। (४) प्रसिद्ध

---

१. भाण्डारकर—अशोक—पृ० ५६,५७

व्रजभूमि मथुराप्रान्त के निवासी अधिक यात्राप्रिय या धर्मकथा-प्रचार-कुशल या अन्यदेशीय समझ कर (पाटलिपुत्र आदि में) इस काम पर नियत किये गये हों।"

यद्यपि इस टिप्पणी में 'व्रजभूमिक' के विषय में जो भी विचार किया गया है प्रायः सब का संग्रह होगया है, फिर भी इससे संतोष नहीं होता। 'व्रजभूमिक' के वास्तविक अभिप्राय का पता लगा सकना अभी असम्भव ही प्रतीत होता है।

इस प्रकार अशोक के इतिहास की जो पृथक् सामग्री उपलब्ध होती है, उसको सम्मुख रख कर अशोक की 'शासन-व्यवस्था' पर हमने विचार किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह 'शासन-व्यवस्था' मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक सम्राट् चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। अशोक के समय तक मौर्य-साम्राज्य अच्छी तरह दृढ़ हो चुका था और इसकी 'शासन व्यवस्था' भी परिपक्वावस्था को पहुँच चुकी थी। चन्द्रगुप्त की शासन-व्यवस्था में उसके उत्तराधिकारियों ने कोई विशेष परिवर्तन नहीं किये। केवल अशोक ने ही 'धम्म' के प्रचार के लिए धर्ममहामात्र आदि अमात्यों की उत्पत्ति की।

अन्त में इस प्रकरण को अशोक के शासन-सूत्र के साथ समाप्त करना उचित है। अपने कार्य को अशोक किस भाव से करता था इस सम्बन्ध में वह स्वयं लिखता है—

"सब लोगों का हित करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। सब लोगों का हित बिना परिश्रम और राजकार्यसम्पादन के नहीं हो सकता। सब लोगों के हित-साधन की अपेक्षा और कोई बड़ा कार्य नहीं है। जो कुछ मैं पराक्रम करता हूँ, सो इसलिए कि प्राणियों के प्रति मेरा जो ऋण है, उससे उऋण होऊँ। यहाँ कुछ लोगों को सुखी करूँ तथा परलोक में उन्हें स्वर्ग का लाभ कराऊँ"।

———

इक्कीसवाँ अध्याय



अशोक के शिलालेख

सम्राट् अशोक के बहुत से उत्कीर्ण लेख वर्तमान समय में उपलब्ध होते हैं। मौर्य्यकाल का इतिहास तैयार करने में इनसे बहुत अधिक सहायता मिली है। हमने इनका स्थान स्थान पर विस्तार के साथ प्रयोग किया है। ये लेख शिलाओं, पत्थर की ऊँची लाटों और गुफाओं में उत्कीर्ण किये गये हैं। इस अध्याय में हम इनका संक्षिप्त रूप से वर्णन करेंगे—

(१) चतुर्दश शिलालेख

ये अशोक के विस्तृत साम्राज्य में चारों तरफ़ सात भिन्न भिन्न स्थानों पर पाये गये हैं। सब स्थानों पर थोड़े बहुत भेद के साथ चौदह लेख उपलब्ध होते हैं। इनके प्राप्तिस्थान निम्न-लिखित हैं—

१. शाहबाजगढ़ी—उत्तर-पश्चिमीय सीमाप्रान्त में पेशावर से चालीस मील उत्तर-पूर्व की ओर यूसूफजाई ताल्लुके में शाहबाज़-गढ़ी नाम का गाँव है। उससे आध मील की दूरी पर चतुर्दश शिलालेखों की एक प्रति उपलब्ध हुई है। यह चौबीस फ़ीट लम्बी, दस फ़ीट ऊँची और दस फ़ीट मोटी एक विशाल शिला पर उत्कीर्ण हुई है। इस शिला पर बारहवें लेख को छोड़ कर अन्य सब लेख खुदे हुए हैं। बारहवाँ लेख पचास गज़ की दूरी पर एक दूसरी शिला पर उत्कीर्ण है। शाहबाजगढ़ी गाँव पुराना नहीं है, परन्तु प्राचीन काल में यहाँ पर एक बहुत बड़ा शहर विद्यमान

था। कनिंघम के अनुसार ह्य नत्सांग-द्वारा वर्णित पो-लु-शा[१] नाम का नगर इसी स्थान पर स्थित था। यह बौद्धों का प्रसिद्ध तीर्थ था। डा० भाण्डारकर के अनुसार अशोक के साम्राज्य के यवन प्रान्त की राजधानी, सम्भवतः, इसी स्थान पर थी।[२] इसी लिए इस महत्त्वपूर्ण स्थान पर अशोक ने अपने 'धम्म' के संदेश को उत्कीर्ण कराया था।

२. मानसेरा—यह स्थान उत्तर-पश्चिमीय सीमाप्रान्त में एबटाबाद से पन्द्रह मील उत्तर की तरफ़, हजारा ज़िले में है। यहाँ पहले बारह लेख ही उपलब्ध हुए हैं। पिछले दो लेख अभी तक प्राप्त नहीं किये जा सके। सम्भवतः, वे किसी अलग शिला पर उत्कीर्ण कराये गये थे, जो कि अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। मानसेरा का लेख जिस शिला पर उत्कीर्ण है, उसके समीप से सम्भवतः, प्राचीन काल में वह सड़क जाती थी, जिसके द्वारा तीर्थयात्री लोग भट्टारिका देवी (दुर्गा) के दर्शन के लिए जाया करते थे। अब भी उधर 'ब्रेरी' नाम का तीर्थस्थान है, जो भट्टारिका का अपभ्रंश मालूम होता है।

३. कालसी—यमुना नदी हिमालय की दुर्गम पर्वत-माला को छोड़ कर जहाँ मैदान पर उतरती है, उसके समीप ही कालसी नामक गाँव से आध मील की दूरी पर अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की तीसरी प्रति उपलब्ध हुई है। इस स्थान के समीप प्राचीन काल में श्रुघ्न नाम का प्रसिद्ध नगर था, जिसका ज़िक्र प्राचीन साहित्य में अनेक स्थलों पर आता है।

४. गिरनार—काठियावाड़ के जूनागढ़ नामी नगर के पूर्व में गिरनार पर्वत अत्यन्त प्राचीन स्थान है। बहुत पुराने समय से यह जैनों का तीर्थस्थान चला आता है। किसी समय में यह शैवों का भी तीर्थ रह चुका है। सुराष्ट्र (गुजरात) की प्राचीन

---

१. Beal—Buddhist Records of the Western World, p. 112.

२. Bhandarkar—Aśoka, p. 250.

राजधानी गिरिनगर भी इसी स्थान पर थी । दक्षिण-पश्चिमीय भारत में यह स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है । यहाँ रुद्रदामन और स्कन्दगुप्त के भी शिलालेख उपलब्ध हुए हैं । ऐसे आवश्यक स्थान पर सम्राट् अशोक ने भी अपने धम्म-सन्देश को उत्कीर्ण कराया था ।

५. सोपारा—यह स्थान बम्बई के उत्तर में थाना ज़िले के अन्तर्गत है । प्राचीन काल में यह भी बड़ा महत्त्व-पूर्ण स्थान रहा है । महाभारत में इसके लिए 'शूर्पारक' नाम आया है । 'पैरिप्लस' के लेखक ने इसे 'सुप्पारा' और टाल्मी ने 'साँपारा' लिखा है । प्राचीन 'अपरान्त देश' की यही राजधानी था । यहाँ आठवें शिलालेख का थोड़ा सा ही हिस्सा उपलब्ध हुआ है, परन्तु इससे यह अनुमान कर सकना कठिन नहीं है कि किसी समय यहाँ चतुर्दश शिलालेखों की पूरी प्रति विद्यमान थी, जो इस समय या तो नष्ट हो चुकी है और या अभी प्राप्त नहीं की जा सकी है ।

६. धौली—उड़ीसा के पुरी ज़िले में भुवनेश्वर से दक्षिण में सात मील की दूरी पर धौली नाम का एक गाँव है । मौर्य-काल में यहाँ पर तुषाली नाम का विशाल नगर स्थित था । कलिङ्ग की राजधानी यही नगरी थी और इसी को अशोक ने कलिङ्ग के सूबे की राजधानी बनाया था । धौली नामक गाँव के पास "अश्वस्तम' नामी एक शिला है, जिस पर अशोक के लेख उत्कीर्ण हैं । चतुर्दश शिलालेखों में ११ वें, १२ वें और १३ वें लेख यहाँ नहीं मिलते, उनके स्थान पर दो अन्य विशेष लेख मिलते हैं, जिन्हें कि अशोक ने कलिङ्ग के लोगों के लिए ख़ास तौर पर उत्कीर्ण कराया था ।

७. जौगढ़—मद्रास-प्रान्त के गञ्जाम नगर से अठारह मील उत्तर-पश्चिम और ऋषिकुल्या नदी के समीप जौगढ़ नामी एक प्राचीन दुर्ग में अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की सातवीं प्रति उपलब्ध हुई है । यहाँ पर भी धौली के लेखों के समान, ११

वें, १२ वें और १३ वें लेखों के स्थान पर दो विशेष लेख उत्कीर्ण हैं, जो कि कलिङ्ग के लिए लिखवाये गये थे।

(२) लघु शिला-लेख

ऐतिहासिक स्मिथ के अनुसार लघु शिलालेख अशोक के उत्कीर्ण लेखों में सबसे प्राचीन हैं[१]। चतुर्दश शिलालेखों की भाँति ये भी साम्राज्य के सुदूरवर्त्ती प्रदेशों में उपलब्ध होते हैं। ये लघु शिलालेख निम्नलिखित स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं—

१. रूपनाथ—मध्य प्रान्त के जबलपुर ज़िले में कैमूर पर्वतमाला की उपत्यका में एक शिला पर यह लेख उत्कीर्ण है। सम्पूर्ण स्थान जङ्गली जानवरों और दुर्गम चट्टानों से भरा हुआ है। यह अब भी हिन्दुओं का तीर्थस्थान है और प्रतिवर्ष बहुत से यात्री शिव की उपासना करने के लिए यहाँ एकत्रित होते हैं।

२. सहसराम—बिहार-प्रान्त के शाहाबाद ज़िले में सहसराम नाम का कसबा है। उसके पूर्व में चन्दनपीर पर्वत की एक कृत्रिम गुफा में यह लेख उत्कीर्ण है। अशोक के समय में यह भी एक तीर्थस्थान था, और यात्री लोग यहाँ भी एकत्रित हुआ करते थे[२]। वर्त्तमान समय में यहाँ एक मुसलमान फक़ीर की दरगाह है।

३. बैराट—यह स्थान राजपूताने की जयपुर रियासत में है। इसके समीप ही हिन्सगीर नामी पहाड़ी के नीचे लघु शिलालेखों की एक अन्य प्रति उपलब्ध हुई है। पुरानी अनुश्रुति के अनुसार पाण्डव लोग वनवास के अन्त में इसी स्थान पर आकर रहे थे।

४. सिद्धपुर—यह उत्तरीय माइसूर के चितलदुर्ग ज़िले में है।

---

१. V. A. Smith—Aśoka (third edition), p. 132.

२. V. A. Smith—Aśoka, p. 134.

५. जतिङ्गरामेश्वर—यह भी उत्तरीय माइसूर के चितलदुर्ग ज़िले में ही है।

६. ब्रह्मगिरि—यह भी माइसूर के चितलदुर्ग ज़िले में है। सिद्धपुर, जतिङ्गरामेश्वर और ब्रह्मगिरि—तीनों स्थान समीप समीप हैं और यहाँ पर किसी प्राचीन विशाल नगरी के भग्नावशेष दृष्टिगोचर होते हैं।

७. मास्की—यह हैदराबाद (निज़ाम) रियासत के रायचूर जिले में है। इस स्थान पर जो शिलालेख उपलब्ध हुआ है, वह बहुत भग्नावस्था में है। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उसका बड़ा महत्त्व है। उसी से यह बात प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो सकी है कि ये शिलालेख अशोक के ही हैं। उसमें स्पष्ट रूप से सम्राट् अशोक का नाम आया है[1]। अन्य लेखों में 'प्रियदर्शिन्' शब्द आता है, अशोक नहीं।

यह नहीं समझना चाहिए कि इन सातों स्थानों पर एक ही लेख की भिन्न भिन्न प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। माइसूर के तीनों स्थानों—सिद्धपुर, जतिङ्गरामेश्वर और ब्रह्मगिरि—पर, थोड़े से पाठभेद के साथ, एक समान लेख उत्कीर्ण हैं। यह दो भागों में विभक्त है। पहला भाग या पहला लेख बहुत से पाठभेद के साथ अन्य चारों स्थानों पर भी मिलता है, परन्तु दूसरा भाग अन्य स्थानों पर उत्कीर्ण नहीं है, वह केवल माइसूर के तीन स्थानों पर ही है।

(३) भाब्रू का शिलालेख

जयपुर रियासत में वैराट नगर के पास ही एक पहाड़ी की चट्टान पर यह शिलालेख उत्कीर्ण हुआ था। प्राचीन समय में यहाँ एक बौद्ध विहार था और अशोक ने इस लेख को इसलिए

---

१. 'देवानां पियस असोकस············ढत' (मास्की का लघु शिलालेख)

लिखवाया था कि सङ्घ में निवास करनेवाले भिक्षुओं को आदेश दिये जावें। इस शिलालेख के द्वारा अशोक ने उन बौद्ध धर्म-पुस्तकों के नाम विज्ञापित किये थे, जिन्हें वह इस योग्य समझता था कि लोग उनका विशेष रूप से अनुशीलन करें। सम्भवतः, इसी प्रकार के शिलालेख अन्य बौद्ध विहारों में भी लग-वाये गये थे। आजकल यह शिलालेख कलकत्ता-म्यूजियम में विद्यमान है।

(४) सप्त स्तम्भलेख

शिलाओं के समान, स्तम्भों (Pillars) पर भी अशोक ने लेख उत्कीर्ण कराये थे। अशोक के स्तम्भलेख निम्नलिखित स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं—

१. दिल्ली में टोपरा स्तम्भ—यह स्तम्भ वर्तमान समय में दिल्ली के समीप विद्यमान है। सामान्यतया, यह 'फ़ीरोजशाह की लाट' के नाम से मशहूर है। पहले यह स्तम्भ दिल्ली से ६० मील दूर यमुना के किनारे टोपरा (अम्बाला ज़िला) नामक स्थान पर स्थित था। सुलतान फीरोजशाह तुग़लक का सम-कालीन लेखक 'शम्सि-सिराज' लिखता है कि सुलतान फ़ीरोजशाह इस लाट को टोपरा से दिल्ली लाया। इस स्तम्भ पर अशोक के सातों लेख उत्कीर्ण हैं।

२. दिल्ली में मेरठ-स्तम्भ—यह दूसरा स्तम्भ भी दिल्ली में ही है। पहले यह मेरठ में था, पर सुलतान फ़ीरोज तुगलक इसे मेरठ से दिल्ली ले आया। कहते हैं कि फर्रुखसियर (१७१३ से १७१९ तक) के शासनकाल में बारूदख़ाने के फट जाने से इस स्तम्भ को बहुत नुकसान पहुँचा। यह गिर गया और अनेक टुकड़ों में विभक्त होगया। पीछे से १८६७ में इसे फिर यथापूर्व खड़ा कर दिया गया। इसके लेख प्रायः अस्पष्ट और अपूर्ण हैं।

३. इलाहाबाद-स्तम्भ—अशोक का तीसरा स्तम्भ इलाहाबाद में है। इस पर दो लेख पूर्णतया उत्कीर्ण हुए हैं। ये कौशाम्बी के शासनाधिकारियों को सम्बोधन करके लिखे गये हैं, इससे अनुमान होता है कि यह स्तम्भ पहले कौशाम्बी में ही विद्यमान था। कौशाम्बी इलाहाबाद से तीस मील दूर यमुना के किनारे पर था। आजकल वहाँ 'कोसम' नाम का कसबा है। इस स्तम्भ पर प्रसिद्ध गुप्तवंशी सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति भी उत्कीर्ण है। सम्भवतः, सुलतान फीरोजशाह तुग़लक ही इस स्तम्भ को कौशाम्बी से इलाहाबाद ले गया था।

४. लौढ़िया अरराज-स्तम्भ—बिहार के चम्पारन ज़िले में राधिया नाम का गाँव है। उससे २½ मील पूर्व-दक्षिण में अरराज महादेव का मन्दिर है। वहाँ से मील भर दूर लौढ़िया नामी स्थान पर यह स्तम्भ विद्यमान है। इस पर भी अशोक के लेख उत्कीर्ण हुए हैं।

५. लौढ़िया नन्दनगढ़—यह भी बिहार के चम्पारन ज़िले में है। पूर्व वर्णित लौढ़िया स्थान से उत्तर-पश्चिम में नैपालराज्य की तरफ़ जाते हुए लौढ़िया-नन्दनगढ़ का स्तम्भ दिखलाई पड़ता है। प्राचीन नन्दनगढ़ नगर के भग्नावशेष इसके समीप ही उपलब्ध होते हैं। डा० ब्लोच की सम्मति में, ये अवशेष मौर्य्यकाल से भी पहले के हैं[१]। इसी स्थान पर पिप्पलवन का प्रसिद्ध स्तूप प्राप्त हुआ है, जो कि भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

६. रामपुरवा स्तम्भ—यह स्तम्भ भी चम्पारन ज़िले में विद्यमान है। ऐतिहासिक स्मिथ के अनुसार ये तीनों स्तम्भ उस प्राचीन राज-मार्ग को सूचित करते हैं, जो कि गङ्गा के उत्तरीय तट पर राजधानी पाटलिपुत्र से नैपाल की घाटी की तरफ़ जाता था[२]। इस राजमार्ग पर आने-जानेवाले यात्रियों का ध्यान

---

१. Bhandarkar—Aśoka, p. 261.

२. V. A. Smith—Aśoka, p. 120.

आकृष्ट करने के लिए ही अशोक ने इन स्तम्भों पर अपने 'धम्म' के सन्देश को उत्कीर्ण कराया था। चम्पारन ज़िले की इन लाटों में से पहली दो पर सप्तस्तम्भ लेखों में से पहले छः लेख उत्कीर्ण हुए हैं। रामपुरवा की लाट पर केवल पहले चार ही लेख मिलते हैं।

इसी तरह इलाहाबाद-स्तम्भ पर पहले छः लेख मिलते हैं, यद्यपि पूर्णावस्था में केवल दो ही लेख हैं। दिल्ली-मेरठ-स्तम्भ पर पहले पाँच लेख भग्नावस्था में अस्पष्ट रूप से उत्कीर्ण हैं। सातवाँ लेख केवल दिल्ली टोपरा स्तम्भ पर ही मिलता है। यह लेख बहुत आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है। इसमें अशोक ने 'धम्म' के प्रचार के लिये काम में लाए सब उपायों की आलोचना की है।

(५) लघु स्तम्भ-लेख

ये तीन स्थानों में तीन स्तम्भों पर उत्कीर्ण हुए मिलते हैं। स्थान निम्नलिखित हैं—

१. सारनाथ—बनारस के उत्तर में ३½ मील के लगभग दूर सारनाथ नाम का अत्यन्त प्राचीन स्थान है। पुरातत्त्व की दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है। यहाँ से बहुत प्राचीन समय के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। भगवान् बुद्ध ने इसी स्थान पर धर्म-चक्र को प्रवर्त्तित किया था। आज भी यहाँ के पुराने भग्नावशेष बौद्ध धर्म के प्राचीन गौरव का स्मरण कराते हैं। इन्हीं अवशेषों में एक स्तम्भ पर अशोक का यह प्रसिद्ध लेख उत्कीर्ण है। इसमें बौद्ध संघ में फूट डालनेवालों के लिए कड़े दण्ड का विधान किया गया है।

२. साञ्ची—मध्यभारत की भूपाल रियासत में साञ्ची बहुत प्रसिद्ध स्थान है। जी० आई० पी० रेलवे से यह स्थान स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। साञ्ची के विशाल स्तूप के दक्षिणीय द्वार पर, एक टूटे हुए प्राचीन स्तम्भ पर यह लेख उत्कीर्ण है। यह सारनाथ के लेख का ही अपूर्ण और परिवर्त्तित स्वरूप है। इस

में भी बौद्धसंघ में फूट डालनेवालों के लिए दण्ड का विधान किया गया है।

३. इलाहाबाद या कौशाम्बी—'सप्त स्तम्भ लेखों' के विषय में लिखते हुए हम इलाहाबाद के स्तम्भ का वर्णन कर चुके हैं। इसी स्तम्भ पर यह लेख भी उत्कीर्ण है। साञ्ची के लेख की तरह यह भी अपूर्ण और परिवर्त्तित है। इलाहाबाद का स्तम्भ पहले कौशाम्बी में स्थित था, इसलिए इस लेख को प्रायः कौशाम्बी-लेख कहा जाता है।

(६) अन्य स्तम्भ-लेख

ऊपर जिन स्तम्भ-लेखों का वर्णन किया गया है, उनके अतिरिक्त सम्राट् अशोक के अन्य भी कुछ स्तम्भलेख उपलब्ध होते हैं। इनका वृत्तान्त संक्षेप में इस प्रकार है—

१. रुम्मिनदेई स्तम्भ—नैपाल राज्य की भगवानपुर तहसील में पडेरिया नाम का गाँव है, उससे एक मील दूर उत्तर में रुम्मनदेई का मन्दिर है। यह स्थान ब्रिटिशराज्य के बस्ती ज़िले से छः मील उत्तर में है। यहाँ पर एक प्राचीन स्तम्भ के ऊपर अशोक का लेख उत्कीर्ण हुआ है। यद्यपि यह लेख बहुत छोटा है, परन्तु इसका महत्त्व बहुत अधिक है। इस पर लिखा हुआ है कि 'यहाँ भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था।' बुद्ध के जन्मस्थान प्रसिद्ध लुम्बिनीवन का निश्चय इसी लेख के द्वारा किया जा सका है। बौद्ध साहित्य में वर्णित अशोक की तीर्थयात्रा का भी इस लेख-द्वारा पक्का प्रमाण मिल जाता है।

२. निग्लीव-स्तम्भ—रुम्मनदेई स्तम्भ के उत्तर पश्चिम में तेरह मील दूर निग्लीव स्तम्भ उपलब्ध हुआ है। यह निग्लीव नाम के गाँव के पास, निग्लीव सागर के पश्चिमीय तट पर स्थित है। यह स्थान भी नैपालराज्य में है। इस स्तम्भ को भी तीर्थयात्रा के सम्बन्ध में ही स्थापित किया गया था। इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण हुए लेख में अशोक-द्वारा कनकमुनि बुद्ध के स्तूप के मरम्मत किये जाने का उल्लेख है।

३. रानी का लेख—यह लेख इलाहाबाद के स्तम्भ पर ही उत्कीर्ण है। इसमें सम्राट् अशोक ने अपनी दूसरी रानी कारु-वाकी के दान का उल्लेख किया है।

(७) गुहा-लेख

शिलाओं और स्तम्भों के सिवाय गुहाओं में भी सम्राट् अशोक ने कुछ लेख उत्कीर्ण करवाये थे। इस प्रकार के तीन लेख अब तक उपलब्ध हुए हैं। इनमें सम्राट्-द्वारा 'आजीवकों' को दिये गये दान का उल्लेख किया गया है। जिन गुहाओं में ये लेख उत्कीर्ण हैं, उन्हें अशोक ने आजीवकों को दान किया था।

अशोक के लेखों से युक्त गुहायें गया से सोलह मील उत्तर में 'बराबर' नाम की पहाड़ी में विद्यमान हैं। ये गुहायें कृत्रिम रूप से बनाई गई हैं। इनके निर्माण में बहुत अधिक परिश्रम तथा धैर्य्य की आवश्यकता हुई होगी। इन्हें पहाड़ी को काट कर बनाया गया है।

अशोक के इन उत्कीर्ण लेखों में क्या कुछ लिखा गया है, इसके सम्बन्ध में कुछ भी निर्दिष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। इनका हमने अशोक के इतिहास के लिए बड़े विस्तृत रूप से प्रयोग किया है, और प्रायः सभी लेखों का उपयोग किया जा चुका है। इसलिए इस विषय को छोड़ देना ही उचित है।

बाईसवाँ अध्याय

मौर्यकालीन कृतियाँ

(Monuments)

प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् अशोक ने बहुत से स्तूपों, विहारों व भवनों का निर्माण कराया था। दिव्यावदान लिखता है कि अशोक ने चौरासी हज़ार स्तूप बनवाये थे[1]। महावंश के अनुसार अशोक ने चौरासी हज़ार विहारों का निर्माण कराया था[2] और ये सब विहार तीन वर्षों में ही बनवा दिये गये थे[3]। चीनी यात्री ह्यूनसांग के अनुसार भी अशोक ने चौरासी हज़ार स्तूपों का निर्माण किया था[4]। यह सब अनुश्रुति सूचित करती है कि अशोक बहुत से स्तूपों, विहारों आदि का बनवाने-वाला था।

समय के प्रभाव से अशोक की प्रायः सभी कृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं। परन्तु अब से बहुत समय पहले चीनी यात्रियों ने इनका अवलोकन किया था। इनके लिखे वृत्तान्तों से हमें ज्ञात होता है कि अशोक-विषयक ये साहित्यिक अनुश्रुतियाँ सर्वथा अशुद्ध नहीं हैं। इनमें अत्युक्ति हो सकती है, पर ये अशुद्ध

---

१. Cowell and Neil—Divyavadan, p. 429.

२. "सुत्वान चतुरासीति धम्मक्खन्धा' ति सोब्रवी
'पूजेमि ते'हं पच्चेकं विहारेनाति' भूपति।"
इत्यादि महावंश ५।८०

३. "विहारे ते समारद्धे सब्बे सब्ब पुरेसु' पि
साधुकं तीहि वस्सेहि निट्ठापेसुं मनोरमे।"
महावंश ५।१७४-५

४. Beal—Buddhist Records of the Western World, Book VIII, p. 94.

नहीं कही जा सकतीं। इनसे केवल यही प्रकट होता है कि अशोक की कृतियों ने प्राचीन लोगों के दिलों पर कैसा प्रभाव उत्पन्न किया हुआ था।

पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में चीनी यात्री फाहियान भारत में आया था। इसने स्वयं अपनी आँखों से अशोक की अनेक कृतियों का अवलोकन किया था। यद्यपि इसके समय में अशोक को मरे सात सदियों के लगभग समय व्यतीत हो चुका था, पर इतने समय बाद भी उसकी कृतियाँ अच्छे रूप में विद्यमान थीं। फाहियान लिखता है—

"पुष्पपुर (पाटलिपत्तन) अशोक राजा की राजधानी था। नगर में अशोक राजा का प्रासाद और सभाभवन है। सब असुरों के बनाये हैं। पत्थर चुनकर भीत और द्वार बनाये हैं। सुन्दर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के लोग नहीं बना सकते। अब तक वैसे ही हैं[1]।"

फाहियान ने अशोक के राज-प्रासाद तथा सभाभवन के सिवाय अशोक-द्वारा बनवाये अन्य स्तूपों का भी वर्णन किया है। चौरासी हज़ार स्तूप बनवाने की पुष्टि फाहियान ने भी की है[2]।

चीनी यात्री सुंगयुन ने भी अशोक की कृतियों का उल्लेख किया है[3]। यह छठी सदी ई० प० में भारत की यात्रा करने के लिए आया था।

प्रसिद्ध चीनी पर्यटक ह्यूनसांग ने अशोक की कृतियों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। हम उसके यात्रा-विवरण से कुछ मुख्य कृतियों का संक्षेप के साथ उल्लेख करेंगे[4]—

---

१. जगमोहन वर्मा—फाहियान पृ० ५८

२. " " पृ० ६१

३. Beal—Buddhist Records of the Western World, p. xcvii.

४. आगे ह्यूनसांग के आधार पर जिन कृतियों का उल्लेख है, वे सब Beal की Buddhist Records of the Western World से ली गई हैं। प्रारम्भ में पुस्तक के भाग तथा पृष्ठ का उल्लेख कर दिया गया है।

भाग १, पृष्ठ ६७—कपिशा के दक्षिण-पश्चिम में पीलुसार पर्वत है। यहाँ अशोक राजा ने १०० फ़ीट ऊँचा स्तूप बनवाया था। इसे पीलुसार स्तूप कहते हैं।

पृष्ठ ६२—नगरहार—इसके ३ ली पूर्व में ३०० फ़ीट ऊँचा स्तूप अशोक-द्वारा बनवाया हुआ है।

पृ० ११०—पुष्कलावती—इसके पूर्व में अशोक-द्वारा बनवाया हुआ एक स्तूप है। उत्तर में ४ वा ५ ली की दूरी पर एक संघाराम है, जिसके समीप एक स्तूप है, जो कई सौ फ़ीट ऊँचा है।

पृ० ११२—पोलुशा—यहाँ पूर्वहार के बाहर एक संघाराम है। समीप ही एक स्तूप भी है। उत्तर-पूर्व की ओर २० ली की दूरी पर दन्तलोकपर्वत है। इसके शिखर पर अशोक-द्वारा निर्मित स्तूप है।

पृ० ११३—पोलुशा से १०० ली उत्तर-पश्चिम की ओर एक संघाराम है। साथ ही एक स्तूप भी है।

पृ० १२५—मोसू संघाराम से ६० या ७० ली पश्चिम में एक स्तूप है।

पृ० १३७—तक्षशिला—नागतालाब के दक्षिण पूर्व ३० ली की दूरी पर १०० फ़ीट ऊँचा स्तूप है। यह दो पहाड़ियों के दर्रे के बीच में है।

पृ० १३८—तक्षशिलानगर के १२ ली उत्तर में एक स्तूप है, जहाँ धार्मिक उत्सव के दिन प्रकाश होता है, दैवी पुष्प बरसते हैं, स्वर्गीय संगीत सुनाई देता है।

पृ० १३९—तक्षशिला शहर के बाहर दक्षिण पूर्व में पहाड़ी की ओर १०० फ़ीट ऊँचा स्तूप है। कुमार कुनाल को इसी स्थान पर अन्धा किया गया था।

पृ० १४४—सिंहपुर—यहाँ से ४० या ५० ली दक्षिण-पूर्व में २०० फ़ीट ऊँचा पत्थर का स्तूप है।

पृ० १४८—काश्मीर—यहाँ पर ४ स्तूप विद्यमान हैं।

पृ० १५१—काश्मीर—यहाँ अशोक ने ५०० संघारामों का निर्माण कर भिक्षुओं को दे दिया[1]।

पृ० १७२—टक्का—संघाराम तथा उससे ५ ली दूर २०० फ़ीट ऊँचा स्तूप है।

पृ० १७५—चीनपटी—यहाँ २०० फ़ीट ऊँचा स्तूप है।

पृ० १७८—शतद्रु शहर के दक्षिण-पूर्व में २०० फ़ीट ऊँचा स्तूप है।

पृ० १८०—मथुरा—३ स्तूप विद्यमान हैं।

पृ० १८६—थानेश्वर—३०० फ़ीट ऊँचा स्तूप है।

पृ० २२१—कन्नौज—शहर के उत्तर-पश्चिम में एक विशाल स्तूप विद्यमान है।

पृ० २२५—अयोध्या नगरी से ४० ली दूर गङ्गा के किनारे संघाराम तथा स्तूप हैं।

पृ० २३१—प्रयाग—यहाँ १०० फ़ीट ऊँचा स्तूप है।

पृ० २३७—कौशाम्बी—२०० फ़ीट ऊँचा स्तूप है।

पृ० २४०—विशाखा—संघाराम तथा २०० फ़ीट ऊँचा स्तूप है।

भाग २, पृ० ४—श्रावस्ती—यहाँ ७० फ़ीट ऊँचा स्तम्भ विद्यमान है। अनेक स्तूप भी हैं।

---

१. काश्मीर में अशोक की कृतियों का वर्णन कल्हण ने इस प्रकार किया है—

"यः शान्तवृजितो राजा प्रपन्नो जिनशासनम्।
शुष्कलेत्रवितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमण्डलैः। १०२॥
धर्मारण्यविहारान्तर्वितस्तात्रपुरेऽभवत्।
यत्कृतं चैत्यमुत्सेधावधिप्राप्त्यक्षमेक्षणम्॥ १०३॥
स षण्णवत्या गेहानां लक्षैर्लक्ष्मीसमुज्ज्वलैः।
गरीयसीं पुरीं श्रीमांश्चक्रे श्रीनगरीं नृपः॥ १०४॥

राजतरङ्गिणी। प्रथमस्तरङ्गः।

पृ० १६—कपिलवस्तु—उत्तर में एक स्तूप है, जिसके सम्मुख पत्थर का स्तम्भ है। इसके सिर पर शेर बना हुआ है और यह २० फ़ी० ऊँचा है।

पृ० ३२—कुशीनगर—२०० फ़ी० ऊँचा स्तूप है।

पृ० ४५—वाराणसी नगरी के उत्तर-पूर्व में १०० फ़ी० ऊँचा एक स्तूप है।

पृ० ६१—गाजीपुर शहर के उत्तर-पश्चिम में एक संघाराम तथा स्तूप है।

पृ० ६७—वैशाली—यहाँ एक स्तूप है, जिसके सम्मुख ५० या ६० फ़ीट ऊँचा पत्थर का स्तम्भ है।

पृ० ८५—पाटलिपुत्र—यहाँ अशोक का प्रासाद भग्नावस्था में दृष्टिगोचर होता है। उत्तर में एक स्तम्भ बहुत ऊँचा है। अशोक ने यहीं पर 'नरक' का निर्माण कराया था।

पृ० ११३—गया—पहाड़ के सिरे पर १०० फ़ी ऊँचा स्तूप है।

पृ० १४६—यशितवन—इस वन के मध्य में एक स्तूप है।

पृ० १६४—करराडवेणुवन से २० ली पश्चिम में एक विशाल स्तूप है। यह वही स्थान है, जहाँ पर कि 'महासंघ' का अधिवेशन हुआ था।

पृ० २०१—ताम्रलिप्ति—शहर के एक ओर एक स्तूप है।

पृ० २५७—महाराष्ट्र शहर के अन्दर और बाहर ५ स्तूप बने हुए हैं।

पृ० २७६—पर्वत नामी स्थान पर चार स्तूप हैं।

यहाँ हमने निदर्शन के तौर पर ह्यूनसाँग-द्वारा वर्णित अशोक की कुछ कृतियों का उल्लेख किया है। इसी तरह के अन्य बहुत से स्तूपों वा संघारामों की सूची पेश की जा सकती है। इन्हें यहाँ लिखने का प्रयोजन यही है कि यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जावे कि सातवीं सदी ई० प० में अशोक की बहुत-सी कृतियाँ विद्यमान थीं। उन्हें ह्यूनसांग ने अपनी आँखों से देखा था, और उनका विशदरूप से वर्णन किया था।

सम्राट् अशोक की कुछ कृतियाँ पुरातत्त्व-विभाग की कृपा से वर्तमान समय में भी उपलब्ध हो सकी हैं। अब हम इनका संक्षिप्तरूप से वर्णन करेंगे।

१. सारनाथ

अशोक की अनेक कृतियाँ बनारस के समीप 'सारनाथ' नामक स्थान पर उपलब्ध हुई हैं[1]। यहीं पर भगवान् बुद्ध ने पहले-पहल 'धर्मचक्र' का प्रवर्त्तन किया था। बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक प्राचीन भग्नावशेष यहाँ प्राप्त हुए हैं। इनमें सबसे प्राचीन सम्राट् अशोक की ही कृतियाँ हैं। सारनाथ में मौर्यकाल की या अशोक की निम्नलिखित कृतियाँ प्राप्त हुई हैं—

(१) प्रस्तरस्तम्भ—इस पर अशोक की एक धम्म-लिपि भी उत्कीर्ण है। यह प्रस्तरस्तम्भ बहुत ही सुन्दर है। इसके सिर पर चार सिंह-मूर्तियाँ वर्त्तमान हैं। सिंहों की मूर्त्तियाँ बहुत ही स्वाभाविक तथा सुन्दर हैं। मूर्त्ति-निर्माण-कला की दृष्टि से इनका बड़ा महत्त्व है। मूर्त्ति-विद्या की दृष्टि से इनमें कोई भी न्यूनता व दोष नहीं है। पहले इन मूर्त्तियों की आँखें मणियुक्त थीं, अब वे मणियुक्त नहीं हैं, पर पहले इनके मणियुक्त होने के अनेक चिह्न विद्यमान हैं। सिंह की मूर्त्तियों के नीचे चार चक्र हैं। चक्रों के बीच में हाथी, साँड़, अश्व और सिंह अंकित हैं। इन चक्रों तथा प्राणियों को चलती हुई अवस्था में बनाया गया है। इनके नीचे का अंश एक विशाल घंटे की तरह का बनाया गया है। स्तम्भ तथा उसका शीर्ष भाग बलुए पत्थर का है। इसके ऊपर एक वज्रलेप है। यह लेप बहुत ही चिकना,

---

१. श्रीवृन्दावन भट्टाचार्य के 'सारनाथ का इतिहास' में इस विषय का विशद वर्णन देखा जा सकता है। यह टिप्पणी इसी ग्रन्थ के आधार पर लिखी गई है।

चमकदार तथा सुन्दर है। यह वज्रलेप इतने प्राचीन काल से अब तक स्थिर रह सका है, यह देखकर सचमुच आश्चर्यित होना पड़ता है।

अनेक ऐतिहासिकों के मत में यह स्तम्भ भारतीय शिल्प का सबसे उत्तम उदाहरण है। इससे बढ़िया शिल्प का और कोई नमूना भारत में उपलब्ध नहीं होता[1]।

(२) पाषाण-वेष्टनी—सारनाथ में ही सम्राट् अशोक के समय की बनी हुई एक पाषाण-वेष्टनी (Railing) (या पत्थरों का परकोटा) उपलब्ध हुई है। यह सारनाथ के बौद्ध विहार के प्रधान मन्दिर के दक्षिणवाले गृह में ईंटों के एक छोटे स्तूप के चारों ओर लगी हुई निकली है। यह सारी की सारी एक ही पत्थर की बनी हुई है। बीच में कहीं भी जोड़ नहीं है। सारी पाषाण-वेष्टनी बहुत सुन्दर तथा चिकनी है। इसे बनाने का खर्च 'सवहिका' नाम के किसी व्यक्ति ने दिया था। इसका नाम वेष्टनी पर उत्कीर्ण है। इस प्रकार के नाम इस तरह की अन्य वेष्टनियों पर भी उत्कीर्ण हैं।

(३) स्तूप—सम्राट् अशोक-द्वारा निर्मित एक स्तूप के कुछ चिह्न सारनाथ की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। अशोक के प्रस्तर-स्तम्भ के समीप ही ईंटों से बने हुए एक प्राचीन स्तूप के चिह्न पाये जाते हैं। अब से कुछ वर्ष पूर्व यह स्तूप विद्यमान था, पर सन् १७९३-९४ में काशी के राजा चेतसिंह के दीवान बाबू जगत्सिंह ने अपने नाम से जगतगंज मुहल्ला बनवाने के लिए इस स्तूप को तुड़वाकर इसके ईंट पत्थर आदि मँगवा लिये थे। तब से यह स्तूप नष्ट होगया। बाबू जगत्सिंह के नाम से ही इस स्तूप के पुराने स्थान को 'जगत्सिंहस्तूप' कहा जाता है। इसकी खुदवाई के समय प्राचीन समय की अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई थीं।

---

१. V. A. Smith—Aśoka, p. 134.

मौर्य्यकाल की ये ही तीन कृतियाँ हैं, जो सारनाथ में अब तक प्राप्त हुई हैं। बौद्ध-इतिहास में सारनाथ का बड़ा महत्त्व है। अशोक स्वयं इसका दर्शन करने के लिए गया था। यहाँ के विहार की बड़ी महत्ता थी, इसी लिए अशोक ने अपनी भिक्षु-संघ-सम्बन्धी आज्ञा को यहाँ पर उत्कीर्ण करवाया था।

२. साञ्ची

मौर्यकाल की कृतियों में साञ्ची स्तूप का बड़ा महत्त्व है। जी० आई० पी० रेलवे की मुख्य लाइन से यह स्तूप स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। अशोक के इतिहास में साञ्ची का बड़ा स्थान है। साञ्ची का प्राचीन नाम 'काकनद' था। परन्तु यह नाम केवल शिलालेखों में उपलब्ध होता है, साहित्य में इसका पता नहीं लगता। सम्भवतः, महावंश में जिस 'चैत्यगिरि' का वर्णन किया गया है, वह यह साञ्ची ही है। महावंश के अनुसार चैत्य-गिरि का अशोक के जीवन के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध था।

साञ्ची का मुख्य स्तूप मौर्यकाल का या उससे भी पहले का है। कनिंघम के अनुसार इस स्तूप का काल ५०० ई० पू० है[१]। परन्तु सामान्यतया ऐतिहासिक इसे मौर्यकाल का ही मानते हैं। यह स्तूप बहुत बड़ा है। आधार के समीप इसका व्यास १०० फ़ीट है। सम्पूर्ण उँचाई—इसकी पूर्णावस्था में—७७[१] फ़ीट के लगभग थी। वर्तमान समय में इसका कुछ भाग टूट गया प्रतीत होता है। स्तूप लाल रंग के वलुए पत्थर का बना हुआ है।

सर जान मार्शल ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—साञ्ची का वर्तमान विशाल स्तूप अर्धमण्डलाकार गुम्बज (अंड) के आकार का है। यह ऊपर से कटा हुआ है और इसके आधार में चारों तरफ़ एक ऊँची मेधि बनी हुई है। प्राचीन समय में यह

१. 'Sanchi and its Remains' by F. C. Maisey की A. Cunningham द्वारा लिखी Introduction.

प्रदक्षिणापथ का कार्य करती थी। इस प्रदक्षिणापथ को पहुँचने के लिए स्तूप के दक्षिणीय भाग में एक दुहरी सोपान बनी हुई थी। सम्पूर्ण कृति के चारों ओर भूमि के समतल के साथ एक अन्य प्रदक्षिणापथ है, जो कि पत्थर से बनी हुई वेष्टनी-द्वारा परिवेष्ठित है। यह वेष्टनी बहुत ही सादी किस्म की है और किसी तरह की पच्चीकारी आदि से खचित नहीं है। यह चार चतुष्कोण प्रकोष्ठों में विभक्त है, जिन्हें कि चार सुन्दर द्वार एक दूसरे से पृथक करते हैं। चारों द्वारों पर नानाविध मूर्तियों, उत्कीर्ण चित्रों तथा खचित पच्चीकारी से युक्त तोरण हैं[१]। इनसे बौद्धधर्म की अनेक गाथाओं को व्यक्त किया गया है।

पुरातत्त्ववेत्ता मार्शल तथा ऐतिहासिक स्मिथ का विश्वास है कि वर्तमान स्तूप अशोक के समय का बना हुआ नहीं है। यह उससे एक सदी के लगभग पीछे बना था[२]। अशोक के समय में तो ईंटों का एक सादा स्तूप था, जिसे बढ़ाकर पिछले काल में वर्तमान रूप दिया गया।

साञ्ची के भग्नावशेषों में सम्राट अशोक के समय की एक अन्य कृति उपलब्ध हुई है। स्तूप के दक्षिणीय द्वार पर एक प्रस्तर-स्तम्भ के कुछ अवशेष मिले हैं। विश्वास किया जाता है कि वस्तुतः यह स्तम्भ ४२ फीट ऊँचा था। इसके शीर्षभाग पर भी सारनाथ के स्तम्भ की तरह सिंहों की मूर्त्तियाँ हैं। ये मूर्त्तियाँ वर्तमान समय में भग्नप्राय होगई हैं, पर अपनी दुरवस्था में भी अशोक-कालीन कला का स्मरण दिलाती हैं। इस स्तम्भ पर अशोक का एक लेख उत्कीर्ण है। सम्भवतः, अपनी पूर्णावस्था में साञ्ची का यह स्तम्भ सारनाथ के स्तम्भ के ही सदृश था।

यद्यपि सांची के विशाल स्तूप के समीप अन्य अनेक स्तूप

---

१. Sir John Marshall—A Guide to Sanchi, 1917.

२. V. A. Smith—Aśoka, p. 112.

तथा प्राचीन काल के अन्य भी अनेक स्मृति-चिह्न प्राप्त होते हैं, पर वे मौर्य्यकाल के नहीं हैं।

३. बर्हूत

यह स्थान इलाहाबाद से ६५ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर, बुन्देलखण्ड की नागौढ़ रियासत में है। यहाँ पर भी अशोक के समय की कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। सर एलैक्जण्डर कनिङ्घम ने १८७३ ई० प० में इनका पहले-पहल पता लगाया था। उस समय बर्हूत में एक विशाल स्तूप के अवशेष विद्यमान थे, जो कि ईंटों का बना हुआ था और जिसका व्यास ६८ फ़ीट था। स्तूप के चारों ओर एक सुन्दर पाषाण-वेष्टनी थी, जिस पर कि अनेक प्राचीन बौद्ध गाथायें चित्रों के रूप में खचित की गई थीं। पाषाण-वेष्टनी ७ फ़ीट से कुछ अधिक ऊँची थी। सांची स्तूप की तरह यह वेष्टनी चार चतुष्कोण प्रकोष्ठों में विभक्त थी और प्रकोष्ठों के बीच में सुन्दर तोरणों से युक्त द्वार थे। वेष्टनी के ऊपर खचित चित्रों द्वारा बौद्ध जातकों की कथाओं को प्रदर्शित किया गया था। ये खचित चित्र मौर्य्यकाल की कला के अतीव उत्तम उदाहरण हैं।

बर्हूत के स्तूप में सैकड़ों की संख्या में छोटे छोटे आले बने हुए थे। उत्सव के अवसर पर इनमें दीपक जलाये जाते थे। भारतीय बौद्धों में भी चिरकाल से यह प्रथा रही है कि वे अपनी पवित्र कृतियों को दीपक आदि द्वारा प्रकाशित करते थे।

वर्तमान समय में यह स्तूप प्रायः नष्ट हो चुका है और इसकी पाषाण-वेष्टनी के बहुत से भाग कलकत्ता-म्यूज़ियम की शोभा बढ़ा रहे हैं।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि बर्हूत के सब अवशेष मौर्य-काल के नहीं हैं। उनमें से अनेक भाग शुङ्गकाल तथा उससे भी पीछे के हैं।

सारनाथ, साञ्ची तथा बर्हूत के समान ही पाषाण-वेष्टनियाँ अन्य कई स्थानों से भी उपलब्ध हुई हैं। बुद्धगया में प्राप्त एक

प्राचीन वेष्टनी के अवशेषों को अशोक के समय का समझा जाता रहा है। पटना के अवशेषों में भी कम से कम तीन इस प्रकार की पाषाण-वेष्टनियों के भाग प्राप्त हुए हैं, जिन्हें कि अशोक-कालीन कहा जा सकता है।

साञ्ची के समीप ही भीलसा के पास बेसनगर नामक स्थान पर इसी प्रकार की पाषाण-वेष्टनी प्राप्त हुई है। यह भी नानाविध चित्रों से खचित है। इसको भी मौर्य्यकाल का ही समझा जाता है। ये पाषाण-वेष्टनियाँ कला की दृष्टि से बहुत महत्त्व की हैं। प्रायः ये एक पत्थर की ही बनी हुई हैं और इनमें जोड़ कहीं नहीं है।

४. पाटलिपुत्र

मौर्य्य सम्राटों की राजधानी पाटलिपुत्र एक बहुत ही विशाल नगरी थी। मैगस्थनीज़ ने स्वयं इसका अवलोकन किया था। उसने भारतवर्ष के इस 'रोम' का जो वर्णन लिखा है, उसे यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान समय में प्राचीन पाटलिपुत्र में जो खुदाई हो रही है, उसका पुरातत्त्ववेत्ता स्पूनर ने बड़ा विशद वर्णन किया है। उससे हमें अनेक ज्ञातव्य बातें ज्ञात होती हैं। प्राचीन पाटलिपुत्र नगर वर्तमान समय में गङ्गा और सोन नदियों के सुविस्तृत पाट के नीचे दबा हुआ है। बांकीपुर स्टेशन, ईस्ट इण्डियन रेलवे तथा आसपास के गाँवों ने भी इस प्राचीन नगरी के बहुत से भाग को अपने नीचे छिपा रक्खा हुआ है।

ईस्ट इण्डियन रेलवे के दक्षिण में 'कुमराहार' नामक गाँव के समीप प्राचीन काल के बहुत से अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। पुरानी अनुश्रुति के अनुसार इस स्थान के नीचे प्राचीन काल के अनेक राजप्रासाद दबे हुए हैं। इस अनुश्रुति में बहुत कुछ सचाई भी है। कुमराहार गाँव के उत्तर में कल्लू और चमन नामक तालाबों के बीच में अशोक-कालीन एक स्तम्भ के बहुत-

से अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह स्तम्भ बलुए पत्थर का बना हुआ है और इस पर बहुत सुन्दर वज्रलेप हुआ था। मूल अवस्था में इसका व्यास ३ फ़ीट था। कुमराहार में प्राचीन काल की अनेक भास्करीय कृतियाँ तथा अन्य अवशेष विद्यमान हैं। इनसे प्रमाणित होता है कि निश्चय ही इस स्थान पर प्राचीन सम्राटों के राजप्रासाद बने हुए थे। पर इन भवनों का कोई भी भाग अब तक इस अवस्था में प्राप्त नहीं हुआ है कि मौर्य्यकालीन राजप्रासादों का परिज्ञान हो सके।

पाटलिपुत्र की खुदाई अभी इस अवस्था तक नहीं पहुँची है कि वहाँ पर विद्यमान मौर्य्यकालीन कृतियों का अनुशीलन किया जा सके। परन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि इस प्राचीन नगरी की खुदाई से बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृतियों के प्राप्त होने की आशा है।

५. तक्षशिला

मौर्य्यकाल में तक्षशिला का बहुत महत्त्व था। पश्चिमोत्तर प्रदेश की राजधानी यही नगरी थी। यहाँ पर एक बड़ा भारी विश्वविद्यालय था, जिसमें कि दूर दूर स्थानों से विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आया करते थे। सम्राट् अशोक कुमारावस्था में तक्षशिला का प्रान्तीय शासक रह चुका था। इस प्राचीन नगरी के स्थान पर वर्तमान समय में जो खुदाई की गई है, उससे बहुत-सी पुरानी कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। मौर्य्यकाल की दो कृतियाँ अब तक प्राप्त हो सकी हैं। ये आभूषण के रूप में हैं। तक्षशिला-क्षेत्र के अन्तर्गत 'भीड़' नामक स्थान पर ये आभूषण प्राप्त हुए हैं। साथ में डेमेड्रियस का एक सिक्का तथा कुछ अन्य पुरानी मुद्रायें भी मिली हैं। मौर्य्यकाल के ये आभूषण बहुत ही सुन्दर हैं, प्रशस्त रत्नों से जटित सोने के ये आभूषण मौर्य्यकला की उन्नति को अच्छी तरह प्रदर्शित करते हैं। पुरातत्त्ववेत्ता मार्शल के अनुसार ये आभूषण बहुत ही उच्च कोटि के हैं[1]।

---

१. John Marshall—A Guide to Taxila, p. 25.

तक्षशिला में मौर्य्यकाल की अन्य कोई उल्लेख योग्य कृति प्राप्त नहीं हुई है। चीनी यात्री ह्यू नसांग ने जिस कुनालस्तूप का तक्षशिला के समीप अवलोकन किया था, वह भी इस खुदाई में मिल गया है। मार्शल ने इस स्तूप का विस्तृत रूप से वर्णन किया है, पर उनकी सम्मति में यह स्तूप तीसरी सदी ई० पू० का बना हुआ है, मौर्य्यकाल का नहीं। यद्यपि प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार कुनालस्तूप को संम्राट् अशोक ने अपने पुत्र की आँखों के अन्धे किये जाने के स्थान पर बनवाया था, पर वर्तमान कुनालस्तूप अशोक का बनवाया हुआ नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के प्राचीन स्तूप के ऊपर पिछले समय में नवीन स्तूप बनवा दिया गया था। इसी तरह के अन्य स्तूप भी तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त हुए हैं, जिनका यद्यपि ह्यू नसांग ने वर्णन किया है, पर जो मौर्य्यकाल के न होकर पिछले काल के समझे जाते हैं[1]।

६. मौर्य्यकालीन मूर्तियाँ

पुरातत्त्व-विभाग की कृपा से मौर्य्यकाल की कुछ मूर्तियाँ भी वर्तमान समय में उपलब्ध हुई हैं। सबसे प्रसिद्ध मूर्ति आगरा और मथुरा के बीच में 'परखम' नामी गाँव में मिली है। मूर्ति ऊँचाई में सात फ़ीट है और भूरे बलुए पत्थर की बनी हुई है। ऊपर बहुत ही सुन्दर वज्रलेप हुआ हुआ है। दुर्भाग्य से मूर्ति का मुँह टूट गया है और भुजायें भग्न हुई हुई हैं। मूर्ति के व्यक्ति को जो पोशाक पहनाई गई है, उससे मौर्य्यकालीन पहरावे का अच्छी तरह अनुमान किया जा सकता है। यह मूर्ति मथुरा के म्यूजियम में विद्यमान है।

एक अन्य मूर्ति, जो कि मौर्य्यकाल की समझी जाती है, बेसनगर में प्राप्त हुई है। यह मूर्ति किसी स्त्री की है। इस

---

१. John Marshall—A Guide to Taxila. See the 5th chapter on 'Stupa of Kunal.'

मूर्ति की भुजायें टूटी हुई हैं और मुख बिगड़ा हुआ है। मूर्ति की उँचाई ६ फ़ीट ७ इञ्च है।

पटना और दीदरगञ्ज में दो और मूर्तियाँ मिली हैं, जो कि मौर्यकाल की मालूम पड़ती हैं। ये परखम की मूर्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं[1]।

मौर्यकाल की जो मूर्तियाँ अब तक मिली हैं, उनसे इस प्राचीन समय की मूर्ति-निर्माण-कला का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। सभी मूर्तियाँ सुन्दर वज्रलेप से युक्त हैं, जो हज़ारों वर्ष बीत जाने पर अब तक भी नष्ट नहीं हुआ है।

७. मौर्य्यकालीन प्रस्तर-स्तम्भ

पिछले अध्याय में हम मौर्यकाल के उन प्रस्तर-स्तम्भों का वर्णन कर चुके हैं, जिन पर अशोक के लेख उत्कीर्ण हैं। परन्तु अशोक-द्वारा स्थापित किये हुए कुछ ऐसे भी स्तम्भ इस समय मिले हैं, जो उत्कीर्ण नहीं हैं। उनका संक्षिप्त रूप से इस तरह उल्लेख किया जा सकता है—

(१) बखीरा-स्तम्भ—उत्तरीय बिहार के मुजफ्फ़रपुर ज़िले में बसार के समीप बखीरा नामी स्थान पर यह स्तम्भ मिला है। सारा स्तम्भ एक ही अखण्ड प्रस्तर का बना है। इसकी उँचाई ४४ फ़ीट २ इञ्च है। आधार में व्यास ४६.८ इञ्च और चोटी पर व्यास ३८.७ इञ्च है। शिखर पर सिंह की एक सुन्दर मूर्ति है। स्तम्भ का भार ४० टन अनुमान किया जाता है।

(२) रामपुरवा-स्तम्भ—बिहार के चम्पारन ज़िले में रामपुरवा नामी स्थान पर यह स्तम्भ मिला है। साथ में एक उत्कीर्ण स्तम्भ भी मिला है, जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है। उत्कीर्ण स्तम्भ के शिखर पर सिंह तथा दूसरे स्तम्भ पर वृषभ की मूर्ति है।

---

१. V. A. Smith—Aśoka, p. 116.

अशोक के अन्य १० स्तम्भ उत्कीर्ण लेखों से युक्त हैं। इनका यहाँ फिर से उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। सातवीं सदी ई० प० में ह्यूनसांग ने ३० के लगभग अशोक-निर्मित स्तम्भों का स्वयं अवलोकन किया था। वर्तमान समय में अब तक १२ स्तम्भ मिले हैं। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में अन्य स्तम्भ भी उपलब्ध हो सकेंगे।

८. मौर्य्यकालीन गुहा-भवन

प्राचीन भारत में प्रथा थी कि पर्वत को काट कर गुहा-भवन बनाये जाते थे। कड़ी शिलाओं को धैर्य तथा परिश्रम से काट कर रहने के लिए सुन्दर भवनों का निर्माण किया जाता था। दक्षिणीय भारत में इस तरह के अनेक विशाल भवन विद्यमान हैं, जिनसे भारतीय कला की उत्कर्षता का अनुभव किया जा सकता है। मौर्यकाल के भी तीन गुहा-भवन उपलब्ध हुए हैं। ये गया के समीप बराबर तथा नागार्जुनी पहाड़ियों में हैं। इनमें सबसे बड़ा गोपिका गुहा-भवन है, जिसे कि अशोक के पौत्र दशरथ ने आजीवकों के लिए प्रदान किया था। यह ४६ फ़ीट ५ इञ्च लम्बा, १९ फ़ीट २ इञ्च चौड़ा और १०$\frac{१}{२}$ फ़ीट ऊँचा है। अन्य गुहा-भवन भी बहुत विशाल तथा सुन्दर हैं।

मौर्यकालीन कृतियों के इस वर्णन को हम सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्मिथ के इस वाक्य के साथ समाप्त करते हैं—'मौर्य-काल में पत्थर तराशने की कला पूर्णता को प्राप्त हो चुकी थी और उसने ऐसे ऐसे कार्य किये थे, जो कि सम्भवतः इस बीसवीं शताब्दि की शक्ति से बाहर हैं[1]।'

तेइसवाँ अध्याय

अशोक-कालीन भारत

सम्राट् अशोक के शिलालेखों का मुख्य उद्देश्य उसके धर्म-विजय के सन्देश को सर्व-साधारण तक पहुँचाना है। परन्तु प्रसङ्गवश उनमें कुछ इस प्रकार के भी निर्देश उपलब्ध होते हैं, जिनसे कि तत्कालीन भारत की अवस्था पर बहुत प्रकाश पड़ता है। यदि अन्य बौद्ध-साहित्य के सहारे से इनका अनुशीलन किया जाय, तो हम अशोक-कालीन भारत के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

पहले धार्मिक अवस्था को लीजिए। शिलालेखों के अनुसार उस समय भारत में अनेक सम्प्रदाय[1] विद्यमान थे। अशोक ने चार सम्प्रदायों का मुख्य रूप से उल्लेख किया है। वह लिखता है—"मेरे धर्म-महामात्र भी उन बहुत तरह के उपकार के कार्यों

---

१. शिलालेखों में सम्प्रदाय के लिए 'पासंड' शब्द आया है। यह समझा जाता है कि यह 'पासंड' संस्कृत के 'पाषण्ड' शब्द का विकृत रूप है। वर्तमान संस्कृत-साहित्य में इस शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थों में नहीं होता। परन्तु प्राचीनकाल में यह 'सम्प्रदाय' के लिए ही प्रयुक्त होता था। डा० भाण्डारकर की सम्मति में 'पासंड' का संस्कृत रूप 'पाषण्ड' न होकर 'पार्षद' है। इसके लिए वे यह प्रमाण उपस्थित करते हैं कि 'शाहबाजगढ़ी' और 'मानसेरा' में प्राप्त शिलालेखों में 'प्रषड' शब्द का प्रयोग हुआ है, यह संस्कृत के 'पार्षद' शब्द से बहुत मिलता-जुलता है। 'पार्षद' का अभिप्राय 'परिषद् के सदस्य' से है।

देखो Bhandarkar—Aśoka, p. 172.

में नियुक्त हैं, जिनका सम्बन्ध संन्यासी और गृहस्थ दोनों से है। वे सब सम्प्रदायों में भी नियुक्त हैं। मैंने उन्हें संघों में, ब्राह्मणों में, आजीवकों में, निर्ग्रन्थों में तथा अन्य नानाविध सम्प्रदायों में नियुक्त किया है[1]।" इस तरह संघ, ब्राह्मण, आजीवक और निर्ग्रन्थ ये चार मुख्य सम्प्रदाय थे, तथा इनके सिवाय अन्य भी बहुत से सम्प्रदाय विद्यमान थे। संघ से अभिप्राय बौद्धसंघ का है। अशोक स्वयं बौद्ध था, इसलिए स्वाभाविक-रूप से उसने बौद्धसंघ का सबसे पहले उल्लेख किया है। 'ब्राह्मण' का अभिप्राय भी स्पष्ट है। प्राचीन ब्राह्मण-धर्म—जिसके विरुद्ध प्रतिक्रिया भगवान् बुद्ध, महावीर आदि ने प्रारम्भ की थी—उस समय पर्याप्त शक्तिशाली था। 'आजीवक'[2] सम्प्रदाय भी बौद्ध-काल में भारत के मुख्य सम्प्रदायों में से एक था। इसका प्रारम्भ छठी शताब्दी ई० पू० में हुआ था। गोसाल नाम का एक भिक्षु इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक था[3]। जैन-ग्रन्थ

---

१. सप्तस्तम्भलेख— सं० ७

२. डा० भाण्डारकर ने 'ब्राह्मण' को आजीवक का विशेषण माना है। इस तरह वे अशोक के समय में ३ मुख्य सम्प्रदायों को मानते हैं—संघ, ब्राह्मण-आजीविक और निर्ग्रन्थ। सम्भवतः ऐसा मानने का कारण यही है कि मूल-लेख में 'हेमेव वाभनेसु आजीविकेसु पित्रु कटे' इत्यादि पाठ है। यहाँ ब्राह्मण आजीवक का विशेषण मालूम पड़ता है। परन्तु इसको सम्मुख रखकर डा० भाण्डारकर ने यह कल्पना की है कि आजीवकों के दो सम्प्रदाय थे। एक 'ब्राह्मण-आजीवक' और दूसरा 'आजीवक'। परन्तु अन्य बौद्ध-साहित्य से यह बात सिद्ध नहीं होती। बौद्ध-साहित्य से तो एक ही आजीवक-सम्प्रदाय का पता चलता है। यदि 'ब्राह्मण' को 'आजीवक' का विशेषण मान लिया जाय, तो मुख्य सम्प्रदायों में 'ब्राह्मण-सम्प्रदाय' का उल्लेख न करना बहुत ही असङ्गत होगा।

३. आजीवक-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में विस्तृत ज्ञान के लिए Encyclopædia of Religion and Ethics में Dr. A. E. R. Hoernle का 'आजीवक' पर लेख पढ़िए।

भगवतीसूत्र में आजीवक-सम्प्रदाय की उत्पत्ति की कथा विस्तृत-रूप से वर्णित की गई है। इससे प्रतीत होता है कि जैन-धर्म के संस्थापक भगवान् महावीर के समकाल में ही 'मक्खलिपुत्त (संस्कृत-मस्करिपुत्र) गोसाल' ने अपने नवीन सिद्धान्तों का प्रचार शुरू किया था। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर विचार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, इतना निश्चित है कि अशोक के समय में यह बहुत शक्तिशाली सम्प्रदाय था। सम्भवतः इसी लिए सुत्तपिटक के 'निद्देश' में (जिसका समय सर भाण्डारकर के अनुसार तृतीय शताब्दी ई० पू० है)[१] बौद्ध-धर्म के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों का परिगणन करते हुए आजीवकों को प्रथम स्थान दिया गया है।

निर्ग्रन्थ जैनों का दूसरा नाम है। इस समय भारत में जैन-धर्म के अनुयायियों की संख्या बहुत कम है। पर मौर्य्यकाल में जैन-धर्म भारत के मुख्य धर्मों में से एक था। बौद्ध धर्म और जैन-धर्म एकही धार्मिक सुधारणा (Reformation) के परिणाम थे। इसी लिए ये साथ साथ उन्नति करते रहे। अशोक के पौत्र सम्राट् सम्प्रति ने जैन-धर्म का अवलम्बन करके उसके विस्तार के लिए बहुत उद्योग किया था। अशोक के समय में भी जैनियों की संख्या कम न थी। यह उठते हुए धर्मों में से एक था। इसी लिए इसकी गणना पृथक् रूप से की गई है।

ब्राह्मण, बौद्ध, आजीवक और जैन—इन चार सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य कौन से सम्प्रदाय अशोक के समय में प्रचलित थे, इसकी सूचना शिलालेखों से नहीं मिलती। परन्तु समकालीन साहित्य से इसका बोध हो सकता है। बौद्ध-ग्रन्थ निद्देश के अनुसार अन्य सम्प्रदायों के नाम निम्न-लिखित हैं[२]—जटिल, परिव्राजक, अवरुद्धक, हस्ति के उपासक, अश्व, गौ, कुत्ता, और

१. Sir R. G. Bhandarkar Vaishnavism, Śaivism and Minor Religions of India, पृ० ३.

२. Sir Bhandarkar—Vaishnavism, etc., p. 3.

कौआ के उपासक, वासुदेव, बलदेव, पुण्णभद्द, मणिभद्द, अग्गि, नाग, सुपण्ण, यक्ख, असुर, गन्धब्ब, महाराज, चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा, देव और दिशा के उपासक। बौद्ध साहित्य में अन्यत्र भी इन तथा अन्य विविध सम्प्रदायों के नाम उल्लिखित हैं। निस्सन्देह, ये सब सम्प्रदाय अशोक के समय में विद्यमान थे। इनमें से वासुदेव सम्प्रदाय का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि अशोक ने उसको मुख्य धर्म के रूप में नहीं लिखा और निद्देश में उसे कोई महत्त्व नहीं दिया गया, पर एक दिन वह भारत का मुख्य धर्म बन गया। वासुदेव-सम्प्रदाय का प्रारम्भ भी महात्मा बुद्ध के समय के लगभग ही हुआ था। यद्यपि पहले यह बहुत उन्नति नहीं कर सका, पर गुप्त सम्राटों के समय यह भारत का सर्वप्रधान धर्म बन गया। मौर्य्य-काल में इसकी सत्ता केवल 'निद्देश' के वचन से ही सूचित नहीं होती। इसके लिए ठोस प्रमाण भी विद्यमान है। मौर्य्यकाल का एक शिलालेख राजपूताना के गोसुण्डी नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है। इसमें सङ्कर्षण और वासुदेव के पूजा-स्थान के चारों ओर दीवार बनाने का जिक्र है। इससे मौर्यकाल में वासुदेव-सम्प्रदाय की विद्यमानता भी स्पष्टरूप से सूचित होती है। मौर्यकाल के अन्तिम समय का एक अन्य शिलालेख बेसनगर में उपलब्ध हुआ है। पूर्वीय मालवा के शासक भागभद्र के पास यवनराजा 'अन्तलिकित' ने 'हीलीओद्रा' नामक यवन को अपना राजदूत बना कर भेजा था। यह शिलालेख इसी 'हीलीओद्रा' का है। हीलीओद्रा भागवत-धर्म या वासुदेव धर्म का अनुयायी था। इस शिलालेख-द्वारा उसने अपने बनाये हुये 'गरुड़-ध्वज' को सूचित किया है। इस शिलालेख से वासुदेव-धर्म की सत्ता ही सूचित नहीं होती, अपितु यह भी प्रतीत होता है कि यह बहुत विस्तृत और शक्तिशाली धर्म था। तभी तो विदेशी लोग भी इसको सहर्ष स्वीकृत करते थे।

अशोक के समय में इतने सम्प्रदायों के विद्यमान होने तथा अनेक सम्प्रदायों के नवीन होने से अवश्य ही उनमें साम्प्रदायिक

विवादों की प्रचुरता रहती थी। यही कारण है कि साम्प्रदायिक प्रचार के लिए अशोक 'वाक्-संयम' का उपदेश करता है[1]। विविध सम्प्रदायों के परस्पर विवाद के अवसर पर जो तीव्रता और कटुता स्वाभाविक रूप से आ जाती है, अशोक के समय में भी उसकी कमी न थी। इसी लिए अशोक ने अपने धर्म-संदेश में बाह्य बातों पर विवाद न करके धर्म के तत्त्व की वृद्धि पर बल दिया, अन्य धर्मों की निन्दा को बुरा बताया, वाक्-संयम को धर्म-प्रचार और सच्चे धर्म की वृद्धि की जड़ कहा। अशोक के इन आदेशों का परिणाम, वस्तुतः, बहुत ही उपयोगी और लाभ-प्रद हुआ।

अशोक के समय ब्राह्मण-धर्म की क्या अवस्था थी, इस विषय पर भी शिलालेखों-द्वारा प्रकाश पड़ता है। उस समय याज्ञिक ब्राह्मण यज्ञों में पशुवध किया करते थे। अशोक ने इस अमानुषिक प्रथा को बन्द करने के लिए आज्ञायें प्रकाशित की थीं। प्रसिद्ध चतुर्दश शिलालेखों के प्रथम लेख में ही वह आज्ञा देता है कि "यहाँ (इस राज्य में) कोई जीव यज्ञ के लिए मार कर होम न किया जाय।" इस आज्ञा का फल भी आशानुरूप हुआ। यद्यपि यज्ञों में पशुहिंसा सर्वथा बन्द न हो गई, पर वह कम अवश्य हुई। इसी लिए वह सन्तोष के साथ अपने सप्त-स्तम्भ-लेखों (लेख-सं० ७) में लिख सका कि—"ध्यान की बदौलत मनुष्यों में धर्म की वृद्धि, प्राणियों की अहिंसा, और यज्ञों में जीवों का अनालम्भ (न मारा जाना) बढ़ा है।"

अशोक सब सम्प्रदायों को एक दृष्टि से देखता था। उसने ब्राह्मण और श्रमण—दोनों के साथ एक व्यवहार प्रदर्शित किया है। सम्राट् के इस उद्योग से साम्राज्य में वास करनेवाली जनता में भी यह सम-भाव बढ़ सका। शिलालेखों से यही प्रकट होता है कि अशोक-कालीन भारत में विविध सम्प्रदायों के विद्यमान

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० १२

होते हुए भी सर्वत्र शान्ति विराजती थी। धार्मिक फ़सादों का अभाव था, सब सम्प्रदाय सहिष्णु थे।

धार्मिक अवस्था के अतिरिक्त, सर्व-साधारण जनता की सामान्य अवस्था पर भी अशोक के शिलालेखों से अच्छा प्रकाश पड़ता है। यद्यपि हम इस थोड़ी सी सामग्री से तत्कालीन भारत की दशा का चित्र नहीं खींच सकते, तथापि अनेक उपयोगी बातों को जान सकते हैं।

अशोक के समय में मांसभक्षण तथा जीवहिंसा का सामान्य रूप से प्रचार था। भोजन तथा अन्य उपयोगों के लिए प्राणियों का वध किया जाता था। स्वयं अशोक की भोजन-शाला में प्रतिदिन सहस्रों प्राणी मारे जाते थे। शिकार की प्रथा प्रचलित थी। राजा लोग शिकार खेलने के लिए यात्रायें किया करते थे[1]। इनमें बहुत से जीवों का व्यर्थ ही वध होता था। बिना किसी उपयोग के, केवल शौक़ पूरा करने के ही लिए प्राणियों की हिंसा होती थी। अशोक ने इस जीवहिंसा को दूर करने का बहुत प्रयत्न किया। प्राचीन समय में भारत में जीव-हिंसा बहुत बढ़ गई थी। यज्ञों में पशुओं की बलि दी जाती थी। मांस का सेवन साधारणरूप से किया जाता था। छठी सदी ई० पू० में जिस धार्मिक सुधारणा का प्रारम्भ हुआ, उसमें इस बढ़ते हुए पशुवध को रोकने का बहुत प्रयत्न किया गया। इस धार्मिक सुधारणा के समय उत्पन्न हुए सब सम्प्रदायों का 'अहिंसा' मुख्य सिद्धान्त था। बौद्ध, जैन, भागवत, आजीवक आदि सब सम्प्रदाय अहिंसावादी थे। इनके प्रचारों से अशोक के समय में जीवहिंसा बहुत कुछ कम होगई थी। अशोक ने अपने उद्योग से इसे और भी कम किया। जीवहिंसा को कम करने के लिए अशोक ने जिन नियमों का निर्माण किया, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं।

---

1. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० ८

अशोक के समय में बड़े बड़े महोत्सव होने की प्रथा थी। इन्हें 'समाज' कहते थे[1]। 'समाज' में बहुत से लोग सम्मिलित होकर नृत्य, गान, भोजन आदि किया करते थे। इनमें पशुओं के परस्पर युद्ध कराये जाते थे। मांस पकाया और खाया जाता था। नानाविध तमाशे होते थे। प्राचीन यूनान में जो स्थान एम्फीथिएटर्स (Amphitheatres) को प्राप्त था, वही स्थान भारत में 'समाजों' का था। उस समय बड़े बड़े जुलूस निकाले जाते थे, जिनमें आतिशबाज़ी, खेल-तमाशे आदि मनोरञ्जक बातें हुआ करती थीं। लोगों को नानाविध दृश्य दिखाने का बड़ा भारी प्रबन्ध किया जाता था[2]। अशोक ने इन सब बातों का प्रयोग भी अपने धर्म-प्रचार के लिए किया। इनके रूप में उसने अनेक परिवर्तन किये। इसी सम्बन्ध में उसने इनका ज़िक्र किया है। पर हम इन निर्देशों से तत्कालीन भारत की दशा की थोड़ी बहुत झलक का अवलोकन कर सकते हैं।

अशोक-कालीन भारत में दास-प्रथा भी प्रचलित थी। इसी लिए अपने 'धर्म' का अभिप्राय समझाता हुआ अशोक बार बार दासों के साथ उचित व्यवहार करने का आदेश देता है। वह लिखता है—

"धर्म यह है कि दास और भृत्यों से उचित व्यवहार किया जाय[3]।"

"जिनमें ब्राह्मणों की सेवा, माता-पिता की सेवा, गुरुओं की सेवा, मित्र, परिचित, सहायक, जाति, दास और भृत्यों के प्रति अच्छा व्यवहार किया जाय[4]।"

यहाँ दासों से सेवकों का ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि साधारण भृत्यों का पृथक् उल्लेख है। सम्राट् चन्द्रगुप्त

---

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० १

२. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० ४

३. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० ११

४. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० १३



गिरनार का शिलालेख । पृ० ६०८

के समय में भी यह दास-प्रथा विद्यमान थी, इसका प्रतिपादन हम पहले कर चुके हैं। भारत में दासों के साथ वैसा बुरा व्यवहार कभी नहीं किया गया, जैसा कि ग्रीस, रोम आदि प्राचीन यूरोपीय देशों में किया गया था। तथापि अशोक ने दासों के प्रति उत्तम बर्ताव करने के लिए बार बार जनता का ध्यान आकृष्ट किया है।

इस प्राचीन काल में सर्व-साधारण जनता के अन्दर अन्ध-विश्वासों की भी कमी न थी। जिस प्रकार वर्तमान समय में स्त्रियों तथा जनता में नानाविध अन्ध-विश्वास विद्यमान हैं, और इन्हीं के कारण वे विविध रूप से मङ्गलाचार करते हैं, उसी प्रकार से अशोक के समय में करते थे। वह लिखता है—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं —'लोग विपत्ति-काल में, पुत्र के विवाह में, कन्या के विवाह में, सन्तान की उत्पत्ति में, परदेश जाने के समय और इसी तरह के दूसरे अवसरों पर अनेक प्रकार के बहुत से मङ्गलाचार करते हैं। ऐसे अवसरों पर स्त्रियाँ अनेक प्रकार के क्षुद्र और निरर्थक मङ्गलाचार करती हैं। मङ्गलाचार अवश्य करना चाहिए, किन्तु इस प्रकार के......"[1]

इस संदर्भ से अशोक-कालीन भारत के सामान्य लोगों की अवस्था पर बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है। वे लोग आज-कल के भारतीयों की ही तरह जन्म, विवाह, परदेश-गमन आदि अवसरों पर नानाविध मङ्गलाचार किया करते थे। इन मङ्गलाचारों का स्वरूप अशोक ने नहीं बताया। परन्तु वर्तमान अवस्था को देखकर उस समय के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ अनुमान किया जा सकता है। ऊपर सुत्तपिटक के 'निद्देश' का जो जिक्र किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि उस समय भारत में हस्ति, अश्व, गौ, काक, यक्ष, गन्धर्व, सुपर्ण, नाग आदि के

---

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० ९

उपासक भी मौजूद थे। जिस जनता में इस तरह के अन्ध-विश्वास विद्यमान हों, उसके लिए मङ्गलाचारों के फलों पर विश्वास करना आश्चर्यजनक नहीं है। अशोक ने अपने धर्म-सन्देश में मङ्गलाचारों के विरुद्ध भी भाव उत्पन्न करने का यत्न किया था। वह लोगों के हृदय में यह भाव उत्पन्न कर देना चाहता था कि असली मङ्गलाचार धर्म-द्वारा ही होता है। इससे इहलोक और परलोक दोनों में फलप्राप्ति निश्चित है।

सम्राट् अशोक के समय में सार्वजनिक हित के कार्यों पर बहुत ध्यान दिया जाता था। सड़क, कूप, धर्मशाला आदि के निर्माण के लिए अशोक ने विशेषरूप से प्रयत्न किया था। यद्यपि लोकहित के इन कार्यों का पहले भी वर्णन किया जा चुका है, तथापि यहाँ इनका निर्देश कर देना प्रकरण के अनुसार उचित है। अशोक के इन कार्यों को हम निम्नलिखित प्रकार से लिख सकते हैं—

(१) सार्वजनिक औषधालयों का निर्माण—इनमें मनुष्यों और पशुओं की सब प्रकार की चिकित्सा का प्रबन्ध था। सब स्थानों पर ओषधियों का आरोपण इस दृष्टि से किया गया था कि यथासमय ताजी दवाइयाँ प्राप्त हो सकें।

(२) सड़कों के दोनों ओर बरगद के पेड़ लगवाये गये थे, ताकि यात्रियों को धूप से कष्ट न उठाना पड़े।

(३) यात्रियों के ही आराम के लिए अशोक ने आध आध[1] कोस की दूरी पर कूप खुदवाये, धर्मशालायें बनवाईं, और पशुओं तथा मनुष्यों के उपकार के लिये पियाऊ (आपान) बिठवाये।

(४) अनेक स्थानों पर विविध प्रकार की वाटिकायें लगवाई गईं।

---

१. किसी किसी की सम्मति में आध आध कोस के स्थान पर 'आठ आठ कोस की दूरी पर' समझना चाहिए। इसके लिए जनार्दन भट्ट कृत 'अशोक के धर्मलेख' पृ० ३०४-६ की टिप्पणी देखिए।

जो फल, मूल, पुष्प आदि जहाँ नहीं होते थे, उन्हें वहाँ लगवाया गया।

शिलालेखों में इन्हीं लोकहित के कार्यों का वर्णन आया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के आधार पर हम चन्द्रगुप्त के समय के सार्वजनिक हित के कार्यों का वर्णन कर चुके हैं। यदि उन्हें दृष्टि में रख कर हम इन निर्देशों को पढ़ें, तो इनका वास्तविक स्वरूप समझ में आ सकता है।

स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में शिलालेखों से कोई नवीन बात ज्ञात नहीं होती। इतना ही मालूम पड़ता है कि उस समय बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। अशोक ने स्वयं अनेक विवाह किये थे। एक शिलालेख में अशोक अपनी दूसरी रानी—तीवर की माता कारुवाकी—के दान का वर्णन करता है।[1] डा० भाण्डारकर की सम्मति में अशोक के समय में परदे की प्रथा भी विद्यमान थी।[2] इसके लिए प्रमाणरूप में वे 'अवरोधन' शब्द को पेश करते हैं। अशोक ने अपनी स्त्रियों के निवास-स्थान के लिए 'अवरोधन' शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द से डा० भाण्डारकर इस परिमाण पर पहुँचे हैं कि उस समय में स्त्रियाँ बन्द परदे में रहा करती थीं। प्रमाणरूप से वे कौटिल्य के 'अन्तःपुर' शब्द तथा उसके वर्णन को भी पेश करते हैं।

निस्सन्देह, कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से मौर्यकाल में परदे की प्रथा की सत्ता सूचित होती है। 'अन्तःपुर' शब्द के सिवाय उसमें स्त्रियों को 'अनिष्कासिनी'[3] या 'न निकलने वाली' कहा है। यह सिद्ध करता है कि उस समय परदे की प्रथा विद्यमान थी। इस कारण अशोक के शिलालेखों में प्राप्त 'अवरोधन' शब्द भी यही बात सूचित करता है।

---

१. रानी का लेख

२. Bhandarkar—Aśoka, p. 181.

३. कौ० अर्थ० ३।१।

चौबीसवाँ अध्याय



सम्राट् अशोक का इतिहास में स्थान

एक बार प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीयुत एच० जी० वेल्स से पूछा गया कि संसार के इतिहास में सबसे बड़े छः महापुरुष कौन से हुए हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया—ईसा, बुद्ध, अशोक, अरिस्टाटल, बेकन और लिंकन। बड़े बड़े विजेताओं और सम्राटों में से सीज़र, सिकन्दर, पाञ्चू, चार्ल्स आदि का नाम न लेकर उन्होंने केवल अशोक का ही नाम लिया। सम्राटों में केवल अशोक को इस योग्य समझा गया कि वह संसार के सबसे बड़े छः महापुरुषों में स्थान प्राप्त कर सके। संभवतः इसी बात को सम्मुख रख कर वे अपनी पुस्तक The Outline of History में लिखते हैं—[१]

"For eight and twenty years Asoka worked surely for the real needs of men. Amidst the tens of thousands of names of monarchs that crowd the columns of history, their majesties and graciousnesses and serenities and royal highnesses and the like, the name of Asoka shines and shines almost alone, a star. From the Volga to Japan his name is still honoured. China, Tibet, and even India though it has left his doctrine, preserve the tradition of his greatness. More living men cherish his memory to-day than have ever heard the names of Constantine or Charlemagne."

१. H. G. Wesll—The Outline of History, पृ० २१२.

वे कौन से कारण हैं, जिनसे सम्राट् अशोक को इतनी महत्ता प्राप्त है। अशोक बहुत बड़ा विजेता नहीं हुआ, साम्राज्य की दृष्टि से बहुत से प्राचीन और अर्वाचीन सम्राट् उससे बड़े प्रदेशों पर शासन कर चुके हैं, फिर कौन सी बात है जिसके कारण अशोक को इतना महत्त्व दिया जाता है। अशोक की महत्ता को समझने के लिए यह देखना आवश्यक है कि उसके कार्यों का इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा, और उसके शासन के क्या मूल सूत्र थे जिनको सम्मुख रखकर उसने अपना कार्य किया।

पहले राजनैतिक दृष्टि से विचार कीजिए। अशोक एक बड़े साम्राज्य का स्वामी था। तत्कालीन संसार की सबसे प्रबल सैनिक-शक्ति उसके अधीन थी। मगध की जिन प्रबल सेनाओं का नाम सुनकर ही सिकन्दर की विश्व-विजयिनी सेनायें घबरा गई थीं, जिन्होंने सैल्यूकस जैसे विजेता को न केवल पराजित ही किया था अपितु अपने राज्य के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रदेश को देने के लिए बाधित किया था और जिसकी सहायता से संपूर्ण भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना हुई थी, वे अदम्य सेनायें अशोक के हाथ में थीं। उनकी सहायता से वह सम्पूर्ण संसार का विजय कर सकता था। सीरिया, मेसीडोन और इजिप्ट के राज्य उनके सम्मुख क्या चीज़ थे? वह सिकन्दर और सीज़र की तरह सम्पूर्ण जगत् पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने का यत्न कर सकता था। पर यह उसने नहीं किया, क्योंकि कलिङ्ग-विजय के बाद ही उसने अनुभव कर लिया कि शस्त्रों के द्वारा जो विजय की जाती है वह असली विजय नहीं है, अपितु धर्म-विजय ही असली और मुख्यतम विजय है। कितना उत्तम और आदर्श अनुभव है! यदि अन्य सम्राटों और विजेताओं ने भी यह अनुभव कर लिया होता, तो आज इतिहास के लाखों और करोड़ों पृष्ठ व्यर्थ और हानिकारक युद्धों से काले हुए न दिखाई देते। न केवल प्राचीन और मध्यकालीन राजाओं के लिए, पर आज के सभ्य संसार के लिए भी

सम्राट् अशोक का यह अनुभव सदा स्मरण रखने योग्य है। अशोक ने शस्त्र-विजय का इरादा छोड़कर धर्म्म-विजय के लिए प्रयत्न करना आरम्भ किया, और इसमें उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इसी लिए वह उचित अभिमान के साथ लिखता है—

"यह धर्म्म-विजय देवताओं के प्रिय ने यहाँ (अपने राज्य में) तथा छः सौ योजन दूर पड़ोसी राज्यों में प्राप्त की है, जहाँ अन्तियोक नाम यवन राजा राज्य करता है और उस अन्तियोक के बाद तुरमय, अन्तिकिनी, मक और अलिक सुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते हैं और उन्होंने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोल, पाण्ड्य तथा ताम्रपर्णी में भी धर्म-विजय प्राप्त की है।............सब जगह लोग देवताओं के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं और अनुसरण करेंगे। जहाँ देवताओं के प्रिय के धर्म के दूत नहीं जाते वहाँ भी लोग देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्म-विधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्मानुसार आचरण करते हैं और भविष्य में आचरण करेंगे। इस प्रकार सर्वत्र जो विजय हुई है वह विजय वास्तव में सर्वत्र आनन्द देनेवाली है।[1]"

अशोक ने इस धर्म-विजय के लिए किन साधनों का प्रयोग किया, इस विषय में हमें बहुत मालूम नहीं है, परन्तु फिर भी अशोक के शिलालेख इस सम्बन्ध में भी हमारी सहायता करते हैं। अशोक ने अपनी धर्म-विजय के लिए धर्म-महामात्र नाम के विविध राजकर्मचारियों को नियत किया। वे कर्मचारी सर्वत्र देवताओं के प्रिय अशोक के सन्देश को सुनाते थे और लोगों को वास्तविक धर्म का अनुयायी बनाने का यत्न करते थे। इनका कार्य, 'हित और सुख करना'[2] बाधा को दूर करना, अनाथों और वृद्धों की रक्षा करना तथा क़ैद और प्राण-दण्ड

---

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० १३

२. चतुर्दश शिलालेख—लेख-सं० ५

को नियन्त्रित करना होता था। ये सर्वत्र अपने हित और सुख के उद्देश्य को लिये हुए भ्रमण करते थे और लोगों पर विजय प्राप्त करते थे। इतना ही नहीं, अशोक ने न केवल अपने राज्य में अपितु विदेशों में भी मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिए प्रबन्ध किया, जहाँ ओषधियाँ नहीं थीं वहाँ वहाँ ओषधियाँ उगवाईं, मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिए वृक्ष लगवाये और कुएँ खुदवाये।[1] अशोक के इन प्रयत्नों का क्या परिणाम हुआ होगा, इसका अनुमान सहज में ही किया जा सकता है। अशोक के समय में प्रायः सभी अन्य राज्यों में विदेशी विजेता राज्य कर रहे थे, उन्हें अपनी शक्ति के सिवाय किसी अन्य बात का ख़्याल नहीं था, जनता की भलाई इनके ध्यान में कभी न आती थी। इस अवस्था में अशोक के प्रयत्नों ने सचमुच ही उसकी धर्म-विजय स्थापित कर दी थी। जनता के लिए वही राजा है जो उनके हिताहित, सुख-दुःख का ख़्याल रक्खे। उनके आराम के लिए कूप खुदवाये, वृक्ष लगवाये, धर्मशालायें बनवाये और अस्पताल खुलवाये। अशोक ने ये कार्य किये, उसी को जनता ने अपना राजा समझा। कितनी विचित्र बात है, खून की एक भी बूँद गिराये बिना, केवल प्रेम और परोपकार के द्वारा अशोक ने अपनी अपूर्व धर्म-विजय स्थापित की थी। वह न केवल भारतीय जनता को, परन्तु संपूर्ण मनुष्य-जाति को—नहीं प्राणिमात्र को अपना पुत्र समझता था। और उसकी सम्यक पालना के लिए यत्न करता था। कितनी बार अशोक ने अपने शिलालेखों में इस भाव का प्रदर्शन किया है।

साम्राज्य-लिप्सा और शक्तिप्रदर्शन के लिए इतिहास में कितने युद्ध किये गये—कितनी खून-ख़राबी हुई पर क्या अशोक के सिवाय संसार के संपूर्ण इतिहास में कोई अन्य भी ऐसा सम्राट् है जिसने इस तरह सच्ची विजय प्राप्त की हो और

---

१. सप्तस्तम्भ लेख—लेख-सं० ७

सारी दुनिया में अपना धर्म-साम्राज्य स्थापित किया हो ? जिन बातों को अक्रियात्मक और आदर्श-मात्र समझा जाता है, उनको अशोक ने क्रिया में परिणत कर दिखाया। क्या इस विजय के द्वारा अशोक की राजनैतिक शक्ति किसी तरह से कम हुई ? बिल्कुल नहीं, अपितु राजनैतिक शक्ति के साथ अन्य बातें जुड़ जाने से उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई।

राजनैतिक दृष्टि को छोड़ कर यदि धार्मिक दृष्टि से विचार किया जाय, तो अशोक का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। अशोक ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया था। यदि वह चाहता तो अपनी विशाल राजनैतिक शक्ति का प्रयोग बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए कर सकता था। अन्य धर्मों पर अत्याचार करके वह बौद्ध-धर्म को फैला सकता था। पर उसने यह नहीं किया। अशोक ने सब धर्मों को समान दृष्टि से देखा। सबके साथ एक जैसा बर्ताव किया। सम्राट् की हैसियत से उसने कोई ऐसा कार्य नहीं किया, जिससे बौद्ध-धर्म को अनुचित लाभ पहुँचा हो। उसने बार बार अपने शिलालेखों में सूचित किया है, कि "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहते हैं कि सब संप्रदायों के मनुष्य (एक साथ) निवास करें। क्योंकि हर एक संप्रदाय के मनुष्य संयम और चित्त शुद्धि चाहते हैं।[१]" इसी के अनुसार अशोक ने सब संप्रदायों की समान रूप से रक्षा की, बौद्ध-श्रमणों और ब्राह्मणों को एक तरह से दान दिया। स्वयं बौद्ध होने के कारण वह अपना कर्तव्य समझता था कि बौद्ध-धर्म की सेवा की जाय, परन्तु यह करने के लिए वह अपनी सम्राट् की स्थिति से अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहता था। अतः बौद्ध धर्म की सेवा के लिए समय समय पर वह भिक्षु बन जाया करता था और राजकीय कर्तव्यों को युवराज और अमात्यों के हाथ में छोड़ कर स्वयं बौद्ध धर्म की सेवा में तत्पर हो जाता था। उसने अपनी संतानों को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया, उनके द्वारा प्रचार का

---

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख सं०-१२

कार्य किया। बौद्ध संघ का प्रधान नेता और सहायक बनकर उसने इस धर्म्म को देश-देशान्तर में फैला दिया। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि इसके लिए उसने राजनैतिक शक्ति का प्रयोग नहीं किया। इसके लिए तो उसने स्वयं पीले वस्त्र पहन कर, अपनी संतान को भिक्षु बनाकर उद्योग किया। बौद्ध धर्म का संसार भर में प्रचार 'सम्राट् अशोक' का कार्य नहीं है अपितु 'भिक्षु अशोक' का कार्य है। एक बार जब उसने राज्य को संघ के सुपुर्द करने का इरादा किया और इस प्रकार संघ को अपनी राजनीतिक शक्ति से सहायता पहुँचानी चाही, तो मंत्रियों ने उसे सावधान किया, उसकी आज्ञा का उल्लङ्घन करने के लिए युवराज को प्रेरणा की। दिव्यावदान में इस घटना का बहुत अच्छा वर्णन किया गया है। मंत्रियों-द्वारा टोके जाने पर अशोक को अपनी शक्ति-हीनता का अनुभव हुआ। राज्य भर को संघ के लिए दान कर देने के स्थान पर उसने आधा आँवला दानरूप से भेज दिया और कहा—'यही आधा आँवला है, जिसे मैं अपना कह सकता हूँ।'

त्यागशूरो नरेन्द्रोऽसौ, अशोको मौर्यकुञ्जरः।
जम्बूद्वीपेश्वरो भूत्वा, जातोऽर्धामलकेश्वरः॥[1]

अभिप्राय यह है, कि बौद्ध-धर्म के प्रचार में अशोक सम्राट् की हैसियत से कोई सहायता आदि न कर सका। यह कार्य उसने समय समय पर भिक्षु बनकर संपादित किया। बौद्ध-धर्म के प्रचार में अशोक का वही स्थान है, जो क्रिश्चियनटी में 'सेन्ट पाल' का और इस्लाम में 'खलीफ़ा उमर' का है। बौद्ध-धर्म अशोक के नेतृत्व में संसार का धर्म बना। यदि भगवान् बुद्ध ने बौद्ध-धर्म का प्रारंभ किया; समानता, भ्रातृभाव, विश्वप्रेम और अहिंसा के सिद्धान्तों को मनुष्य-जाति के सम्मुख रखा, तो अशोक ने इनको कार्य-रूप में परिणत करके दिखाया और इन संदेशों को सारी दुनिया में गुँजा दिया।

---

१ दिव्यावदान—edited by Cowell and Neil.

परन्तु सम्राट् की हैसियत से उसने जिस धर्म का प्रचार किया, वह बौद्ध-धर्म नहीं था। वह तो सब धर्मों का निष्कर्ष—धर्म के सर्व-सम्मत सिद्धान्त थे। यह बात और है कि उस समय में बौद्ध-धर्म अपने असली स्वरूप में विद्यमान था और इन्हीं बातों का मुख्य रूप से प्रचार करता था। अशोक बार बार अपनी प्रजा के संमुख यह स्पष्ट कर देना चाहता था, कि "धर्म यह है कि दास और सेवकों से उचित व्यवहार किया जाय, माता और पिता की सेवा की जाय, मित्र परिचित, रिश्तेदार, श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय, और प्राणियों की हिंसा न की जाय।[1]" "धर्म की उन्नति और धर्म्म का आचरण इस बात में है कि दया, दान, सत्य, शौच, मृदुता और साधुता लोगों में बढ़े।"[2]

अपनी राजकीय-शक्ति का प्रयोग उसने इन्हीं बातों के प्रचार के लिए किया। वह इस बात को अच्छी तरह अनुभव करता था कि धर्म्म के ये तत्त्व अन्य संप्रदायों में भी विद्यमान हैं। इसीलिए लोगों की वास्तविक भलाई को अपने सम्मुख रखकर यह सब संप्रदायों के तत्त्व (सार) पर ज़ोर देता था। वह इस बात को अच्छी तरह समझता था कि सभी संप्रदायों में सत्य बातें समान हैं, केवल बाह्य आवरण का भेद है। यदि आन्तरिक तत्त्व पर ज़ोर दिया जाय, तो भिन्न भिन्न संप्रदायों के पारस्परिक भेदों का नाश होकर एकता स्थापित हो सकती है।

संप्रदायों के पारस्परिक भेद को देखकर और यह ख़्याल कर कि सब संप्रदायों के अनुयायी अपनी अपनी बात पर अनुचित रूप से ज़ोर दे रहे हैं, उसे बड़ा दुःख होता था। इसी लिए वह लिखता है—

"देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नहीं करते जितनी इस बात की कि सब संप्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। संप्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है,

---

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख सं०-११

२. चतुर्दश शिलालेख—लेख सं०-२

पर उसकी जड़ वाक्-संयम है। अर्थात् लोग केवल अपने ही संप्रदाय का आदर और विना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें। केवल विशेष विशेष कारणों के होने पर निन्दा होनी चाहिए, क्योंकि किसी न किसी कारण से सब संप्रदायों का आदर करना लोगों का कर्त्तव्य है। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की उन्नति और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार होता है। इसके विपरीत जो करता है वह अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचाता है और दूसरे सम्प्रदायों का भी अपकार करता है। क्योंकि जो कोई अपने सम्प्रदाय की भक्ति में आकर इस विचार से कि मेरे सम्प्रदाय का गौरव बढ़े, अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा करता है वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को पूरी हानि पहुँचाता है। समवाय (मेल-जोल) अच्छा है, अर्थात् लोग एक दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें और उसकी सेवा करें। क्योंकि देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है कि सब सम्प्रदायवाले बहुत विद्वान् और कल्याणकर कार्य करनेवाले हों[1]।"

वस्तुतः ही अशोक स्वयं भी इसी तरह आदर्श धार्मिक सहिष्णुता का पालन करनेवाला था और उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति के द्वारा इसी धार्मिक सहिष्णुता को कार्यरूप में परिणत कराने का प्रयत्न किया था। इसके लिए उसने धर्ममहामात्र, स्त्रीमहामात्र, व्रजभूमिक आदि राज-कर्मचारियों को नियुक्त किया। इस सहिष्णुता के होते हुए उस समय भारत की अवस्था कितनी उत्तम होगी, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है।

अशोक का वैयक्तिक जीवन भी आदर्श था। अन्य शक्तिशाली सम्राटों की तरह उसका जीवन भोग-विलास और स्वच्छन्दता में नहीं गुजरता था, अपितु वह बहुत ही त्याग के साथ जीवन व्यतीत करता था। अपने शिलालेखों में उसने इस बात का ज़िक्र किया है, कि पहले वह भी सुख भोगता था, अपनी रसना की तृप्ति के लिए अनेक प्राणियों का वध कराता था।

१. चतुर्दश शिलालेख—लेख सं०-१२

परन्तु धीरे धीरे उसने यह सब छोड़ दिया और आदर्श रूप से जीवन व्यतीत किया। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार अपने जीवन के प्रारम्भ काल में अशोक बहुत ही क्रूर और अत्याचारी था, परन्तु बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं से वह अपूर्व धर्मात्मा बन गया। बौद्धों की इन बातों का विश्वास चाहे किया जाय या न किया जाय, परन्तु यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि अशोक एक धर्मात्मा और पवित्र जीवन व्यतीत करनेवाला सम्राट् था। प्राणिमात्र उसके सम्मुख एक समान थे। उसकी सहानुभूति व दया का क्षेत्र केवल अपने देश या मनुष्य-जाति तक ही सीमित न था, परन्तु प्राणिमात्र उसके लिए एक समान थे। सबकी भलाई और कल्याण के लिए वह समान रूप से प्रयत्न करता था। पशुओं की चिकित्सा और आराम के लिए भी उसने अस्पताल आदि खुलवाये। पशुहिंसा को बन्द कराने का निरन्तर उद्योग किया। परन्तु उसके सब उद्योग शान्त और अहिंसात्मक उपायों-द्वारा होते थे। प्रेरणा और उपदेश-द्वारा मनुष्यों को सीधे रास्ते पर लाना ही उसका उद्देश्य था। विचित्र बात यह है कि यह सब कुछ करते हुए भी उसमें अभिमान का लेश भी न था। वह बार बार यही प्रकट करता है कि जो कुछ मैं करता हूँ उसका उद्देश्य यही है कि मेरी प्रजा को इहलोक और परलोक—दोनों में सुख प्राप्त हो। मनुष्य यश-प्राप्ति के लिए अच्छे से अच्छा कार्य कर सकता है, परन्तु अशोक के सम्मुख यश व कीर्ति कुछ चीज़ ही नहीं थी, इसी लिए वह लिखता है—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा यश व कीर्ति को अत्यन्त (परलोक के लिए) बड़ी भारी चीज़ नहीं समझते। जो कुछ यश व कीर्ति वे चाहते हैं, सो इसलिए कि वर्तमान और भविष्य काल में मेरी प्रजा धर्म की सेवा करे और धर्म के व्रत का पालन करे। केवल इसी लिए देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा यशकीर्ति की इच्छा करते हैं। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा जो कुछ भी पराक्रम करते हैं वह सब परलोक के लिए करते हैं, जिससे कि सब लोग विपत्ति से रहित हो जाँय।"

इन सब बातों को देखकर यदि हम इतिहास में किसी ऐसे व्यक्ति को ढूँढ़ना चाहें, जिससे अशोक की तुलना की जा सके, तो हमें निराशा ही होगी। कोई भी अन्य सम्राट् अशोक के सामने नहीं ठहर सकता। अनेक विद्वानों ने अशोक की तुलना रोमन-सम्राट् कौन्स्टेनटाइन से की है। जिस प्रकार कौन्स्टेन-टाईन ने क्रिश्चिएनिटी को आश्रय देकर उसे रोमन-साम्राज्य का राज-धर्म बना लिया और उसके कारण क्रिश्चिएनिटी के विस्तार में बहुत सहायता मिली, इसी प्रकार अशोक ने बौद्ध-धर्म को राज-धर्म बनाकर उसका विस्तार किया। यद्यपि यह बात ठीक है कि अशोक के कारण बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक विस्तार हुआ, पर उसने उसके लिए राजकीय शक्ति का प्रयोग नहीं किया, यह बात हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं और यह भी अशोक के अद्वितीय व्यक्तित्व की ही विशेषता है।

कौन्स्टेनटाईन और अशोक में बहुत भेद है। कौन्स्टेनटाईन ने राजनैतिक प्रयोजनों से बाधित होकर क्रिश्चिएनिटी को स्वीकृत किया था। उसके पूर्ववर्ती सम्राटों ने क्रिश्चियन लोगों पर विविध अत्याचार किये, उनको जीते जी आग में जलाया। अभिप्राय यह है कि जिस तरह भी संभव हुआ क्रिश्चिएनिटी को पददलित करने का प्रयत्न किया। परन्तु ईसाई साधुओं और सन्तों के आश्चर्यजनक त्याग और कष्ट-सहन का यह परिणाम हुआ कि उनका धर्म दिन दूना रात चौगुना बढ़ता ही चला गया। कौन्स्टेनटाईन के समय तक यह एक ऐसी शक्ति बन गई, जिसका प्रतिरोध करना किसी मानवीय शक्ति के लिए असंभव था। कौन्स्टेनटाईन ने इस प्रबल धारा के सम्मुख सिर झुका दिया। इसमें उसका उद्देश्य राजनैतिक था, इसके द्वारा उसने अपनी शक्ति को बढ़ाना चाहा और निःसन्देह उसको सफलता हुई। कौन्स्टेनटाईन एक चालाक धूर्त और क्रूर व्यक्ति था, उसके सम्मुख धर्म का कोई उच्च आदर्श विद्यमान न था। उसको ईश्वर ने एक अलौकिक गुण दिया था—वह थी दूरदर्शिता। इसी के द्वारा उसने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि अपनी राजनैतिक

महत्त्वाकांक्षा के लिए क्रिश्चिएनिटी को स्वीकृत कर लेना ही श्रेयस्कर है। यही उसने किया। क्रिश्चिएनिटी को राजाश्रय मिल जाने से कौन्स्टेनटाईन को तो बहुत लाभ पहुँचा ही, उसकी राजनैतिक शक्ति तो अच्छी प्रकार बढ़ी ही, साथ ही क्रिश्चिएनिटी का भी अच्छी तरह विस्तार हुआ। परन्तु ख़्याल रहे कि राजाश्रय पाकर वस्तुतः क्रिश्चिएनिटी का पतन प्रारम्भ हो गया। उसका शरीर बढ़ता गया परन्तु आत्मा कमज़ोर होती गई। चर्च में धन-वृद्धि, भोग-विलास आदि के भाव आने लगे। पुरानी क्रियाशीलता, त्याग और आत्मसंयम का नाश हो गया और क्रिश्चिएनिटी का धीरे धीरे पतन शुरू हो गया।

इसके विपरीत यदि हम अशोक के इतिहास का अवलोकन करें, तो हमें बिल्कुल ही विपरीत अवस्था दिखाई देगी। अशोक ने किसी राजनैतिक प्रयोजन से बौद्ध-धर्म को स्वीकार नहीं किया। उससे पूर्व भारत में बौद्ध-धर्म का विशेष प्रचार नहीं हुआ था। बौद्ध-धर्म ऐसी शक्ति नहीं बन गई थी, जिसके सम्मुख सिर झुकाये विना कोई सम्राट् अपनी सत्ता कायम न रख सके। यह होते हुए भी अशोक ने बौद्धधर्म को केवल इसलिए स्वीकृत किया, क्योंकि वह उसकी शिक्षाओं से प्रभावित हुआ था, क्योंकि उस धर्म के प्रचारकों के त्याग, उच्च जीवन और संयम ने उसे अपनी तरफ़ खींच लिया था। फिर, अशोक के बौद्ध-धर्म को आश्रय देने का परिणाम बौद्धधर्म का पतन नहीं हुआ। यद्यपि अशोक के समय और उसके बाद भी बौद्धधर्म के शरीर में निरन्तर वृद्धि हुई, परन्तु उसकी आत्मा का विनाश नहीं हुआ। यद्यपि प्रो० रीज डेविड्स ने कौन्स्टेनटाईन और अशोक पर विचार करते हुए उनकी इस विषय में तुलना की है कि दोनों के क्रमशः क्रिश्चिएनिटी और बौद्ध-धर्म को राजाश्रय देने से इन धर्मों का पतन प्रारम्भ हो गया, तथापि अशोक के बाद बौद्ध-धर्म की अवनति प्रारम्भ हुई, यह नहीं कहा जा सकता। उसके बाद कई सदियों तक बौद्ध-धर्म में गिरावट का कोई निशान नहीं दिखलाई देता।

अशोक के कई सदियों के बाद तक भी बौद्ध-धर्म निरन्तर उन्नति करता गया। अशोक ने राजकीय धन से बौद्ध-विहारों का पोषण नहीं किया, यद्यपि उसके अपूर्व और अमित दान से बौद्ध-धर्म की बहुत श्री-वृद्धि हुई, पर बौद्ध-भिक्षुओं का आन्तरिक पतन बहुत समय तक प्रारम्भ नहीं हुआ। उनमें आत्म-संयम और त्याग के भाव चिरकाल तक विद्यमान रहे। इसमें बौद्ध-धर्म की आन्तरिक खूबियाँ भी कारण हैं। जिस धर्म का उद्देश्य ही जीवन की पवित्रता हो, वह बहुत समय तक अपनी उच्चता को क़ायम रख सकता है। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि कौन्स्टेनटाईन के क्रिश्चियनिटी को राजाश्रय देने के कारण जो हानि हुई है, वह अशोक के बौद्ध-धर्म स्वीकृत करने पर बिलकुल नहीं हुई। उसका प्रभाव उत्तम ही हुआ।

इसके सिवाय अशोक का वैयक्तिक जीवन बहुत पवित्र था। उसके सम्मुख उद्देश्य बहुत ऊँचा था, वह बहुत ही ऊँची दृष्टि से अपने कार्य्यों को करता था। कौन्स्टेन्टाईन इसके सर्वथा विपरीत था। इन दोनों सम्राटों में किसी भी प्रकार से तुलना नहीं की जा सकती। इतिहास में जिस गौरव से अशोक का नाम अब तक लिया जाता रहा है और भविष्य में जब तक दुनिया उसके महत्त्व को अधिक अच्छी तरह समझेगी, तब जिस गौरव के साथ उसका स्मरण करेगी, निश्चय ही कौन्स्टेन्टाईन उसके शतभाग तक भी नहीं पहुँच सकता।

कई ऐतिहासिक अशोक की तुलना प्रसिद्ध रोमन-सम्राट् 'मार्कस ओरिलियस' से करते हैं। निस्सन्देह 'मार्कस ओरिलियस' का जीवन बहुत ही पवित्र और उच्च था, उसके उद्देश्य ऊँचे थे, वह बहुत बड़ा विद्वान् था। मानसिक और आत्मिक दृष्टि से वह बहुत बड़ा व्यक्ति था। परन्तु यह होते हुए भी उसमें इतनी उच्चता नहीं थी कि वह सब धर्मों को समान दृष्टि से देख सके। क्रिश्चियनिटी पर उसने घृणित अत्याचार किये। वह ऐसा करना बिलकुल न्याय्य समझता था। वह अपनी रोमन देश-भक्ति से ऊँचा नहीं उठ सकता था। प्राणिमात्र को क्या, मनुष्य-

मात्र तक को समान दृष्टि से देखना उसके लिए अकल्पनीय था। क्रिश्चियन और रोमन-साम्राज्य की सीमावर्ती जातियाँ उसके लिए घृणित जन्तु थीं। 'मार्कस ओरिलियस' की दृष्टि बहुत संकुचित थी, वह रोम की तंग दीवारों से बाहर नहीं जा सकती थी। परन्तु अशोक! उसके सम्मुख संकीर्णता का नाम भी न था। उसका आदर्श उच्च था। मनुष्य-मात्र उसके लिए समान थे। सब धर्मों में उसके लिए सत्य विद्यमान था। राष्ट्र और जाति की सीमायें उसके विश्वप्रेम को सीमित नहीं कर सकती थीं। 'मार्कस ओरिलियस' के साथ उसकी तुलना करना दीपक के साथ सूर्य की तुलना करना है।

प्रायः अशोक की तुलना अकबर के साथ भी की जाती है। जिस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता अशोक की विशेषता है, उसी तरह अकबर की भी। अकबर भारतीय नहीं था, उसने विजेता के रूप में भारत में प्रवेश किया था। उसके पिता और पितामह अभी भारत में अपना राज्य स्थापित नहीं कर सके थे। मुग़ल-साम्राज्य की नींव डालनेवाला यदि बाबर था, तो उस पर भित्ति खड़ी करनेवाला अकबर ही था। यह होते हुए भी उसने जो धार्मिक सहिष्णुता प्रकट की, वह सचमुच आश्चर्यजनक है और विशेषतः उस अवस्था में जब कि हम उसके पूर्ववर्त्ती पठान सम्राटों के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं। अकबर ने स्वयं मुसल्मान होते हुए भी हिन्दुओं के साथ समानता का बर्ताव किया, उनकी धार्मिक विशेषताओं का आदर किया।

वह वस्तुतः सब धर्मों में सत्यता का अनुभव करता था और प्रायः ऐसी सभायें किया करता था जिनमें कि मुसल्मान, हिन्दू, ईसाई, यहूदी आदि धर्मों के प्रतिनिधि सम्मिलित होकर अपने अपने धर्म्मों पर विचार किया करते थे। अकबर इन विवादों को ध्यान से सुनता था। सब धर्मों के तथ्यों को लेकर उसने 'दीन-इलाही' नाम से एक नया पन्थ भी चलाया, जिसमें कि सब धर्मों के सत्य तत्त्वों को स्थान दिया गया था। अभिप्राय यह है

कि अकबर ने 'धार्मिक सहिष्णुता' का जो आदर्श स्थापित किया था वह वस्तुतः इतिहास में आदर्श है।

परन्तु अकबर की अशोक के साथ तुलना करते हुए यह हर समय ध्यान में रखना चाहिए कि अकबर एक चाणाक्ष राजनीतिज्ञ था, और अन्य सब चीज़ों को राजनीति से पीछे स्थान देता था। इसमें सन्देह है कि उसने धार्मिक सहिष्णुता किसी अत्यन्त उच्च भावना से प्रेरित होकर की। वह जानता था कि हिन्दू जनता की सहानुभूति और सहायता के बिना भारत में मुग़ल-राज्य स्थापित कर सकना केवल स्वप्न-मात्र है, अतः उसे हिन्दू-सहानुभूति की आवश्यकता थी। साथ में हिन्दू-धर्म, हिन्दू-सभ्यता और हिन्दू-संस्कृति की उच्चता को वह भुला नहीं सकता था। राजनैतिक दृष्टि से विजेता होते हुए भी मुसलमान आक्रान्ता हिन्दुओं से सभ्यता की दृष्टि से पराजित हो रहे थे और चाणाक्ष अकबर इस बात को खूब अच्छी तरह समझता था। इसलिए धार्मिक सहिष्णुता प्रदर्शित करना उसके लिए अनिवार्य था। परन्तु यह होते हुए जहाँ उसने अनुभव किया कि धार्मिक सहिष्णुता उसके राजनैतिक प्रभुत्व में बाधा डाल रही है, वहाँ उसने उसकी ज़रा भी परवाह नहीं की। जब देखा कि धर्मों के खुले विवाद से उसकी मुसलमान-प्रजा और मुसलमान-सेना में असन्तोष फैल रहा है, तो उसने इन विवादों को बन्द कर दिया। जब कभी वह देखता कि किसी धर्म के प्रचार-द्वारा जनता में विद्रोह फैलने की आशंका है, तो वह उसका दमन करने में ज़रा भी संकोच न करता। फिर, 'दीन इलाही' धर्म को प्रारम्भ करने में उसके धार्मिक भावों की उच्चता इतना काम नहीं कर रही थी, जितना कि अपनी वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा। अकबर एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था, उसके बहुत से उद्योग उसकी महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए थे। उसके सम्मुख आदर्श की वह उच्चता और पवित्रता न थी, जो अशोक के सम्मुख थी। फिर, अकबर का वैयक्तिक जीवन बहुत उन्नत न था, वह काम, क्रोध आदि के बुरी तरह से वशीभूत था। अनेक

राजपूत कन्याओं को उसने अपनी कामाग्नि से भस्मसात् करना चाहा। उसके वैयक्तिक आचार को देखते हुए उसकी अशोक के साथ तुलना करना भी असंभव प्रतीत होता है। अकबर को जो गौरव प्राप्त है उसे हम अच्छी तरह अनुभव करते हैं। निस्सन्देह, उसकी नीति के कारण भारत को बहुत लाभ हुआ। यदि उसके सब उत्तराधिकारी भी उसकी नीति का अनुकरण करते रहते, तो संभवतः भारत में हिन्दू मुस्लिम प्रश्न शेष ही न रहता। यह सब कुछ होते हुए भी अकबर को किसी भी तरह से अशोक के मुक़ाबले में नहीं रक्खा जा सकता।

अनेक यूरोपियन ऐतिहासिकों ने सिकन्दर और सीज़र जैसे विजेताओं को बहुत महत्त्व दिया है। वे इन्हें संसार के सबसे महान् व्यक्ति मानते हैं। परन्तु क्या उनके विजय ही उनको संसार का महान् पुरुष बना देने के लिए पर्याप्त हैं? कभी नहीं, निस्सन्देह उन्होंने शक्ति का संचय किया, परन्तु शक्ति प्राप्त करते ही उन्होंने उसका दुरुपयोग किया। यदि वे अपनी शक्ति का सदुपयोग करते, उसका व्यय संसार के हित के लिए करते, तो निःसंदेह उनका नाम इतिहास में अमर हो जाता परन्तु उनकी शक्ति से संसार की हानि ही हुई, लाभ नहीं। यदि सम्पूर्ण इतिहास में कोई ऐसा व्यक्ति है जिसने कि अपनी अनन्त राजनैतिक और धार्मिक शक्ति का उपयोग दुनिया की भलाई के लिए किया, तो वह अशोक ही है। उसका उद्देश्य उच्च था और उसका उद्योग अपने महान् उद्देश्य को क्रिया में परिणत करने के लिए ही लगा था। वस्तुतः इतिहास में अशोक का नाम आकाश में सूर्य्य की तरह चमक रहा है। अशोक मनुष्य-जाति को जिस अवस्था तक पहुँचाना चाहता था, वहाँ तक उसके पहुँचने में अभी न जाने कितना समय लगे। परन्तु जब तक वह उस तरफ़ गति कर रही होगी, तब तक निःसन्देह अशोक का नाम उसके लिए पथप्रदीप का कार्य करेगा।

———

पच्चीसवाँ अध्याय

भारतीय इतिहास पर अशोक की नीति का प्रभाव

'धर्म-विजय' इस एक शब्द में सम्राट् अशोक की नीति का पूर्णतया समावेश हो जाता है। अशोक ने अपनी अद्वितीय राजनैतिक और सैनिक-शक्ति का प्रयोग, संसार पर शस्त्र-द्वारा विजय स्थापित न करके धर्म-द्वारा विजय करने के लिए किया—यही उसकी विशेषता है। इसी कारण वेल्स जैसे ऐतिहासिकों ने सम्पूर्ण सम्राटों में उसे उच्चतम स्थान प्रदान किया है। संसार के इतिहास में यही अशोक का गौरव है।

परन्तु भारतीय इतिहास पर इस नीति का क्या प्रभाव पड़ा? प्रायः वर्तमान भारतीय ऐतिहासिक इसको भारत के लिए बहुत हानिकारक मानते हैं। उनका कहना है कि इसी धर्म-विजय की नीति के कारण भारतीय लोग नपुंसक बन गये। उनमें क्षात्र-धर्म का लोप हो गया। उनका ध्यान ऐहलौकिक विषयों की ओर से हट कर पारलौकिक विषयों की ओर चला गया। अपने देश, जाति आदि की उन्हें कोई परवाह न रही। अहिंसा के मंत्र को रटते रहने के कारण शीघ्र ही विदेशियों ने भारत पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार इस देश की वर्तमान पराधीनता और अधोगति के लिए अशोक की नीति ही ज़िम्मेवार है।

डा० भाण्डारकर ने इस पक्ष को बड़ी प्रबलता के साथ प्रतिपादित किया है। हम उनकी स्थापना का सार संक्षेप के साथ यहाँ उपस्थित करते हैं:—

यदि हम मौर्य्य-कालीन भारत का आलोचनात्मक अनुशीलन करें तो हमें मालूम पड़ेगा कि उस समय यहाँ की सभ्यता में भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों तत्त्व पूर्णरूप से समुत्तुलित हुए थे। दोनों का उतना ही भाग था जितना होना चाहिए। परन्तु अशोक की नीति का यह परिणाम हुआ कि भारतीय सभ्यता का भौतिक तत्त्व आध्यात्मिकता के सम्मुख सर्वथा पराभूत होगया। ऐहलौकिक विषयों की ओर उन्नति बिलकुल बन्द हो गई। लोगों का ध्यान आध्यात्मिकता की तरफ़ आकृष्ट हो गया। यद्यपि अनेक यूरोपियन विद्वान् यह मानते हैं कि प्राचीन भारतीयों ने भौतिक व सांसारिक विषयों की तरफ़ कुछ भी ध्यान न दिया, वे केवल आध्यात्मिक विषयों पर ही विचार करते रहे। उन्होंने जो कुछ भी नवीन गवेषणाएँ कीं, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में ही की। संसार के लिए उपयोगी विज्ञानों की तरफ़ उन्होंने कोई ध्यान न दिया। तथापि कौटिलीय अर्थशास्त्र के अधिगत हो जाने से अब इस विषय में कोई संदेह नहीं रहा है कि प्राचीन भारतीयों ने सांसारिक विषयों पर भी पूरी तरह विचार किया था। कौटिलीय अर्थशास्त्र स्वयं राजनीति-शास्त्र का उत्कृष्ट ग्रन्थ है। उसके अध्ययन से यह भी मालूम पड़ता है कि कौटिल्य से पूर्व भारत में राजनीति-शास्त्र सम्बन्धी चार संप्रदाय और सात बड़े आचार्य अवश्य ही विद्यमान थे। कौटिल्य के समय में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—ये चार विद्यायें पृथक्-रूप से विद्यमान थीं। वार्ता से सम्पत्तिशास्त्र (Economics) और दण्डनीति से राजनीति-शास्त्र (Political Science) का अभिप्राय है। इस 'विद्यासमुद्देश' से स्पष्ट है कि मौर्य-काल में सम्पत्तिशास्त्र और राजनीति-शास्त्र का पृथक् रूप से विभाग हो चुका था। इन शास्त्रों का अध्ययन गौण-रूप से—धर्म-शास्त्र का भाग समझकर—नहीं किया जाता था, अपितु इस प्रकार के भी आचार्य मौजूद थे जो त्रयी और आन्वीक्षिकी की अपेक्षा दण्डनीति को ही मुख्यता देते थे। बार्हस्पत्य-संप्रदाय के लोग केवल वार्ता और दण्डनीति को ही विद्या समझते थे,

औशनस-संप्रदाय तो केवल दण्डनीति को ही विद्या समझता था, अन्य दर्शन, धर्म आदि शास्त्रों का समावेश वह दण्डनीति में ही कर लेता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय के दण्डनीति-विशारद विद्वान् राष्ट्र के स्वरूप और कार्य को अच्छी तरह समझते थे। उस समय दण्डनीति एक विकसित और संपन्न शास्त्र था। परन्तु कौटिल्य के बाद राजनीति-शास्त्र की यह उन्नति एक-दम रुक गई। इसके पश्चात् अन्य कोई उत्तम और मौलिक सम्पत्ति-शास्त्र या राजनीति-विषयक पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई। यद्यपि कौटिलीय अर्थशास्त्र स्वयं भी प्राचीन पुस्तकों का संग्रह या सारमात्र था तथापि यह बहुत बड़ा समझा जाने लगा और कामन्दक ने इसका भी सार निकालने की आवश्यकता समझी। बात यह है कि अशोक की धर्म-नीति के कारण लोगों का ध्यान दण्ड-नीति आदि विषयों से हट गया। इसलिए वे इस क्षेत्र में कौटिल्य के बाद कुछ भी उन्नति न कर सके।

हमें मालूम है कि किस प्रकार मगध का छोटा-सा राज्य राजा बिम्बिसार के समय में साम्राज्य-निर्माण के प्रयत्न में पहले-पहल सफल होना प्रारंभ हुआ। जो प्रवृत्ति इस समय प्रारंभ हुई, वह निरन्तर बढ़ती ही गई। मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त और उसके पुत्र बिन्दुसार ने साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का अवलम्बन-कर महान् मौर्य-साम्राज्य का निर्माण किया। पहले अशोक ने अपने पूर्वजों के पथ का अनुसरण किया। इसी लिए उसने कलिङ्ग पर विजय प्राप्त कर उसे मगध के साम्राज्य में मिला लिया। यदि इस समय 'धम्म' का स्वप्न उसे न आ घेरता और उसकी सम्पूर्ण शक्ति को शिथिल न कर देता, तो निश्चय ही मगध की अपूर्व सैनिक-शक्ति और नीति-कुशलता सम्पूर्ण भारत को एकच्छत्र के अधीन लाने में समर्थ होती। न केवल दक्षिण के तामिल-राज्य और ताम्रपर्णी ही भारतीय साम्राज्य के अंग बन जाते, पर भारत रोम की तरह विशाल साम्राज्य बना सकता। अशोक से बहुत समय पहले ही सम्पूर्ण भारत में आर्य-

सभ्यता और आर्य-संस्कृति का प्रचार हो चुका था। विविध भाषाओं को बोलनेवाली भारत की भिन्न भिन्न जातियाँ आर्यत्व के एक ही रंग में रँग चुकी थीं। सर्वत्र भारत में आर्य जीवन का प्रचार था। पाली सम्पूर्ण भारत की राष्ट्र भाषा बन चुकी थी। इस तरह इस विशाल देश में एक राष्ट्रीयता उत्पन्न होने के सब साधन उपस्थित थे। एक राष्ट्रीयता या एक साम्राज्य में भारत की सब विभिन्नतायें विलीन हो सकती थीं। परन्तु इसके लिए केवल एक बात की आवश्यकता थी—वह यह कि सम्पूर्ण भारत राजनैतिक दृष्टि से एक हो जाय, यहाँ राजनैतिक स्थिरता कायम रह सके। यदि अशोक अपने पूर्वजों की नीति का अनुसरण करता रहता, तो निस्संदेह भारत में राजनैतिक स्थिरता रह सकती, एकीकरण और केन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों को मदद मिलती और भारत पूर्णतया एक राष्ट्र बन जाता।[1]

पर कलिङ्ग विजय के बाद अशोक ने इस सुवर्णीय अवसर को खो दिया। अन्य सम्राट् जिन अवस्थाओं को पाकर सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य स्थापित करने की आकांक्षा रखते, अशोक ने उनसे कुछ लाभ न उठाया। परन्तु कलिङ्ग-विजय में जो भयानक नर-हत्या हुई, उससे अशोक ने शस्त्र-विजय के स्थान पर धर्म-द्वारा संसार के विजय का निश्चय कर लिया। यदि वह स्वयं इस नीति का अवलम्बन करता, तब भी संभवतः विशेष हानि न

---

१. श्रीयुत जायसवाल ने इन्हीं भावों को निम्नलिखित संदर्भ में प्रदर्शित किया है:—

"Had he continued his predecessors' policy, he might have brought actually the whole of Jambudwip, from the confines of Persia upto Cape Comorin under 'the umbrella of one sovereignty,' an ideal which has remained ever since unrealized. The accident of the presence on the throne, at a particular juncture in history, of a man who was designed by nature to fill the chair of an abbot, put back events not by centuries but by milleniums.

थी। परन्तु उसने अपने पुत्र, पौत्र तथा अन्य वंशजों को भी इसी धर्म-विजय की नीति का अनुसरण करने की प्रेरणा की। "नीति के इस परिवर्तन का—विजय के स्थान पर धर्म-विजय की नीति को अनुसरण करने का परिणाम यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत उत्तम हुआ पर राजनैतिक दृष्टि से नाशकारक सिद्ध हुआ। शान्ति से प्रेम और आध्यात्मिक उन्नति की अभिलाषा भारतीय चरित्र में ठूँस ठूँस कर भर गई। हिन्दू-दिमाग़, जो पहले ही आध्यात्मिक था—अब बहुत ही आध्यात्मिक होगया। इससे जनता में सैनिकवाद, राजनैतिक महत्ता और भौतिक उन्नति के प्रति उदासीनता उत्पन्न होगई। यही कारण है कि कौटिल्य के बाद राजनीति-शास्त्र का विकास एक-दम रुक गया।" जिस समय यह आशा की जा जाती थी कि मगध का साम्राज्य सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न कर देगा और इस देश के राजनैतिक आदर्श को बहुत ऊँचा उठा सकेगा, उस समय अशोक की नीति ने सब काम ख़राब कर दिया। भारत की सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य की महत्त्वाकांक्षा गर्भ में ही नष्ट हो गई।

अशोक की मृत्यु के बाद ही उसकी नीति ने फल लाना शुरू किया। उत्तर-पश्चिमी आकाश में घनघोर घटायें घिरने लगीं। इस धर्म-प्रधान सम्राट् की मृत्यु हुए चौथाई सदी भी न गुज़री थी कि बैक्ट्रियन ग्रीकों ने हिन्दूकुश पर्वत को पार कर मौर्य-साम्राज्य का विनाश प्रारम्भ कर दिया। ये वही ग्रीक लोग थे जो पहले अनेक बार भारत से पराजित हो चुके थे। सिकन्दर की जिन सेनाओं ने विशाल एचीमीनियन-साम्राज्य का केवल तीन युद्धों में अन्त कर दिया था उन्हें भारत में एक एक इञ्च ज़मीन के लिए भयंकर युद्ध करने पड़े थे। ग्रीक-सेनायें पराक्रम और रण-कौशल में अद्वितीय थीं। इसलिए वे भारत की अनेक सीमावर्ती जातियों को पराजित करने में समर्थ हो सकीं। पंजाब के राजा पोरस को भी उन्होंने पराजित किया। परन्तु पोरस ने सिकन्दर की सेनाओं के दाँत इस तरह खट्टे कर दिये थे कि उन्हें

और आगे बढ़ने की हिम्मत न हुई। मगध की विशाल सेनाओं का वृत्तान्त सुनकर गंगा-नदी को विना पार किये ही 'या सतलज से पहले ही' सिकन्दर वापस चला गया। परन्तु अशोक की नवीन नीति के कारण सब कुछ एकदम बदल गया। मगध की वे शक्तिशाली सेनायें जिनके डर से सिकन्दर आगे न बढ़ पाया था, जिन्होंने सेल्यूकस को सम्मुख युद्ध में पराजित किया था और जिन्होंने विशाल मौर्य-साम्राज्य की स्थापना की थी—अब सर्वथा पराक्रमहीन हो गई थीं। इसी लिए वे इन ग्रीक आक्रान्ताओं का कुछ न विगाड़ सकीं।

केवल इतना ही नहीं, इन ग्रीक-आक्रमणों के बाद भारत का उत्तर पश्चिमीय द्वार विदेशी जातियों के लिए सदा के लिए खुल गया। इसके बाद शक, पल्हव, कुशान, हूण, गुर्जर आदि जातियों ने भारत पर आक्रमण करके अपनी शक्ति की स्थापना की। इस समय से लेकर छठी सदी ई० प० तक ये आक्रमण जारी रहे। इन नवीन विदेशी शक्तियों ने भारतीय शासकों को शक्ति-शून्य कर दिया। निस्संदेह शुङ्ग, गुप्त आदि इसके अपवाद हैं। पर इस बात से इनकार न करना चाहिए कि अशोक के पश्चात् मुसलमान साम्राज्य की स्थापना तक भारत की राजनैतिक शक्ति क्रियात्मक दृष्टि से इन आक्रान्ताओं के हाथ में चली गई। बेशक, इन जातियों ने भारतीय सभ्यता, भाषा और धर्म को स्वीकृत कर लिया था, पर आखिर ये प्राचीन भारतीय जातियाँ तो न थीं। प्राचीन भारतीयों के राजनैतिक विकास और अधिकार की प्रतिभा निरन्तर क्षीण होती चली गई। वे धर्म के पीछे लग गये। उनका सार्वभौम साम्राज्य का स्वप्न न जाने कहाँ लीन होगया। विदेशी शक्तियों के अधीन रहकर अपनी आध्यात्मिक उन्नति से ही वे सन्तुष्ट रहे।

डा० भाण्डारकर के इस मत की—या सामान्यतः प्रचलित इस विचार की—समीक्षा करने के लिए निम्न-लिखित बातों की विवेचना आवश्यक है :—

(१) क्या कौटिल्य के बाद भारत में—भौतिक या सांसारिक विज्ञानों की उन्नति नहीं हुई ? भारतीय जनता केवल आध्यात्मिक विचारों में ही डूबी रही या उसने इहलौकिक उन्नति के लिए भी कोई प्रयत्न किया ?

(२) क्या अशोक के बाद भारत की राजनैतिक आकांक्षा—सार्वभौम साम्राज्य का विचार और सैनिक प्रतिभा सर्वथा नष्ट होगई ? या भारतीयों ने इन क्षेत्रों में अपूर्व कार्य-कुशलता प्रदर्शित की ?

(३) क्या यह बात ठीक है कि मौर्य साम्राज्य के पश्चात् भारत पर राजनैतिक दृष्टि से विदेशी जातियों का अधिकार हो गया ?

(४) मौर्य-साम्राज्य के पतन में क्या अशोक की नीति कारण है ?

हम इन चारों बातों पर क्रमशः विचार करेंगेः—

(१) कौटिलीय अर्थशास्त्र की उपलब्धि से पूर्व योरपीय विद्वानों का यही मन्तव्य था कि प्राचीन भारतीय केवल आध्यात्मिक विद्या के चिन्तन में ही लगे रहे। पर इस एक ग्रन्थ की प्राप्ति से ही विद्वानों का यह विचार बदल गया है । इस बात को लिखने का प्रयोजन केवल यह है कि प्राचीन भारतीय साहित्य की अभी बहुत कम पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं। इसलिए यह कहना कि क्योंकि कौटिल्य के बाद अन्य कोई अर्थशास्त्र या राजनीति पर उत्तम ग्रन्थ नहीं मिलता, अतः उस समय इन विज्ञानों की उन्नति ही नहीं हुई, ठीक नहीं मालूम पड़ता। वस्तुतः कौटिल्य के बाद भी दण्डनीति-शास्त्र, 'राज-धर्म और नीतिशास्त्र' इन नवीन नामों से निरन्तर उन्नति करता रहा। कौटिल्य के बाद के नीति-शास्त्र-संबंधी ग्रन्थों में महाभारत का शान्ति-पर्व सबसे मुख्य है। श्रीयुत जायसवाल तथा अन्य विविध

पुरातत्त्व वेत्ताओं के अनुसार इसका निर्माण-समय १५० ई०पू० से ५०० ई० प० के बीच में है[१]। शान्तिपर्व कौटिलीय अर्थ-शास्त्र की अपेक्षा कई गुणा बड़ा ग्रन्थ है। विचारों और सिद्धान्तों की दृष्टि से यह अर्थशास्त्र की अपेक्षा कई गुना बढ़ा-चढ़ा है। कौटिल्य का ग्रन्थ मौर्यकाल की क्रियात्मक राजनीति को सूचित करता है। शान्ति-पर्व यद्यपि किसी राष्ट्र का क्रियात्मक वर्णन नहीं करता पर राजनीति-शास्त्र की दृष्टि से संभवतः सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अन्य कोई ग्रन्थ इसका अतिक्रम नहीं कर सकता। शान्ति-पर्व के रहते हुए डा० भाण्डारकर का यह कथन सर्वथा असाननीय है कि कौटिल्य के बाद भारत में नीति-शास्त्र ने कोई उन्नति नहीं की। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में राजनीति-शास्त्र के जिन आचार्यों और सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, शान्ति-पर्व में उनके सिवाय अन्य भी बहुत से नीति-शास्त्र के आचार्यों के नाम आये हैं। संभवतः ये आचार्य कौटिल्य के बाद के ही हैं। शान्ति-पर्व के सिवाय अन्य भी बहुत से दंड-नीति-संबंधी ग्रन्थ कौटिल्य के बाद बने। यहाँ उनमें से कुछ के नाम निर्दिष्ट कर देना पर्याप्त है। बृहस्पति-सूत्र, नीति-वाक्यामृत,कामन्दक-नीतिशास्त्र, राजनीति-मयूख, वीरमित्रोदय, राजनीति, राजनीतिरत्नाकर आदि ग्रन्थ कौटिल्य के पीछे ही बने हैं। व्यवहार (Law) सम्बन्धी अनेक प्रसिद्ध और प्रामाणिक पुस्तकें मध्यकाल की बनी हुई हैं। इनके कर्ताओं में चण्डेश्वर, मित्रमिश्र और नील-कण्ठ के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। वर्तमान हिन्दू-ला के लिए इन्हीं के ग्रन्थ प्रामाणिक रूप से स्वीकृत किये जाते हैं[२]।

कौटिल्य के बाद के जिन ग्रन्थों का हमें परिज्ञान है उनमें बहुत से अन्य आचार्यों और लेखकों के भी उद्धरण दिये गये

१. Jayaswal—Hindu Polity, chapter I.

२. इस साहित्य के लिए देखिए—B. K. Sarkar—Political Back-ground of Hindu Sociology, Book I, Chap. 1; BookII, chap. 1.

हैं। ये प्रायः कौटिल्य के बाद के ही हैं। इन सब बातों को देखकर हम यह मानने को तैयार नहीं हो सकते कि कौटिल्य के बाद भारत में राजनीति-शास्त्र ने ज़रा भी उन्नति नहीं की।

राजनीति-शास्त्र के अतिरिक्त अन्य सांसारिक विषयों के क्षेत्र में भी अशोक के बाद भारतीयों ने बहुत उन्नति की थी। स्थापत्य, भवननिर्माण, चित्रकला आदि में जो उन्नति मध्य-काल में हुई उसके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं। एजेन्टा, एल्लोरा आदि की गुफायें, श्रीरंगम्, काञ्जीवरम् आदि के मन्दिर इस उन्नति के जीवित उदाहरण हैं। अभिप्राय यह है कि अशोक के बाद भारतीय लोग केवल आध्यात्मिक विषयों का ही चिन्तन न करते रहे। लौकिक विषयों पर भी उन्होंने कम ध्यान न दिया। अशोक से पूर्व भारतीयों ने सांसारिक व भौतिक विषयों पर क्या ध्यान दिया था, यह हमें मालूम नहीं है। मौर्य-काल से पूर्व के भवन, स्तूप, मूर्त्ति, चित्र आदि बहुत ही कम मिलते हैं। उसके बाद के अवशेष बहुत बड़े परिमाण में मौजूद हैं जो कि भारतीयों के भौतिक क्षेत्र में किये कार्यों का स्मरण दिलाते हैं। केवल कौटिलीय अर्थशास्त्र को देखकर यह कहना कि अशोक से पूर्व भारतीय सभ्यता में भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों तत्त्वों का पूर्णतया समुत्तुलन हुआ था और पीछे से यह नष्ट हो गया, ठीक नहीं समझा जा सकता। गणित, ज्योतिष आदि में भी भारतीयों ने अशोक के पीछे अपूर्व उन्नति की। व्यापार-विशेषतः सामुद्रिक व्यापार—का भी अशोक के बाद बहुत विस्तार हुआ। प्राचीन ग्रीक-वृत्तान्तों को पढ़ने से पूरी तरह मालूम पड़ता है कि मौर्य-साम्राज्य के बहुत समय बाद तक भारत का विदेशों के साथ व्यापार निरन्तर बढ़ता रहा। इस तरह इन बातों को देखकर हम यह मानने का साहस नहीं कर सकते कि अशोक की नीति के कारण भारतीय सभ्यता का भौतिक अंश सर्वथा लुप्तप्राय होगया।

(२) यदि हम भारतीय इतिहास का अच्छी तरह अनुशीलन करें तो हमें प्रतीत होगा कि अशोक के बाद भारत की राज-

नैतिक आकांक्षा, सार्वभौम साम्राज्य का विचार और सैनिक प्रतिभा नष्ट नहीं हो गई। यहाँ ऐतिहासिक घटनाओं का विस्तार के साथ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। मौर्यों के बाद शुंग सम्राटों ने विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। शुंग लोग विदेशी न थे। आन्ध्र सम्राट् भी शकों, पल्हवों और हूणों के साथ भारत में न आये थे। अशोक की नीति का प्रभाव आन्ध्र लोगों पर भी पड़ा था। उन्होंने भी उसके 'धर्म' को स्वीकृत किया था। पर वे विशाल साम्राज्य का निर्माण कर सके। आन्ध्र लोग उत्तरीय भारत के वास्तविक निवासी न थे, पर गुप्त सम्राट् तो असली भारतीय ही थे। गुप्तों का साम्राज्य बहुत विशाल था। सम्राट् समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितोय विक्रमादित्य विदेशी न थे। इन लोगों ने अपनी सैनिक प्रतिभा को जितना प्रदर्शित किया, उतना तो शायद अशोक के पूर्ववर्ती सम्राटों ने भी न किया था। इनकी भी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करने की थी। ऐतिहासिक स्मिथ ने समुद्रगुप्त को भारतीय नैपोलियन नाम से लिखा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी तीन हज़ार मील की विजय-यात्रा उसे किसी भी विश्व-विजेता के मुकाबले में रख सकती है। गुप्त-साम्राज्य के बाद सम्राट् यशोधर्मा ने भारत-व्यापी साम्राज्य का निर्माण किया। वह भी विदेशी न था। प्रसिद्ध वर्धन सम्राट् हर्षवर्धन—जो बौद्ध भी था—विशाल साम्राज्य का निर्माता था। बौद्ध आचार्य ह्यूनसांग को आश्रय देते हुए और अपने प्रिय धर्म का प्रचार करने का यत्न करते हुए भी वह साम्राज्य-विस्तार के लिए सचेष्ट था। राष्ट्रकूट सम्राट् पुलकेशी से उसने अनेक युद्ध किये। बंगाल के पाल सम्राट् बौद्ध थे पर उनकी भी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा किसी से कम न थी। मध्यकाल में भारत में वे ही प्रधान शक्तिशाली सम्राट् थे। उन्होंने अनेक युद्ध करके साम्राज्य बनाने का प्रयत्न किया। पूर्व की ओर बहुत से सामुद्रिक युद्ध करके भारत के साम्राज्य का विस्तार किया। ये पाल सम्राट् विदेशी

से न आये थे। ये भारतीय ही थे। यह सब कुछ देखकर हम कैसे मान सकते हैं कि अशोक की नीति के कारण भारतीयों की राजनीतिक आकांक्षायें सर्वथा नष्ट हो गईं, उत्तर भारत का राजनीतिक प्रभुत्व विदेशियों के हाथ में चला गया[1]। वस्तुतः, भारतीय इतिहास का सम्पूर्ण मध्यकाल राजनैतिक संघर्षों, साम्राज्यवाद के प्रयत्नों और सैन्यनीति के नवीन प्रयोगों से परिपूर्ण है। इस काल को राजनीतिक भावनाओं से शून्य कहना भारी ऐतिहासिक भूल है।

३. यदि भारत पर विदेशी शासन के प्राचीन इतिहास का अवलोकन किया जाय तो स्पष्ट मालूम हो जायगा कि इन विदेशी जातियों ने भारत के बहुत थोड़े से भाग पर राज्य किया है। शुङ्गों के मज़बूत शासन के समय विदेशी लोग सिन्ध के इस पार न आसके थे। शुङ्गों के पतन और काएवों के शासन-काल में शक, यवन आदि जातियों ने भारत के पश्चिमोत्तर द्वार से बड़ी प्रबलता के साथ प्रवेश करना शुरू किया। इन असभ्य परन्तु शक्तिशाली जातियों के आक्रमण से मगध का प्राचीन साम्राज्य नष्ट होना शुरू हुआ। जिस प्रकार प्राचीन रोम-साम्राज्य जंगलियों (Barbarians) के आक्रमणों से नष्ट-भ्रष्ट होगया, उसी तरह कुछ समय के लिए मगध-साम्राज्य की भी

---

१ इसके विपरीत इस काल में प्रो० विनयकुमार के शब्दों में भारत की राजनैतिक प्रगति को इस तरह प्रकट किया जा सकता है—

"The History of India for about sixteen hundred years from the time of Mauryas exhibits to us the picture of a gradually growing and expanding political consciousness as well as scientific and cultural development. The Hindu Alexanders, Calsars, Constantines, Charlemagnes and Frederic Barbarossas could easily challenge competition with their western peers on their own terms of Sakti-yoya or Macht-politic."

B. K. Sarkar—Political Institutions, p. 17.

अधोगति प्रारम्भ हुई। पर इस भारतीय साम्राज्य ने बहुत देर तक इन विदेशियों का सफलतापूर्वक मुकाबला किया। अन्त में आक्रान्ता लोग सफल अवश्य हुए पर बहुत समय के लिए नहीं। उनकी सफलता में मगध की निर्बलता तथा अपना पराक्रम इतने प्रबल कारण न थे, जितनी की प्राचीन भारतीय प्रजातंत्र (गण) राज्यों की स्वाधीन होने की प्रवृत्तियाँ। विदेशियों के आक्रमण शुरू होते ही इन गण-राज्यों को अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने का अवसर मिल गया। साम्राज्यवादी चाणक्य तथा उसके अनुयायियों के प्रयत्न से गण-राज्य कुछ समय के लिए नष्ट अवश्य हो गये थे, परन्तु उनमें स्वाधीनता के भाव अब तक जागृत थे। मौका पाते ही उन्होंने स्वतंत्र होने का यत्न शुरू कर दिया। अकेन्द्रीय भाव (Decentralization) की ये प्रवृत्तियाँ ही मगध साम्राज्य के पतन में कारण हुईं। पर कुछ समय बाद मगध का साम्राज्यवाद और भी अधिक वेग से गुप्त-साम्राज्य के रूप में प्रकट हुआ। यह नवीन साम्राज्य-वाद मौर्य-साम्राज्य-वाद से कुछ भिन्न था। इसमें स्थानीय प्रवृत्तियों को सर्वथा कुचलने की कोशिश नहीं की गई थी। श्रीयुत जायसवाल के शब्दों में गुप्त-साम्राज्य ने समझौते की नीति का अनुसरण किया था'। गुप्त-साम्राज्य तक अर्थात् अशोक की मृत्यु के सात शताब्दी बाद तक—यह नहीं कहा जा सकता कि भारत में प्रधान राजनैतिक शक्ति विदेशियों के हाथ में थी। उस समय तक विदेशी लोग विशाल भारत के एक छोटे से कोने में शासन कर रहे थे। यह शासन भी सदा भारतीयों के आक्रमणों की संभावना से शंकित रहता था।

गुप्तवंश के शासन-काल में भारत पर हूणों का आक्रमण प्रारंभ हुआ। इन्हीं हूणों ने यूरोप में रोमन-साम्राज्य का अन्त किया था। इन असभ्य जातियों ने उस समय के सभ्य संसार की सम्पूर्ण राजनैतिक शक्तियों को छिन्न भिन्न कर दिया था। बड़े बड़े शक्तिशाली साम्राज्यों ने इस तूफ़ान के सम्मुख सिर झुका

१. Jayaswal—Hindu Polity, chapter XXXVII.

दिया था। पर गुप्त-साम्राज्य ने इनका सफलता के साथ मुकाबला किया। अनेक युद्धों में हूण पराजित हुए। हूणों का जो छोटा-सा राज्य पश्चिमोत्तर भारत में स्थापित हुआ था, उसका भी वर्धन सम्राटों ने शीघ्र ही अन्त कर दिया। अशोक के समय से दस सदी बाद तक भी विदेशी लोग भारत में राजनैतिक दृष्टि से मुख्य न हुए। ५२८ ई० प० में हूण-नेता मिहिरकुल के भारतीय सम्राटों-द्वारा पराजय होने पर पांच सदियों तक भारत पर विदेशियों ने कोई हमले न किये[1]। इस अवस्था में यह कैसे माना जा सकता है कि अशोक के बाद भारतीयों में राजनैतिक प्रतिभा का अन्त हो गया था और इसी लिए विदेशीय लोग यहाँ पर प्रधान राजनैतिक शक्ति बन गये थे।

मध्यकाल में भारत अनेक राजपूत-राज्यों में विभक्त होगया। क्या ये राजपूत राजा विदेशी थे? श्रीयुत स्मिथ अनेक राजपूत राजवंशों को—अग्निकुलीय राजपूतों को—विदेशी मानते हैं। परन्तु श्रीयुत गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने अनेक प्रमाणों से अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि मध्यकाल के ये राजपूत राजा विदेशी न होकर प्राचीन क्षत्रियों की ही सन्तान थे[2]। यदि श्रीयुत स्मिथ के मत को भी ठीक समझ लिया जाय, तब भी तो इन अग्नि-कुलीय या विदेशी राजपूतों का राज्य भारत के बहुत बड़े भाग में न था। उनके शासन के विस्तार को बहुत उदारता के साथ देखकर भी हम उन्हें भारत की प्रधान राजनैतिक शक्ति नहीं कह सकते।

ये राजपूत-राज्य किस प्रकार उद्भूत हो गये और क्यों मगध का चिरस्थायी साम्राज्य नष्ट हो गया? इसे विचारने का यहाँ अवसर नहीं है। हम केवल यही कहना चाहते हैं कि दस सदी पूर्व प्रयुक्त की हुई अशोक-नीति इसमें कारण नहीं हो सकती।

---

१ V. A. Smith—Early History of India, p. 371.

२. ओझा—राजपूताने का इतिहास—दूसरा अध्याय।

(४) मौर्य-साम्राज्य के पतन के कारणों पर हम पृथक् रूप से विचार करेंगे। अतः यहाँ इस सम्बन्ध में विवेचना की आवश्यकता नहीं है।

ऊपर जो विवेचना की गई है, उससे स्पष्ट हो गया होगा कि डा० भाण्डारकर का मत सर्वथा निर्विवाद नहीं है। अशोक की नीति के विरुद्ध, न जाने क्यों, सर्वसाधारण में बहुत से भ्रम और भूलें प्रचलित हो गई हैं। डा० भाण्डारकर और श्रीयुत जायसवाल ही इस मत के प्रतिपादक नहीं हैं, अन्य भी बहुत से विद्वान् यही विश्वास रखते हैं। यह विश्वास सामान्य रूप से प्रचलित हो गया है कि भारत की अधोगति का कारण बौद्ध-धर्म का प्रचार है। हमने बहुत बार सार्वजनिक व्याख्यानों में भी बौद्ध-धर्म और अशोक के विरुद्ध नानाविध भावों को सुना है। पर यदि विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो भारत की अधोगति में बौद्ध-धर्म कारण नहीं है। अन्य सब धार्मिक सुधारणाओं की तरह बुद्ध भगवान् के धार्मिक सुधार भी भारत के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। बौद्ध-धर्म के कारण भारत सम्पूर्ण प्राच्य संसार का गुरु बना। जो लोग पामीर की पर्वतमालाओं, तुर्किस्तान के मरुस्थलों और हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों की पर्वाह किये बिना अपना कार्य कर सकते थे, जिन्होंने उत्तरीय-चीन की जङ्गली जातियों को भी सभ्यता और संस्कृति का पाठ सिखाया, वे बौद्ध प्रचारक क्रियाशीलता और उत्साह से शून्य न थे, वे दिन-रात आध्यात्मिक चिन्ताओं में लगे हुए निष्क्रिय जीवन नहीं व्यतीत करते थे। उनमें उत्साह और शक्ति थी। अन्य सब धार्मिक आन्दोलनों की तरह बौद्ध-धर्म भी पीछे से व्यर्थ विधि विधानों और कर्मकाण्ड का समूह बन गया। उसके अनुयायी अपने आचार्य के असली भाव को भूलकर कल्पित 'अहिंसा' के अक्षरों पर मरने लगे। यह अवस्था किस धर्म की नहीं होती? जितने समय तक बौद्धधर्म अपने उपयोगी और विशुद्ध रूप को कायम रख सका है उतने समय तक शायद अन्य कोई धर्म नहीं रख सका। अशोक की नीति के विरुद्ध इतने प्रबल भावों की सत्ता का कारण

सम्भवतः यह है कि वर्तमान भारतीय निष्क्रिय और आलसी हैं। वे अपने दोषों को छिपाने के लिए धर्म की आड़ लेते हैं। शक्तिहीन होकर वे विश्वप्रेम का दम भरते हैं। पराधीन होकर वे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का जाप करते हैं। सबके दास होकर भी अपने को जगत् का धर्म-गुरु समझते हैं। पर अशोक ने जिस समय अपनी गौरवमयी नीति का प्रयोग किया था, उस समय भारत सबका शिरोमणि था। उसकी राजनैतिक और सैनिक-शक्ति सबसे बढ़कर थी। इस अवस्था में अपनी शक्ति का प्रयोग औरों की भलाई के लिए करना उसे शोभा देता था। उस समय की घटनाओं और कार्यों को समझने के लिए हमें वर्तमान अवस्थाओं को आँखों से हटा देना चाहिए। निस्संदेह यदि आज भारत का कोई नेता अशोक की नीति का प्रयोग करने लगे, तो हम उसे देश के लिए घातक कहेंगे। पर अवस्थाओं का भी ख़्याल करना चाहिये। अशोक की नीति के परिणामों को देखने के लिए उसी के समय की अवस्थाओं को दृष्टि में रखना चाहिए। हम यह भूल जाते हैं कि अशोक ने सेना और शक्ति का सर्वथा परित्याग नहीं कर दिया था। आवश्यकता पड़ने पर वह इसका प्रयोग भी करता था। हम पहले दिखा चुके हैं कि अशोक के समय अनेक बार तक्षशिला में विद्रोह हुए। अशोक ने उनकी उपेक्षा न की, अपितु विद्रोह को शान्त करने के लिए अपने पुत्र कुनाल को भेजा। दिव्यावदान में यह वृत्तान्त स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। हमें निश्चय है कि यदि अशोक के समय में कोई विदेशी शक्ति भारत पर आक्रमण करती, तो वह अवश्य ही उसका सेना-द्वारा मुकाबला करता। इसकी आवश्यकता ही उसके शासनकाल में नहीं हुई।

हम अशोक के संबन्ध में केवल उसके शिलालेखों से ही सब कुछ जानने का यत्न करते हैं। हम समझते हैं कि इनसे ही उसके शासन का संपूर्ण रूप सम्मुख आ जाता है। पर ख़्याल रखना चाहिए कि इन शिलालेखों में उसने अपने धर्म-सन्देश ही को उत्कीर्ण किया है। उसके शासन के अन्य पहलुवों पर उनसे प्रकाश

नहीं पड़ता। अशोक के समय भी राज्य में पूर्ण व्यवस्था थी। राधागुप्त जैसे योग्य प्रधानामात्यों के हाथ में शासन-सूत्र निहित था। उस समय भी भारत के व्यापारी दूर दूर देशों के साथ व्यापार करते थे। व्यवसायी लोग अपने अपने व्यवसायों में लगे हुए थे। सेनापति, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष, नावध्यक्ष आदि सेना के संचालक अपनी अपनी सेनाओं का संचालन कर रहे थे। शिलालेखों के आधार पर यह समझ बैठना कि सम्पूर्ण भारत 'धर्म' और 'आध्यात्मिक चिन्तन' में लीन हो गया था, सर्वथा अनुचित है। अशोक का 'धर्म' तो विधेयात्मक और उपयोगी नियमों का संग्रह है। माता, पिता की सेवा, दास और सेवकों से समुचित व्यवहार आदि 'धर्म' परलोक के लिए उतने उपयोगी नहीं हैं जितने कि इहलोक के लिए।

इन सब बातों पर विचार करके हम इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि भारतीय इतिहास पर अशोक की नीति का वह प्रभाव नहीं पड़ा, जो डा० भाण्डारकर आदि विद्वान् समझते हैं। फिर इस अपूर्व नीति का प्रभाव भारत पर क्या हुआ? अशोक ने जिस धर्म-विजय का प्रारंभ किया था, वह उसी के साथ समाप्त नहीं हो गई, अपितु स्वतंत्र रूप से अशोक के बाद भी बहुत समय तक ज़ारी रहती है। यद्यपि भारत की राजनैतिक शक्ति ने इस प्रक्रिया को प्रचलित न रखा, पर वह बन्द नहीं हुई। विदेशों में बौद्ध-धर्म का विस्तार किस प्रकार प्रारम्भ हुआ इसकी विवेचना हम पहले कर चुके हैं। इस विस्तार के कारण कम से कम पन्द्रह सदियों तक भारत प्राच्य-जगत् का धर्म-गुरु बना रहा। इन सदियों में भारत संसार का केवल धर्म-गुरु ही न था, अपितु शिक्षा-गुरु भी था। भारतीय प्रचारकों नें जगत् को सभ्यता और संस्कृति प्रदान की थी। विदेशी विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में भारतीय विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए आया करते थे। उच्च से उच्च शिक्षा नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों में मिलती थी। तिब्बत आदि देशों को जब अपने देश में व्यवस्था स्थापित करने की आवश्यकता पड़ी तो उन्होंने बौद्ध

आचार्यों का स्मरण किया। आठवीं सदी ई० प० के प्रारंभ में आचार्य शान्तरक्षित को तिब्बत के राजा थिसाङ्ग-डेन-त्सान ने अपने राज्य में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए आमंत्रित किया। तिब्बत में शान्तरक्षित का बड़े समारोह और आदर के साथ स्वागत किया गया। इसी तरह ग्यारहवीं सदी ई० प० में तिब्बत के राजा द्वारा निमन्त्रत करने पर आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान उस देश में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए गया। इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। हमारा अभिप्राय यह है कि अशोक के बाद भारतीय इतिहास में एक नवीन लहर का प्रारंभ हुआ, जिसने कि संपूर्ण प्राच्य संसार को भारतीय सभ्यता, धर्म और संस्कृति द्वारा व्याप्त कर लिया। इसका संपूर्ण श्रेय अशोक को ही मिलना चाहिए। डा० भाण्डारकर ने भी अशोक की नीति के इस प्रभाव को अनुभव किया है। इसी लिए वे लिखते हैं:—

"This much, however, is certain that the world has considerably gained by the missionary activity of this Indian monarch and that while to the Farther East Buddhism has given not only her religion and philosophy but also other important feature of the Hindu civilization, it has exercised great influence not only on the Jewish sects of the Therapeutae and Essenes but also on Christianity of the early period as well as of the middle ages."[1]

---

१. Bhandarkar—Aśoka, p. 248.

छब्बीसवाँ अध्याय

मौर्य-साम्राज्य का पतन

(१)

राजनीतिक इतिहास

सम्राट् अशोक के बाद मौर्य्य-साम्राज्य का इतिहास लिखना बहुत कठिन कार्य है। इस काल के लिए ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम उपलब्ध होती है। पुराण, बौद्ध-साहित्य और जैन-ग्रन्थ—सभी वंशावलियाँ मात्र देकर चुप हो जाते हैं। ये वंशावलियाँ भी परस्पर विरोधी हैं। इस काल में तिथिक्रम का निश्चय करना सरल नहीं है। इस अवस्था में मौर्य-साम्राज्य के पतन का क्रमिक इतिहास लिख सकना सम्भव नहीं प्रतीत होता। ऐतिहासिक स्मिथ, रैप्सन, थामस आदि विद्वानों ने इस काल के सम्बन्ध में थोड़े बहुत निर्देश दे देना ही पर्याप्त समझा है। जायसवाल, राय चौधरी आदि विद्वानों ने इस राजनीतिक इतिहास को लिखने की कोशिश की है, पर उनका इतिवृत्त भी थोड़ी बहुत बिखरी हुई घटनाओं को शृंखलाबद्ध करने से आगे नहीं बढ़ता। तथापि इस सम्बन्ध में जो कुछ सामग्री अब तक प्राप्त की जा सकी है, उसके द्वारा हम मौर्य-साम्राज्य के पतन के राजनीतिक इतिहास का खाका खींचने का यथासम्भव प्रयत्न करेंगे।

२३२ ई० पू० में अशोक का राज्यकाल समाप्त हुआ। अशोक के अनेक लड़के थे। शिलालेखों के द्वारा केवल एक लड़के का नाम मालूम पड़ता है। यह दूसरी रानी का पुत्र 'तीवर' था[1]।

---

१. रानी का लेख (इलाहाबाद-स्तम्भ)

परन्तु साहित्य से हम अन्य अनेक लड़कों के नाम जानते हैं। पौराणिक और बौद्ध-साहित्य में कुनाल[1] और महेन्द्र[2] का नाम आता है। तिब्बती साहित्य में अशोक के एक और लड़के का उल्लेख है। यह कुमार कुस्तन[3] है, जिसने खोतान में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। राजतरङ्गिणी में जालौक[4] को भी अशोक का लड़का बताया गया है। इनमें से तीवर के सम्बन्ध में हमें कुछ मालूम नहीं है। साहित्य में उसका कहीं उल्लेख नहीं। सम्भवतः, वह अपने पिता की मृत्यु से पहले ही स्वर्गवासी हो चुका था। महेन्द्र और कुस्तन ने बौद्ध-धर्म के प्रचार में अपने जीवन को लगा दिया। महेन्द्र लङ्का में धर्म-प्रचार के लिए गया और कुस्तन खोतान में। कुनाल अशोक के बाद पाटलिपुत्र में राजसिंहासन पर विराजमान हुआ। जालौक ने काश्मीर में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की।

कुनाल (सुयश)

[२३२ ई० पू० से २२४ ई० पू० तक]

वायुपुराण के अनुसार अशोक के बाद उसके लड़के कुनाल ने राज्य प्राप्त किया[5]। विष्णुपुराण के अनुसार अशोक के उत्तराधिकारी का नाम 'सुयश' है[6]। जायसवाल की सम्मति में 'सुयश' कुनाल का ही विरुद या उपनाम है[7]। अन्य विद्वानों ने भी इस बात को स्वीकृत किया है[8]। बौद्ध और जैन-साहित्य

१. दिव्यावदान edited by Cowell and Neil, pp. 403, 406.
२. Oldenburg—Dipvanso, अ० ६ श्लो० २०
३. Rockhill—Life of Buddha.
४. Stein—Rajtarangini, p. 20.
५. 'तस्य पुत्रः कुनालस्तु वर्षाण्यष्टौ भविष्यति'
६. Pargiter—Dynasties of the Kali Age, p. 28, N. 30.
७. Journal of Bihar and Orissa Research Society, K. P. Jayaswal का मौर्य तिथिक्रम पर लेख।
८. H. C. Raychaudhari—Political History of Ancient India, p. 184.

के अनुसार कुनाल अन्धा था। अशोक की एक आज्ञा का ठीक तरह अभिप्राय न समझ कर तक्षशिला के अमात्यों ने कुमार कुनाल को अन्धा कर दिया था[1]। बौद्ध और जैन—दोनों साहित्य इस विषय में सहमत हैं कि कुनाल अन्धा था। इसलिए सम्भवतः, वह राज्यकार्य स्वयं नहीं कर सकता था। राज्य की बाग्डोर अशोक के पौत्र और कुनाल के पुत्र सम्प्रति या 'संपदि' के हाथ में थी। दिव्यावदान से मालूम पड़ता है कि अशोक के समय में सम्प्रति युवराज था और इस उच्च तथा महत्त्वपूर्ण पद पर होने के कारण राज्य का बहुत सा कार्य वही करता था[2]। सम्भवतः, कुनाल के शासन-काल में भी राज्यकार्य उसी के हाथ में रहा। यही वजह है कि बहुत से ग्रन्थों में अशोक के बाद कुनाल का नाम नहीं लिखा गया, अशोक का सीधा उत्तराधिकारी सम्प्रति को लिख दिया गया। दिव्यावदान तथा जैन-साहित्य में कुनाल के राजा बनने की बात छोड़ दी गई है।

कुनाल के शासन-काल में विशाल मौर्य्य-साम्राज्य टुकड़ों में विभक्त होना शुरू हो गया। काश्मीर मौर्य्य-साम्राज्य से अलग होगया और वहाँ अशोक के अन्य लड़के जालौक ने अलग राज्य स्थापित कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक के शासन-काल के अन्त में मौर्य-साम्राज्य पर ग्रीक लोगों ने आक्रमण करने शुरू कर दिये थे। इनको रोकने के लिए अशोक ने जालौक को नियत किया था। जालौक ग्रीक लोगों को पराजित करने में तो सफल हुआ, पर जिस शक्तिशाली सेना से उसने ग्रीकों को पराजित किया था, उसी की सहायता से उसने पश्चिमोत्तर प्रदेश में अपना स्वतन्त्र राज्य भी स्थापित कर लिया। यह बात राजतरङ्गिणी के निम्नलिखित वर्णन से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है—क्योंकि देश पर म्लेच्छों ने आक्रमण कर रक्खा था, इसलिए उनके विनाश के वास्ते अशोक ने भूतेश

१. परिशिष्टपर्व—अ० ९ श्लो० १८—२४।

२. Cowell and Neil—Divyāvadān, p. 430.

को प्रसन्न कर पुत्र को प्राप्त किया। तब यह लड़का जालौक राजा बना। म्लेच्छों ने वसुधा को व्याप्त कर लिया था, जालौक ने उनको निकाल कर बाहर किया। इसके बाद उसने अन्य बहुत से देश विजय किये[1]। कल्हण का यह वृत्तान्त स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि अशोक के समय में ही म्लेच्छों या ग्रीकों के आक्रमण रोकने के लिए जालौक को नियत किया गया था। पीछे वह स्वतंत्र राजा बन गया और अपनी सेना द्वारा उसने अन्य प्रदेशों पर भी विजय प्राप्त की। इस तरह विस्तृत मौर्य साम्राज्य से पहले-पहल काश्मीर अलग होकर पृथक् राज्य बन गया।

काश्मीर की तरह आन्ध्र भी कुनाल के समय में स्वतन्त्र हो गया। मौर्यकाल से पूर्व आन्ध्र लोग स्वतन्त्र थे। मौर्य-सम्राटों ने इन्हें जीत कर अपने अधीन कर लिया था। मौर्य-शासन में आन्ध्रों की किसी न किसी रूप में पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत की जाती थी। इनकी स्थिति अधीनस्थ राज्य की थी। अशोक का मजबूत हाथ हटते ही आन्ध्र लोगों को भी स्वतन्त्र होने का अवसर मिल गया। ऐतिहासिक स्मिथ के अनुसार आन्ध्रों ने २३० ई० पू० में स्वतन्त्रता प्राप्त की[2]। स्वतन्त्र आन्ध्रों का पहला राजा सीमुक था।

आन्ध्र और काश्मीर की तरह कोई अन्य राज्य भी कुनाल के समय में स्वतन्त्र हुआ या नहीं, इस सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

---

१. 'म्लेच्छैः संछादिते देशे स तदुच्छित्तये नृपः।
तपः संतोषिताल्लेभे भूतेषात्सुकृती सुतम् ॥१०७॥
सोऽथ भूभृज्जालौकोऽभूत् भूलोकसुरनायकः।
यो यशः सुधया शुद्धं व्यधाद्ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥१०८॥
स रुद्धवसुधान् म्लेच्छान् निर्वास्याखर्वविक्रमः।
जिगाय जैत्रयात्राभिर्महीमर्णवमेखलाम् ॥११५॥
राजतरङ्गिणीप्रथमस्तरङ्गः

२ V. A. Smith—Early History of India, p. 218.

दशरथ (बन्धुपालित)

[२२४ ई० पू० से २१६ ई० पू० तक]

२२४ ई० पू० में सम्राट् कुनाल की मृत्यु हुई और उसका लड़का दशरथ राजगद्दी पर बैठा। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार कुनाल के उत्तराधिकारी का नाम बन्धुपालित है। सम्भवतः, बन्धुपालित दशरथ का ही उपनाम है। ऐसा प्रतीत होता है कि दशरथ के शासन-काल में भी शासन की बागडोर सम्प्रति के ही हाथ में थी। सम्प्रति और दशरथ भाई थे। दशरथ के समय में भी सम्प्रति ही वास्तविक रूप से शासन कर रहा था। सम्भवतः, इसी लिए उसे 'बन्धुपालित' कहा गया है।

दशरथ के सम्राट् बनने में साहित्यिक प्रमाणों के सिवाय अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। उसके तीन गुहालेख प्राप्त हो चुके हैं। ये गया के पास नागार्जुनी पहाड़ी की कृत्रिम गुहाओं में उत्कीर्ण हुए हैं। ये गुहायें दशरथ ने आजीवकों को दान की थीं और इन उत्कीर्ण लेखों में इसी दान का उल्लेख किया गया है।

सम्राट् दशरथ के समय में भी मौर्य्य-साम्राज्य का पतन जारी रहा। कम से कम एक देश ने अवश्य ही इस समय स्वतन्त्रता प्राप्त की। दशरथ के शासन-काल में कलिङ्ग स्वतन्त्र होगया।

कलिङ्गाधिपति श्रीखारवेल के हाथिगुम्फा शिलालेख-द्वारा कलिङ्ग देश की प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। मौर्य्य-साम्राज्य के पतन के समय कलिङ्ग देश स्वतन्त्र हो गया था और आधी सदी से कुछ अधिक काल बीतने पर ही वह इतना शक्तिशाली हो गया था कि वहाँ के राजा ने मगध पर आक्रमण किया और बहुत कुछ सफलता प्राप्त की। खारवेल सम्राट् पुष्पमित्र शुङ्ग का समकालीन था। हाथिगुम्फा शिलालेख के अनुसार कलिङ्ग-राज खार-

वेल 'ऐल' वंश का था, कलिङ्ग की स्वतन्त्रता को पुनः स्थापित करनेवाले वीर पुरुष का नाम 'चैत्रराज' था[1]। इसी शिलालेख से यह भी मालूम पड़ता है कि खारवेल इस नवीन राजवंश का तृतीय व्यक्ति था[2]। खारवेल से पूर्व दो और राजा कलिङ्ग में स्वतन्त्रता के साथ राज्य कर चुके थे। खारवेल का शासन-काल हमें निश्चितरूप से मालूम है। वह १७३ ई० पू० में या इसके लगभग राजसिंहासन पर बैठा था[3]। यदि खारवेल से पहले दो राजाओं का शासनकाल ५० वर्ष या इसके लगभग मान लें, तो कलिङ्ग की स्वतन्त्रता का समय २२३ ई० पू० आ जाता है। इसी वर्ष के लगभग वीर 'चैत्रराज' ने कलिङ्ग को मगध के साम्राज्यवाद से मुक्त किया। इस 'स्वतन्त्रता-युद्ध' का कोई वृत्तान्त इस समय नहीं मिलता, पर इसमें शक नहीं कि उस समय यह बहुत महत्त्वपूर्ण घटना थी। जिस कलिङ्ग को लाखों व्यक्तियों का ख़ून बहा कर अशोक मौर्य ने अधीन किया था, उसने जब फिर से अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता प्राप्त की होगी, तब इस स्वातन्त्र्य के दाता वीर चैत्रराज का अपूर्व सम्मान अवश्य ही किया होगा।

---

१. 'नमो अरहन्तानम्। नमो सवसिधानम्। ऐरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेतराज वसवधनेन.........' हाथिगुम्फा शिलालेख

२. 'सम्पूर्णो चतुविसतिवसो तिदानबुधयेन सेसयोवनाभिविजयो ततिये कलिङ्गराजवसे पुरिसयुगे महाराजाभिसेचनं आप्नोति।'
हाथिगुम्फा शिलालेख

३. वी. ए. स्मिथ के अनुसार खारवेल ने मगध पर पहला आक्रमण १६५ ई० पू० में किया (Early History of India, p. 209), हाथिगुम्फा शिलालेख के अनुसार यह आक्रमण राजतिलक के आठवें साल में किया गया था। इसलिए १७३ ई० पू० राज्यारोहण का काल हुआ।

सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय)

[२१६ ई० पू० से २०७ ई० पू० तक]

मौर्य-इतिहास में सम्राट् सम्प्रति भी बड़ा महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है। दशरथ की मृत्यु के बाद वह स्वयं राज-सिंहासन पर बैठा। इससे पूर्व बहुत काल तक वह शासन का संचालन करता रहा था। अशोक के समय में वह युवराज था और उसी ने अपने अधिकार से अशोक को राज्यकोष में से बौद्ध संघ को दान करने का निषेध कर दिया था[1]। सम्राट् कुनाल के शासन में भी शासन-सूत्र उसी के हाथ में था। दशरथ के समय में भी वही वास्तविक शासक रहा। यही कारण है कि अनेक ग्रन्थों में सम्प्रति को ही अशोक का उत्तराधिकारी लिख दिया है[2]। जैन साहित्य में भी अशोक के बाद सम्प्रति के ही राजा बनने का उल्लेख है[3]। यह होने पर भी जैन-अनुश्रुति में इस तरह के प्रमाण मौजूद हैं, जिनसे मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त के १०५ साल बाद या अशोक के सोलह वर्ष बाद (अर्थात् २१६ ई० पू० में) सम्प्रति राजगद्दी पर बैठा और उस तथा अशोक के बीच में दो और राजा हुए[4]।

जैन-साहित्य में सम्प्रति का वही स्थान है, जो बौद्ध-साहित्य में अशोक का। जैन-अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् सम्प्रति

---

१. Cowell and Neil—Divyavadan, p. 430.

२. तथा p. 433.

३. परिशिष्ट पर्व अ० ६

४. There are clear traces in the Jain records that Sampadi came to the throne 105 years after Chandragupta, *i.e.*, 16 years after Aśoka's death and in the 3rd succession after Aśoka.—K. P. Jayaswal, Journal of Bihar and Orissa Research Society.

जैनधर्म का अनुयायी था और उसने अपने प्रिय धर्म को फैलाने के लिए बहुत प्रयत्न किया था। परिशिष्ट पर्व में लिखा है कि एक बार रात्रि के समय सम्प्रति को यह विचार पैदा हुआ कि अनार्य देशों में भी जनधर्म का प्रचार हो और जैनसाधु स्वच्छन्द रीति से विचर सकें। इसके लिए उसने इन देशों में जैन साधुओं को धर्म-प्रचार के लिए भेजा। साधु लोगों ने राजकीय प्रभाव से शीघ्र ही जनता को जैन-धर्म और आचार का अनुगामी बना लिया[1]। इस कार्य के लिए सम्प्रति ने बहुत से लोकोपकारी कार्य भी किये। ग़रीबों को मुफ़्त भोजन बाँटने के लिए अनेक दानशालायें खुलवाईं[2]। इन लोकोपकारी कार्यों से भी जैन-धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली। सम्प्रति द्वारा अनार्य देशों में प्रचारक भेजे गये थे, इसके प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। अनेक जैन-ग्रन्थों में लिखा है कि इस कार्य के लिए सम्प्रति ने अपनी सेना के योद्धाओं को साधुओं का वेष बना कर प्रचार के लिए भेजा था[3]। एक ग्रन्थ में उन देशों में से कतिपय नाम दिये हैं, जिनमें सम्प्रति ने जैन-धर्म का

---

१. 'सम्प्रतिश्चिन्तयामास निशीथसमयेऽन्यदा।
अनार्येष्वपि साधूनां विहारं वर्तयाम्यहम् ॥ ८९ ॥
ततः प्रैषीदनार्येषु साधुवेषधरान्नरान्। ९१ परिशिष्ट पर्व अ० ११

२. 'महासत्राण्यकार्यन्त पूर्द्वारेषु चतुर्ष्वपि ॥ १०३ ॥
अयं निजः परो वायमित्यपेक्षा विवर्जितम्।
तत्रानिवारितं प्रापुर्भोजनं भोजनेच्छवः। १०४ ॥
परिशिष्ट पर्व अ० ११

३. श्रीबृहत्कल्पसूत्रे—
'समणभडभाविएसुं ते सुरज्जेसु रायणादिसु।
साहू सुहं विहरिया तेणं चिय भद्दजाने ओ ॥

प्रचार किया था। ये नाम आंध्र, द्रविड, महाराष्ट्र, कुडुक्क आदि हैं[1]।

अनेक जैन ग्रन्थों में अशोक के पौत्र और कुनाल के पुत्र का नाम चन्द्रगुप्त लिखा है। पुण्याश्रवकथा के अनुसार कुनाल का लड़का चन्द्रगुप्त था, जो पीछे जाकर सम्राट् बना[2]। हमारी सम्मति में चन्द्रगुप्त सम्प्रति का ही दूसरा नाम या 'विरुद' था। परिशिष्ट पर्व में अशोक, कुनाल और सम्प्रति की कथा जिस तरह तथा जिस क्रम से लिखी है, पुण्याश्रवकथा में अशोक, कुनाल और चन्द्रगुप्त की कथा उसी तरह तथा उसी क्रम से लिखी गई है, इसलिए हम सम्प्रति और चन्द्रगुप्त को एक ही समझ सकते हैं और सम्प्रति को चन्द्रगुप्त द्वितीय कह सकते हैं।

प्राचीन भारतीय इतिहास की पुस्तकों में अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य्य का जैन होकर बारह साल का दुर्भिक्ष पड़ने पर श्रुतिकेवलि भद्रबाहु के साथ दक्षिण में चला जाना निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया गया है। हम प्रदर्शित कर चुके हैं कि यह मन्तव्य प्रमाणों से पुष्ट नहीं होता। जैन-साहित्य और श्रवणबेलगोला के शिलालेख—दोनों ही इसको सिद्ध नहीं कर सकते। जैन-साहित्य में मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में यह अनुश्रुति नहीं है। हेमचन्द्र सूरि विरचित परिशिष्ट पर्व में—जो कि जैन-

---

१. 'उद्दिण्ण जोहा उलसिद्धसेणो पसत्थितोणिज्जिय सत्तुसेणो।
सतंततो साहुसुहप्पयारे अकासि अंधेदमिलेय घोरे॥'
इस पर भाष्य—'स सम्प्रतिनामा पार्थिवः अंध्रान् द्रविडान् च शब्दान् महाराष्ट्रान् कुकुड्डादीन् प्रत्यन्तदेशान् घोरान् प्रत्यपायबहुलान् समन्ततः साधुसुखप्रचारान् साधूनां विहरणान् अकार्षीत् कृतवान्।'

२. पुण्याश्रवकथा—नाथूराम प्रेमी द्वारा अनूदित

अनुश्रुति का बड़ा उत्तम संग्रह है—चन्द्रगुप्त की पूरी कथा लिखी है। उसमें भद्रबाहु द्वारा उसके जैन बनाये जाने तथा बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ने पर दक्षिण जाने आदि का कहीं उल्लेख नहीं। परिशिष्ट पर्व में तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि बिन्दुसार के युवा हो जाने पर अपनी आयु का अन्त जान चन्द्रगुप्त ने प्राणत्याग कर दिया और उसकी मृत्यु के बाद बिन्दुसार राजगद्दी पर बैठा।

पुण्याश्रवकथाकोष में भी चन्द्रगुप्त—अशोक के पितामह—के भद्रबाहु के साथ दक्षिण जाने का वर्णन नहीं, यद्यपि उसकी कथा पर्याप्त विस्तार से लिखी गई है।

भद्रबाहुचरित्र, आराधनाकथाकोष आदि में चन्द्रगुप्त के भद्रबाहु द्वारा जैन बनाये जाने तथा दक्षिण जाने का उल्लेख है, परन्तु यह चन्द्रगुप्त मौर्य-साम्राज्य का संस्थापक चन्द्रगुप्त ही है—इसका कोई प्रमाण नहीं। इसी तरह अन्यत्र भी जहाँ कहीं चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु-विषयक कथायें मिलती हैं, वहाँ चन्द्रगुप्त से अशोक के पितामह मौर्य्य चन्द्रगुप्त का ग्रहण करना चाहिए, इस सम्बन्ध में कोई भी निर्देश नहीं मिलता। श्रवणबेलगोला के शिलालेखों के सम्बन्ध में भी यही बात है। इन शिलालेखों से चन्द्रगुप्त नाम के किसी राजा का भद्रबाहु के साथ दक्षिण में आना और चन्द्रगिरि पर रह कर प्राण त्याग करना तो अवश्य सिद्ध होता है, परन्तु यह चन्द्रगुप्त अशोक का पितामह ही है, यह बिलकुल भी सूचित नहीं होता।

इसके विपरीत इस जैन चन्द्रगुप्त का अशोक का पौत्र तथा कुनाल का पुत्र होना जैन-साहित्य-द्वारा प्रमाणित होता है। श्री० चन्द्रशेखर शास्त्री ने "जैन-ग्रन्थों के अनुसार चन्द्रगुप्त और चाणक्य" विषय पर एक खोज-पूर्ण लेख लिखा है[1]। उसमें वे भी

---

१. देखो—'आज' बनारस
२१ मई सन् १६२५ और १ जून सन् १६२६।

इसी परिणाम पर पहुँचे हैं—"चन्द्रगुप्त प्रथम का भद्रबाहु स्वामी के साथ कहीं भी सम्बन्ध नहीं दिखलाया गया है। हम नहीं कह सकते कि कुछ विद्वानों ने कैसे इन्हीं चन्द्रगुप्त को भद्रबाहु स्वामी का शिष्य मान लिया।.....................सम्भव है कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का ही दूसरा नाम सम्प्रति हो।"

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि परिशिष्ट पर्व में सम्प्रति का वृत्तान्त लिखते हुए भद्रबाहु और बारह वर्ष के दुर्भिक्ष का भी ज़िक्र किया गया है[1]।

इन सब बातों पर विचार करके हम इसी परिणाम पर पहुँचे हैं, कि सम्प्रति का ही दूसरा नाम चन्द्रगुप्त था। उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय कहना उचित है और उसी के समय में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा, तथा वह दक्षिण में भद्रबाहु के साथ साधु बन कर रहने लगा।

जिन प्रभासूरि के अनुसार सम्राट् सम्प्रति ने बहुत से विहारों का भी निर्माण कराया था। ये विहार अनार्य देशों में भी बनवाये गये थे[2]।

सम्प्रति के समय की कोई राजनीतिक घटना हमें ज्ञात नहीं है। सम्भवतः, इसके शासन-काल में भी मौर्य-साम्राज्य का पतन जारी था और कुछ देश साम्राज्य से अलग हो गये थे। पर इन देशों के नाम निश्चित रूप से नहीं लिखे जा सकते। सम्प्रति के शासन-काल में ही बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ा। यह घटना मौर्य-साम्राज्य के पतन में विशेष महत्त्व रखती है। इसको ध्यान में रखना चाहिए।

---

१. देखो—मुनितिलकविजय-द्वारा अनूदित 'परिशिष्ट पर्व' भाग दूसरा पृ० ९८

२. Raychaudhari—Political History of Ancient India, p. 186.

ऐतिहासिक स्मिथ के अनुसार अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य्य-साम्राज्य दो भागों में बँट गया था[१]। पूर्वीय राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी और वहाँ दशरथ राज्य करता था। पश्चिमीय राज्य की राजधानी उज्जैनी थी और वहाँ सम्प्रति का राज्य था। यद्यपि रोमन-साम्राज्य के पतन से तुलना करते हुए यह कल्पना बड़ी मनोरञ्जक हो जाती है, पर इसके लिए प्रमाण कोई नहीं है। दूसरी तरफ़ सम्प्रति के मगध पर राज्य करने के प्रमाण मौजूद हैं। पुराणों में सम्प्रति को मगध के राज-वंश की वंशावली में लिखा गया है[२]। इसलिए मनोरञ्जक तथा आकर्षक होते हुए भी हम इस कल्पना को नहीं मान सकते।

शालिशुक

(२०७ ई० पू० से २०६ ई० पू० तक)

मौर्य-इतिहास में सम्राट् शालिशुक के शासन का एक साल बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है। चन्द्रगुप्त मौर्य-द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य का वास्तविक पतन इसी साल हुआ। शालिशुक के शासन-काल के सम्बन्ध में वृद्ध गार्ग्यसंहिता का युग पुराण बहुत सी आवश्यक बातें सूचित करता है। पहली बात यह है कि सम्प्रति के जैन साधु बन कर राज्य त्याग करने के बाद राजगद्दी के लिए गृह-कलह प्रारम्भ हुई। शालिशुक सम्प्रति का पुत्र था। पर मालूम पड़ता है कि उसका कोई बड़ा भाई भी था। राज्य पर वास्तविक अधिकार उसी का था, परन्तु शालिशुक ने उसका घात करके स्वयं राज्य पर अधिकार जमा लिया[३]। आपस के गृह-कलह से इस

---

१. V. A. Smith—Aśoka, p. 70.

२. 'भविता नव वर्षाणि तस्य पुत्रस्तु सम्प्रतिः'।

३. 'स ज्येष्ठभ्रातरं साधुं केतेति (? हत्वा वि ?) प्रथितं गुणैः' ॥
Bern—Brihatsamhita, p. 37.

समय में मौर्य्य राजघराने की आन्तरिक अवस्था कितनी शोचनीय होगई होगी, इसका अनुमान सहज में ही किया जा सकता है। ऐसा मालूम पड़ता है, कि इस गृह-कलह के समय में ही विशाल मौर्य-साम्राज्य का उत्तर-पश्चिमीय प्रदेश पृथक् हो गया। हम देख चुके हैं कि काश्मीर पहले ही साम्राज्य से पृथक् हो चुका था। अब सिन्ध नदी से पार के प्रदेश—जिनमें अफ़ग़ानिस्तान, क़ान्धार तथा हीरात आदि के अनेक भाग शामिल थे—भी पृथक् होगये। इनमें 'वृषसेन' नाम के राजघराने के एक व्यक्ति ने पृथक् राज्य स्थापित कर लिया। यह वृषसेन भी सम्प्रति का ही लड़का था। ग्रीक लोगों ने सम्भवतः इसी को 'सोफागसेनस' या सुभागसेन लिखा है। तारानाथ के अनुसार यह वृषसेन या सुभागसेन गान्धार का राजा था[1]। सम्भवतः, यह वृषसेन पहले गान्धार का 'कुमार' या सूबेदार था, जो कि इस अव्यवस्था के समय में स्वतन्त्र होगया। तिब्बती बौद्ध-साहित्य में सम्प्रति का उत्तराधिकारी वृषसेन को ही लिखा है[2]।

राजतरङ्गिणी के अनुसार काश्मीर का राजा जालौक एक बड़ा विजेता था। उसने कान्यकुब्ज तक विजय की थी[3]। राजतरङ्गिणी के अध्ययन से मालूम पड़ता है कि जालौक ने बहुत दीर्घ समय तक राज्य किया था। जालौक के बाद राजतरङ्गिणी के अनुसार दामोदर और फिर हुष्क, जुष्क तथा कनिष्क ने क्रमशः राज्य किया। कनिष्क का समय हमें मालूम है। उसके तथा जालौक के बीच में केवल तीन राजाओं का उल्लेख करना

१. Rapson—Cambridge History of Ancient India, p. 512.

२. Cowell and Neil—Divyāvadān, p. 433.

३. 'जित्वोर्वीं' कान्यकुब्जाद्यां तत्रत्यं च न्यवेशयत्।
चातुर्वर्ण्यं निजे देशे धर्म्मांश्च व्यवहारिणः ॥ ११७ ।
राजतरङ्गिणी। प्रथमस्तरङ्गः

सूचित करता है कि इनने बहुत दीर्घ समय तक राज्य किया था। यह ठीक है, कि कल्हण ने अनेक राजाओं के नाम छोड़ भी दिये हैं, पर उसके वर्णित राजा प्रायः महत्त्वपूर्ण और दीर्घ काल तक शासन करनेवाले हैं। जालौक को राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए अभी २६ वर्ष हुए थे। कोई आश्चर्य नहीं कि शालिशुक के समय के गृह-कलह से लाभ उठा कर उसे राज्य-विस्तार का अवसर मिल गया हो, और उसने कान्यकुब्ज तक आक्रमण कर विजय प्राप्त की हो।

इस प्रकार सम्राट् सम्प्रति के बाद पारस्परिक गृह-कलह से मौर्य-साम्राज्य बहुत शिथिल हो गया। केन्द्रित शासन नियन्त्रित और व्यवस्थित न रहा। यद्यपि शालिशुक को गृह कलह में सफलता हुई, पर उसकी स्थिति भी सुरक्षित न थी। यह इसी से सफलता के साथ समझा जा सकता है कि उसका शासन-काल कुल एक वर्ष है। सम्भवतः, राजघराने के षड्यन्त्र इस काल में जारी रहे और शालिशुक की हत्या में इनका अन्त हुआ। ये घटनायें इस समय की राजनीतिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश डालती हैं।

शालिशुक ने अपने एक साल के शासन में प्रजा पर बहुत अत्याचार किये। सारा राज्य उसके अत्याचारों से तङ्ग आ गया[1]। इसने मौर्य-साम्राज्य के पतन में और भी मदद की।

अब तक मौर्य-सम्राटों ने अशोक की धम्म-विजय की नीति का अनुसरण किया था। सम्भवतः, दशरथ और सम्प्रति के समय 'धम्म' के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया गया था। शालिशुक ने भी अपने पूर्वजों की चली आई नीति को नाम के लिए जारी रखा, पर उसका दुरुपयोग करके उसे नाशकारक बना दिया। गार्ग्य संहिता में इस सम्राट् को 'धर्म का ढोंग करनेवाला' तथा

---

१. 'स राजा कर्मसूतो·········दुष्टात्मा प्रियविग्रहः।
स्वराष्ट्रमर्दवे घोरं धर्मवादी अधार्मिकः॥ गार्ग्यसंहिता, युगपुराण

'अधार्मिक' कहा है[1] । यह भी लिखा है कि इस मूर्ख ने धर्म की विजय को स्थापित करने का यत्न किया[2] । 'विजयं नाम धार्मिकम्' ये शब्द व्यङ्ग के साथ लिखे गये हैं।

इस तरह शालिशुक के धर्म-विजय की नीति का दुरुपयोग करने में अशान्ति और अव्यवस्था को और भी अधिक बढ़ा दिया। इस सम्राट् के 'राष्ट्रमर्दन' तथा धर्मविजय के ढोंग ने मौर्य-साम्राज्य को कितनी हानि पहुँचाई होगी, इसका अनुमान करना कठिन नहीं है।

इसी शालिशुक के समय में मौर्यों के भारतीय साम्राज्य पर यवनों, म्लेच्छों या ग्रीक लोगों के आक्रमण प्रारम्भ हुए । २०६ ई० पू० में ग्रीक लोगों ने भारत पर हमला किया । इन ग्रीक आक्रमणों को ठीक प्रकार समझने के लिए इनके कुछ इतिहास को जानने की आवश्यकता है। हम बहुत संक्षेप के साथ कुछ आवश्यक घटनाओं का निर्देश करेंगे।

सम्राट् चन्द्रगुप्त के समकालीन सैल्यूकस निकेटर की मृत्यु २८० ई० पू० में हुई थी । सैल्यूकस के बाद उसका लड़का एण्टियोकस सार्टर सीरिया की राजगद्दी पर बैठा । लगभग १६ वर्ष तक राज्य करके २६१ ई० पू० में एण्टियोकस सार्टर की मृत्यु हुई। इसके बाद एण्टियोकस थिओस राजा बना । यह शासन करने में सर्वथा अशक्त था। इसके शासन काल में बैक्ट्रिया और पार्थिया सीरियन साम्राज्य से निकल गये। बैक्ट्रिया में डायोडोटस प्रथम ने २५० ई० पू० तथा पार्थिया में अर्सेकस ने २४८ ई० पू० में स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की । बैक्ट्रिया में डायोडोरस प्रथम के बाद डायोडोरस द्वितीय (२४५ ई० पू०) तथा यूथिडीमोस (२३२ ई० पू०) राजा बने । यूथीडीमोस के समय में सीरिया के राजा 'एण्टियोकस दि ग्रेट' ने बैक्ट्रिया पर आक्रमण करने शुरू किये। सीरिया और बैक्ट्रिया के इन युद्धों

---

१. 'धर्मवादी अधार्मिकः।'

२. 'स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्।'

का अन्त २०८ ई० पू० में हुआ। एण्टियोकस ने बैक्ट्रिया की स्वतन्त्रता स्वीकृत कर ली।

इसी समय एण्टियोकस दि ग्रेट ने अपनी शक्तिशाली ग्रीक सेना के साथ हिन्दूकुश पर्वत पार कर भारत पर आक्रमण किया। गान्धार के राजा सुभागसेन के साथ उसके २०६ ई० पू० में युद्ध हुए। शीघ्र ही दोनों राजाओं में परस्पर सन्धि होगई।

ग्रीक लेखक पोलिबिअस लिखता है—"उस (एण्टियोकस दि ग्रेट) ने कौकेशस पर्वत पार कर भारत में प्रवेश किया। भारतीयों के राजा सोफागसेनस से अपनी मित्रता फिर स्थापित की। इतने हाथी प्राप्त किये कि उसके कुल हाथियों की संख्या १५० होगई।"

ग्रीक-वृत्तान्तों से मालूम पड़ता है, कि इसके बाद एण्टियोकस दि ग्रेट वापिस लौट गया। परन्तु भारतीय साहित्य से पता चलता है कि २०६ ई० पू० में सम्राट् शालिशुक के शासन-काल में ग्रीक लोगों ने भारत के अन्दर बहुत दूर तक आक्रमण किया। गार्ग्य संहिता के अनुसार यवनों ने न केवल साकेत, पाञ्चाल तथा मथुरा को हस्तगत कर लिया, पर मगध-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र या कुसुमध्वज पर भी अपना अधिकार जमा लिया[1]।

परन्तु गार्ग्यसंहिता के अनुसार ये यवन देर तक भारत के मध्यदेश में ठहर नहीं सके। उनमें परस्पर गृह-कलह शुरू

---

1. 'ततः साकेतमाक्रम्य पञ्चालान् मथुरां तथा।
यवना दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्॥
ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे (?) प्रथिते हिते (?)
अकुलाः विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः॥

Kern—Brihatsamhita (गार्ग्यसंहिता, युगपुराण)

हो गये और इस अपने अन्दर उठे हुए युद्धों के कारण यवन लोगों को शीघ्र ही भारत से जाना पड़ा[1]।

इस तरह यवन लोग तो भारत से चले गये, पर भारत में मौर्य-साम्राज्य की जड़ें हिल गईं। आपस के कलह तथा आन्तरिक अव्यवस्था से मौर्य-शासन पहले ही बहुत कमज़ोर हो चुका था, इस बाह्य आक्रमण से उसकी अवस्था और भी ख़राब होगई। गार्ग्यसंहिता में स्पष्ट रूप से लिखा है कि इसके बाद भारत में सात राजा राज्य करने लगे, या भारत सात राज्यों में विभक्त हो गया[2]। गान्धार, काश्मीर, मगध, कलिङ्ग, आन्ध्र—इन पाँच राज्यों की इस काल में पृथक् सत्ता थी, यह हमें मालूम है। इनके सिवाय अन्य दो राज्य कौन से थे, जो इस अव्यवस्था के समय में मौर्य-साम्राज्य से पृथक् होगये—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

इस तरह शालिशुक का घटनामय शासन समाप्त होता है। यद्यपि यह शासन केवल एक साल का है, परन्तु महत्त्व की दृष्टि से यह बहुत ही आवश्यक है।

देववर्मा

(२०६ ई० पू० से १६६ ई० पू० तक)

शालिशुक के बाद सम्राट् देववर्मा मगध के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पुराणों में इसे अनेक नामों से लिखा गया है। देववर्मा के सिवाय देवधर्मा, सोमधर्मा और सोमवर्मा आदि नाम भी इसके लिए प्रयुक्त हुए हैं।

---

१. 'मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः।
तेषामन्योयसंभावा (?) भविष्यन्ति न संशयः॥
आत्मचक्रोत्थितं घोरं युद्धं परमदारुणम्'।

२. 'ततो युगवशात्तेषां यवनानां परिक्षये।
संकेते (?) सप्त राजानो भविष्यन्ति न संशयः॥'

यवनों के आक्रमण देववर्मा के शासन-काल में भी जारी रहे। २०० ई० पू० में बैक्ट्रिया के राजा डेमेट्रियस (यूथिडीमॉस का पुत्र) ने भारत पर आक्रमण किया और पश्चिमोत्तर भारत के कुछ हिस्से पर अधिकार कर लिया[1]।

शतधनुष

(१६६ ई० पू० से १६१ ई० पू० तक)

सम्राट् शतधनुष के समय की कोई विशेष घटना हमें ज्ञात नहीं है। सम्भवतः, इसके शासन में भी मौर्य-साम्राज्य की अधीनता से अनेक देश मुक्त हुए। शतधनुष के समय में पश्चिमोत्तर भारत पर ग्रीक लोग अपना शासन अच्छी तरह स्थापित कर चुके थे। डेमेट्रियस—जिस बैक्ट्रियन राजा ने २०० ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया था—को भारत का राजा लिखा गया है। उसका भारतीय राज्य पर्याप्त विस्तृत था। डेमेट्रियस बहुत प्रतापशाली राजा था। उसने अफ़गानिस्तान और भारत में अपने नाम से अनेक नगर स्थापित किये थे। प्राचीन आर्कोशिया में 'डेमेट्रियस पोलिस' नाम का एक नगर था[2]। पतञ्जलिकृत महाभाष्य के अनुसार सौवीर देश में 'दात्तामित्रि' नाम के नगर का उल्लेख है। 'दात्तामित्रि' नाम डेमेट्रियस के ही नाम से पड़ा मालूम होता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं, कि पतञ्जलि मुनि सम्राट् पुष्यमित्र शुङ्ग के समकालीन थे। उनका समय द्वितीय शताब्दि ई० पू० स्वीकृत किया जाता है। इस तरह, ग्रीक लोगों ने भारत के पश्चिमोत्तर भाग में दृढ़ अधिकार प्राप्त कर लिया था। निस्सन्देह, डेमेट्रियस ने अपनी विजय शतधनुष के समय में ही स्थापित की थी।

सम्भवतः, विदर्भ देश भी इसी समय में स्वतन्त्र हुआ था।

---

१. V. A. Smith—Early History of India, p. 237.

२. Raychaudhari—Political History of Ancient India, p. 205.

मालविकाग्निमित्र के अनुसार शुङ्गवंशी पुष्यमित्र के शासन-काल में विदर्भ मगध के साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था। वहाँ यज्ञसेन नामी स्वतन्त्र राजा राज्य कर रहा था। इससे प्रतीत होता है कि मौर्य-साम्राज्य के पतन-काल में अन्य विविध देशों के साथ विदर्भ भी स्वतन्त्र हो गया था।

इसी समय में अनेक प्रजातन्त्र राज्यों ने भी स्वतन्त्रता प्राप्त की। इनके सम्बन्ध में हम पीछे विचार करेंगे।

बृहद्रथ

(१६१ ई० पू० से १८४ ई० पू० तक)

यह शतधनुष का भाई था, पुत्र नहीं। बृहद्रथ मौर्यवंश का अन्तिम सम्राट् है। इस काल में भी मौर्य-साम्राज्य का क्षय निरन्तर जारी रहा। परन्तु इसका क्रमिक वृत्तान्त हमें ज्ञात नहीं है। इतना ही कहा जा सकता है कि पतन की गति को ये निर्बल मौर्य सम्राट् रोक न सके।

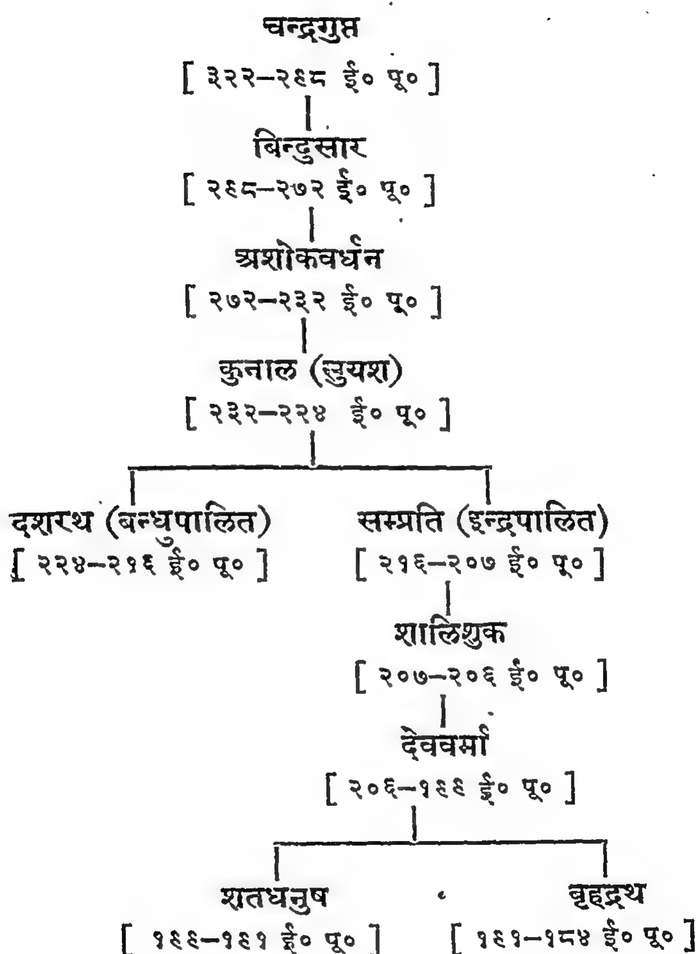
अन्त में पुष्यमित्र ने बृहद्रथ को मार कर मौर्यवंश का अन्त किया। पुष्यमित्र बृहद्रथ का प्रधान सेनापति था। मगध की शक्तिशाली सेना उसी के अधीन थी। इस सेना की सहायता से पुष्यमित्र ने बृहद्रथ को मार कर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया[1]। किस तरह पुष्यमित्र ने यह कार्य किया, इसका विस्तृत वृत्तान्त वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं होता[2]। पुष्यमित्र शुङ्गवंश का था। अब से मगध के साम्राज्य पर शुङ्गवंशी सम्राट् शासन करने लगे।

---

१. पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथम्।
कारयिष्यति वै राज्यं ………(वायुपुराण)

२. पुष्यमित्र के षडयन्त्र का कुछ निर्देश हर्षचरित्र के निम्नलिखित वाक्य से मिलता है—
"प्रतिज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेश पुष्यमित्रः स्वामिनम्।

मौर्यवंश-वृक्ष


चन्द्रगुप्त
[३२२–२९८ ई० पू०]
बिन्दुसार
[२९८–२७२ ई० पू०]
अशोकवर्धन
[२७२–२३२ ई० पू०]
कुनाल (सुयश)
[२३२–२२४ ई० पू०]
दशरथ (बन्धुपालित)
[२२४–२१६ ई० पू०]
सम्प्रति (इन्द्रपालित)
[२१६–२०७ ई० पू०]
शालिशुक
[२०७–२०६ ई० पू०]
देववर्मा
[२०६–१९९ ई० पू०]
शतधनुष
[१९९–१९१ ई० पू०]
बृहद्रथ
[१९१–१८४ ई० पू०]

सत्ताईसवाँ अध्याय

मौर्य-साम्राज्य का पतन

[२]

विवेचना

प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास में दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। एक प्रवृत्ति केन्द्रीभाव (Centralization) की है और दूसरी अकेन्द्रीभाव (Decentralization) की। इन दोनों में निरन्तर संघर्ष जारी रहता है। अत्यन्त प्राचीन काल को लीजिए। महाभारत के समय में मगध के राजा जरासन्ध ने साम्राज्य बनाने का प्रयत्न किया। बहुत से राजतंत्र तथा प्रजातंत्र राज्यों को अपने अधीन कर जरासन्ध ने मगध के विशाल साम्राज्य को 'गिरिव्रज' में केन्द्रित किया। कुछ समय बाद इन्द्रप्रस्थ और पाञ्चाल के राजाओं की सहायता से कृष्ण के नेतृत्व में जरासन्ध का नाश किया गया। अधीनस्थ राज्य स्वतंत्र होगये, मगध का साम्राज्य टूट गया। यह उनके अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्ति थी। कुरु और पाञ्चाल के राजाओं के अधीन फिर केन्द्रीभाव की प्रवृत्ति प्रबल हुई। जिसका परिणाम महाभारत का घोर संग्राम था। इसी तरह केन्द्रीभाव और अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियाँ निरन्तर संघर्ष करती रहती हैं। शक्तिशाली सम्राट् साम्राज्य बनाते हैं। भारतवर्ष को एक सत्ता—एक केन्द्र के अधीन लाने का यत्न करते हैं। उन्हें सफलता भी होती है, पर कुछ समय बीतने पर अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियाँ फिर प्रबल हो जाती हैं। सामाज्य टूट जाते हैं।

भारतीय इतिहास में यह प्रवृत्ति बिलकुल स्वाभाविक है। यहाँ दोनों तरह के तत्त्व मौजूद हैं। सभ्यता, धर्म, संस्कृति और

साहित्य की समानता जहाँ इसे 'एकता' की तरफ़ ले जाती है, वहाँ भाषा, जाति, इतिहास और भौगोलिक अवस्थाओं की भिन्नता अनेक प्राकृतिक विभागों में बाँट देती है। 'भारत एक देश है' यह भाव प्राचीन समय में विद्यमान था, इसके सम्पूर्ण क्षेत्र में फैले हुए पर्वतों और नदियों को सब भारतवासी पवित्रता की दृष्टि से देखते थे। 'धर्म-भूमि भारत' की एकता का अनुभव प्राचीन भारतीयों को अवश्य था और यही कारण है कि इस देश के सम्राट् 'आसमुद्र क्षितीश' बनना अपना उद्देश्य समझते थे। केन्द्रीभाव की प्रवृत्ति में यह मुख्य रूप से प्रेरक शक्ति थी परन्तु स्थानीय भिन्नताओं और जाति, भाषा आदि की विषमताओं पर स्थित प्राचीन राज्यों को लुप्त कर देना भी तो सरल नहीं था। यही कारण है कि साम्राज्य स्थिर न रह सकते थे। अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियाँ शीघ्र ज़ोर पकड़ लेती थीं और केन्द्रित सरकार में ज़रा भी निर्बलता आने पर ये पुराने राज्य फिर प्रादुर्भूत हो जाते थे।

इसी प्रवृत्ति ने प्राचीन भारत में साम्राज्यों को स्थिर रूप से क़ायम नहीं होने दिया। ब्राह्मणग्रन्थों व अन्य प्राचीन साहित्य में वर्णित साम्राज्य इसी प्रवृत्ति से नष्ट होगये। मौर्य-साम्राज्य के पतन में भी यही प्रवृत्ति सबसे अधिक कारण हुई। मौर्यवंश के प्रादुर्भाव से पूर्व ही मगध के राजाओं का साम्राज्यवाद अनेक प्राचीन राज्यों को नष्ट कर चुका था। बिम्बिसार, अजातशत्रु और महापद्म नन्द ने बहुत से राज्यतंत्र और प्रजातंत्र राज्यों को नष्ट किया था। मौर्य वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त ने उत्तरीय भारत के बहुत से स्वतंत्र राज्यों की समाप्ति की थी। बिन्दुसार ने दक्षिणीय भारत का विजय किया था और अशोक ने काश्मीर तथा कलिङ्ग को मगध-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। परन्तु इन साम्राज्यवादी प्रयत्नों से क्या इन लुप्त राज्यों से अपनी स्वतंत्रता व पृथक् सत्ता के सब भाव विनष्ट हो गये? नहीं, इनमें अपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति पूर्ण रूप से विद्यमान थी। इनमें से अनेक देश पहले भी कई बार साम्राज्यवादी राजाओं

द्वारा—चाहे वे मगध के हों या कोशल व अवन्ति के हों या पश्चिमोत्तर भारत की दशा में विदेशी आक्रान्ता हों—नष्ट होकर स्वतंत्रता प्राप्त कर चुके थे। काशी का प्राचीन राज्य अनेक बार कोशल या मगध के साम्राज्यवादियों द्वारा पददलित हुआ। कलिंग को पहले महाराज नन्द ने अपने अधीन किया था। कुछ समय बाद वह स्वतंत्र हो गया। फिर उसे अशोक ने अधीन किया। इसी तरह के अन्य भी बहुत उदाहरण पेश किये जा सकते हैं। लिखने का अभिप्राय यह है कि साम्राज्यवादी सम्राटों से पद-दलित किये जाने पर भी पुराने अधीनस्थ राज्यों में अपनी पृथक् सत्ता और स्वतंत्रता की अनुभूति विद्यमान रहती थी और अवसर पाते ही वे स्वतंत्र होने का उद्योग करते थे।

मौर्य-साम्राज्य के पतन में यही प्रक्रिया हुई। अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से बलवती हो गई। मौका पाते ही पहले काश्मीर, फिर कलिङ्ग फिर आन्ध्र—इसी तरह से बहुत से राज्य स्वतंत्र हो गये। मगध का प्रचण्ड साम्राज्यवाद इन दूर-वर्ती राज्यों पर अपनी धाक अच्छी तरह नहीं बैठा सका था, इनकी 'पृथक्-अनुभूति' को नष्ट नहीं कर सका था। इसीलिए ये सरलता के साथ स्वतंत्र हो सके। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि सदियों के निरन्तर साम्राज्यवाद ने अपना कोई असर ही नहीं छोड़ा। साम्राज्यवाद तथा केन्द्रीभाव की प्रवृत्ति का ही यह परिणाम हुआ कि आपेक्षिक दृष्टि से मगध के समीपवर्ती बहुत से राज्य सदा के लिए नष्ट हो गये। मौर्य-काल से केवल दो सदी पूर्व के अवन्ती, काशी, कोशल, अङ्ग आदि बहुत से शक्ति-शाली राज्यों की पृथक् स्वतंत्र राज्यों के रूप में पिछले इतिहास में कहीं सत्ता नहीं है। ये राज्य पूरी तरह नष्ट हो गये। मौर्य-शासन की केन्द्रीभाव की मज़बूत प्रवृत्तियों ने इन्हें सदा के लिए मिटा दिया। पर ये प्रवृत्तियाँ दूरवर्ती राज्यों पर इतना असर नहीं कर सकीं। इनमें अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्ति पूरे ज़ोर के साथ मौजूद रही, इसी लिए अवसर पाते ही ये राज्य मौर्य-साम्राज्य से पृथक् हो गये।

इसी सम्बन्ध में हमें प्रजातंत्र या गणराज्यों पर भी विचार करना चाहिए। प्राचीन भारत में बहुत से गणराज्य विद्यमान थे। अनेक स्थानों पर ये संघों के रूप में संगठित थे। दो या उससे अधिक गणों ने मिलकर एक 'संघ' बना लिया था। महाभारत-काल में अन्धक और वृष्णियों का इसी तरह का संघ था। मौर्य-काल से पूर्व वैज्जेन संघ इस तरह के संघों का सर्वोत्तम उदाहरण है। ये गण और संघ बहुत शक्तिशाली राज्य थे। साम्राज्यवाद में इनसे बड़ी अन्य कोई बाधा न थी। ये स्वाभाविक रीति से साम्राज्यवाद के शत्रु होते थे। जो स्वतंत्रता और समानता इन्हें अपने प्रजातंत्र राज्यों में प्राप्त थी, उसे ये किसी भी तरह खोना नहीं चाहते थे। साम्राज्य-वादियों के लिए सबसे विकट सवाल इन्हीं का था। इसी लिए हम देखते हैं कि प्रत्येक साम्राज्यवादी सम्राट् इनको नष्ट करने का प्रयत्न करता था। सर्वत्र साम्राज्यवाद और गणराज्यों का संघर्ष दिखाई पड़ता है। जरासन्ध के साम्राज्यवाद में वृष्णिगण बहुत बड़ी बाधा था। मगध के शैशुनाग सम्राटों के लिए वैज्जेन संघ सबसे विकट प्रश्न था। सिकन्दर के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद में मालव, क्षुद्रक, शिवि आदि राज्यों ने बहुत बड़ी बाधा उपस्थित की थी। मौर्य-साम्राज्य के सन्मुख भी इन गणराज्यों का प्रश्न विद्यमान था। आचार्य चाणक्य ने इसे किस तरह हल किया यह हम अर्थ-शास्त्र से जान सकते हैं। 'संघवृत्तम्' अधिकरण में चाणक्य ने अपनी नीति को स्पष्ट किया है। अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि मौर्यकाल से पूर्व बहुत से गणराज्य मौजूद थे। लिच्छविक, वृज्जिक, मल्लक, मद्रक, काम्बोज, सुराष्ट्र आदि बहुत से संघों के नाम चाणक्य ने गिनाये हैं। इनमें से बहुत से संघों को मौर्य-साम्राज्यवादियों ने बिलकुल नष्ट कर दिया था, परन्तु बहुतों की सत्ता को 'अधीनस्थ राज्यों' के रूप में स्वीकृत कर लिया गया था। निस्सन्देह चाणक्य की नीति यही थी कि 'एकराजत्व' की स्थापना की जाय। परन्तु संघों की शक्ति तथा स्वातंत्र्य-प्रियता को देखकर उनकी पृथक सत्ता को बाधित रूप से

स्वीकृत करना पड़ा था। आपस में फूट डलवा कर इन राज्यों को नष्ट करने के बहुत से प्रयत्न किये गये थे, पर एक उत्तम राजनीतिज्ञ की भाँति कौटिल्य ने यह आवश्यक समझा था कि शक्तिशाली प्रजातंत्र राज्यों को सम्मान के साथ मौर्य-साम्राज्य में स्थान दिया जाय। यही कारण है कि अनेक गणराज्य मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत अपनी आन्तरिक 'एकता' और 'स्वतंत्रता' के साथ विद्यमान थे। अशोक के शिलालेखों से इस तरह के राज्यों की साम्राज्य के अन्तर्गत 'स्वतंत्र सत्ता' स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, आन्ध्र, आदि इसी भाँति के राज्य थे। अशोक ने इनकी पृथक् सत्ता को स्वीकृत किया था। शक्तिशाली होने के कारण इन्हें नष्ट न करना ही उचित समझा गया था। इनके साथ मित्रता स्थापित करना तथा साम-दाम आदि द्वारा इन्हें अपने साथ मिला कर अपने उपयोग में लाना ही मौर्य साम्राज्यवादियों की नीति थी।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि पृथक् प्रजातंत्र राज्यों की सत्ता मौर्य-साम्राज्य की बड़ी भारी कमज़ोरी थी। किसी भी समय ये राज्य स्वतंत्र होकर साम्राज्य से पृथक् हो सकते थे। प्रश्न यह है कि मौर्य सम्राटों ने इन्हें नष्ट करने का प्रयत्न क्यों नहीं किया? उन्होंने प्रयत्न सब किये, कौटिल्य जैसे 'साम्राज्य' और 'एकराज्य' के पक्षपाती प्रधान मंत्रियों ने इन राज्यों को नष्ट करने के लिए सब कुछ किया। पर शक्ति की सीमा होती है। किसी राज्य को आक्रमण-द्वारा जीत लेना एक बात है और उसे स्थिर रूप से अधीन रख सकना दूसरी बात है। मगध की शक्तिशाली सेनाएँ इन राज्यों को जीत तो सकी थीं, पर स्थिर रूप से उन पर शासन करना सरल कार्य न था। इनके प्राचीन पृथक् व्यक्तित्व को शीघ्र ही नष्ट कर सकना सम्भव न था। इसी लिए क्रियात्मक राजनीतिज्ञ की भाँति चाणक्य ने बीच की नीति का अवलम्बन किया था। पर इसमें शक नहीं कि चाणक्य के साम्राज्यवाद में यह अनिवार्य निर्बलता थी, जो अवसर पाते ही

प्रकट होगई। जिन राज्यों ने पहले पहल स्वाधीनता प्राप्त की, आन्ध्र उनमें एक है, जिसकी 'स्वतंत्रता और पृथक् सत्ता' मौर्य सम्राटों ने स्वीकृत की थी। इसी तरह गान्धार और काम्बोज आदि भी अवसर मिलते ही स्वाधीन होगये। मौर्य-साम्राज्य में जितने भी राज्य पृथक् रूप से स्वीकृत कर लिये गये थे, वे प्रायः सभी पीछे से स्वतंत्र रूप से दिखाई पड़ते हैं। मौर्य साम्राज्य के पतन में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

इसी तरह यह भी ख़्याल में रखना चाहिए कि जो प्रजातंत्र राज्य शैशुनाग या मौर्य सम्राटों द्वारा नष्ट कर दिये गये थे, उनमें भी अपनी पुरानी अनुभूति शीघ्र नष्ट नहीं हो सकी। प्राचीन समय की अपनी गौरवमय स्वतंत्रता उन्हें भूल न सकती थी। पुराने इतिवृत्त, परम्परायें और भाव उनमें विद्यमान थे। वे अनुभव करते थे कि हमें साम्राज्य के पञ्जे से मुक्त होकर स्वातंत्र्य प्राप्त करना चाहिए। इसी अनुभूति का परिणाम हुआ कि मौर्य-साम्राज्य में केन्द्रित शक्ति के क्षीण होते ही बहुत से पुराने गण-राज्य फिर से स्थापित हो गये।

शुङ्ग-काल में हमें अनेक प्रजातंत्र राज्य दृष्टिगोचर होते हैं। यौधेय, मद्र, मालव, क्षुद्रक, शिवि आदि प्राचीन गणराज्य पुनः स्थापित हो जाते हैं। इनकी पुनः स्थापना सिद्ध करती है कि मगध के सम्राट् इनकी पृथक् सत्ता और स्वतंत्रता की अनुभूति को नष्ट नहीं कर सके थे। इन सबने अपनी स्वतंत्रता के लिए कौन कौन से और किस किस तरह प्रयत्न किये, इस का ज़रा सा भी वृत्तान्त हमें उपलब्ध नहीं होता। यदि ये वृत्तान्त प्राप्त हो सकते, तो मौर्य-साम्राज्य के पतन का वास्तविक रहस्य अच्छी तरह समझ में आ सकता। पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इनके प्रयत्नों से मौर्य-साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो गया। मौर्यों के बाद पीछे भी अन्य साम्राज्यवादियों ने इन्हें नष्ट करने का यत्न किया, कई बार इन्हें नष्ट किया भी। पर ये फिर प्रादुर्भूत हो गये। पञ्जाब और उत्तरीय भारत के अनेक गणराज्य तो स्वतंत्रता के इतने प्रेमी थे कि साम्राज्यवादियों से बार बार नष्ट

किये जाने से तंग आकर अपने असली प्रदेश को छोड़ कर राजपूताने के विकट प्रदेश में आ बसे। अस्तु, इस इतिहास को लिखने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। हम यही चाहते हैं कि मौर्य-साम्राज्य के पतन के इस महत्त्व-पूर्ण कारण को आँखों से ओझल न कर दिया जाय।

मौर्यों के पतन के इन मुख्य कारणों की विवेचना करने के बाद अब हम अन्य कारणों या उनसे सम्बद्ध विषयों का भी संक्षेप से ज़िक्र करना चाहते हैं।

यवनों, म्लेच्छों या ग्रीक लोगों के निरन्तर आक्रमण मौर्य-साम्राज्य के पतन में बड़ा स्थान रखते हैं। अशोक के समय में ही ये आक्रमण शुरू हो गये थे। इन्हीं को रोकने के लिए अशोक ने अपने लड़के कुमार जालौक को पश्चिमोत्तर प्रदेशों पर नियुक्त किया था। यह समझना भूल है कि अशोक की धम्म-विजय की नीति ने मौर्य-साम्राज्य को इतना कमज़ोर कर दिया था कि वे मगध की सेनाएँ—जिन्होंने सैल्यूकस को परास्त किया था और सिकन्दर को पंजाब से ही लौट जाने के लिए बाधित किया था—अब इन विदेशियों के आक्रमण से सरलता के साथ पराजित हो गईं। मगध की सेनाओं में अब भी उसी तरह की शक्ति थी। जालौक ने इन सेनाओं से ही ग्रीक लोगों को पराजित किया। इसमें शक नहीं कि इन्हें पराजित करने के लिए मौर्य-साम्राज्य को अपनी शक्ति का पूरा उपयोग करना पड़ा होगा, और जालौक की अध्यक्षता में मगध की बहुत सी सेनाएँ युद्ध-क्षेत्र में आई होंगी। मौर्य-साम्राज्य का दुर्भाग्य था कि जालौक ने पश्चिमोत्तर प्रदेश में पृथक् राज्य स्थापित करने का निश्चय किया। सेनायें उसके साथ थीं, उनके बल पर वह स्वतंत्र राजा हो गया। पाटलिपुत्र की केन्द्रित सरकार के पास स्वाभाविक रूप से इतनी शक्ति न थी, कि जालौक को अधीन किया जा सकता। राजतरंगिणी से स्पष्ट है कि मगध और काश्मीर में संघर्ष हुआ था। इसमें भी सैनिक बल साथ होने के कारण जालौक की ही विजय हुई थी, वह कान्यकुब्ज तक विजय करने में सफल हो सका

था। इस तरह मौर्य-साम्राज्य की शक्ति के बँट जाने से ग्रीक लोगों के लिए आक्रमण करना और भी सरल हो गया। जालौक कितना ही शक्तिशाली हो, पर उसकी शक्ति सम्पूर्ण मौर्य साम्राज्य की शक्ति से कम ही थी। फिर भी पश्चिमोत्तर प्रदेश के स्वतंत्र राजा वीरता के साथ ग्रीक लोगों का सामना करते हैं। एण्टियोकस दि ग्रेट ने सुभागसेन, वृषसेन या वीरसेन पर आक्रमण किया। इस समय सुभागसेन पश्चिमोत्तर प्रदेश में स्वतंत्र राजा था। वह भी वीरतापूर्वक ग्रीक लोगों का मुकाबला करने में सफल हुआ। अन्य युद्धों में भी भारतीयों ने अच्छे प्रकार विजय प्राप्त की। पर ग्रीक लोगों का विशेषतः नवीन स्थापित हुए बैक्ट्रियन और पार्थियन राज्यों की शक्ति का निरन्तर सामना कर सकना कठिन था, विशेषतः उस अवस्था में जब कि मौर्य-साम्राज्य विभक्त हो चुका था। इस प्रकार ग्रीक लोगों के निरन्तर आक्रमणों ने मौर्य-साम्राज्य के पतन में बहुत भाग लिया। अगर हम इस बात के लिए भारतीय इतिहास का ध्यानपूर्वक अवलोकन करें, तो हमें ज्ञात होगा कि एण्टियोकस दि ग्रेट के समय से प्रारम्भ हुए विदेशी लोगों के आक्रमण कई सदियों तक निरन्तर जारी रहे। ग्रीक, बैक्ट्रियन, पार्थियन, शक, यूची, कुशान और हूण—इन विदेशी शक्तियों ने निरन्तर भारत पर आक्रमण किया। पाटलिपुत्र को केन्द्र बना कर भारत के उठते हुए साम्राज्यवाद को इन विदेशी आक्रमणों ने बड़ा धक्का पहुँचाया। मौर्यों के बाद शुङ्ग, कण्व और आन्ध्र शासनों में इन विदेशियों का बड़ा महत्त्व है। ये पश्चिमीय भारत में अच्छी तरह स्थिर होगये थे और साम्राज्यवाद के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित कर रहे थे। हम देख चुके हैं कि सम्राट् शालिशुक के शासन-काल में इन विदेशियों ने पाटलिपुत्र तक आक्रमण कर दिया था। यद्यपि उस समय ये भारत में स्थिर न हो सके, पर मौर्य-साम्राज्य की जड़ों को इन्होंने अच्छी तरह हिला दिया। क्या आश्चर्य है कि इनके आक्रमणों से उत्पन्न हुई अव्यवस्था से भारत की अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों को उपयुक्त अवसर

मिल गया हो और मौर्यों के पतन के बाद जो विविध प्रजातंत्र और राजतन्त्र राज्य हमें दिखाई पड़ते हैं, उनके उत्थान में असाधारण रूप से सहायता मिल सकी हो।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बिन्दुसार और अशोक जैसे शक्तिशाली सम्राटों के समय में भी पुरानी अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियाँ अनेक बार प्रादुर्भूत हुई थीं। दिव्यावदान के अनुसार तक्षशिला में अनेक बार विद्रोह हुए, जिन्हें दबाने के लिए शक्ति का उपयोग करना पड़ा। कलिंग के शिलालेखों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि अशोक अनुभव करता था कि इस नवीन जीते हुए प्रदेश में असन्तोष की मात्रा बहुत अधिक थी। यह असन्तोष की लहर अन्य विजित प्रदेशों में भी विद्यमान थी। यही कारण है कि दूरवर्ती प्रान्त बड़ी सरलता के साथ स्वतंत्र होगये। मगध के समीपवर्ती देश स्वतंत्र नहीं होने पाये, वे बहुत समय के लिए मगध या अन्य साम्राज्यों में विलीन हो गये।

हम पहले देख चुके हैं कि सम्राट् अशोक ने धम्म-विजय की नीति का प्रारम्भ किया था। यह नीति क्या थी, इसकी भी विवेचना हो चुकी है। कुछ समय तक इस नीति का बड़ी सफलता के साथ प्रयोग किया गया। भारत में एक नवीन भाव उत्पन्न करने में इससे बड़ी सहायता मिली। इसी का परिणाम था कि इस देश में धार्मिक सहिष्णुता पूर्णरूप से स्थापित हो सकी। परन्तु यह समझ सकना भी कठिन नहीं है कि इस उच्च नीति का सरलता से दुरुपयोग किया जा सकता था। "धम्म-विजय" की नीति का सम्यक् प्रकार से संचालन करने में अशोक जैसे महापुरुष ही समर्थ हो सकते थे। पर अशोक के सब उत्तराधिकारी उस जैसे न थे। निस्सन्देह, कुछ समय बाद भी धम्म-विजय की नीति का ठीक तरह प्रयोग किया गया। सम्भवतः कुनाल और दशरथ के शासन काल में वह शुद्ध रूप में चलती रही। पर संम्प्रति के समय में इसका दुरुपयोग किया गया। सम्प्रति का सैनिक

योद्धाओं से साधु का वेश बना कर प्रचार करवाना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। शालिशुक ने तो इसका बहुत ही दुरुपयोग किया। वह स्वयं "अधार्मिक" था, पर धर्म का ढोंग करता था। यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि यदि धम्मविजय की नीति का दुरुपयोग किया जाय, तो वह बहुत हानिकार हो सकती है। मौर्य-साम्राज्य की अवस्था में भी यही बात हुई। सम्भवतः, पिछले मौर्य सम्राटों ने अपने तुच्छ प्रयोजनों के लिए धम्म-विजय की नीति का उपयोग—या दुरुपयोग किया। वे धर्म का ढोंग करके सब तरह की बुराइयाँ तथा प्रजा पर अत्याचार करने लगे। परिणाम यह हुआ कि लोग बौद्ध और जैन सम्राटों की इस "धम्म विजय" से तंग आगये और ब्राह्मण-तत्त्व ने पुष्यमित्र के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। बौद्ध-ग्रन्थों में वर्णित पुष्यमित्र-द्वारा बौद्धों पर किये गये अत्याचार इस बात में कोई सन्देह नहीं रहने देते कि इस काल में ब्राह्मण धर्म और बौद्ध व जैन-धर्म में परस्पर विरोध होगया था। यह विरोधभाव इन्हीं पिछले सम्राटों की ग़लतियों से उत्पन्न हुआ था। यदि 'धर्म' का दुरुपयोग किया जाय, तो वह बहुत हानिकारक हो जाता है। यदि राज्य-शक्ति किसी विशेष धर्म का पक्ष ले, तब तो अनर्थ की कोई सीमा ही नहीं रहती। अशोक राज्य-शक्ति से बौद्ध-धर्म का प्रचार नहीं करना चाहता था। वह 'धम्म' से सब धर्मों के सामान्य उच्च तत्त्वों का ग्रहण करता था। पर इस उच्च भाव को पिछले सम्राट् स्थिर न रख सके। उन्होंने विशेष धर्मों का पक्षपात करना शुरू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि धार्मिक विरोध का भाव उत्पन्न हो गया और इसने भी मौर्य-साम्राज्य के पतन में सहायता दी।

पिछले अध्याय में हम सम्राट् सम्प्रति के समय के द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष का वर्णन कर चुके हैं। यह दुर्भिक्ष अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसने अव्यवस्था और अशान्ति बढ़ाने में मदद की। सम्भवतः इसके कारण राज्य में अशान्ति भी बहुत बढ़ गई और मौर्य सम्राटों को राजकीय आय बढ़ाने के लिए अनेकविध उपाय करने पड़े। महर्षि पतञ्जलि का यह

वाक्य कि 'मौर्य्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः' अर्थात् धन-प्राप्ति के इच्छुक मौर्यों ने प्रतिमाओं का निर्माण किया, सम्भवतः इसी काल के लिए है। राजकीय आय के घटने तथा राज्य में अशान्ति और अव्यवस्था के बढ़ने से सुदूरवर्ती प्रान्तों को मगध के साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने का उत्तम अवसर मिल गया और इन्होंने इससे उपयोग उठाने में संकोच न किया। इस तरह मौर्य-साम्राज्य का धीरे धीरे पतन हुआ।

इस सम्बन्ध में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि मौर्य-काल भारत के और विशेषतः मगध के साम्राज्यवाद का एक भाग-मात्र है। मौर्य-इतिहास के साथ भारत में या मगध में साम्राज्यवाद का अन्त नहीं हो जाता। शुङ्ग, काण्व, आन्ध्र और फिर गुप्त सम्राट् इस प्रवृत्ति को जारी रखते हैं। अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों के कारण ये साम्राज्य भी कई बार गिरे। पर साम्राज्यवाद की क्षति न हुई। जिस साम्राज्य का बिम्बिसार और महापद्मनन्द-द्वारा प्रारम्भ हुआ और चन्द्रगुप्त मौर्य ने जिसकी वृद्धि की, उसकी बृहद्रथ के साथ समाप्ति नहीं हुई. वह शुंग सम्राटों के शासन में भी जारी रहा। बृहद्रथ के साथ केवल मौर्यवंश की समाप्ति होती है, मगध के साम्राज्य की नहीं। मौर्यवंश नष्ट होगया पर 'मौर्य'-साम्राज्य नष्ट नहीं हुआ। यदि इस बात को हम ध्यान में रखें, तो मौर्य-साम्राज्य के पतन के असली कारण हमारी दृष्टि से ओझल न होंगे।

अठाईसवाँ अध्याय

शिक्षणालय

मौर्यकालीन भारत में शिक्षा का क्या प्रबन्ध था, इस विषय में कौटिलीय अर्थशास्त्र से कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। हम केवल यही जानते हैं कि आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय, ऋत्विक् आदि अध्यापक वर्ग को राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी। उन्हें इतनी भूमि दे दी जाती थी कि वे उसकी आमदनी से निश्चिन्त होकर विद्याध्ययन के कार्य में लगे रहें। इस 'ब्रह्मदेय' भूमि से कर आदि भी न लिया जाता था[1]। परन्तु अन्य पाली साहित्य से प्राचीन विश्वविद्यालयों व शिक्षणालयों के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि यह साहित्य प्रायः मौर्यकाल के प्रारम्भ से पूर्व ही बन चुका था, फिर भी इससे पिछले काल के सम्बन्ध में भी अनेक बातें समझी जा सकती हैं। विशेषतः, जिन शिक्षणालयों पर इनसे प्रकाश पड़ता है, वे मौर्यकाल तथा उसके पीछे भी विद्यमान रहे। अतः उस साहित्य से इन विश्वविद्यालयों के विषय में जो कुछ ज्ञान होता है, वह मौर्यकाल के लिए भी बहुत अंशों में ठीक समझा जा सकता है।

जातक ग्रन्थों के अध्ययन से पता लगता है कि प्राचीन भारत में तक्षशिला विद्या का बहुत प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ अनेक संसार-प्रसिद्ध आचार्य शिक्षा देते थे। बड़ी दूर दूर से विद्यार्थी लोग तक्षशिला में विद्याभ्यास के लिए आया करते थे। जातक साहित्य से तक्षशिला के विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में

---

१. 'ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियादिभ्यो ब्रह्मदेयान्यदण्डकराण्यभिरूपदायकानि प्रयच्छेत्। कौ० अर्थ० २।१।

जो बातें ज्ञात होती हैं, उन्हें हम संक्षेप से यहाँ उल्लिखित करते हैं।

तक्षशिला में शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु सोलह वर्ष की थी[१]। इससे पूर्व विद्यार्थी लोग अपने अपने नगरों में ही शिक्षा प्राप्त करते थे। पीछे से उच्च शिक्षा प्राप्त करने की अभिलाषा से वे सोलह साल की आयु में तक्षशिला-विश्वविद्यालय में जाया करते थे। समझा यह जाता था कि तक्षशिला में शिक्षा को समाप्त करने के लिए जाना है[२]। शिक्षा अपने यहाँ पर भी मिल सकती थी, पर राजा तथा अन्य धनी लोग अपने लड़कों को दूर देश में शिक्षा के लिए भेजना उपयोगी समझते थे। तक्षशिला में शिक्षा का क्या प्रबन्ध था, इस विषय को स्पष्ट करने के लिए हम एक जातक-कथा का कुछ भाग यहाँ अनूदित करना आवश्यक समझते हैं।

"एक बार की बात है कि बनारस के राजा ब्रह्मदत्त के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कुमार ब्रह्मदत्त रखा गया। पुराने समय के राजा लोगों में यह प्रथा थी कि चाहे उनके अपने शहर में कोई प्रसिद्ध अध्यापक विद्यमान हो, तब भी वे अपने लड़कों को दूर देश में शिक्षा को पूर्ण करने के लिए भेजना उपयोगी समझते थे। इससे वे यह लाभ समझते थे कि कुमार लोग अभिमान और दर्प को वश में करना सीखेंगे, गर्मी और सर्दी को सहन करेंगे, साथ ही दुनिया के रीति-रिवाजों से जानकारी भी प्राप्त कर लेंगे। राजा ब्रह्मदत्त ने भी यही किया। उसने अपने लड़के को बुलाकर—कुमार की आयु अब १६ वर्ष की होगई थी—उसे एकतलिक जूते, पत्तों का छाता और एक हज़ार कार्षापण देकर कहा—

'तात! तक्षशिला जाओ और विद्या का अभ्यास करो।'

---

१. 'The Jataka,' edited by Prof. E. B. Cowell, Vol. I, p. 126; Vol. II, p. 193; Vol. V, p. 66, etc.

२. 'The Jataka,' Vol. IV, p. 24.

कुमार ने उत्तर दिया—'बहुत अच्छा'। माता पिता से विदा होकर वह समय पर तक्षशिला पहुँच गया। वहाँ जाकर उसने आचार्य का घर पूछा। आचार्य महोदय विद्यार्थियों के सम्मुख अपना व्याख्यान समाप्त कर चुके थे और अपने घर के द्वार पर घूम रहे थे। आचार्य को देखते ही कुमार ने जूते उतार दिये, छाता बन्द कर दिया और सम्मानपूर्वक वन्दना करके चुपचाप खड़ा होगया। आचार्य ने देखा कि वह थका हुआ है, अतः उसके भोजन का प्रबन्ध कर उसे आराम करने के लिए आदेश दिया। भोजन कर कुमार ने कुछ देर विश्राम किया और फिर आचार्य के सम्मुख सम्मानपूर्वक प्रणाम करके खड़ा होगया।

आचार्य ने पूछा—'तात ! तुम कहाँ से आये हो ?'

'वाराणसी से'

'तुम किसके पुत्र हो ?'

'मैं वाराणसी के राजा का पुत्र हूँ।'

'तुम यहाँ किसलिए आये हो ?'

'विद्याध्ययन के लिए।'

'बहुत ठीक, क्या तुम आचार्य के लिए उपयुक्त फ़ीस लाये हो या शिक्षा के बदले सेवा करने की इच्छा रखते हो ?'

'मैं आचार्य के लिए उपयुक्त फ़ीस साथ लाया हूँ।'

यह कह कर उसने एक हज़ार कार्षापणों की थैली आचार्य के चरणों में रख दी। दो तरह के विद्यार्थी आचार्य से शिक्षा ग्रहण करते थे। पहले 'धम्मन्तेवासिक', ये दिन में आचार्य का काम करते थे और रात को शिक्षा प्राप्त करते थे। दूसरे 'आचारिय भागदायक' ये आचार्य के घर में ज्येष्ठ पुत्र की तरह निवास करते थे, और इस प्रकार विद्याभ्यास में लीन रहते थे। क्योंकि कुमार ब्रह्मदत्त आवश्यक फ़ीस साथ लाया था और वह आचार्य के घर पर ही रहता था, अतः उसे नियम-

पूर्वक शिक्षा दी गई। इस प्रकार कुमार ब्रह्मदत्त ने शिक्षा समाप्त की[१]।"

इस उद्धरण से तक्षशिला की शिक्षाविधि पर बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है। तक्षशिला में शिक्षा पाने की फ़ीस एक हज़ार कार्षापण थी। अन्य भी अनेक स्थलों पर इसी फ़ीस का उल्लेख मिलता है[२]। जो विद्यार्थी यह फ़ीस दे सकते थे, वे आचार्य के घर में, आचार्य ही के प्रबन्ध से पूरे आराम के साथ रहते थे। जिस प्रकार घर में बड़े लड़के का पूरा ख़याल रक्खा जाता है, उसी तरह आचार्यकुल में इन विद्यार्थियों के आराम आदि पर पूरा ध्यान दिया जाता था। उन्हें किसी तरह का श्रम करने की आवश्यकता न थी। पर जो विद्यार्थी निश्चित फ़ीस नहीं दे सकते थे, उनके लिए भी तक्षशिला-विश्वविद्यालय में स्थान था। वे अपने पैरों पर आप खड़े होकर स्वावलम्बी बनकर दिन में काम करते थे और रात को पढ़ते थे। तक्षशिला की कीर्त्ति के कारण जो निर्धन विद्यार्थी वहाँ आकृष्ट होकर पहुँचते थे, उनको आचार्य की ओर से या विश्वविद्यालय की ओर से काम दिया जाता था और इस तरह से वे अपना ख़र्च अपने आप चला सकते थे। इन दो तरह के विद्यार्थियों के सिवाय एक तीसरे प्रकार के भी विद्यार्थी होते थे। ये न आवश्यक फ़ीस देते थे और न दिन में काम कर रात के पढ़ने से संतुष्ट रहते थे। अपितु प्रतिज्ञा कर लेते थे कि पढ़ाई समाप्त होने पर हम आवश्यक फ़ीस चुका देंगे। 'दूतजातक' में एक ब्राह्मण की कथा आती है जो कि ग़रीब घर में उत्पन्न हुआ था। उसको शिक्षा की बहुत लगन थी, पर वह 'आचार्यभाग' या विश्वविद्यालय की नियत फ़ीस कहाँ से लाता? अतः उसने प्रतिज्ञा की कि शिक्षा समाप्त होने पर मैं सारी फ़ीस दे दूँगा। यह बात मान ली गई। वह 'आचारिय-

---

१. The Jātaka, edited by V. Fausball, Vol. II, p. 277-8.

२. The Jātaka, edited by E. B. Cowell, Vol. V, p. 246; Vol. I, p. 148; Vol. IV, p. 32, etc.

भागदायक' विद्यार्थियों की तरह आराम के साथ पढ़ता रहा और शिक्षा समाप्त कर चुकने पर अपने प्रयत्न से एकत्रित कर उसने आवश्यक फ़ीस अदा कर दी[1]।

तक्षशिला में अनेक संसार-प्रसिद्ध आचार्य शिक्षा देने का कार्य करते थे। इन आचार्यों के साथ बार बार संसार-प्रसिद्ध विशेषण लगाना[2] सूचित करता है कि उस समय तक्षशिला-विश्वविद्यालय अपनी विद्या के लिए अद्वितीय था। एक आचार्य के पास प्रायः ५०० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। जातक-साहित्य में अनेक स्थानों पर ऐसे आचार्यों का उल्लेख किया गया है, जिनके पास ५०० विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे[3]। जातकों से यह भी स्पष्टरूप से प्रकट होता है कि तक्षशिला में ऐसे संसार-प्रसिद्ध आचार्यों की संख्या कम न थी। एक समय में बहुत से ऐसे आचार्य वहाँ विद्यमान रहते थे[4]। सम्भवतः, यह कल्पना अनुचित न होगी कि तक्षशिला-विश्वविद्यालय में अनेक 'कालिज' थे, जिनमें से प्रत्येक में ५०० के लगभग विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे और इन 'कालिजों' के प्रधान अध्यापक को 'आचार्य' कहा जाता था। वर्तमान परिभाषाओं में यही वर्णन तक्षशिला के वास्तविक रूप को प्रकट कर सकता है।

तक्षशिला में शिक्षा समाप्त कर चुकने पर विद्यार्थी लोग शिल्प, व्यवसाय आदि का क्रियात्मक अनुशीलन करने के लिए तथा देश-देशान्तर के रीति-रिवाजों का अध्ययन करने के लिए भ्रमण किया करते थे। इस सम्बन्ध में अनेक निर्देश जातकों में

---

१. The Jataka (Cowell), Vol. IV, p. 140.

२. Ibid., Vol. V, pp. 66, 67 ; Vol. II, p. 193, Vol. III, p. 154, etc.

३. Ibid., Vol. III, 154 ; Vol. IV, p. 32 ; Vol. V, p. 67 ; Vol. I, p. 173, etc.

४. Ibid., Vol. II, p. 194.

दृष्टिगोचर होते हैं। 'सोनकजातक' में लिखा है कि मगध का राजकुमार अरिन्दम तक्षशिला में सब विद्याओं में प्रवीणता प्राप्त कर चुकने के बाद स्वयं अवलोकन-द्वारा शिल्प आदि का क्रियात्मक अनुभव प्राप्त करने के लिए यात्रा करने निकला[१]। इसी तरह अन्य अनेक विद्यार्थियों के सम्बन्ध में भी लिखा गया है[२]।

तक्षशिला-विश्वविद्यालय इतना प्रसिद्ध था कि बड़े बड़े राजा, ज़मींदार और क्षत्रिय लोग अपने लड़कों को वहाँ पढ़ने के लिए भेजते थे। जातक-साहित्य में अनेक राजकुमारों के तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करने की कथा लिखी है। हम कुछ राजकुमारों का निर्देश करना पर्याप्त समझते हैं—

१. वाराणसी (काशी) का राजकुमार ब्रह्मदत्त[३]
२. मगधराज का लड़का अरिन्दम[४]
३. कुरुदेश (इन्द्रप्रस्थ) का राजकुमार सुतसोम[५]
४. मिथिला का राजकुमार कुमार विदेह[६]
५. इन्द्रप्रस्थ का राजकुमार धनञ्जय[७]
६. कम्पिल्लक देश का राजकुमार[८]
७. मिथिला का राजकुमार सुरुचि[९]

इसी तरह के अन्य भी अनेक राजकुमारों के निर्देश जातकों में मिलते हैं। 'महासुतसोमजातक' की कथा इस विषय में बहुत उपयोगी है। इस कथा के अनुसार—

---

१. The Jātaka (Cowell), Vol. V, p. 127.
२. Ibid., Vol. V, p. 227; Vol. IV, p. 24.
३. Ibid., Vol. V, p. 66, etc.
४. Ibid., Vol. V, p. 127.
५. Ibid, Vol. V, p. 246.
६. Ibid., Vol. II, p. 27.
७. Ibid., Vol. II, p. 251.
८. Ibid., Vol. III, p. 52.
९. Ibid., Vol. IV, p. 198.

कुरुदेश के राजकुमार का नाम सुतसोम था। जब उसकी आयु सोलह वर्ष की होगई, तो उसे तक्षशिला में एक संसार प्रसिद्ध आचार्य के पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा गया। आचार्य के लिए आवश्यक फ़ीस लेकर वह तक्षशिला के लिए चल पड़ा। मार्ग में जाते हुए उसे काशी देश का राजकुमार ब्रह्मदत्त मिल गया। वह भी विद्याध्ययन के लिए तक्षशिला जा रहा था। उनकी मित्रता होगई। वे दोनों एक ही आचार्य के पास शिक्षा के लिए जा रहे थे। दोनों ने एक ही साथ पढ़ना शुरू किया। "आचार्य को फ़ीस देकर उन्होंने विद्याध्ययन प्रारम्भ कर दिया। केवल वे ही नहीं, उनके सिवाय भारत के अन्य भी अनेक राजकुमार—जिनकी संख्या उस समय एक सौ एक थी—उसी आचार्य से शिक्षा पा रहे थे।"[1] तक्षशिला में शिक्षा पाकर ये लोग अपने अपने राज्य में वापिस गये और अपनी योग्यता प्रदर्शित कर राजा बने।

इस कथा से स्पष्ट है कि तक्षशिला विश्वविद्यालय में एक आचार्य के पास १०१ राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। क्या इस आचार्य के 'कालिज' को हम 'राजकुमारों का कालिज' नहीं कह सकते ? निस्सन्देह, अन्य विविध 'कालिजों के साथ तक्षशिला में एक ऐसा भी कालिज था, जिसमें राजाओं के लड़के पढ़ते थे और जिसकी कीर्त्ति भारत में सर्वत्र विस्तृत थी।

केवल 'राजकुमार-कालिज' ही नहीं, तक्षशिला के अन्य कालिज भी भारत भर में प्रसिद्ध थे। यही कारण है कि 'धोन-साख जातक' में लिखा है कि भारत भर से ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के लड़के तक्षशिला में पढ़ने के लिए जाया करते थे[2]।

परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि नीच जातियों के लोग इस जगत् प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ सकते थे।

---

१. Jataka (Cowell), Vol. V, p. 247.
२. Ibid., Vol. III, p. 105.

चाण्डालों का वहाँ पढ़ना निषिद्ध था । यही कारण है कि 'चित्तसम्भूत जातक' में लिखा है कि चाण्डाल लोग वेश बदल कर—छिपकर—तक्षशिला में शिक्षा पाते थे[1] ।

चाण्डालों के सिवाय अन्य किन जातियों का तक्षशिला में पढ़ना निषिद्ध था, इसका पता जातकों से नहीं लगता । यही समझना ठीक है कि चाण्डालों के सिवाय अन्य सब लोग वहाँ पर शिक्षा प्राप्त कर सकते थे ।

तक्षशिला-विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों का जीवन किस प्रकार बीतता था, इस सम्बन्ध में जातकों के एक दो निर्देशों का अवलोकन उपयोगी है । विद्यार्थीगण अपने आचार्य के निरीक्षण में रहते थे । उनके जीवन के सुधार पर आचार्य बहुत ध्यान देता था । यही कारण है कि अनेक भाँति के दण्ड भी विद्यार्थियों को दिये जा सकते थे । तक्षशिला में शारीरिक दण्ड भी विद्यार्थियों को मिलता था । 'तिलमुट्ठि जातक' में लिखा है, कि एक बार कुमार ब्रह्मदत्त अपने आचार्य के साथ स्नान करने के लिए गया । मार्ग में एक वृद्ध स्त्री ने सुखाने के लिए तिल बिछा रक्खे थे । वह सम्मुख बैठी हुई उनकी रखवाली भी कर रही थी । कुमार ने जब उन तिलों को देखा तो खाने के लिए इच्छा उत्पन्न होगई । उसने मुट्ठी भर तिलों को उठा लिया और खाने लगा ।

स्त्री ने समझा कि 'यह भूखा होगा', अतः उसने कुछ न कहा और चुपचाप बैठी रही । अगले दिन ठीक उसी समय आचार्य के साथ कुमार उस मार्ग से गया और उसने उसी तरह तिल उठा कर खा लिये । उसी तरह स्त्री ने भी कुछ न कहा । तीसरे दिन भी कुमार ने वही किया । अब स्त्री चुप न रह सकी । उसने चिल्ला कर कहा—'संसार-प्रसिद्ध आचार्य अपने शिष्यों

१. Jataka (Cowell), Vol. IV, p. 245.

द्वारा मुझे लुटने दे रहा है।' यह कह कर वह बाँह उठा कर रोने लगी। आचार्य ने पीछे मुड़ कर पूछा—'क्या बात है, माँ ?'

'मैंने सुखाने के लिए तिल बिछा रक्खे हैं, तुम्हारे शिष्य ने मुट्ठी भर कर उन्हें उठा लिया है। यह उसने आज किया है, कल किया था और परसों भी किया था। इस तरह तो यह मेरे सारे घर को बरबाद कर देगा।'

'माँ, रोओ मत, मैं तुम्हें इसकी क़ीमत चुका दूँगा।'

'ओह ! स्वामी ! मैं क़ीमत नहीं चाहती, इस लड़के को ऐसी शिक्षा दो कि फिर वह ऐसा न करे।' आचार्य ने कहा—'बहुत अच्छा, यह कह कर उसने दो लड़कों को उस कुमार के दोनों हाथों को पकड़ लेने का आदेश दिया और स्वयं उसकी पीठ पर तीन डण्डे मारे। इस तरह आचार्य ने कुमार को फिर ऐसा काम न करने की शिक्षा दी[1]।

इस कथा से हमें विश्वविद्यालय के आन्तरिक नियन्त्रण के सम्बन्ध में एक मनोरञ्जक निर्देश मिल जाता है।

तक्षशिला-विश्वविद्यालय में कौन कौन सी विद्यायें पढ़ाई जाती थीं, इस विषय में भी कुछ निर्देश जातक-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। तक्षशिला में मुख्यतया निम्नलिखित विषय पढ़ाये जाते थे—

(१) तीनों वेद—जातकों में सर्वत्र तीन वेदों का ही उल्लेख है[2]। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में अथर्ववेद को वेद नहीं समझा जाता था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी 'त्रयी' में अथर्ववेद का समावेश नहीं किया गया है[3]।

(२) अष्टादश विद्यायें—जातकों में तक्षशिला-विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में अनेक बार लिखा गया है कि वहाँ पर

---

१. The Jataka (Cowell), Vol. II, p. 194-195.

२. Ibid., Vol. III, p. 76 ; Vol. I, p. 126, etc.

३. 'सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयी' कौ० अर्थ० १।२

अष्टादश विद्याओं में प्रवीणता प्राप्त कराई जाती थी[1]। पर ये १८ विद्यायें कौन कौन सी थीं, इसको निश्चित कर सकना कठिन है।

(३) सिप्प का शिल्प—तक्षशिला में अनेकविध शिल्पों (Arts या Sciences) की भी शिक्षा दी जाती थी[2]।

(४) धनुर्विद्या—'असदिस जातक' में एक असदृश (असदिस) कुमार का वर्णन है, जिसने कि तक्षशिला में एक आचार्य के पास धनुर्विद्या में अपूर्व प्रवीणता प्राप्त की थी[3]।

(५) हस्तिविद्या—'सुसीम जातक' के अनुसार वाराणसी के राजकुमार सुसीम ने तक्षशिला में आचार्य के पास वेदों के सिवाय हस्तिविद्या भी ग्रहण की थी[4]।

(६) मन्त्रविद्या—'अनभिरति जातक' के अनुसार काशी में रहनेवाले एक ब्राह्मण कुमार ने तक्षशिला में सम्पूर्ण 'मन्त्रविद्या' (Magic charms) का अध्ययन किया था[5]। 'चम्पेय्य जातक' में लिखा है कि एक विद्यार्थी ने तक्षशिला में ऐसा जादू (मन्त्र) सीखा था कि वह सब प्राणियों को अपने वश में कर सकता था। उस विद्यार्थी के साँप को वश में करने का हाल भी एक जातक में लिखा गया है[6]।

(७) सब प्राणियों की आवाज़ को समझने की विद्या—'परन्तप जातक' में एक कुमार का वर्णन है, जिसने तक्षशिला-विश्वविद्यालय में जाकर उस विद्या का अध्ययन किया

---

१. The Jataka (Cowell), Vol. I, p. 126, etc.
२. Ibid., Vol. V, 92, etc.
३. Ibid., Vol. II, p. 60.
४. Ibid., Vol. II, p. 32.
५. Ibid., Vol. II, p. 68.
६. Ibid., Vol. IV, p. 283.

था, जिससे कि सब प्राणियों की आवाज़ को समझा जा सके[1]।

(८) चिकित्सा-शास्त्र—तक्षशिला-विश्वविद्यालय चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से प्रसिद्ध था। वहाँ पर इसी विषय की मुख्यतया शिक्षा दी जाती थी[2]। चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए दूर दूर से विद्यार्थी लोग पधारा करते थे। राजा बिम्बिसार (मगध सम्राट्) के प्रसिद्ध राजवैद्य जीवक ने तक्षशिला में ही शिक्षा प्राप्त की थी[3]।

इन निर्देशों से उन विषयों का थोड़ा सा अनुमान किया जा सकता है, जिनकी शिक्षा इस प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में दी जाती थी।

प्राचीन भारत के अनेक बड़े बड़े व्यक्तियों ने तक्षशिला-विश्वविद्यालय में ही शिक्षा प्राप्त की थी। राजा बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। राजा पसेनदी (कोशल का प्रसिद्ध राजा, जो मगधराज अजातशत्रु का समकालीन था) ने भी इसी विश्वविदित विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी[4]। आचार्य चाणक्य का भी यही शिक्षा-स्थान था[5]।

इस विवेचना से हम प्राचीन तक्षशिला-विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में अनेक आवश्यक बातों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह प्रसिद्ध विश्वविद्यालय बहुत समय तक विद्यमान रहा। पीछे से यह बौद्ध-धर्म के अध्ययन का मुख्य केन्द्र बन गया और इसने बड़े बड़े बौद्ध आचार्य और प्रचारक उत्पन्न किये। मौर्य-काल में भी यह बहुत प्रसिद्ध तथा उन्नत था।

---

१. The Jātaka (Cowell), Vol. III, p. 249.
२. E. B. Havell—Aryan Rule in India, p. 90.
३. B. C. Law—Historical Gleanings, p. 1.
४. Ibid,. p. 1
५. E. B. Havell—Aryan Rule in India, p. 90.

पाली-साहित्य के अध्ययन से पता लगता है कि प्राचीन भारत में तक्षशिला के सिवाय अन्य भी अनेक विद्या के केन्द्र थे। इनमें काशी (वाराणसी) का नाम विशेषतया उल्लेखयोग्य है। मध्यकालीन भारत में काशी विद्या का सबसे मुख्य केन्द्र था। आज तक भी यह नगरी प्राचीन संस्कृतविद्या का प्रमुख केन्द्र समझी जाती है। काशी का यह महत्त्व पाँचवीं और छठी सदी ई० पू० में प्रारम्भ हो चुका था। यही कारण है कि जातक ग्रन्थों में काशी का भी विद्या के केन्द्र के तौर पर उल्लेख मिलता है।

'सञ्जीव जातक' के अनुसार बोधिसत्त्व ने पहले तक्षशिला में विद्याध्ययन किया। शिक्षा समाप्त कर वह काशी वापस आया और वहाँ शिक्षा देनी प्रारम्भ की। ५०० ब्राह्मण विद्यार्थी उसके शिष्य बनकर पढ़ने लगे और वह भी संसार-प्रसिद्ध आचार्य हो गया[१]।

इसी तरह 'कोसिय-जातक' में एक आचार्य का उल्लेख है, जिसने तक्षशिला में अध्ययन समाप्त कर काशी में अध्यापन का कार्य शुरू किया। दूर दूर से ब्राह्मण और क्षत्रिय-कुमार उसके पास पढ़ने के लिए आने लगे। कुछ समय में वह भी संसार-प्रसिद्ध अध्यापक हो गया[२]।

'अनभिरति जातक' के अनुसार बोधिसत्त्व ने तक्षशिला में मन्त्र विद्या सीख कर उसे फिर काशी में पढ़ाना प्रारम्भ किया। बहुत से युवक उसके पास पढ़ने लगे[३]।

इनसे प्रतीत होता है कि जातक-साहित्य के निर्माण-काल में काशी ने विद्या-केन्द्र बनना प्रारम्भ कर दिया था। पर उसकी

---

१. The Jataka (Cowell), Vol. I, p. 321.

२. Ibid., Vol. I, p. 284-5.

३. Ibid., Vol. II, p. 68.

कीर्त्ति तथा विद्या अभी तक्षशिला के सम्मुख बहुत कम थी। 'सेतकेतु जातक' में लिखा है कि काशी के एक आचार्य का पट्टशिष्य 'सेतकेतु' बड़ा अभिमानी था। वह अपने को बहुत बड़ा विद्वान् समझता था। पर वह एक चाण्डाल से पराजित हो गया और अधिक विद्या प्राप्त करने की अभिलाषा से तक्ष-शिला गया[1]। इस तरह विद्या की दृष्टि से काशी अभी तक्षशिला से बहुत पीछे था।

मौर्य्य-इतिहास

की घटनाओं का तिथि-क्रम

(अनेक तिथियाँ अनुमान पर आश्रित हैं)

ई० पू०	घटनायें
३२५	सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया।
३२४	सिकन्दर के शासन के विरुद्ध पञ्जाब में विद्रोह प्रारम्भ हुआ। फिलिप्पोस का घात किया गया।
३२३	बैबिलोन में सिकन्दर की मृत्यु हुई।
३२३-३२२	चन्द्रगुप्त मौर्य्य और आचार्य कौटिल्य के नेतृत्व में पञ्जाब के विद्रोह को सफलता हुई।
३२२	चन्द्रगुप्त मौर्य्य द्वारा मगध पर आक्रमण किया गया।
	पाटलिपुत्र में नन्दवंश का राज्य समाप्त हुआ।
	सर्वार्थसिद्धि गुप्तमार्ग से पाटलिपुत्र से बाहर चला गया।
	सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक हुआ।
३१७	यूडीमौस अवशिष्ट ग्रीक सेना लेकर सिन्ध नदी पार कर गया।
३१५	एण्टिगोनस ने सैल्यूकस को ईजिप्ट भाग जाने के लिए बाधित किया।
३१२	सैल्यूकस ने बैबिलोन जीत लिया।
३०६	सैल्यूकस का राज्याभिषेक हुआ।
३०४	सैल्यूकस ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया।
३०३	चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने सैल्यूकस को परास्त किया।
	चन्द्रगुप्त और सैल्यूकस की सन्धि हो गई

ई० पू०	घटनायें
	सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को हिन्दुकुश पर्वत तक का प्रदेश दे दिया।
३०२	मैगस्थनीज़ सैल्यूकस का राजदूत बनकर भारत आया।
३०१	एण्टिगोनस की फ्रीगिया में मृत्यु होगई।
२९८	सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु हुई।
	सम्राट् बिन्दुसार राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ।
२९६	सैल्यूकस ने डाइमेचस को राजदूत बना कर पाटलिपुत्र भेजा।
२८५	राजा फिलेडैल्फस टाल्मी ने ईजिप्ट का राज्य प्राप्त किया।
२८०	सैल्यूकस की मृत्यु हुई।
	एण्टिओकस साटर सीरिया की राजगद्दी पर बैठा।
२७३	राजा एलैक्ज़न्डर एपिरस की राजगद्दी पर बैठा।
२७२	सम्राट् बिन्दुसार की मृत्यु हुई।
	सम्राट् अशोक ने राज्य प्राप्त किया।
	अशोक का अपने भाइयों से भ्रातृ-युद्ध प्रारम्भ हुआ।
२६९	अशोक का राज्याभिषेक हुआ।
२६५-२६४	अशोक ने काश्मीर का विजय किया।
२६१	अशोक ने कलिङ्ग को जीता।
	धर्म्म-विजय स्थापित करने का निश्चय किया।
	सीरिया की राजगद्दी पर एण्टिओकस थियास आरूढ़ हुआ।
२५९	अशोक ने धर्म महामात्र नियत किये।
	धम्म-विजय के लिए 'प्रक्रम' प्रारम्भ किया।

ई० पू०	घटनायें
२५२	बौद्धधर्म की प्रसिद्ध महासभा मोद्गलिपुत्र तिष्य की अध्यक्षता में हुई।
२४९	अशोक ने बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानों की तीर्थ-यात्रा प्रारम्भ की।
२४८	बैक्ट्रिया और पार्थिया ने सीरियन साम्राज्य की अधीनता से छुटकारा प्राप्त किया।
२४६	बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए प्रचारक-मण्डल भेजे गये।
२३५-२३२	ग्रीक लोगों के आक्रमण प्रारम्भ हुए।
	जालौक ने ग्रीक आक्रान्ताओं को परास्त किया।
२३२	सम्राट् अशोक की मृत्यु हुई।
	सम्राट् कुनाल का राज्याभिषेक हुआ।
	जालौक ने काश्मीर में स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया।
२३०	राजा सीमुक ने आन्ध्र में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया।
२२४	सम्राट् कुनाल की मृत्यु हुई।
	सम्राट् दशरथ (बन्धुपालित) का राज्याभिषेक हुआ।
२२३	राजा चैत्रराज के नेतृत्व में कलिङ्ग स्वतन्त्र होगया।
२१६	दशरथ की मृत्यु हुई और सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) ने राज्य प्राप्त किया।
२१५	बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा
२०७	सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) जैन साधु बन, राज्य त्याग कर चला गया।
	उत्तराधिकार के लिए झगड़े प्रारम्भ हुए।

ई० पू०	घटनायें
	सम्राट् शालिशुक को इन युद्धों में सफलता प्राप्त हुई।
२०७-२०६	वृषसेन गान्धार में स्वतन्त्र हो गया।
	एरिटयोकस दि ग्रेट ने भारत पर आक्रमण किया।
	जालोक ने विजय-यात्रा प्रारम्भ की और कान्य-कुब्ज तक विजय प्राप्त कर ली।
	ग्रीक आक्रान्ताओं ने मथुरा, साकेत आदि को जीतकर पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण किया।
२०६	शालिशुक का घात होगया।
	सम्राट् देववर्मा राजगद्दी पर बैठा।
	डेमेट्रियस ने भारत पर आक्रमण किया।
	अन्तःकलह के कारण ग्रीक लोग भारत पर राज्य स्थापित करने में सफल नहीं हुए।
१९१	देववर्मा की मृत्यु हुई।
	सम्राट् वृहद्रथ ने राज्य प्राप्त किया।
१८४	सेनानी पुष्यमित्र शुङ्ग ने बृहद्रथ को मार कर स्वयं राज्य प्राप्त कर लिया।

सहायक-पुस्तकों की सूची

क. आधार-ग्रन्थ

अर्थशास्त्र—कौटिल्य-कृत, श्री० शामशास्त्री-द्वारा सम्पादित।

अर्थशास्त्र—कौटिल्य-कृत, श्री० गणपति शास्त्री-द्वारा रचित व्याख्या सहित।

अर्थशास्त्र—कौटिल्य-कृत, श्री० प्राणनाथ विद्यालंकार-कृत हिन्दी-अनुवाद।

Arthashastra by Kautilya, translated by R. Shamashastry.

Arthashastra of Kautilya, by J. Jolly and R. Schmidt.

अशोक के धर्मलेख—ज्ञानमण्डल कार्यालय, काशी।

अशोक की धर्मलिपियाँ—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

Ashoka Inscriptions by D. R. Bhandarkar.

अभिधानचिन्तामणि—हेमचन्द्रकृत।

अल्बरूनी की भारतयात्रा—श्री० सन्तराम-द्वारा अनूदित।

आराधना-कथा-कोष—ब्रह्मनेमिदत्त-कृत।

आवश्यक सूत्र—हरिभद्रीया टीका और चुन्निटीका सहित।

उत्तराध्ययन टीका।

ऐतरेय ब्राह्मण।

कथाकोष—हरिषेण-कृत।

कथासरित्सागर—सोमदेव-कृत।

कामसूत्र—वात्स्यायन-कृत ।

कालिदास—ज्योतिर्विदाभरण ।

कालिदास—मेघदूत ।

कालिदास—मालविकाग्निमित्र ।

कालिदास—रघुवंश, मल्लिनाथकृत टीका ।

छान्दोग्योपनिषद् ।

The Jātaka edited by V. Fausboll.

The Jātaka by E. B. Cowell.

त्रिलोक-प्रज्ञप्ति ।

दशकुमारचरित—दण्डीप्रणीत ।

Dipavansa, edited and translated by H. Oldenberg.

Divyāvadāna, edited by E. B. Cowell and R. A. Neil.

नीतिवाक्यामृतम्—सोमदेवसूरि-कृत ।

नीतिसार—कामन्दक-कृत ।

नीतिसार—शुक्राचार्य-कृत ।

पञ्चतन्त्र—विष्णुशर्मा-कृत ।

पद्मपुराण ।

परिशिष्टपर्व—हेमचन्द्रकृत, तिलकविजय मुनि-कृत हिन्दी अनुवाद ।

Parishistaparva, edited by H. Jacobi.

पुण्याश्रवकथाकोष—रामचन्द्रमुमुक्षु-कृत ।

प्रतिज्ञायोगन्धरायण—भास-कृत

Periplus of the Erythræan Sea, by Schoff.

फाहियान—जगमोहन वर्मा-कृत हिन्दी-अनुवाद ।

Fa-hien, translated by S. Beal.

Fa-hien, translated by Legge.

बृहत्संहिता—वराहमिहिर-कृत।

Brihat-sanhita, edited by Kern.

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य।

भद्रबाहुचरित्र।

भागवतपुराण।

महाभाष्य—पतञ्जलि-कृत।

महापरिनिब्बाणसुत्त।

महावग्ग।

महावंश—मूलपाली ग्रन्थ।

Mahavanso, translated by Turnour and Wizesinha.

मनुस्मृति।

महाभारत, सभापर्व।

मत्स्यपुराण।

मुद्राराक्षस, बा० हरिश्चन्द्र-कृत हिन्दी-अनुवाद।

मुद्राराक्षस—विशाखदत्त-कृत, जीवानन्द-द्वारा सम्पादित।

मुद्राराक्षस—ढुण्ढिराजकृत उपोद्घात एवं टीका सहित।

मैत्रायण्युपनिषद्।

McCrindle: Ancient India as described by Megasthenes.

McCrindle: The Commerce and Navigation of the Erythræan Sea.

McCrindle: Ancient India as described by Ktesias and Knidian.

McCrindle: The Invasion by Alexander the Great.

McCrindle: Ancient India as described in Classical Literature.

McCrindle: Ancient India as described by Ptolemy.

याज्ञवल्क्यस्मृति।

राजतरङ्गिणी-कल्हण-प्रणीत

Rockhill: Life of the Buddha.

विचारश्रेणी व स्थविरावलिः, मेरुतुङ्गाचार्यप्रणीत।

वायुपुराण।

विष्णुपुराण।

विनयपिटक की टीका, बुद्धघोषरचित।

सुंगयुन—जगन्मोहन वर्मा-कृत हिन्दी-अनुवाद।

Hiuen Thsang: Si-yu-ki; Buddhist Records of the Western World by Beal.

On Yuan Chwang's Travels in Ancient India by T. Watters.

ख. आधुनिक सहायक-ग्रन्थ

Acharya, M. K: The Basic Blunder in the Orientalists' Reconstruction of Indian History.

Aiyanger, Krishnaswami: Ancient India.

Asiatic Researches, Vol. IV.

Asiatic Researches, Vol. V.

Banerjee, G. N: Hellenism in Ancient India.

Banerjee, P. N: Public Administration in Ancient India.

Barnett, L. D: Antiquities of India.

Bhandarkar, D. R: Ashoka.

Bhandarkar, D. R: Carmichael Lectures, 1918.

Bhandarkar, R. G: Vaishnavism, Śaivism and Minor Religious Systems.

Copleston, R. S: Buddhism, Primitive and Present.

Cunningham: Bhilsa Topes.

Das, S. K: Economic History of Ancient India.

Datta, R. C: History of Indian Civilization.

Dey, N. L: Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India.

Edkins: Chinese Buddhism.

Elphinstone: History of India.

Fleet: Epigraphy (Imperial Gazetteer of India, Vol. II).

Havell, E. B: History of Aryan Rule in India.

Hoernle: Studies in the Medicine of Ancient India.

Hoernle: Ājivaka in Encyclopædia of Religion and Ethics.

Jayaswal, K. P: Hindu Polity.

Law, B. C: Ancient Mid-Indian Kṣatriya Tribes.

Law, B. C: Historical Gleanings.

Law, B. C: Some Kṣatriya Tribes of Ancient India.

Law, N. N: Studies in Ancient Hindu Polity.

Macdonell: Sanskrit Literature.

Macphail, J. M: Ashoka.

Maisey, F. C: Sanchi and its Remains.

Marshall, J: A Guide to Sanchi.

Marshall, J: A Guide to Taxila.

Max Müller: The History of Ancient Sanskrit Literature.

Mazumdar, R. C: The Corporate Life in Ancient India.

Mazumdar, R. C: Outline of Ancient Indian History and Civilization.

Mukerjee, R. K: The Fundamental Unity of India.

Mukerjee, R. K: Local Government in Ancient India.

Mukerjee, R. K: A History of Indian Shipping and Maritime Activity from the Earliest Times.

Mukerjee, R. K: Men and Thought in Ancient India.

Mukhopadhyaya, G: Surgical Instruments in Ancient India.

Narayana Shastri: The Age of Shankara.

Oldenberg : Preface to the Vinaya Texts.

Pargiter : Dynasties of the Kali Age.

Pargiter : Ancient Indian Historical Tradition.

Rapson, E. J : Ancient India.

Rapson, E. J: Cambridge History of India, Vol. I.

Raychaudhuri: Political History of Ancient India.

Rhys Davids: Buddhism.

Rhys Davids: Buddhist India.

Rice: Mysore and Coorg from Inscriptions.

Robertson, W: Historical Disquisition of Ancient India.

Samaddar: Glories of Magadha

Sarkar, B. K: Positive Backgrounds of Hindu Sociology.

Sarkar, B. K: Political Theories and Institutions of Ancient Hindoos.

Sinha, S. N: History of Tirhut.

Smith, V. A: Ashoka.

Smith, V. A: Early History of India.

Stein: Rajtarangini (Introduction).

Tod: Annals of Rajasthan.

Waddel, L. A: Excavations at Pataliputra.

Wells, H. G: Outline of History.

Wilson: Mudrārākshasa (Introduction).

वृन्दावन भट्टाचार्य—सारनाथ का इतिहास

रामदेव, आचार्य—भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास

सम्पूर्णानन्द—सम्राट् अशोक

गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा—राजपूताने का इतिहास

ग. सामयिक साहित्य

Journal of the Royal Asiatic Society.

Indian Antiquary.

Journal of the Bihar and Orissa Research Society.

Journal of the Asiatic Society of Bengal.

Indian Historical Quarterly.

आज, बनारस

शब्दानुक्रमणिका

आ

स